॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः (पूर्वार्धः)

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

'प्रथमोऽध्यायः'

श्री सुबोधिनी अनुसार द्वादश अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार पञ्चदश अध्याय

कारिका – **यशोदानन्दयोरेवं निरोधः सुनिरूपितः ।**
गोपालानां निरोधोऽत्र सस्त्रीकाणां निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ – इस प्रकार (तामस-प्रमाण उपकरण में) यशोदा और नन्दजी का निरोध अच्छे प्रकार से निरूपण कर, इस (प्रमेय-प्रकरण) में स्त्रियों सहित गोपों के निरोध का निरूपण करते हैं ।

व्याख्यार्थ – तामस प्रमाण अवांतर प्रकरण में यशोदा तथा नन्दजी के निरोध का मुख्य रूप से पूर्णतया वर्णन किया हुआ है । गौण रूप से प्रसंग आने पर गोप एवं गोपियों का भी निरोध किया

है। अब इस तामस प्रमेय प्रकरण के १२ से १८ तक के सातों अध्यायों में मुख्य रूप से गोप और उनकी स्त्रियों का निरोध वर्णन किया गया है ॥ १ ॥

कारिका — **मध्यमोऽयं समस्तानां निरोधः परिकीर्त्यते ।**
पञ्चधैवानुभावोऽत्र दुष्टनिग्रहरूपवान् ॥ २ ॥

कारिकार्थ — यहाँ (प्रमेय प्रकरण में) सबके जिस निरोध का वर्णन किया जाता है वह (निरोध) मध्यम निरोध है। दुष्टों का निग्रह रूप प्रभाव पाँच प्रकार का ही यहाँ निरूपण करते हैं।

व्याख्या — गोप शब्द से यहाँ भगवान् के मित्र समझने चाहिये और गोप की स्त्रियाँ शब्द से गोपियां समझनी चाहिये। इनके जिस निरोध का यहाँ वर्णन किया गया है वह मध्यम निरोध है, क्योंकि प्रमाण उप-प्रकरण में किए हुए निरोध से यह विशेष है और इससे भी विशेष निरोध साधन उप-प्रकरण में किया जायगा, अतः इसे मध्यम निरोध कहते हैं। इस उप-प्रकरण के (१२ से १६) ५ अध्यायों में भगवान् का दुष्ट निग्रह करने से, पाँच प्रकार का प्रभाव कहने में आया है।

पाँच अध्यायों में जिन पाँच दुष्टों का भगवान् ने निग्रह किया है, उनके यह नाम हैं - १-धेनुकासुर, २-कालीयनाग, ३-पहली दावाग्नि, ४-प्रलम्बासुर और ५-दूसरी दावाग्नि। ये पाँचों अविद्या के पाँच पर्व रूप हैं। जैसा कि १-धेनुकासुर देहाध्यास का रूप है जिससे मनुष्य को यह भ्रान्ति होती है कि देह ही मैं हूँ। २-कालीय सर्प, इन्द्रियाध्यास का रूप है जिससे मनुष्य समझता है कि मैं इन्द्रिय रूप हूँ। ३-प्रथम दावाग्नि प्राणाध्यास रूप है जिससे प्राण को ही अपना रूप माना जाता है। ४-प्रलम्बासुर - अन्तःकरणाध्यास रूप है जिससे अन्तःकरण ही मैं हूँ, ऐसा निश्चय हो जाता है। ५-द्वितीय दावाग्नि स्वरूप विस्मृति रूप है, जिससे मनुष्य अपने आत्मरूप को भूल जाता है। इस प्रकार इन पाँच दुष्टों के जाल में फँसे हुओं को छुड़ाने के लिए इन पाँचों को भगवान् ने निग्रह कर गोप गोपियों का निरोध किया है जिससे इस उप-प्रकरण में भगवान् का प्रभाव निरूपण हुआ है। कृष्णोपनिषद् में 'लोभादिकों' को दैत्य कहा गया है। तदनुसार यहाँ भी अविद्या के पाँच पर्वों ने धेनुकासुरादि रूप धारण किए हैं उनका नाश कर भगवान् ने अविद्या को नष्ट किया है। यही भगवान् का प्रभाव है ॥ २ ॥

कारिका — **आध्यात्मिकीमविद्यां वै दूरीकर्तुं तथाकृतिः ।**
तदर्थं क्रमतोऽध्याया उभयेषां तथा द्वयम् ॥ ३ ॥
स्नेहाधिक्यसुसिद्ध्यर्थं स्नेहान्तो मध्यमः स्मृतः ।
प्रथमं द्वादशेऽध्याये देहाध्यासो हि धेनुकः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ – आध्यात्मिकी अविद्या को दूर करने के लिए ही भगवान् की ऐसी कृति है इसलिए क्रम पूर्वक पाँच अध्याय कहे गए हैं। शेष दो अध्याय दोनों (गोप और उनकी स्त्रियों) के अधिक स्नेह की सिद्धि के लिए कहे हैं, मध्यम निरोध का फल स्नेह है। प्रथम(द्वादश) अध्याय में धेनुक को देहाध्यास कहा गया है ॥ ३-४ ॥

व्याख्यार्थ – अविद्या, आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक होने से तीन प्रकार की है। स्थूल शरीर में जिससे अध्यास होता है वह अविद्या आधिभौतिक है। उस आधिभौतिक अविद्या का रूप पूतना थी। जिसका नाश प्रमाण उप-प्रकरण में भगवान् ने किया है जिससे स्थूल देहाध्यास रूप अविद्या व्रजवासियों की नष्ट हुई। अब इस प्रमेय उप-प्रकरण में भगवान् सूक्ष्म (लिङ्ग) शरीराध्यास रूप आध्यात्मिक अविद्या का नाश करेंगे। यह अविद्या तब नष्ट होगी, जब इसके देहाध्यासादि पाँच पर्वरूप धेनुकासुरादि पाँच दुष्टों (दैत्यों) का नाश होगा। भगवान् ने इस प्रकरण के, एक एक अध्याय में, एक एक दैत्य का नाश किया है, इस प्रकार १२ से १६ तक के पाँच अध्यायों में पाँचों का नाश कर, भगवान् ने व्रजवासियों की आध्यात्मिक अविद्या नाश की है। १७ वें और १८ वें इन दो अध्यायों में भगवान् के मित्र गोप और उनकी स्त्रियों के निरोध का वर्णन है। इन दोनों का निरोध, अन्य व्रजवासियों से पृथक् निरूपण करने का कारण यह है कि इन दोनों में उन (व्रजवासियों) से भगवान् में स्नेह विशेष था। जिस निरोध का फल स्नेह † (आसक्ति) है, वह निरोध मध्यम कहा जाता है। इस उप-प्रकरण में 'स्नेह' शब्द का तात्पर्य "आसक्ति" से है। कारण कि तामस प्रमाण उप-प्रकरण में की हुई लीलाओं से, व्रजवासियों का भगवान् में स्नेह हो जाने से उनको प्रमेय (भगवान्) की प्राप्ति हो गई, जिससे इस उप-प्रकरण में भगवान् ने साधनों की अपेक्षा न रख कर, अपने प्रमेय बल से, इनका मध्यम निरोध सिद्ध किया है।

आचार्य श्री ने 'तत्वदीप निबन्ध' के भागवतार्थ प्रकरण, के दशम स्कन्ध की कारिका ५९वीं, ६०वीं में निरोध ४ प्रकार के कहे हैं।

द्वादश अध्याय में बताया है कि धेनुक दैत्य, देहाध्यास है। ५ वें से ८ वें श्लोकों तक लीला के सम्बन्धी सर्व वस्तुओं का ज्ञान भगवान् ने व्रजवासियों को कराया। तदनन्तर ९वें से १८ वें श्लोकों तक दश रस पूर्ण लीलाओं के अनुभव कराए। इस प्रकार के अनुभव में, इन लोगों का भगवान् में भाव जागृत हुआ, जिससे उनको देह आदि का विस्मरण भी हो गया। यह भाव स्वल्प समय के लिए नहीं जगा था, किन्तु सदैव के लिए उत्पन्न हो गया था। वह कभी भी कम न हो, इसलिए भगवान् ने दश विध रस वाली लीला रूप, धेनुक-देहाध्यास-को पहले नष्ट किया।

---

† निरोध चार प्रकार का है, १-स्नेह, २-आसक्ति, ३-व्यसन और , ४-फल।
प्रमाण उप-प्रकरण में, स्नेहात्मक निरोध का वर्णन है। अ. ५ से ११ तक
प्रमेय उप-प्रकरण में, आसक्तिरूप निरोध का वर्णन है। अ. १२ से १८ तक
साधन उप-प्रकरण में, व्यसन रूप निरोध का वर्णन है। अ. १९ से २५ तक
और फल उप-प्रकरण में फल रूप निरोध का वर्णन है। अ. २६ से ३२ तक

जिन लोगों का आग्रह है, कि अविद्या, देहाध्यास कराती है, उनको श्री विठ्ठलेश्वर प्रभुचरण 'दुर्जन-परितोष न्याय' से कहते हैं कि आप धेनुक को ही, अविद्यारूप समझो । आपके मतानुसार अविद्या, देह में अध्यास कराके लौकिक में प्रवृत्ति और भगवद् भजन में विघ्न डालती है, वही कार्य धेनुक कराता है, जैसे गोप वन में जाकर भगवद्भजन करना चाहते थे, उस समय धेनुक उसमें विघ्न करता था अतः धेनुक देहाध्यास रूप है यह निश्चित सिद्धान्त है ॥ ३-४ ॥

कारिका – **तद्वधो ज्ञानपूर्वो हि फलावधि निरूप्यते ।**
कालीय इन्द्रियाण्याहुर्विषयास्तद्विषं मतम् ॥ ५ ॥

कारिकार्थ – ज्ञान पूर्वक फल की प्राप्ति होने तक उस (धेनुक) के वध का निरूपण किया गया है । मनुष्य की इन्द्रियाँ कालीय सर्प के विष के समान है ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ – जब तक ज्ञान पूर्वक फल की प्राप्ति हुई, तब तक धेनुक के वध का निरूपण होने से सिद्ध है, कि धेनुक देहाध्यास था । जैसे तत्वज्ञान से, देहाध्यास का नाश होता है । यह तत्वज्ञान तब होता है, जब आत्मा में पूर्ण प्रेम उत्पन्न हो । वैसे ही गोपों को भगवान् की लीलारस का अनुभव होने से, उस रस के विशेष पान करने की तीव्र इच्छा हुई, जिससे उन्होंने धेनुक के वन में, भगवान् की भक्ति करने के लिए वहाँ जाने की, भगवान् को प्रार्थना की । वहाँ जाकर विशेष रस का अनुभव किया, जिससे तत्वज्ञान की तरह, यहाँ भी गोपों का देहाध्यास नष्ट हो गया अर्थात् धेनुक का नाश हुआ ।

ये सर्व वृक्षादि पदार्थ लीला सम्बन्धी हैं और लीला दश रसों वाली है, इसका अनुभव और इस प्रकार का ज्ञान, गोपों को हुआ तदन्तर धेनुक का (देहाध्यास का) नाश हुआ ।

धेनुक (देहाध्यास) के नाश से, जो उत्तम फल प्राप्त होता है, वह गोपों को भी प्राप्त हुआ । जैसे कि धेनुक के मरने पर, वे निर्भय हुए और निडर होकर, वन के फल खाने लगे । देहाध्यास नष्ट होते ही, विष युक्त यमुना जल पान करने से, प्राण त्याग किया तब भगवान् ने अपनी अमृतमयी दृष्टि की वर्षा से उनको जीवन दान देकर अलौकिक देह की प्राप्ति करा दी ॥ ५ ॥

कारिका – **ततः सर्वविनाशः स्यादित्यन्ते मरणाभिधा ।**
ततश्चेज्जीविताः सर्वे पुनर्देहान्तरस्थितिः ॥ ६ ॥

कारिकार्थ – उससे (विष से) सर्व का नाश होता है इसलिए अन्त में मरण कहा है । मरणानन्तर, जीने पर दूसरे देह की प्राप्ति समझनी चाहिए ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ – जैसे सर्प के विष से, मरण होता है वैसे ही विषय रूप विष से, ज़ीर्ण शीर्ण इ़न्द्रियों से मृत्यु होती है । अतः इन्द्रियाँ कालीय सर्प के समान हैं और विषय विष जैसे हैं ।

आध्यात्मिक अविद्या को नाश करने के लिए, धेनुकादि का भगवान् ने प्रथम निग्रह किया है। लिंग शरीर में, जो अध्यास होता है, वह आध्यात्मिक अविद्या से होता है। जब तक आध्यात्मिक अविद्या नष्ट नहीं होगी तब तक प्राकृत लिंग शरीर का भी नाश न होगा। भगवान् को इनके प्राकृत लिंग शरीर का नाश करना है, अतः ये कालीय के विष से युक्त यमुनाजी का जल पीते हैं, जिससे मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उनका प्राकृत लिंग शरीर नष्ट हो जाता है। भगवान् अपनी अमृतमयी दृष्टि वृष्टि से उनको अलौकिक देह का दान करते हैं। वह अलौकिक देह, लीलोपयोगी होती है। यह देह प्रारब्ध कर्म से उत्पन्न नहीं हुई है, कारण कि, लिंग शरीर के नाश से उनके प्रारब्ध कर्म भी नष्ट हो गए थे।

लीला के उपयोगी भक्तों का जीवन, अलौकिक ही होता है। जैसे लीला में स्थित वृक्षादिकों का अलौकिक स्वरूप, भगवान् ने बलदेवजी को दिखाया वैसे ही गोपों का स्वरूप भी, अपनी कृति से दिखाने के लिए, प्रथम उनमें लौकिक भाव की स्थापना की थी। उनका देहाध्यास नाश कर, उनको अलौकिक देह का दान किया। वास्तव में तो, लीला के जीवों में, प्राकृतता कभी भी नहीं होती है. उनमें सदैव भगवद्भाव ही बना रहता है।

कारिकार्थ व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

कारिकाओं द्वारा प्रथमाध्याय का अर्थ समझाकर अब श्लोकार्थ प्रारम्भ करते हैं।

आभास – तत्र प्रथमं ज्ञानं निरूपयन् भगवान् देशशुद्धिं वनप्रवेशं वनक्रीडायां मनश्च कृतवानित्याह त्रिभिः ततश्चेति, वन एव ज्ञानं सात्त्विकत्वात् तत्रोद्वेगो न भवतीति तत्र क्रीडायां मनौ निरूपणीयं प्रवेशश्च ग्रामाद् भिन्नप्रक्रमार्थो वक्तव्यः, तत्र प्रथमं भगवतो मध्यमलीलायां वृन्दावनस्य दैत्यभूयिष्ठत्वाच्छुद्धिमाह तत इति,

आभासार्थ – ज्ञान का निरूपण करते हुए, प्रथम भगवान् ने (१) देश की शुद्धि (२) वन में प्रवेश और (३) वन में क्रीडा करने का मन किया। इसका वर्णन क्रम पूर्वक तीन श्लोकों से करते हैं, ज्ञान सात्विक होने से, सात्विक स्थान पर ही उत्पन्न होता है। वन सात्विक है अतः वहाँ ही ज्ञान होगा वहाँ उद्वेग भी न होगा, इसलिए वहाँ भिन्न प्रकार से* प्रवेश और क्रीड़ा करने का मन किया†। इस उप-प्रकरण में, मध्यम लीला के प्रारम्भ में, देशशुद्धि की आवश्यकता है कारण कि, वृन्दावन में दैत्यों का बाहुल्य है, अतः प्रथम श्लोक में देश की शुद्धि का वर्णन है।

---

* ११ वें अध्याय में भी वन लीला कही है। वह गाँव के सम्बन्ध वाली होने से, वैसी नहीं थी जैसी यह है। अतः यहाँ पृथक् प्रकार से प्रवेश किया। **'लेख'**

† धेनुक का वध ज्ञान पूर्वक करना है, इसलिए ज्ञान का निरूपण आवश्यक है। किन्तु यहाँ वन प्रवेश आदि का वर्णन प्रथम इसलिए किया है कि ज्ञान सात्विक स्थान में उद्भव होता है। वन सात्विक स्थान है वहाँ ज्ञान का वर्णन उद्वेग बिना होगा। **'प्रकाश'**

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — **ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥ १ ॥**

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे कि - फिर पौगण्ड आयु को प्राप्त हुए, वे दोनों भ्राता, व्रज में पशुपालों के मान्य हुए। सखाओं के साथ गौओं को चराते हुए अपने चरणारविन्दों से वृन्दावन को विशेष पवित्र करते थे।

सुबोधिनी — पौगण्डं वयः षष्ठवर्षमारभ्य नववर्षपर्यन्तं, पुरुषार्थचतुष्टयसाधककालाभिमानिन्यो देवता भगवन्तं सेवितुमागताः **पौगण्डशब्देनोच्यन्ते**, दोषाभावः प्रथमं निरूपणीय इति पञ्चात्मकः कालः पूर्वं निरूपितः, **ततस्तदनन्तरं पौगण्डमेव वयस्तारुण्यमिव श्रितौ व्रजे पशुपालानां सम्मतौ बभूवतुः पशूनां पालने** वा योग्यौ, तौ रामकृष्णौ साधारणं चरित्रमुभयोरिति अतो **गाश्चारयन्तौ सखिभिः** सख्यपर्यन्तमागतैर्बालकैर्गोरक्षा धर्मः स तैः कार्यतेऽन्यथा सख्यपर्यन्तं गता यदि विक्षिप्ता भवेयुस्तदा **वैकुण्ठे** नयनलक्षणमात्मसमर्पणं नोपपद्येरन्, **सखिभिः समं, समं वा वृन्दावनमतीव पुण्यं चक्रतुः**, **सम**त्वाद् यागभूमिरेषा, इदानीं पुण्यरूपैव जाता, पदैः पादन्यासैः, पादयोः **पुण्य**निकायोऽस्तीति पूर्वमवोचाम, **पुण्यं** **ह्यैहिकपारलौकिकसाधनं कामानुरूपफलदं च**, इदमपि निःसाधनानां स्वयमेव भगवत्प्राप्तिसाधनरूपं लीलाविशिष्टं सत् स्वतः फलरूपं, अयमेवातिशयो ज्ञेयः, कामाभावेऽपि भगवत्प्रापकं च ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ — छठे वर्ष पर्यन्त की आयु, 'पौगण्ड' कही जाती है। 'पौगण्ड' शब्द का भावार्थ यह है कि उस आयु में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाली, कालाभिमानी देवता इस काल में भगवान् की सेवा करने के लिये आए हैं। प्रथम भगवान् में दोषों का अभाव* है, इसका निरूपण करना चाहिए। इसलिए प्रमाण उप-प्रकरण में पाँच वर्ष भगवान् की

---

* श्री विठ्ठलेश्वर प्रभुचरण, 'टिप्पणी' में इसका स्पष्ट विवेचन करते हुए कहतें हैं कि, प्रभु में दोष लेश भी नहीं है, क्योंकि जैसे प्राणियों के देह में, देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और जीव ये पाँच पृथक् पृथक् होते हैं, वैसे ही भगवान् में भी प्रतीत होते हैं जिससे पुरुष की तरह भगवान् भी दोष वाले हैं। इन पाँचों का अभाव सिद्ध हो जाय तो दोषाभाव हो, अन्यथा दोष सिद्ध है ही। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि - भगवान् में देह आदि, पाँचों का अभाव 'प्रमाण' उप-प्रकरण में सिद्ध हो गया है। भगवान् में जैसे इन दोषों का अभाव सिद्ध है, वैसे ही भगवान् के भक्तों में ये दोष नहीं हैं। यदि भक्तों में दोष होते, तो भगवान् उनको अपना सखा न बनाते। वह सखापन लीला द्वारा, वहाँ कहा गया है, और जैसा श्रीकृष्ण का प्राकट्य उत्सव मनाया गया हो वैसा "ही" जीव का नहीं मनाया जाता है। इसके सिवाय पूतना

आयु के काल का वर्णन पहले ही किया गया है। इसके अनन्तर दोनों भ्राताओं ने तारुण्य[१] के सदृश पौगण्डवय[२] धारण की और पशुपालों[३] के मान्य हुए अथवा पशुओं (गौओं) के पालन करने के योग्य हो गए। यह (गौचारण) चरित्र साधारण चरित्र होने के कारण दोनों का चरित्र साथ में वर्णन किया है। सख्य[४] पर्यन्त आए हुए गोपबालक सखाओं के साथ गौओं को चराने लगे। इन गोपबालकों से उनका गौपालन धर्म कराने लगे, यदि वे उस धर्म का पालन न करें तो उनके चित्तों में विक्षेप पैदा हो जाए, जिससे वैकुण्ठ में ले जाने के लक्षणवाला आत्म-समर्पण उनका सिद्ध नही हों सकता†। इससे ये दोनों, सखाओं की गौओं को चराते हुए अपने पदारविन्दों से वृन्दावन को पुण्य रूप करने लगे। पहले यह वृन्दावन भूमि सम होने से, केवल यज्ञ भूमि थी। अब पुण्य स्थान रूप चरणारविन्दों के स्पर्श से, पुण्य रूप भी हो गई। इस लोक और परलोक के धर्म के साधन और कामना के अनुरूप

का नाश और मुक्ति दान का कार्य जीव नहीं कर सकता है। अतः श्रीकृष्ण भगवान् है, जीव नहीं है। अपनी बुराई करने वाले के लिए ब्रह्मादिकों को दुर्लभ पुरुषार्थ के हेतु वाला कृपायुक्त अन्तःकरण, भगवान् के सिवाय दूसरे का नहीं हो सकता है। जहाँ भी कृपा आदि श्रेष्ठता देखने में आती है, वहाँ स्वार्थ का उल्लङ्घन नहीं होता है। यहाँ तो स्वार्थ का उल्लङ्घन करते हुए भी कृपा की गई है। पूतना के विष युक्त स्तन्य सम्बन्ध होने पर प्राणों की रक्षा हो नहीं सकती थी किन्तु यहाँ उसका कुछ भी प्रभाव न हुआ। अतः भगवान् में न अन्तःकरण दोष है और न प्राण दोष है। इसलिए ही भगवान् को दुर्जर वीर्य कहा जाता है अर्थात् जिसकी वीर्य शक्ति कभी कम न हो। प्राण रक्षार्थ माता के स्तन की इच्छा वाले छोटे बालकपने की दशा में पूतना के स्तन्य पान किए, कोमल पादांगुलियों के स्पर्श से शकट भञ्जन किया, तृणावर्त का गला ग्रहण किया, बकासुर के मुख में प्रवेश किया आदि कार्य, अवस्था विरुद्ध करने पर भी, कुछ (मृत्यु आदि) न हुआ जिससे आप में प्राणों का अभाव सिद्ध है। अपने मुखारविन्द में विश्व के दर्शन से और ऊखल से बन्धन समय रज्जु का छोटा होना दिखाता है कि आप में देह इन्द्रियादि नहीं हैं 'या पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि श्रुति प्रोक्त धर्म वाले भगवान् में देह इन्द्रियादि हो नहीं सकते हैं। यह भी विचार करना चाहिए कि एक ही देह में लघुत्व एवं गुरुत्व एक ही काल में नहीं होता है जिससे रज्जु में अन्य रज्जु मिलाने पर भी कम ही कम होती गई। इससे भगवान् में देहादिकों के अभाव से, उनका अध्यास भी नहीं था। और उपरोक्त कहे हुए गुणों से आप (भगवान्) का निर्दोष पूर्ण विग्रह रूप से सिद्ध ही है।

†– 'टिप्पणी' में श्री विठ्ठलेश्वर प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि – प्रभु के सख्य को प्राप्त बालकों को, प्रभु जैसे कर्तव्य ही करने चाहिए परन्तु ये तो वर्ण धर्म पालन करते हैं वह योग्य नहीं हैं ऐसी शङ्का नहीं करनी, क्योंकि भगवान् ने उन (बालकों) में 'स्वाभाविक धर्मों के स्थापन करने के साथ सख्य का भी दान किया है। अतः इसमें विशेषता ही है, हानि कुछ भी नहीं है। यदि भगवान् इस प्रकार न करते,

---

१–जवानी। २–आयु। ३–गोपों। ४–भक्ति।

फल देनेवाले साधन को, 'पुण्य' कहा जाता है। यह वृन्दावन भी, पुण्य रूप होने से, नि:साधनों का स्वयं ही भगवान् की प्राप्ति का साधन हो गया है। इतना ही नहीं किन्तु लीला विशिष्ट[१] होने से, स्वतः फलरूप हैं। यही वृन्दावन में विशेषता समझनी चाहिए और जिसको इच्छा न हो, तो भी उसको भगवत् प्राप्ति कराता है अतः यह वृन्दावन पुण्यों से भी विशेष उत्तम है ॥ १ ॥

आभास – ततो भगवान् विशेषाकारेण वृन्दावनप्रवेशं कृतवानित्याह तन्माधव इति।

आभासार्थ – तदनन्तर भगवान् के वृंदावन में विशेष प्रकार से प्रवेश का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः।**
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद् विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ – आपके यश का गान करते हुए ग्वालबालों से वेष्टित, बंसी बजाते हुए भगवान् गौओं को आगे कर, विहार करने की इच्छा से, पशुओं के हितकारी पुष्पों से समृद्ध[३] वन में बलरामजी के साथ पधारे ॥ २ ॥

तो विष पान के व्याज[२] से, मृत्यु कराकर स्वाभाविक धर्मों का नाश तथा अलौकिक देह की प्राप्ति की लीला भगवान् ने न की होती। इस प्रकार से सख्य का फल प्राप्त हो, तब तक भगवान् उनसे गोरक्षा का कार्य कराते हैं। सख्य फल प्राप्त होने पर, प्रभु कर्तव्य करना ही उनका स्वधर्म है। यदि वे उनको न करें और स्वाभाविक धर्मों से चित्त इधर उधर भटकने लग जाए तो गोप भगवान् के माहात्म्य ग्रहण में असमर्थ हो जावें और मन में भगवान् के लोक के देखने की उत्कण्ठा भी पैदा न होवे, तो उसके दर्शन भी न हो। कारण कि समर्पण करने पर भी, यदि भगवान् उसको स्वीकार न करें तो समर्पण सिद्ध नहीं होता है। जब भगवान् अपनाते हुए अङ्गीकार करते हैं तब सिद्धि होती है। यहाँ तो भगवान् उनके लिए अपने गृह को प्रकट करने से, उनमें अपनापन मानते हैं ऐसा जाना जाता है। उनके लिए वैकुण्ठ प्रकट करना ही आत्म-समर्पण रूप है। यह साधन रूप होने से, साधन उप-प्रकरण मे इसका निरूपण है। फल रूप का तो फल उप-प्रकरण में निरूपण होगा। साधन रूप नौ प्रकार की भक्ति के अनन्तर फल रूप नवविध भक्ति का भी निरूपण होगा।

१-युक्त। २-मिष। ३-भरपूर।

सुबोधिनी – सामान्यलीलैकेनैवोक्ता, तत् तत्र **माधवो** लक्ष्मीपतिर्लक्ष्म्या क्रीडाँ कर्तुं शब्दब्रह्म च संवादार्थमुदीरयन्, वेणुरिति वश्चैश्च वयौ स्वरूपानन्दविषयानन्दावणू यस्मात् स **वेणू**रुभयविस्मारकस्तद्वादने विषयिणो मुक्ताश्च सर्वे समायान्त्याध्यात्मिका आधिदैविकाश्चोद्बुद्धा भवन्ति ततो **वृतो गोपैरा**धिदैविकैरत एव **स्वयशो गृणद्भिः**, **भगवद्यशस्तैर्निरन्तरं गीयते**, सामर्थ्यार्थं **बलान्वितः**, बलभद्रो हि बलात्मा, क्रियायां पशूनां विनियोग **इति पशून् पुरस्कृत्य तानादौ** क्रियाशक्त्या शुद्धान् कर्तुं **वनमाविशत्**, स्थानमपि **पशव्यं पशू**नां हितं, भगवता पूर्वं तथाकृतत्वात्, **विहर्तुकाम** इति, तत्र विहारेच्छया प्रविष्टः, **विहारे हि क्रिया पूर्णा भवति**, रजसैव विहार इति स्थानस्य रजस उद्रेकमाह **कुसुमाकर**मिति, **कुसुमा**नां रजोविकासाना**माकरं** स्थानभूतं, **वन**मिति, **वन**लीला सात्त्विकीति सत्त्वप्रधानैव रजोलीला ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् के वन में प्रवेश का वर्णन, पहले श्लोक में सामान्य रीति से किया था, अब इस श्लोक में विशेष प्रकार से है। लक्ष्मी पति भगवान् ने लक्ष्मी† के साथ क्रीड़ा करने के लिए वेणु बजाते हुए वन में प्रवेश किया। वेणु के बजाने का कारण यह है, कि इस क्रीड़ा में शब्द‡ ब्रह्म (वेद) की भी सम्मति है। वेणु के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि स्वरूप (मोक्ष) के आनन्द और विषयों (स्वर्ग) के आनन्द वेणु के नाद के आनन्द के आगे तुच्छ है। वेणु शब्द में व + ई + अणु तीन शब्द मिले है 'व' का अर्थ 'स्वरूपानन्द (मोक्ष)' है, 'इ' का अर्थ 'विषयानन्द (स्वर्ग का आनन्द)' हैं, ये दोनों 'अणु' तुच्छ हैं। अतः वेणु[१] से ये तुच्छ होने के कारण बंशी की ध्वनि से दोनों सुखों की विस्मृति हो जाती है, जिससे बंशी ध्वनि सुनते ही मुक्त और स्वर्गस्थ (विषयानन्द) जीव इस आनन्द के स्वाद लेने के लिए दौड़ते हुए आते हैं। आध्यात्मिक भक्त और आधिदैविक भक्त वेणुनाद के श्रवण से उद्बुद्ध[२] हो जाते हैं। इससे वेणु बजाते ही भगवान् आधिदैविक गोपों से वेष्टित हो जाते हैं। ये गोप आधिदैविक होने से, निरन्तर भगवान् के यश का गान करते रहते थे। सामर्थ्य (विघ्नों को दूर करने) के लिए बलदेवजी को साथ लिया था। कारण कि बलदेवजी बलात्मा[३] है। क्रिया* में पशुओं के उपयोग की आवश्यकता होने से पशुओं को अगाडी कर प्रथम उन (पशुओं) को क्रिया शक्ति से (वन में प्रवेश करने से वा कराने से) शुद्ध करने के लिए वन में प्रवेश किया। यह

†टिप्पणी में श्रीमद्विठ्ठलेश्वर प्रभुचरण आज्ञा करते है कि-यहाँ 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग व्रज सीमन्तिनियों के लिए किया हैं।

‡**टिप्पणी** - वन में प्रवेश का कारण स्वच्छन्द लीला है। स्वच्छन्द लीला में मर्यादा नहीं रहती है, तो उसमें वेद का विरोध होगा ? इस शङ्का के मिटाने के लिये उत्तम ब्रह्म रूप वेणु बजाकर वेद की सम्मति प्रकट की है। 'वेणु' शब्द का अर्थ सुबोधिनी में यह किया है कि स्वरूपानन्द और विषयानन्द का सुख वेणु नाद के सुख के आगे तुच्छ है। जब लीला में प्रवृत्त कराने वाले वेणु के नाद के आगे स्वरूपानन्द (मोक्ष का आनन्द) और विषयानन्द (स्वर्ग का आनन्द) तुच्छ है तो लीला के आगे वे तुच्छ हो तो कौन-सा आश्चर्य है।

* क्रिया से-गौंचारण लीला समझनी।

१-बंशी, २-विकसित वा जागृत, ३-बलवान

स्थान (वन) पशुओं का हितकारी** है । इसे भगवान् ने पहले ही ऐसा बना दिया था । विहार की इच्छा से प्रवेश किया । विहार करने से क्रिया पूर्ण होती है और रजोगुण से ही विहार होता है । इस स्थान में रजोगुण की विशेषता है, क्योंकि यह वन रजोगुण का विकास करने वाले पुष्पों का स्थान है वन की लीला सत्त्वगुण प्रधान रजोगुण वाली❀ है ॥ २ ॥

आभास – पश्चाद् भगवांस्तत्र स्थिताभि: सर्वाभिरेव देवताभिरलौकिकीभि: सह रन्तुं मन: कृतवानित्याह तदिति,

आभासार्थ – प्रवेश के पश्चात् भगवान् ने वहाँ वृन्दावन और गोवर्धन के निकट रहने वाली अलौकिक देवताओं (व्रज की सुन्दर उत्तम स्त्रियों) से रमण करने का मन (इच्छा) किया । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक: – **तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मन:प्रख्यपय:सरस्वता ।**
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ – सुन्दर मधुर शब्द करते हुए, भ्रमर, मृग तथा पक्षियों से व्याप्त और महत् पुरुषों के समान स्वच्छ जल से भरे सरोवरों में से आती हुई कमलों की सुगन्धि से युक्त पवन को देखकर भगवान् ने क्रीड़ा करने के लिए मन किया ॥ ३ ॥

** वृन्दावन के तृणादि दोष रहित[1] हैं यह आगे कहा जायगा । अत: उनके सम्बन्ध से गौ भी शुद्ध होगी इसीलिए वन को पशुओं का हितकारी कहा है ।

❀ **श्री विट्ठलेश प्रभुचरण** टिप्पणी में कहते हैं कि-जैसे लौकिक में रस बढाने वाली रीति रस शास्त्र में वर्णन की गई है, वैसे ही अलौकिक में भी वही प्रकार रस बढाने का है इसलिए यहाँ रजोगुण शब्द से केवल बढाने वाली सामग्री कही है ।

'प्रकाशकार' इसको विशेष स्पष्ट कर रजोगुण कहने से उत्पन्न शङ्का का निवारण करते हैं । यह रजोगुण भगवद्धर्म रूप है अत: इससे उत्पन्न ११ वृत्तियाँ भी लौकिक नहीं किन्तु अलौकिक हैं । जैसे भगवान् अलौकिक रस रूप हैं वैसे उनके धर्म भी अलौकिक रस रूप होने से यहाँ रजोगुण से उत्पन्न सर्व सामग्री भगवद्रस रूप है ।

१-शुद्ध

सुबोधिनी – **मञ्जुर्घोषो** येषामलीनां **मृगाणां द्विजानां** च **कुलैराकुलं** दृष्ट्वा **रन्तुं, मनो दध इतिसम्बन्धः**, यत्र त्रिविधा अपि **मञ्जुघोषास्तत्र** भूदोषो नास्तीति ज्ञातव्यं, **तृणपुष्पफलात्मकं च वनं भवति**, तत्सम्बन्धिनश्चेन् निर्दुष्टास्तदा तृणादयोऽपि निर्दुष्टा एव, अत्राल्यादीनां **मञ्जुघोषत्वस्यानुक्तिसिद्धत्वेऽपि** यत् कथनं तेन लोक-प्रसिद्धातिरिक्तो भगवत्स्वरूपनादानुभवानन्दजत्वलक्षणो **मञ्जुत्वविशेषो** यः स उच्यतेऽतो नानर्थक्यं, अत एव **मृगाणाम**-प्युक्तिः, अन्यथा रसोद्दीपकत्वं तेषां लोके न सिद्धमिति तदुक्तिरयुक्ता स्यात्, स्वस्थितिदेशे प्रियस्थितिज्ञाप्यत्वमपि **मञ्जुत्वं** तेषां ज्ञेयं, किञ्च न केवलं दोषाभावस्तत्र किन्तु गुणपूर्णतापीत्याह **महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता वातेन जुष्टमिति**, **अन्तरिक्षदैवत्या हि पशवोरण्यप्रतिष्ठाः** तत्र वायुरुभयाधिपतिर्ग्रामारण्यस्य च, स चेत् सर्वथादोषरहितो गुणवांश्च भवति तदैव लीला सङ्गच्छते, श्रमापनोदनार्थं च तस्यापेक्षा लोकसिद्धा, वृन्दावने सामान्यतः सर्वदोष-निवृत्तेरुक्तत्वाद् वायोरागन्तुकदोष एव परिहर्तव्यः, जलं पुष्पाणि च तत्सम्बन्धीनि शैत्यमान्द्यसौरभ्याणि च गुणाः, तथा सति वायुराधिदैविको भवति, **महतां मनोवद्** यत् **सरः**, **सर्वदोषाभावपूर्वकगुणेषु निदर्शनं महतां मनः**, ततोऽपि **प्रकर्षेण** ख्यातिर्यस्य भगवल्लीलौपयिकत्वात्, एतादृशं **पयस्तद्युक्तं सरो** लयविक्षेपशून्यं शान्तं तरङ्गादिरहितं , अनेन शैत्यमान्द्ये निरूपिते, सदादिपदेषु सत्स्वपि यन्महत्पददानं तेन सरस्वपि नाल्पत्वं महत्परिमाणवत्त्वमेतल्लीलामध्य-पात्यतिरिक्ताज्ञातत्वं च ज्ञाप्यते, **शतपत्राणि** कमलानि कुशेशयानि पुष्पविशेषा वा, तेषां **गन्धोऽस्यास्तीति सौरभ्यं** निरूपितं, तेनापि चेत् सेवितं तदा **भगवान्** षड्गुणैः सह तत्र रमणार्थं प्रवृत्तः, भृङ्गादिषु त्रयो गुणा वाते च त्रयः, अतो वृन्दावनं षड्गुणैर्युक्तं, **स्वसमाने च रमणं भवति** ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ – भ्रमर, मृग तथा पक्षियों के मधुर ध्वनि से भरपूर वन को देखकर भगवान् ने रमण करने के लिए मन किया जिस भूमि पर तीन प्रकार के मधुर शब्द होते हों, वह भूमि दोष रहित अर्थात् शुद्ध है । वन में तृण, पुष्प और फल ये तीन वस्तुयें होती हैं । तृणादिकों के सम्बन्धी† दोष रहित हैं तो वे तृणादिक भी निर्दोष[1] ही हैं । शुद्ध तृणादिकों के भक्षण करने से उनका शब्द मधुर ही रहा है । भ्रमरादिकों की ध्वनि स्वतः सिद्ध मधुर होती है, पुनः उसकी मधुरता कहने का कोई अर्थ[2] नहीं था । इस शंका निवारण के लिए कहते हैं कि उनकी मधुर ध्वनि कहने का तात्पर्य यह है कि यह मधुरता लोक प्रसिद्ध मधुरता से विशेष भिन्न प्रकार की है । कारण कि यह ध्वनि इनकी तब निकली जब इनको भगवान् के बंशी (भगवत्स्वरूप) के नाद के अनुभव से आनन्द उत्पन्न हुआ । उस आनन्द से उत्पन्न यह मधुर ध्वनि अलौकिक रसमयी थी, इसलिए इसका कहना आवश्यक तथा सार्थक ही है, और मधुर ध्वनि भ्रमर तथा पक्षियों की होती है किन्तु मृगों की नहीं होती है । यहाँ मृगों की मधुर ध्वनि कही है इससे यह स्पष्ट एवं निश्चित सिद्ध होता है कि वह मधुर ध्वनि सामान्य लौकिक नहीं थी किन्तु बंशी के नाद श्रवण से उत्पन्न आनन्द के कारण हुई है, नहीं तो 'मृग' शब्द नहीं देते । पशुओं की ध्वनि से रस जागृत नहीं होता है, तो उनकी मधुर ध्वनि (रस जागृत करने वाली) कहना अयोग्य हो जाता । जहाँ हम रहते हैं वहाँ

† तृण भक्षक मृग, पुष्प रस पान करने वाले भ्रमर, फल भक्षक पक्षी ।

१—शुद्ध । २—तात्पर्य ।

ही हमारे प्यारे भी रहते हैं इसको बताने के लिए भी उनकी मधुर ध्वनि थी, ऐसा भी समझना चाहिए ।

वन केवल निर्दोष नहीं था, किन्तु गुणों से भी पूर्ण था । इसको सिद्ध करने के लिए श्लोक में दृष्टान्त देकर समझाया है कि जैसे महान् पुरुषों का मन उदार[१] निर्दोष एवं गुणवान् है वैसे ही जल निर्दोष गुणवान् (उदार, परोपकारी) होता है । उस जलवाले सरोवर से होकर आनेवाले वायु से युक्त वन है । अत: गुणों से भी पूर्ण है । अरण्य[२] में जो पशु रहते हैं उनका देवता अन्तरिक्ष[३] है । उनमें वायु गौ और अरण्य दोनों की अधिपति देवता है । वह (वायु) जब सर्वथा दोष रहित और गुणवान् हो तब ही लीला सिद्ध हो सकती है, क्योंकि लीला करते समय जो श्रम होता है, उसको वायु मिटाती है । इसलिए वायु की अपेक्षा होती है यह लोक सिद्ध है । निर्दोष वृन्दावन में जो प्रवेश करता है उसके भी सामान्य रीति से सर्व दोष निर्वृत्त हो जाते हैं । अत: वायु के भी आगन्तुक दोष आदि रहे नहीं, किन्तु शीतलता, धीमापन और सुगन्धि गुण ही रह गए । इस कारण से वायु आधिदैविक है । महापुरुषों का मन निर्दोष और पूर्ण गुणों वाला होता है अत: वह मन दूसरों की निर्दोषता तथा पूर्णगुणता दिखाने में उदाहरण दिया जाता है इसलिए महापुरुषों के मन की सर्वत्र ख्याति[४] होती है किन्तु वृन्दावन में जो सर है वह महापुरुषों के मन के समान होते हुए भी उससे विशेष ख्याति वाला है क्योंकि भगवल्लीला के उपयोग में आता है ।

इस प्रकार के जलवाला सरोवर लय[५] और विक्षेप[६] से रहित होने के कारण शान्त तथा भरपूर था। इससे शीतलता एवं धीमापन बताया । सत्पुरुष न कहकर, महत्पुरुष कहा इसका भावार्थ यह है कि सरोवर में भी महानता है, जिससे इस लीला मध्यपाती भक्तों से अतिरिक्तों को, इसकी जानकारी नहीं है । वायु में दोनों प्रकार के (दिन में विकसित और रात्रि में विकसित) कमलों तथा अन्य पुष्पों की सुगन्धि थी । ऐसे वायु से सेवित वह वन था । रमण अपनी समानता वाले में होता है । वृन्दावन में भ्रमरादिकों के तीन गुण और वायु के तीन गुण थे, जिससे वृन्दावन षड्गुणवाला हुआ तब भगवान् के षड्गुणों के साथ वहाँ रमण के लिए प्रवृत्त हुआ ॥ ३ ॥

आभास – कदाचित् प्राकृतरतिं भगवान् करोतीति कस्यचिच्छङ्का स्यात् तत्परिहारार्थं वृक्षाणां भ्रमराणां मृगपक्षिणां भूमेश्च स्वरूपं वक्तव्यं, वनं हि भूमिवृक्षात्मकं, तत्स्था अपि यदि दुष्टा भवेयुः स्वरूपतोऽपि तदापि वनं त्याज्यमिति दोषाभावो गुणाश्च वक्तव्याः, तान् भगवानेव जानाति बुध्यते च बलभद्र एव, अतोऽग्रे प्रत्यक्षतो लीलां कर्तुं तेषां स्वरूपं बलभद्रं बोधयति स तत्र तत्रेति,

---

१-दातार, परोपकारी । २-वन, जंगल । ३-आकाश । ४-प्रशंसायश ।

५-सूखना । ६-तरंगादि से होने वाली हलचल ।

आभासार्थ – कदाचित् किसी के मन में ऐसी शंका का प्रादुर्भाव हो जावे कि भगवान् अप्राकृत होकर भी प्राकृत पदार्थों से रति[१] करते हैं ? इस शङ्का के मिटाने के लिए निम्न श्लोक में वृक्ष, भ्रमर, मृग, पक्षी और भूमि के स्वरूप बताते हैं। जिस भूमि पर वृक्षादि होते हैं उसको वन कहते हैं, और उस वन में रहने वाले यदि स्वरूप से दोषवाले हों तो उस वन का त्याग करना उचित है, इसलिए उनके दोषों का अभाव और गुणों का वर्णन करना चाहिए। उनके निर्दोषत्व और गुणों को भगवान् ही जानते हैं और केवल बलरामजी को जताते हैं। क्योंकि भगवान् ही अपने स्वरूप को जानते हैं, वृन्दावन भगवत्स्वरूप होने से उसके और वहाँ रहने वालों के स्वरूप को आप जानकर ही उनसे प्रेम करते हैं, न कि प्राकृत पदार्थों से प्रेम करते हैं। यह भगवान् यहाँ प्रत्यक्ष लीला करेंगे उसमें कोई विघ्न आवे तो बलभद्रजी उसका निवारण कर दें इसलिये बलभद्रजी को भी उसका स्वरूप बता देते हैं।

श्लोक – स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः ।
स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ – वहाँ वहाँ अरुण[२] पल्लवों की शोभा वाले, फल-फूल के विशेष भार से जिन वृक्षों की शाखाएँ अपने अग्र[३] भाग से चरण स्पर्श कर रही है, उनको देख कर आनन्द से मानो मुस्कुराते हुए भगवान् ने अपने बड़े भाई बलरामजी के कहा ॥ ४ ॥

सुबोधिनी – यदि वनस्था न स्वभावं प्रकटयेयुस्तूष्णीं वा तिष्ठेयुस्तदा भगवांस्तेषां स्वरूपं न वदेत् किन्तु त एव नम्रा इत्याह, **स तत्र तत्र** सर्वत्र **वनेऽरुणपल्लवानां श्रियो**पलक्षितान् **फलप्रसूनयोरुभरेण स्वपादयोः स्पृशच्छिखान् वनस्पतीन् वीक्ष्ये**ति, पल्लवा अङ्गुलिस्थानीयाः, तेन हस्ताभ्यां नमस्कारः सूच्यते, **फला**नि पुष्पाणि च निवेदयन्ति साष्टाङ्गश्च नमस्कारः **पादयोः** शिखास्पर्शेन यथासम्भवं सूचितः, तानुद्गतान् दृष्ट्वा भगवतो हर्षः, **स्मयन्निवेति** मन्दहासो मुखप्रसादहेतुः, बलभद्रस्य तदज्ञानाद् विस्मयः, आश्चर्यभावादिवेति, बलभद्रोऽप्यावेशित्वेन बोधनीयः, अन्यथा देवताचिन्तनाभावे सा देवता नाविष्टा स्यात्, नन्वावेशापेक्षयावतारो मुख्य इति कथं बलभद्रपरत्वेन तेषां निरूपणमित्याशङ्क्याहा**ग्रज**मिति, अग्रे स एवाविर्भूत इति, तर्हि बोधनमनुचितमिति चेत् तत्राहा**दिपूरुष** इति पुरुषोत्तमः ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ – यदि वन में स्थित वृक्ष आदि अपने भाव (आधिदैविक स्वरूप) को प्रकट न करें अथवा मौन धारण कर रहे होते तो भगवान् उनका स्वरूप बलरामजी को प्रकट कर न बताते, किन्तु वे अपनी नम्रता प्रकट करने लगे। कैसे नम्रता प्रकट कर दिखाई उसका वर्णन करते हैं कि पल्लव रूप अंगुलियों द्वारा हस्तों से भगवान् को नमस्कार करते है। फल- फूलों भार से नम्र शाखाओं के

१-प्रेम, क्रीड़ा। २-लाल। ३-आगे के।

अग्र[१] भाग से भगवान् के चरणों को छूते हुए नमस्कार करते हैं, तथा फल और फूल भगवान् को अर्पण कर अपना भाव प्रकट करने लगे कि हम प्राकृत नहीं है किन्तु अप्राकृत हैं। इस प्रकार की नम्रता से उद्धृत (निरोध को प्राप्त हुए) वृक्षों को देखकर भगवान् को आनन्द हुआ तब भगवान् के मुख पर मुस्कराहट छा गई जिससे निश्चय हुआ कि भगवान् प्रसन्न हुए हैं। बलदेवजी को वृक्षादिकों के इस स्वरूप का ज्ञान नहीं था अतः उनको वृक्षों की यह क्रिया देखकर आश्चर्य हुआ। बलदेवजी देव के स्वरूप हैं, उनको भी इनके स्वरूप का ज्ञान न हुआ तो दूसरों को न हो तो क्या आश्चर्य है? इसलिए उन बलभद्रजी को जो आवेशी है, आश्चर्य युक्त देखकर, भगवान् ने सोचा कि इन (बलभद्रजी) को वृन्दावन के स्वरूप का तथा उनके स्वरूप (आवेश वाले स्वरूप) का ज्ञान कराना चाहिये, यदि नहीं कराया गया तो बलदेवजी देवताओं का चिन्तन नहीं करेंगे तो वृक्षों में देवताओं का आवेश न होगा। (जैसे बलरामजी में भगवान् का आवेश है वैसे ही वृक्षों में देवताओं का आवेश है)।

(भगवान् को वृक्षों की इस क्रिया से आश्चर्य नहीं हुआ इसलिये मानो मन्द मन्द हँसते हुए बलरामजी को इनका स्वरूप कहने लगे।)

५वें से ८वें श्लोकों तक वृक्षादि बलरामजी का ही आदर करते हैं, भगवान् का नहीं। इसका कारण यह है कि बलरामजी बड़े भाई हैं अतः बड़े भाई का आदर करना योग्य ही है।

जब बलरामजी बड़े हैं तो छोटे भाई ने बड़े भाई को वृक्षादिकों के स्वरूप का ज्ञान कराया यह योग्य नहीं था। इस शङ्का के निवारण के लिए श्लोक में श्रीकृष्ण को 'आदि पुरुष' अर्थात् पुरुषोत्तम विशेषण देकर बताया कि श्रीकृष्ण सब के आदि हैं, अतः 'आदि पुरुष' होने से सब को उपदेश कर सकते हैं ॥ ४ ॥

आभास — प्रथमं वनस्पतीनां वैष्णवत्वात् स्वरूपमाहाहो इति,

आभासार्थ — वनस्पति (वृक्ष) वैष्णव हैं अतः प्रथम उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोकः —**अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।**
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ — श्री भगवान् ने कहा कि - अहो! हे उत्तमदेव! जिस (तम) से इनको वृक्ष जन्म मिला है उसके नाश होने के लिए, अपनी शिखाओं से फल, फल रूप पूजन के पदार्थ लेकर, देवपूज्य आपके चरणारविन्द में प्रणाम करते हैं ॥ ५ ॥

१-आगे के।

सुबोधिनी — अहो इति आश्चर्ये तेषामवान्तरभेददर्शनं स्मृत्वाश्चर्यमाह **हे देववर** ! **अमी** वृक्षा **अमरार्चितं ते पादाम्बुजं शिखाभिर्नमन्तीतिसम्बन्धः**, प्रदर्शनेन तेषां चेतनत्वं सूचितमाधिदैविकत्वं च, यद्यप्येते देवास्तथापि भवान् **देववरः**, तरतमभावेऽपि देवानां देवभजनं न युक्तमित्या-शङ्क्याहा**मरार्चित**मिति, **अमरा** ये मुख्यदेवास्तैरप्य**र्चितं**, स हि **सङ्कर्षणो** देवकार्यसाधकोऽतो भूभारहणार्थं प्रार्थितोऽतो यथा तेषां खेदं दूरीकरोष्येवं वनस्पतीनामपि तमो दूरीकर्तव्यं, दूरीकरणार्थं प्रवृत्तेः, अतो **नमन्ति, तमोपहत्या** इति, **येन तमसा तरुजन्म कृतं, सजातीयेनैव सजातीयनिराकरणं भव**तीत्याधिदैविकतमोनियामकमेव नमस्यन्ति, अत एव भगवता स्वनमस्कारो नोक्तः, **मूलभूतं च तमो न कर्मणा ज्ञानेन च गच्छति किन्तु देवतयैव**, तरुत्वदोषनिवृत्त्यर्थं त्वां ज्ञापयितुं तरुरूपेणैव नमस्कारं कुर्वन्ति दयासिद्ध्यर्थं च, गुणाधिकारोऽस्मै दत्त इति मर्यादार्थं तन्निकरणाय निवेदनं, शिष्टं स्वयमेव करिष्यति, तदर्थं लीला क्रियत एव, यद्वा केनचिद् भगवत्स्थितिमज्ञात्वा तत्प्रश्ने कृते सुज्ञस्तं प्रत्याह, तस्य कदम्बस्य प्रियालस्य पनसस्य वा तले क्रीडतीति तदा तदज्ञाननिवृत्तिः स्वस्माद् भवत्येतच्च तरुत्व एव सम्भवति नान्यथेति **तादृक् तरुजन्म यत्कृतं येन** भवता **कृतं, तमोपहत्यै,** उक्तरीत्या सर्वेषां तमोज्ञानं तदपहत्यर्थमित्यर्थः, **आत्म**पदस्य **शिखाभि**रित्यनेन **तरुजन्मे**त्यनेन वा सम्बन्धः, हरौ स्वतले क्रीडत्यन्यदेशीयतरुवन्न मौढ्यं किन्तु तत्सर्वपरिज्ञानमानन्दश्च भव**तीत्यात्मनस्तमोपहत्या** इत्यत्रैव सम्बन्धः, अतस्तमुपकारं स्मृत्वा नमन्तीति वार्थः, यद्वा यद् यस्माद्धेतोरात्मन आत्मीयं स्वीयत्वेन परिगृहीतमिति यावत् **तादृक् तरुजन्म कृत**मर्थात् त्वयैवातो **नमन्तीति**सम्बन्धः, **वृन्दावनभूमावुत्पत्तिमात्रेणैव हरिरात्मीयत्वं मनुत** इति तथा, यत्रोत्पत्त्यादिरूपधर्माणामेतादृशत्वं तत्र धर्मिणां किं वाच्यमितिभावः, वक्ष्यति चाग्रे "न नः पुरो जनपदा" इत्यारभ्य "नित्यं वनौकस" इति "तस्मान् मच्छरणं गोष्ठ" मित्यादि, तमःपदं गुणत्रयोपलक्षकं, विशेषाकथनात् सम्बन्धमात्रेण सर्वेषां तथात्वायेति ज्ञेयं, 'मन्निकेतं तु निर्गुण' मितिवाक्यात् ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ — "अहो" शब्द से भगवान् आश्चर्य जता रहे हैं कि ये वृक्ष भगवान्, बलराम और गोपों के स्वरूपों में जो अवान्तर भेद है उसको जानते हैं। अतः हे देवों मे श्रेष्ठ ! ये वृक्ष देव पूज्य आपके चरणकमल को अपनी शाखाओं के अग्र भाग से प्रणाम करते हैं। 'ये वृक्ष' कहने का तात्पर्य है कि उस समय भगवान् बलराम को वृक्षों को दिखाते हुए कहते हैं कि देखो ये वृक्ष जड़ (प्राकृत) नहीं है किन्तु अप्राकृत (आधिदैविक) हैं, इस कारण से ये देव हैं किन्तु आप उत्तम देव हो। आप को इसीलिए केवल नहीं पूजते हैं कि आप देव वर हो किन्तु ये जानते हैं कि आपके चरणकमल उत्तमदेव भी पूजते हैं क्योंकि आप सङ्कर्षण हो, देवों के कार्य सिद्ध करते हो इसलिये देवताओं ने पृथ्वी के भार उतारने के लिए आपको प्रार्थना की थी। इससे जैसे देवताओं के खेद को मिटाते हो वैसे वृक्षों के तम को भी मिटाना चाहिए। आपकी प्रवृत्ति दुःखों को दूर करने की ही है। वृक्ष, जो आपको नमन करते हैं उसका कारण यह है कि उनका जन्म 'तम' (तमोगुण) से हुआ हैं उस तम को आप ही मिटाने वाले हो। क्योंकि सजातीय से ही सजातीय का निराकरण होता है (जैसे विष ही विष को नाश करता है) वृक्षों में तमोगुण है आप आधिदैविक तम के नियामक हो। भगवान् ने वृक्ष मुझे (मेरे लिये) प्रणाम करते हैं ऐसा न कहा उसका कारण यह है कि आधिदैविक तमोगुण के नियामक सङ्कर्षण (बलभद्र) हैं। मूलभूत (देह के प्राप्ति का कारण) तमोगुण, कर्म, सेवा वा ज्ञान से नहीं मिटता है किन्तु तम के देवता से मिटता है। उसके (तम के) देव आप हो, इस मर्यादा की

रक्षा के लिये ही ये वृक्ष, वृक्ष रूप से नमस्कार करते हैं कि आप दया करो। शेष अन्य‡ कार्य भगवान् ही करेंगे। उसके लिए (रस का अनुभव कराने के लिए) तो भगवान् ने यह लीला की हैं। भगवान् बलराम को अन्य प्रकार से प्रणाम के कारण बताते हैं। (१) भगवान् कहते हैं कि हे बलभद्र ! आपने इनको वृक्षों में इसलिये जन्म दिया है कि ये वृक्ष दूसरों का अज्ञान मिटावें। दूसरों का अज्ञान कैसे मिटाते हैं ? वह बताते हैं कि यदि किसी को यह पता न हो कि वन में भगवान् किस जगह पर विराजमान हैं तो ये वृक्ष उस अनजान को बता देते हैं कि भगवान् कदंब, प्रियाल अथवा पनस के नीचे क्रीड़ा कर रहे हैं। जिससे उसका अज्ञान मिट जाता है और वह वहाँ जाकर भगवान् के दर्शन कर सकता हैं। उसका अज्ञान वृक्षों से ही मिटा। ऐसी अज्ञान निवृत्त कराने की शक्ति वृक्षों को आपने दी है। इसलिए वृक्ष आपको प्रणाम करते हैं (२) हमारे तम को आपने नष्ट किया है जिससे हमको यह ज्ञान हो जाता है कि भगवान् हमारे नीचे क्रीड़ा कर रहे हैं, अन्य देश के वृक्षों की तरह हम में मौढ्य[१] नहीं हैं। इस उपकार स्मरण से आपको प्रणाम करते हैं। (३) हमको आप अपना समझते हो अर्थात् ये वृक्ष मेरे हैं मैंने ही इनको वृक्ष का जन्म दिया है इस कारण से आपको प्रणाम करते हैं। जब वृन्दावन में केवल उत्पत्ति से भगवान् अपना समझते हैं तो वहाँ के वृक्ष तो वृन्दावन रूप ही हैं, उनको भगवान् अपना माने तो इसमें लेश मात्र भी शङ्का नहीं रहती है। कारण कि भगवान् आगे कहेंगे कि 'अपना कोई नगर वा देश नहीं है' 'सदैव वन में रहने वाले हैं। इससे गोष्ठ 'मेरे ही शरण वाला है' इत्यादि शब्दों से भगवान् ने वृन्दावन धर्मी एवं उसमें उत्पन्न हुए (पदार्थ धर्म रूप) को अपना माना है।

यहाँ 'तमः' पद सत्व, रज और तम तीनों गुणों का उपलक्षक[२] है। बलभद्र किस प्रकार तमोगुण दूर करते हैं वह कहा नहीं हैं। अतः आप केवल अपने सम्बन्ध से ही जैसे सबों के गुणों को दूर करते हो वैसे हमारा तम भी दूर करो, इस प्रकार वृक्षों ने आपको प्रार्थना की है। मेरे में निष्ठ[३] तो गुणातीत[४] है ॥ ५ ॥

आभास – एवं वृक्षाणां विज्ञापनमुक्त्वा भ्रमराणां विज्ञापनमाहैतेलिन इति,

आभासार्थ – इस प्रकार वृक्षों की प्रार्थना कह कर अब इस निम्न श्लोक में भ्रमरों की प्रार्थना का वर्णन करते हैं।

श्लोकः – **एतेलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपथं भजन्ते।**
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ – हे आदि पुरुष ! सर्व लोगों के तीर्थ रूप आपकी कीर्ति का गान करते

‡लेखकार अन्य कार्य का भाव कहते हैं कि 'रस का अनुभव कराना'

१-बेसमझ, अज्ञान। २-बताने वाला। ३-स्थित। ४-निर्गुण

ये भ्रमर अनुपद आपकी सेवा करते हैं। इसलिए ये आपके मुख्य सेवक भ्रमर मुनिगण हैं। हे अनघ ! आप गुप्त रूप से वन में विराजते हो तो भी ये अपने आत्म रूप और देव रूप आपको छोड़ते नहीं हैं॥ ६ ॥

सुबोधिनी – लोकप्रतीत्या यद्यप्येते झङ्कारमिव कुर्वन्ति तथापि वस्तुतस्ते **यश एव गायन्ति**, एतेऽपि तामसाः परं वृक्षापेक्षया किञ्चित्समीचीनाः, ते तु फलपुष्पाढ्या इति सुमनांसि फलानि चार्हणरूपाणि पूजारूपाण्यग्रे स्थापयित्वा कायिकं नमनं कृतवन्तः, एते तु राजसा इति फलाद्यभावाच्च वाचनिकीमेव सेवां कुर्वन्ति, ते सङ्गे मुखामोदार्थमायान्तीति न मन्तव्यं **यतो यश एव गायन्तोऽनुपथं भजन्ति**, प्रार्थना त्वेतेषां नापेक्ष्यते **यतोऽखिललोकतीर्थं यशो गायन्ति**, **सर्वेषामेव यच्छोधकं तदात्मानं शोधयत्येवेत्यविवादं**, **प्रभूणां गायका अपि सेवका भवन्ति**, कदा वा कृपां करिष्यतीत्य**नुपथं** भजनं, नन्वेते भ्रमरा हीनाः कथं यशो ज्ञास्यन्तीत्याशङ्क्याह **प्राय** इति, **अमी सर्वे मुनिगणा** एव **भवदीयेषु** भवत्सेवकेषु **मुख्याः**, ननु ब्रह्मविदो भक्ताः कथं नीचयोनिं प्राप्तवन्त इत्याह **गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैव**मिति, भवान् गूढस्तेऽपि गूढाः, यथा भवान् मनुष्यभावं प्राप्त एवमेतेऽपि भ्रमरभावं, **भवदीयमुख्यत्वादनुपथं भजनं**, **मुनिगण**त्वाद् गानं ननु किमिति गूढं भजन्ते प्रकटमेव देवान्तरं महादेवादिरूपं कथं न भजन्ति ? तत्राहा**नघात्मदैव**मिति, अनघश्चासावात्मा **दैवं** च, **निर्दोषो हि त्यक्तुं** न **शक्यः**, तत्राप्यात्मनः, तत्रापि दैवं, तामसा एव हि सेव्याः, तत्र **महादेवादयः स्वसम्बन्धिनोऽपि देवता अपि भूतगणावृता इति न सेवितुं शक्याः**, ब्रह्मादयस्तु स्वसम्बन्धिन एव न भवन्ति, अन्ये तामसा देवता एव न, अत एवानन्यगत्या **गूढ**मपि भजन्ते, **वने** वा **गूढं** यथा भवति तथा, अन्यथा भगवान् रोषं वा कुर्यात्, अत एतेष्वप्यनुग्रहः कर्तव्य इति ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ – लौकिक दृष्टि से ये भ्रमर गुञ्जार ही करते हैं तो भी वास्तविक रीति से विचारा जावे तो आपका यश गा रहे हैं। यद्यपि भ्रमर तामस हैं किन्तु वृक्षों से कुछ श्रेष्ठ हैं। वे (वृक्ष) फल और पुष्प युक्त थे जिससे फल-पुष्प जो पूजा के पदार्थ हैं, उनको लाकर विनियोग[१] करते हुए आपको काया से प्रणाम करते हैं। ये (भ्रमर) तो राजस※ भी होने से फल-पुष्पों के अभाव के कारण वाणी से ही सेवा करते हैं।

ये आपके यश के गानार्थ अर्थात् कीर्तन द्वारा सेवा करने के लिए आपके साथ चलते हैं न कि आपके मुखारविन्द की गन्ध लेने के लिए चलते हैं। उन (भ्रमरों) को आप से प्रार्थना करने की अपेक्षा[२] नहीं है क्योंकि ये आप से कुछ भी लेने की इच्छा वाले नहीं है; कारण कि सकल लोगों को पवित्र करने वाला आपका यश गा रहे हैं उस (यशोगान) से ही वे आनन्द मग्न वा आनन्दमय हो रहे हैं। आपका यश सब जगह सर्व लोगों को पवित्र करता है। तब यशोगान करने वालों को पवित्र करेगा

※ **प्रकाशकार** ने यहाँ खुलासा दिया है कि पहले तामस कहा और अब राजस कह रहे हैं यहाँ विशेष नहीं समझना चाहिए क्योंकि पहले भी तामस को तामसराजस मान कर कहा था।

१-अर्पण। २-जरूरत।

इसमें किसी प्रकार की शङ्का अथवा वाद नहीं है किन्तु निश्चय ही है। यशोगान करने वाले भी प्रभु के सेवक हैं। प्रभु कब कृपा करेंगे इसकी परवाह न कर प्रभु के साथ चलते चलते समग्र मार्ग में यशोगान करते रहते हैं।

ये भ्रमर हीन योनि में होने से यश को कैसे जानते होंगे ? इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि ये, भ्रमरों के रूप में आपके मुख्य सेवक मुनि हैं।

यदि ये (भ्रमर) ब्रह्मवेत्ता और भक्त हैं तो नीच योनि को क्यों प्राप्त हुए ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि वन में भी गूढ[1] अपने देव को नहीं छोड़ते हैं। आप अपने सङ्कर्षण देवरूप को छिपाकर मनुष्य रूप से दर्शन देते हो, अतः आपके मुख्य भक्त मुनिगणों ने भी अपने मुनि रूप को छिपाकर भ्रमर रूप धारण किया है। आपके सेवकों में मुख्य सेवक होने से आप जिस मार्ग से चल रहे हो वे भी उस मार्ग से साथ साथ चलते हुए यशोगान से आपकी सेवा कर आनन्द मग्न होते हैं।

जब मैं मनुष्य रूप में हूँ तो भी मेरा भजन क्यों करते हैं ? क्यों नहीं, प्रकट रूप वाले महादेवादि देवों का भजन करते हैं इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि आप सर्वथा निर्दोष आत्मा और दैव हो। निर्दोष को छोड़ना अशक्य है। उसमें भी फिर वह निर्दोष, अपनी केवल आत्मा नहीं किन्तु पुनः देव भी हैं। ऐसी अवस्था में आपको छोड़ना उन (मुनि रूप भ्रमरों) के लिए असम्भव है।

भ्रमर तामस हैं अतः उनके सेव्य तामस महादेवादि ही हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि तामस गुण के कारण महादेवादि तामस देव भ्रमरों के सम्बन्धी हैं तो भी वे भूतगणों से आवृत होने से उनकी सेवा हो नहीं सकती है। ब्रह्मादिक हम भ्रमरों के सम्बन्धी नहीं है महादेवादि के सिवाय अन्य देव तामस नहीं हैं अतः और कोई गति न देख आप गूढ हो तो हम आपका भजन करते हैं।

गूढ शब्द का अन्य प्रकार से भाव बताते कहते हैं कि, आपका वन में गूढ[2] रीति से इसलिये भजन करते हैं कि हम आपका भजन कर रहे हैं इसका किसी को पता न पड़े। हम प्रकट भजन करें तो अन्य कोई जान जाय और इससे भगवान् अप्रसन्न हो जाय इसलिए भ्रमर इस प्रकार गुप्त रीति से आपका भजन कर रहे हैं। अतः आपको उन पर अनुग्रह करना चाहिए ॥ ६ ॥

आभास — मृगपक्षिणां विज्ञापनामाह **नृत्यतीति**,

आभासार्थ — मृग और पक्षियों की विज्ञप्ति का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोकः —**नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन।**
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ॥ ७ ॥

१-छिपे हुए। २-गुप्त।

श्लोकार्थ – हे स्तुत्य ! आपके समीप ये मयूर नृत्य करते हैं, हरिणियाँ आनन्दमयी दृष्टि से गोपियों के समान आपके प्रति प्रेम प्रकट करती हैं, कोयलें मधुर शब्दों से आपकी सेवा करती हैं अतः ये वनवासी धन्य हैं क्योंकि इनके पास जो कुछ है वह घर में पधारे हुए आपको अर्पण करते हैं । सत्पुरुषों का यही स्वभाव होता है ॥ ७ ॥

सुबोधिनी – हे ईड्य ? **अमी शिखिनस्त्वामागतं** ज्ञात्वा नृत्यन्ति, **ईड्येति** सम्बोधनादन्ये गायन्ति स्वयं नृत्यन्ति, शिखिनां नृत्यमेव प्रशस्तं, **आगमने यो नृत्यति स महान् भक्तः**, **आगमनमेव तस्याभीष्टं यतो हरिण्योऽपि त ईक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति**, कथञ्चित् प्रीतिरुत्पादनीया, ता अपि **मुदा** भवन्तं पश्यन्ति स्वस्य च चक्षूंषि भवते प्रदर्शयन्त्यो गोपिकादिस्मारकत्वेन सुखं जनयन्ति, **गोप्य** इवेति, गोप्यो यथा स्वरूपतः सुखजनिका एवं तत्स्मारिका अपि, नाट्यकाव्येषु तथानिरूपणात्, **कोकिलगणास्तु सूक्तैः** स्तोत्ररूपैः प्रियं कुर्वन्ति, तासां शब्देन च महानन्दो भवति, एते वनस्था गृहस्था इव **धन्याः**, यत **इयानेव सतां निसर्गः** स्वभावः अत **आहेयानेव सतां निसर्ग** इति ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ – हे स्तुति करने योग्य ! ये मयूर आपको पधारे हुए देखकर नृत्य करते हैं । दूसरे जब आपकी स्तुति कर रहे हैं तब ये आपका गुणगान सुनकर आनन्द युक्त हो नाचते हैं । स्वामी के आगमन पर प्रफुल्लित होकर जो नाचता है वह बड़ा भक्त है । उसको स्वामी का आगमन ही प्रिय है जिससे हरिणियाँ भी दृष्टि से आपके प्रति प्रेम प्रकट करती हैं । जिस प्रकार भी आपको आनन्दित किया जाय ऐसी क्रिया करती हैं, वे (हरिणियाँ) भी आपको प्रेम से देखती हैं और आपको अपनी चितवन से गोपियों का स्मरण कराकर गोपियाँ के समान आप में आनन्द उत्पन्न कराती हैं । जैसे गोपियाँ अपने स्वरूप से सुख उत्पन्न कराने वाली हैं वैसे ही उन गोपियों की याद दिलाने वाली भी सुख जनिका हैं । नाट्य और काव्य शास्त्रों मे ऐसा निरूपण हैं कि कोयलें तो स्तुति रूप गानों से आनन्दित करती हैं, उनके मधुर शब्दों से महान हर्ष होता हैं । ये वनवासी गृहस्थों के समान धन्य श्लाघ्य[1] हैं क्योंकि यही सत्पुरुषों का स्वभाव हैं ।

कारिका – **आगते परमस्तोषः प्रियार्थस्योपनायनम् ।**
वाक्यैःस्तुतिश्च परमा महत्येतावदेव हि ॥ १ ॥
तृणानि भूमिरुदकं सामान्ये गृहमागते ॥ १½ ॥

कारिकार्थ – जब अपने घर में महान् पुरुष पधारें तब प्रथम परम प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए, तदन्तर जो पदार्थ उनको प्रिय हो, वे लाकर उनको अर्पण करने और वचनों से उनके गुणगान करने चाहिए । यदि कोई साधारण× व्यक्ति घर में

× शत्रु आदि भी – अनुवादक

१-प्रशंसा ।

आवे तो उसका भी आसन, पृथ्वी और जल से आदर सम्मान करना गृहस्थ का धर्म है ।

आभास – वृन्दावनभूम्यादीन् स्तौति **धन्येति,**

आभासार्थ – इस आठवें श्लोक में वृन्दावन भूमि के तथा अन्य पदार्थों की स्तुति करते हैं ।

श्लोकः – **धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ॥**
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकैर्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ – आज यह पृथ्वी, घास, और लताएँ तथा वृक्ष वेलि आपके चरण स्पर्श होने से धन्य हुए हैं । नदी और पर्वत आपके नख स्पर्श से धन्य हुए, पक्षी और पशु आपकी कृपा भरी दृष्टि से धन्य हुए तथा गोपियाँ लक्ष्मी जिसकी इच्छा कर रही है उस वक्षस्थल से आलिङ्गन कर धन्य हुई हैं ॥ ८ ॥

सुबोधिनी – इयं धरणी भूमिर्**धन्या तव पादस्पर्शात् तृणवीरुधो**ऽपि धन्याः, **त्वत्पादस्पृशो द्रुमलता** अपि धन्याः, **करजै**र्नखैर**भिमृष्टा नद्योऽद्रयः खगा मृगाश्च** धन्याः, दयासहितावलोकनै**र्गोप्यो**ऽपि धन्यास्तव **भुजयोरन्तरेण** कृत्वा तत्रालिङ्गनं प्राप्य, ननु कथमस्य दुर्लभत्वम् ? तत्राह **यत्स्पृहा श्री**रिति, भूम्यादीनां विज्ञापनं न किञ्चित् कर्तव्यं यतस्त्वया यथाकथञ्चित् सर्व एव तत्तत्प्रकारेण प्रीणिताः, आवेशिनः सर्वभावेन निरूपणे आवेशाधिकरणभूतः सम्यग् भावयति ततः शीघ्रमेवाविष्टा सा देवता भवति, अन्यथोभयेषामप्यनिष्टं स्यात्, वृन्दावनस्थानां सङ्कर्षणस्य च भजनेऽभजनेऽपि देवतान्तरभजनेन तेषां नाशो भगवद्भोग्यानां स्वीकारेणेतरस्य चाभजने तु सर्वदेवाभजनेतिक्रमः स्यादन्यस्य च क्रोधः अतो नित्यस्वावेशसिद्ध्यर्थं बलभद्रस्य प्रबोधनम् ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ – (वृन्दावन की) यह भूमि, घास, पृथ्वी पर पड़ी हुई लताएँ और पेड़ों पर चढी हुई लताएँ भी आपके चरण स्पर्श होने से धन्य हुई, नखों से छुई हुई पर्वत एवं नदियाँ भी धन्य हुई, और खग मृग भी दया दृष्टि के लाभ से धन्य हुए, दयायुक्त अवलोकन से तथा दुर्लभ आपके आलिङ्गन से गोपियाँ भी धन्य हुई । यह आलिङ्गन क्यों दुर्लभ है ? यह आलिङ्गन इसलिए दुर्लभ है कि लक्ष्मी भी इस आलिङ्गन की कितने दिनों से इच्छा कर रही हैं किन्तु उसे भी प्राप्त नहीं हुआ है । भूमि आदि आपको कुछ भी प्रार्थना नहीं करती हैं कारण कि आपने उनको किसी न किसी प्रकार से प्रसन्न किया ही है ।

जिस देवता का आवेश अपने में होने वाला हो उसकी भावना करने से वह देव शीघ्र उसमें प्रविष्ट होता है । यदि इस प्रकार की भावना न की जाए और वह देवता उसमें प्रविष्ट न हो तो, दोनों (वृन्दावनस्थ पशु-पक्षी और बलभद्र) का भी अनिष्ट हो जाए ऐसी सम्भावना है । यदि वृन्दावन में

स्थित पशु-पक्षी आदि केवल सङ्कर्षण (भगवान् के आवेश रहित) का भजन करें तो अन्य देवता के भजन करने के कारण उनका नाश हो और भगवान् की भोग्य सामग्री को स्वीकारने के कारण संकर्षण का। और यदि ये वनस्थ पशु-पक्षी भजन न करें तो सभी देवों में श्रेष्ठ बलराम के अभजन करने से अतिक्रम होगा और सङ्कर्षण के अपमान से बलभद्र को क्रोध भी हो सकता है, अतः भगवान् ने नित्य अपने आवेश की सिद्धि बलभद्र में हो इसलिए बलभद्र को यंह सर्व बोध कराया है ॥ ८ ॥

आभास – एवं वृन्दावनस्वरूपं निरूप्यात्रत्यानां च स्वरूपमर्थाद् बलभद्रबोधनं च कृत्वा तादृशे वृन्दावने भगवान् क्रीडां कृतवानित्याहैवमितिदशभिः,

आभासार्थ – इस प्रकार वृन्दावन के स्वरूप का निरूपण कर यहाँ स्थित करने वालों (वृक्ष पशु-पक्षी आदि) का स्वरूप एवं बलभद्र को आवेशी स्वरूप का ज्ञान कराया अर्थात् आप में मेरा आवेश है तदनन्तर ऐसे वृन्दावन में भगवान् क्रीड़ा करने लगे इसका वर्णन नीचे के दश श्लोकों से करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः – **एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् ।**
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ – श्री शुकदेवजी कहने लगे कि-इस प्रकार की शोभावाले वृन्दावन में प्रसन्नचित्त श्री कृष्णचन्द्र ग्वाल बालों को साथ लेकर, पर्वत के समीप वाली नदियों के तटों पर गौओं को चराते हुए क्रीड़ा करने लगे ॥ ९ ॥

सुबोधिनी – पौगण्डवयसः पुरुषार्थचतुष्टयसाधककालरूपत्वादादौ पुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादनं क्रमेण ततो दशरसोद्भावनेन क्रीडां परमानन्दस्य दशधा रसो लोकेऽनुभूयत इति ब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थं, तथा प्रथमं धर्ममाविष्कुर्वन् रतिं कृतवानित्याहैवमूपे **वृन्दावने कृष्णः पशून् सञ्चारयन् रेम** इतिसम्बन्धः, वृन्दावनगुणनिरूपणार्थमेव वचनानामुपयोगादेवमित्यनेनैव सम्बध्यते, अतो निरूप्योक्त्वेत्यादिक्रिया नाध्याहर्तव्याः, शाब्दी च सङ्गतिरेवमित्यत्रैव योजनीया, यत्र रन्तुं मनो दधे यत्र चोवाच रेमेन्यानि च कृतवानिति महावाक्ये सर्वेषां सम्बन्धः, यदा पुनस्तत्तदभिमानिदेवताभिः सह रतिं कर्तुमारम्भं कृतवांस्तदा लक्ष्मीः स्वत एव समागतातो रमणमनुक्तसिद्धमेवेत्यनुभावा उद्दीपनविभावा व्यभिचारिणश्च निरूप्यन्ते, आलम्बनं तु लक्ष्मीरेव, **नायकोत्कर्षमाह कृष्ण** इति, सदानन्दो हि पुरुषोत्तमो मनुश्च करणं, तस्यापि दोषनिवृत्तिपूर्वकं गुणा वक्तव्याः, तदाह **प्रीतमना** इति, प्रीतं निर्दुष्टं सन्तुष्टं मनो यस्य, **पशून् सञ्चारय**न्नितिधर्मः, सम्यक् **चारणं** देशविशेषे, गह्वरादिवने वक्तव्ये स्वरमणं बाध्येतेत्युभयोरूपयोगार्थं देशविशेषान् निर्दिशत्यद्रेः **सरिद्रोध**स्स्विति, पर्वतसम्बन्धिन्यो याः सरितस्तासां **रोधस्सु कूलेषु,** तत्र हि हरिततृणानि भवन्ति प्ररूढानि च, पर्वते स्थित्वाधस्तात् स्थित्वा वा तासामन्यत्र गमशङ्काभावाच्चारयन्नेव रमणं सम्भवति, अत एव सम्यक् **चारणं, धर्म**रतौ रक्षायां स्वाभिनिवेशे धर्मरमणयोर्हीनता स्यादिति तद्व्यावृत्यर्थमाह **सानुग** इति, अनु पश्चाद्गच्छन्तीत्यनुगाः सेवकास्तैः सहितः ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ – छट्ठे वर्ष नव वर्ष पर्यन्त, चार वर्ष की आयु को पौगण्ड अवस्था कहते है। इस काल को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला माना गया है अत: क्रम से प्रथम चार पुरुषार्थ प्रतिपादन किये गये हैं।

ब्रह्मानन्द से भजनानन्द की उत्कृष्टता दिखाने के लिए, और (भगवान् के) दश रसों का अनुभव दश प्रकार से होता है इसलिए आप दश रसों को प्रकट करते हुए क्रीड़ा करते हैं। इस (९वें) श्लोक में प्रथम पुरुषार्थ धर्माचरण (वैश्य धर्माचरण) करते हुए क्रीड़ा करने लगे, इसका वर्णन करते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से वर्णित श्री वृन्दावन में श्रीकृष्ण पशुओं को चराते हुए रमण करने लगे। इस रमण का सम्बन्ध इस श्लोक से १९ श्लोक तक है। इन दश श्लोकों मे चार पुरुषार्थ और दश रसों का वर्णन कर अन्तिम १९वें श्लोंक में इनका उपसंहार[१] किया गया है।

भगवान् ने जब वृन्दावन के पृथक् पृथक् अभिमानी देवताओं से रमण प्रारम्भ किया तब लक्ष्मीजी स्वत: स्वयं पधारी। लक्ष्मीजी के साथ स्पष्ट रमण नहीं कहा गया है तो भी उनके साथ रमण सिद्ध ही है। इससे ही अनुभव* उद्दीपन विभाव† व्यभिचारिभाव‡ वर्णन किए हुए हैं यों जानना चाहिये। आलम्बन विभाव तो स्वयं लक्ष्मी हैं ही।

नायक (श्रीकृष्ण) की उत्तमता का वर्णन करने को 'कृष्ण' पद का प्रयोग किया। 'कृष्ण' में 'कृष्' का अर्थ सत् है और 'ण' का आनन्द है अर्थात् नायक-कृष्ण तो सद्-आनन्द है, पुरुषोत्तम है। रमण में करणसाधन है मन। मन में भी कोई दोष नहीं है प्रत्युत् गुण है यह दिखलाने के लिए नायक को 'प्रीतमना:' कहा जा रहा है। (नायक कृष्ण का) वह मन दोष रहित और सन्तोष वाला था। पशु चारण रूप धर्म तथा रमण दोनों को पूर्णतया करने के लिए भगवान् ने पशुओं को पर्वतों से सम्बन्ध वाली नदियों के किनारों पर चराना योग्य समझा। एक तो वहाँ पशुओं के चरने के लिए हरी घास मिलेगी और रमण के लिए सुन्दर स्थान होने से रमण में मन स्थिर रहेगा और वहाँ से गौ भी अन्यत्र जा नहीं सकेगी अत: गौओं को चराते हुए रमण भी होगा इसके सिवाय अपने साथ अनुचर[२] भी हैं वे भी गौओं को चराते हुए उनकी रखवाली करते रहेंगे तो मेरा मन केवल गौचारण रूप धर्म में निरुद्ध नहीं होगा जिससे रमण में किसी प्रकार की रुकावट न होगी दोनों कार्य सुचारु रूप से सिद्ध होंगे ॥ ९ ॥

---

* ये रसान् अनुभावयन्ति ते अनुभावा:' जो रसों को अनुभव के योग्य बनावे उनको 'अनुभाव' कहते हैं।

† ये रसान् उद्दीपयन्ति ये बाह्या: ते उद्दीपन विभावा:' जो भाव हृदय में उत्पन्न हुए हों उनको उत्तेजित करें उनको उद्दीपन विभाव कहते हैं।

‡ 'ये इतस्तत: सञ्चरन्ति रसेषु अनेक रस व्याप्या भवन्ति ते व्यभिचरिभावा:' जो एक रस में स्थिर न रह कर अनेक रसों मे फिरते रहें ऐसे भाव व्यभिचारी भाव हैं।

१-पूर्णता। २-सेवक।

आभास — एवं धर्मोद्भावनेन क्रीडामुक्त्वार्थोद्भावनेनापि क्रीडामाह **क्वचिदिति,**

आभासार्थ — उपरोक्त (९वें) श्लोको में गौचारण रूप धर्म प्रकट कर जो लीला की, उसका वर्णन किया, अब इस (१०वें) श्लोक में अर्थ रूप धर्म को प्रकट करने के लिए जो क्रीड़ा करेंगे उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — **क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः ।**
उपगीयमानचरितः सखिसङ्कर्षणान्वितः ॥ १० ॥

श्लोकार्थ — जिनके चरित्रों का भक्त गान कर रहे हैं और जिनके साथ सखा और सङ्कर्षणजी भी हैं, ऐसे भगवान्, मदान्ध भ्रमरों के गाने पर भी आप भी गान करते थे ॥ १० ॥

सुबोधिनी — **मदान्धालिषु गायत्सु क्वचिद्** भगवानपि **गायति, अनुव्रतै**र्निजभक्तै**रुपगीयमानचरितश्च सखिसङ्कर्षणा**भ्यां चान्वितः, 'यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत' इतिश्रुतेर्वीणानुरणनस्थानीया भ्रमरा भवन्ति, अर्थभोगेनैव गीतमपि गायति, अन्यथा तद्रसोद्रेको न ज्ञापितः स्यात्, सर्वतश्च स एव स्तूयमानोऽपि भवति परिकरयुक्तश्च, परिकरो द्विविध इति **सखिसङ्कर्षणौ** निरूपितौ स्वसम्बन्धिनः कुलसम्बन्धिनश्चेति, "बन्धुभिर्या न भुज्यत" इत्यर्थे तेषां सहभाव आवश्यकः, समीपे गानं स्तोत्रं वार्थभोग एव, मुनीनां भ्रमरत्वनिरूपणात् समीपे धार्ष्ट्याद् गानं न भविष्यतीतिमदान्धता निरूपिता, मदोऽत्र भगवत्सान्निध्यानन्दो भक्तिरसोन्मादो वा वृन्दावने पुष्पेषु मकरन्दश्चरणसमर्पितेषु भक्तिरूप एवेति, **अनु व्रतं** येषामिति तेषामपि स्वसाम्यकरणं सर्वे सखायः सङ्कर्षणश्च समयवयस्तेषामप्यर्थभोगः सम्यक् सम्पाद्यत इति, **एवं वृन्दावने श्रीमान् कृष्णः प्रीतमनः** इति पञ्चपदानि सर्वत्रानुवर्तन्ते ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ — मद से अन्धे भ्रमरों के गाने पर कभी भगवान् भी गाते हैं। आपके भक्त भी आपके चरित्र गा रहे हैं। मित्र और सङ्कर्षणजी भी आपके साथ थे ।

"यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत" यह श्रुति कहती है कि पुरुष जब 'श्री' का भोग करता है तब उसके पास वीणा बजती है। इस श्रुति के अनुसार जब भगवान् अब 'श्री'* (अर्थ) का भोग कर रहे हैं तब भ्रमर वीणा के रूप में गा रहे हैं और आप भी गान करते हैं। यदि आप गान न करें तो रस में विशेषता उत्पन्न न होवे । चारों तरफ आपकी ही स्तुति, भ्रमर और भक्तगण कर रहे हैं आप के साथ आपका परिकर भी है ।

---

* **प्रकाशकार** 'श्री' का भाव स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं कि 'माताजी के भेजे हुए पदार्थों का भोग करते थे अथवा वन में उत्पन्न फलादिकों का भोग करते थे' ।

भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध वाला और कुल से सम्बन्ध रखने वाला दोनों प्रकार का परिकर था। दोनों प्रकार का परिकर साथ में इसलिए रखा था कि शास्त्रों में कहा है कि 'बन्धुभिर्या न भज्यते" जो भी (पदार्थ) बान्धवों के साथ भोगी नहीं जाती है वह "श्री" नहीं है, तदर्थ बान्धवों को साथ में रखना आवश्यक हैं।

समीप में गान करना अथवा भगवान् की स्तुति करना यह भी अर्थ भोग ही है। भ्रमरों को मुनि कहा गया है तो उन्होंने भगवान् के सामने गाने की धृष्टता क्यों की ? ऐसी शङ्का के निवारण के लिए ही भ्रमरों को मदान्ध कहा गया है। भ्रमरों का मद अहंकार रूप नहीं था, किन्तु भगवान् की सान्निध्यता के आनन्द का मद था अथवा उन्होंने जो वृन्दावन के भगवच्चरण समर्पित पुष्पों का जो भक्ति रस रूप मकरन्द था उसका पान किया था जिससे उनको उन्माद था। इस उन्माद के कारण वे भगवान् के सामने गान कर रहे थे इसलिए उनमें धृष्टता दोष नहीं है।

जो भगवान् के भक्त अनुव्रती[१] हैं, सब सखा तथा सकंर्षणजी इस प्रकार के हैं। अतः इनको भी अपने समान ही अर्थ भोग कराना योग्य समझ भगवान् ने उनका भी पूर्ण रीति से भोग सम्पादन किया। (९वें) श्लोक के 'एवं वृन्दावने श्रीमान् कृष्णः प्रीतमनाः' ये पाँच पद इस श्लोक और आने वाले श्लोकों से भी सम्बन्धित हैं।

आभास – एवमर्थलीलामुक्त्वा कामलीलामाह **क्वचिच्चेति**,

आभासार्थ – इस प्रकार 'अर्थ' लीला कह कर (११वें) श्लोक में कामलीला का वर्णन करते हैं।

श्लोकः – **क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम्।**
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित्॥ ११॥

श्लोकार्थ – (इस प्रकार के वृन्दावन में प्रसन्न चित्त वाले लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण) कभी कल हंसों के समान कूजन करते हैं, कभी नृत्य करते हुए मयूर को अपने चारों तरफ सुन्दर नृत्यों से हास्य पात्र बनाते हैं॥ ११॥

सुबोधिनी – **कलहंसानां कूजितमनुकूजति**, कामे हि द्वयं कर्तव्यं कूजितं रसोद्गमनार्थं, बन्धाश्च रसार्थं, तत्र मयूरस्य मयूर्या सह सम्बद्धस्यैव मत्तस्य गात्रविक्षेपे सर्वतो रस एकीभूय नेत्राभ्यां निर्गतो मयूर्या मुखे प्रविशत्यूर्ध्वं च रेतो निर्गच्छति ज्ञानद्वारा च, अन्ये सर्वे कामे प्राकृता एव रसाः, अत एव विचित्रं तत्र कार्यमुत्पद्यते, शब्दो हि मनःपूर्वक इति रसारसयोर्भेदकस्य हंसस्य मानसैकशरणस्य तादृशं भवति कूजितं, अत एवं सर्वविलक्षणत्वं हंसे वक्तुं **कलहंस**

१-भगवान् के सदृश व्रत वाले।

उक्तः, स हि कलानां हंसः, बहूनामेकविधप्रतिपादकत्वे तदर्थनिष्णातत्वं भवति भगवांस्तु सर्वेषामेव **कूजितं** रसावान्तरभेदाविर्भावार्थ**मनुकूज**ति, अभितश्च **नृत्यन्तं बर्हिणं नृत्यति** यदि मयूरो मयूर्या सह रसेन नृत्यति, अन्यथा मेघादिदर्शनेन स्वभावतो वा यदि **नृत्यति** तदापि भगवान् नृत्यति रसाभासभावाभासनिरूपणार्थेन्यथा रसः पुष्टो न भवेत्, तदाह **हासयन् क्वचि**दिति, कदाचिद् **बर्हिणं हासयन् नृत्यति** बाला बर्हिणं हसन्ति नायं सम्यक् नृत्यतीति, सर्वदैवमितिनिषेधार्थमाह पुनः **क्वचि**दिति ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ – कल हंस जिस प्रकार कूजन करते हैं उसी प्रकार आप (श्रीकृष्ण) भी कूजन करते हैं। काम लीला में दो कर्तव्य हैं। रस को प्रकट करने के लिए कूजन करना और रस* लेने के लिए बन्ध।

जब मयूरी मयूर के निकट आती है तब उसको देखकर मयूर काम मत्त होता है जिससे मयूर अपने गात्रों को विस्तारता[१]† है। गात्रों के फुलाने से उसके सर्व गात्रों में रहा हुआ रस इकट्ठा होकर नेत्रों द्वारा बाहिर निकलता है उसको मयूरी मुख द्वारा पान करती है। इस प्रकार का रेत[२] ऊपर के भाग से ज्ञान के साधन नेत्रों द्वारा बाहिर निकलने से वह अप्राकृत रेत है। इससे भिन्न सब रेत जो काम क्रीड़ा[३](:) से उत्पन्न होते हैं वे प्राकृत रस हैं।

मयूर का रेत अप्राकृत होने से वहाँ का गर्भधारणादि कार्य विचित्र प्रकार से ही होता है।

शब्द की उत्पत्ति मन से होती है, प्रथम मन में विचार होता है तदनन्तर यह विचार शब्द रूप से मुख द्वारा बाहिर आता है। रस (दूध) अरस (जल) को पृथक् करने वाला हंस जिसका आश्रय केवल मानस है उसका कूजन भी वैसा (अप्राकृत) होता है। कारण कि हंस अन्य सर्व से विलक्षण है यह सूचित करने के लिए हंस को 'कल हंस' कहा है अर्थात् हंस कलाओं का हंस है। इसलिए ही वह पानी में मिले हुए दूध को पृथक् कर सकता है‡। अनेक बातों का एक रूप में प्रतिपादन निष्णात व्यक्ति ही कर सकता है। भगवान् कूजन में प्रवीण हैं क्योंकि आप एक ही कूजन में सर्व प्रकार के हंसों का कूजन करते हैं। एक ही कूजन में रस के जितने भी अवान्तर भेद हैं उनको प्रकट करने के लिए आप हंस के अप्राकृत कूजन जैसा कूजन भी करते हैं। भगवान् मयूर के सब प्रकार के नृत्यों के समय नृत्य करते हैं। जब मयूर मयूरी के साथ रस से नृत्य करता है अथवा मेघ आदि को देखकर नृत्य करता है, वा स्वभाव के कारण नृत्य करता है तब भगवान् रसाभास और भावाभास के निरूपण के लिए नृत्य करते हैं। यदि भगवान् नृत्य न करें तो रसाभास और भावाभास के कारण मयूर के नृत्य से रस पुष्ट नहीं होता। फिर कभी तो मयूरों की हँसी कराने के लिए ऐसा नृत्य करते

---

* **लेखकार** - कूजन करने से जो रस प्रकट होता है -

† **प्रकाशकार** - मयूर का गात्रों को फुलाना ही 'बन्ध' है।

‡ **लेखकार** - उसमें जो आलिङ्गन होता है उसको बन्ध कहा जाता है।

१-फुलाता। २-वीर्य रस। ३-विषय सम्बन्धी क्रीड़ा। ४-मानसरोवर।

हैं कि जिसको देखकर बालक इसका नृत्य अच्छा नहीं इसने बराबर नाच नहीं किया आदि शब्द कहते हुए मोरों पर हँसते थे । भगवान् सदा ऐसे नृत्य नहीं करते इसलिए 'पुनः क्वचित्' फिर कभी शब्द कहे हैं ॥ ११ ॥

आभास — मोक्षलीलामाह **मेघगम्भीरयेति,**

आभासार्थ — इस (१२वें) श्लोक में मोक्ष लीला कहते हैं ।

श्लोकः — **मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून् ।**
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ — (इस प्रकार के श्री वृन्दावन में प्रसन्न मन वाले लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण) मेघ के समान गम्भीर और गौ तथा गोपालों के मन को हरण करने वाली वाणी से दूर गए हुए पशुओं को कभी प्रेम से प्रत्येक का नाम लेकर बुलाते थे ।

सुबोधिनी — वाचा दूरगान् पशून् नामभिर्भगवान् **क्वचिदाह्वयतीतिसम्बन्धः, भगवत्सायुज्यं मुक्तिश्च भगवद्दत्तैव भवति, सर्वशास्त्रनिरूपितानां साधनानां भगवति तत्तद्धर्मसम्बन्धजनकानां ततः प्रतिफलितानां भगवत्कृतानामेव साधकत्व** मितिसिद्धान्तः, "यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्या भद्ररन्धन येनोपशान्तिर्भूताना" मित्यत्र विशेषतो निरूपणात्, अतो **भगवन्नामस्मरणं कीर्तनं च भगवता नामग्रहणार्थं**, तदपि ग्रहणं सर्वेषां तापनिवर्तकरूपेण तदपि कृपयावसरे, यदा ते दूरं गता भवन्ति, यथा ते साक्षात्कृतस्य भगवतो नाम न गृह्णान्ति तथा भगवानपि **दूरगानेवाह्वयति, पशवः** सर्वथा गत्यन्तररहिताः स्वतो बुद्धिरहिताश्च, तदपि नामग्रहणं **प्रीत्यैव**, अन्यथान्यस्य विषयनिवारकत्वं न सम्भवति, प्रत्यक्षापेक्षया शब्दस्य दुर्बलत्वात्, सापि चेद् वाण्यलौकिकी न भवेत् तदालौकिकं फलं न प्रयच्छेदिति ज्ञापयितुं **गोगोपालमनोज्ञयेत्युक्तं**, गवां गोपालानां च मनोज्ञा भवति साक्षाद्वाणी, गोपाला गुरव इव गावोऽधिकारिण्य इव, उभयेषां मनोज्ञता पूर्वं ततः फलानुभवात्, इमामेव हि लीलां भगवान् मुक्तौ करोति, केवलवाचा समाह्वाने स्वाधिकारो न भात इति न निवर्तेतातो भिन्नभिन्नाधिकारिनिरूपणार्थं नामभिरितिबहुवचनं तदवान्तर-साधनपरिग्रहार्थं च, प्रथमत एव पशवस्ततोऽपि **दूरगास्ते** चेद् भगवता स्वतो न मुच्यन्ते मुक्ता एव तिष्ठन्ति ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् दूर गए हुए पशुओं को वाणी से प्रत्येक का नाम लेकर कभी बुलाते हैं। भगवान् के साथ सायुज्य और मुक्ति* भगवान् के देने से ही प्राप्त होती है । सकल शास्त्रों में कहे

---

* **प्रकाशकार** सायुज्य और मुक्ति के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि, पुष्टिमार्ग के अनुसार सायुज्य का अर्थ सखा भाव है अर्थात् भगवान् के साथ प्रथम मिलाप और मुक्ति का अर्थ दुःख का अभाव है । अन्य मतों के अनुसार सायुज्य का अर्थ 'भगवान्' से मिल जाना है और मुक्ति का अर्थ अपने स्वरूप में स्थिति है । भगवान् (अधिकारानुसार) दोनों मार्गों द्वारा मोक्ष देते हैं मोक्षदाता जनार्दन भगवान् हैं वह जब देते हैं तब मोक्ष मिलता है ।

हुए श्रवणादि साधन भगवान् से सम्बन्ध कराते हैं। इस प्रकार जब जीव का भगवान् के साथ सम्बन्ध होता है तब भगवान् भी वैसे धर्मों का पालन करते हैं† जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है यह सिद्धान्त‡ है।

प्रचेताओं ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है कि 'यदनुस्मर्यते काले स्व बुद्ध्या भद्ररन्धन येनोपशान्तिर्भूतानां' हे अभद्र को दूर करने वाले ! दीनों से प्रेम करने वाले स्वामियों को इतना ही करना चाहिए कि समय पर चित्त में अपने प्राणियों को स्मरण करें, जिससे उनको शान्ति प्राप्त होवे, (प्रचेताओं के इन वचनों में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादन किया गया है) अतः भक्त भगवान् का नाम स्मरण और कीर्तन इसलिए करते हैं कि भगवान् भी हमारा नाम ग्रहण करे अर्थात् हमको याद कर अपने पास बुला लेवे।

वे पशु जब दूर चले जाते हैं तब भगवान् कृपा कर अवसर देख जैसे उन सबका ताप मिट जावे वैसी वाणी से उन पशुओं के नाम लेते हैं। दूर गए हुए पशुओं के नाम लेने का कारण यह है कि जैसे साक्षात्कार किए हुए जिस भगवान् का नाम वे नहीं लेते हैं वैसे ही भगवान् भी उनका नाम न लेकर दूरस्थों को ही नाम लेकर अपने पास बुलाते हैं। पशुओं को तो अपनी बुद्धि नहीं है। भगवान् के बुलाने के सिवाय उनके लिए मुक्त होने का कोई भी उपाय नहीं है।

भगवान् वैसे प्रेम से उनका नाम लेकर उनको बुलाते हैं जैसे नामों के सुनते ही उनके विषयों का नाश हो जाता है। यों तो विषय प्रत्यक्ष होने से सबल हैं और शब्द (नाम) परोक्षता के कारण निर्बल हैं किन्तु उस शब्द के साथ प्रेम पीयूष होने से प्रत्यक्ष विषयों से परोक्ष नाम सबल हो गए जिससे पशु तत्क्षण विषयों का त्याग कर सके।

भगवान् केवल प्रेम-से नाम लेवें, किन्तु वह बाणी अलौकिक न होवे तो अलौकिक फल (मोक्ष) की प्राप्ति न होवे इसलिए भगवान् ने प्रेमयुक्त अलौकिक वाणी से नाम लिए। वह वाणी अलौकिक

---

†'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' गीता में भगवान् ने कहा है कि जो जैसे मुझको भजते हैं मैं भी उनको उसी तरह भजता हूँ। गीता के इस वचन के अनुसार जीव जैसे साधन कर भगवान् को सन्तुष्ट करता है भगवान् भी वे साधन ग्रहण कर जीव की मनःकामना पूर्ण करते हैं-**अनुवादक**

‡**शङ्का** – जब भगवान् मोक्ष देवें तो प्राप्त होता है, नहीं तो नहीं होता है। यदि ऐसा है तो शास्त्रों की क्या आवश्यकता है ? इस शङ्का का निवारण **प्रकाशकर श्री पुरुषोत्तमजी** इस प्रकार करते हैं कि-शास्त्रों में कहे हुए साधनों से जब जीव का मन भगवत्परायण हो ध्यान मग्न हो जाता है उसका सर्वत्र सम्बन्ध छूटकर केवल भगवान् से ही सम्बन्ध हो जाता है। साधनों द्वारा जब जीव इस कोटि पर पहुँचता है तब भगवान् जीव के किए हुए साधनों से प्रसन्न होकर उसका फल देने का विचार करते हैं। उसको उसके अधिकार और साधनानुसार फल देते हैं। जैसे भीष्म ने जब शर शय्या पर भगवान् से एक तान मन कर भगवान् में ध्यान लगाया तब भगवान् वहाँ भीष्म को दर्शन देकर मुक्त करने के लिए भीष्म के पास स्वयं पधारे। इससे सिद्ध हुआ कि शास्त्रों में कहे हुए साधन भगवान् में मन एकाग्र कराने के लिए है अतः शास्त्र निरर्थक नहीं है।

है, इसकी सिद्धि इससे होती है कि उसको सुनकर गौ और गोपों के मन आनन्द मग्न हो गए । गौ और गोपालों के मनों को साक्षात् वाणी (अलौकिक वाणी) ही मधुर तथा आनन्ददायी होती है, कारण कि 'गोप' गुरु जैसे हैं और गौ अधिकारी जीव जैसे हैं ।

गोप और गौओं को प्रथम भगवान् की वाणी मन की प्रसन्नता करने वाली और आनन्द देने वाली हुई । मन आनन्द युक्त प्रसन्न हो तब ही वह फल का पूर्ण अनुभव कर सकता है । किसी को भी मुक्ति देनी हो तो भगवान् प्रथम इस प्रकार की लीला करते हैं । अर्थात् जिसको मुक्ति देनी हो प्रथम उसके मन को प्रसन्न (विषय के दु:खों से छुड़ाते हैं) और आनन्द युक्त करते हैं ।

यदि भगवान् प्रत्येक का नाम न लेकर केवल वाणी से बुलाते तो यों भी हो सकता है कि वे पशु समझने लगे कि न जाने किसको बुला रहे हैं इसलिए कदाचित् वे नहीं भी आवें । तथा भगवान् ने भी सोचा कि साधनों के भेद से सबका अधिकार समान नहीं है अत: अधिकारानुसार प्रत्येक का नाम लेकर सब को पृथक् ही बुलाना योग्य है इसलिए मूल में 'नाम' शब्द बहुवचन में दिया है ।

एक तो ये पशु जीव होने से, बुद्धि हीन है और दूसरा भगवान् से दूर चले गए हैं । अत: जो दयालु सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा प्रभु स्वयं उनको मुक्त न करते तो वे अमुक्त ही रह जाते ॥ १२ ॥

आभास – एवं पुरुषार्थचतुष्टयलीलामुपपाद्य दशरसप्रकारेण भगवतो लीलां वदन् प्रथमं षड्रसलीलामाह चकोरेति,

आभासार्थ – इस प्रकार चारों पुरुषार्थों की लीला का वर्णन कर अब दश रसों के प्रकार की लीला कहते हुए इस श्लोक में छ: प्रकार के रसों की लीला को कहते हैं (पश्चात् शेष ४ रसों की लीला आगे के श्लोकों में वर्णन करेंगे ।

श्लोक: – **चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिण: ।**
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयो: ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ – (ऐसे वृन्दावन में प्रसन्न मनवाले, लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण) चकोर क्रौञ्च, चक्राह्व, भारद्वाज और मयूरों के समान ध्वनि करते थे, तथा बाघ और सिंह से डरे हुए प्राणियों जैसी ध्वनि करते थे ॥ १३ ॥

सुबोधिनी – चकोरा हि चन्द्रकिरणभोक्तारो-लौकिकभोगा:, **न ह्यन्येन चन्द्रकिरणा भूमौ स्थिता भोक्तुं शक्यन्ते** त एव परं भोक्तार: सूर्यकिरणा इव, अन्यथा तत: शैत्यादिकं न स्यात्, तथैव सर्वे पुरुषा: स्त्रीभिर्भुज्यन्ते तद्दास्यं चानुभवन्ति, तथैव लोकप्रतीति: तद्वदयं भगवान् न रसानुभवं करोतीति ज्ञापयितुं शृङ्गाररसे **चकोर**वद् भगवतो वाग्व्यापारो निरूप्यते, क्रौञ्चो वीरे, चक्रवाक: **करुणायां**, स हि वियुक्तश्चक्रपद आवर्तनेन मारणमभिप्रेतमिति तेनाह्व आह्वानं

यस्येति तस्यावश्यं करुणायुक्तैव, भारद्वाजोऽद्भुते, क्रमस्य नियामकत्वाद्, **भारद्वाज** इत्याख्या यस्य, स हि द्विजन्मा तन्नामसम्बन्धख्यापनमद्भुतरसेऽनुगुणं भवति, **बर्ही हास्ये**, तस्य तथात्वं पूर्वमेव निरूपितं, एते पञ्चविधा नात्यन्तं विरुद्धा इत्येकीकृत्य निरूपिताः, भयानकरसस्तु सर्वोपमर्दक इति पृथङ् निरूपयति, **सत्त्वानां** मध्ये **व्याघ्रसिंहयोर्भीतव**च्चानुरौतीति, एवं रसाविर्भावे प्रमाणं प्रसिद्धमिति **स्मे**त्याह, भयं द्विविधं स्वरूपनाशादभिमानादिधर्मनाशाद् वा, तत्र स्वरूपे व्याघ्रोभिमानादिधर्मे **सिंहः**, बहुप्रकारं च भयं प्रतीकारासमर्थानां सम्भावनायामप्यन्यथा, अन्येषां चान्यथेति, तत्र **सत्त्वानि** शशादीनि प्रतीकारसम्भावनारहितानि, भये परमा काष्ठा सत्त्वसम्बन्धिन्यवस्था, रसाभिनये चेष्टापेक्षया वचनमतिसुन्दरमिति तदेव निरूपितम् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ – यह प्रसिद्ध है कि चकोर पक्षी अंगार खाता है जिससे उसके शरीर में ताप होता है, उस ताप की निवृत्ति के लिए वह पृथ्वी पर पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणों का उपभोग वैसे करता हैं, जैसे सूर्य अपनी किरणों से चन्द्रमा की किरणों का भोग करता है, यह उसका (चकोर का) भोग अलौकिक भोग है कारण कि चकोर के सिवाय अन्य कोई भी प्राणी पृथ्वी पर पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणों का भोग नहीं कर सकता है। यदि चकोर इस प्रकार चन्द्रमा की किरणों का भोग न करे तो चकोर में शीतलतादि गुण न होवें। चन्द्रमा की किरण पुरुष रूप है इस पुरुष रूप किरण का भोग चकोर कैसे करता है ? इस शङ्का की निवृत्ति आचार्य श्री दृष्टान्त देकर कहते हैं, कि वास्तव में स्त्रियाँ ही पुरुषों का भोग करती हैं न कि पुरुष स्त्रियों का भोग करते हैं क्योंकि भोग का तात्पर्य है जो वस्तु, भोग में आवे उस वस्तु में जो सार (शक्ति तत्त्व) हो उसको भोगकर्त्ता अपने में ले लेवें तो विचार करने से यह बात समझ में आ जाती है कि पुरुषों में जो शक्ति तत्त्व सार रूप वीर्य है उसको स्त्रियाँ अपने में खींच लेती हैं अतः पुरुष ही भोग्य हैं स्त्रियाँ भोक्ता है। इतना ही नहीं; किन्तु पुरुष का भोग कर उसको अपने आधीन बना लेती है। इसलिए चकोर पुरुष रूप किरणों को कैसे भोगता है ? पुरुष भोग्य नहीं है, स्त्री भोग्य है यह शङ्का निर्मूल है। पुरुष स्त्रियों का भोग करते हैं, यह केवल लोक प्रतीति मात्र है।

भगवान् लोकवत् रस का अनुभव वा स्त्रियों की दासता नहीं करते हैं। ऐसा बताने के लिए शृङ्गार रस के पक्ष में भगवान् का चकोर पक्षी के समान वाणी के व्यापार का वर्णन है। इससे यह बताते हैं कि जैसे चकोर पक्षी का भोग अलौकिक है, वैसे ही भगवान् के भोगादि अलौकिक प्रकार के हैं लोकवत् नहीं हैं।

भगवान् वीर रस वाले क्रौञ्च पक्षी के समान ध्वनि कर बताते हैं कि मेरा वीर रस अलौकिक है।

भगवान् करुणा रस वाले चकवा पक्षी के समान ध्वनि कर अपने में करुणा रस का अस्तित्व प्रकट करते हैं। इस पक्षी के चक्राह्व नाम से ज्ञात होता है कि इसने भंवर में पड़े हुए प्राणी के समान बहुत विरहादि दुःख भोगे हैं, इसलिए इसमें करुणरस का आविर्भाव निश्चय से हैं।

रसों में चौथा रस 'अद्भुत' रस है अतः यहाँ भारद्वाज पक्षी का नाम चतुर्थ श्रेणी में दिया है। भारद्वाज ब्राह्मण है। इस पक्षी का नाम भारद्वाज इसलिए पड़ा कि भारद्वाज का जन्म अद्भुत† प्रकार से हुआ था, इस पक्षी में भी अद्भुत रस है अतः इस समानता के कारण ही इस पक्षी को भारद्वाज पक्षी कहते हैं। भगवान् भी अपने में अद्भुत रस की विद्यमानता दिखाने के लिए ही भारद्वाज पक्षी जैसी ध्वनि करते हैं।

पाँचवां 'रस' हास्य है वह मयूर पक्षी में है इसका प्रतिपादन पहले ही (इस अध्याय के एकादश श्लोक की सुबोधिनी जी में) किया गया है। इस हास्य रस का अस्तित्व अपने में बताने के लिए भगवान् ने मयूर जैसी केका ध्वनि कर दिखाई है।

ये पाँच रस साथ में इसलिए बताए हैं कि परस्पर अत्यन्त विरुद्ध नहीं है।

भयानक रस सर्व रसों का उपमर्दक[१] है अतः उसका पृथक् वर्णन किया है।

मूल श्लोक में दिए हुए 'स्म' शब्द का भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि भयानक (रस) के आविर्भाव करने में यह प्रमाण प्रसिद्ध है कि व्याघ्र और सिंह से डरे हुए प्राणी ऐसी आवाज़ करते हैं जिससे सुनने वालों में भय (भयानक रस) उत्पन्न होता है। यहाँ भगवान् भी प्राणियों के बीच में व्याघ्र और सिंह से डरे हुए के समान ध्वनि का उच्चारण करते हैं।

मुख्य भय दो प्रकार के हैं, १-एक भय से स्वरूप का नाश होता है, २-दूसरे भय से अभिमानादि धर्म नाश होते हैं।

व्याघ्र के भय से स्वरूप का नाश होता है, सिंह के भय से अभिमानादि धर्मों का नाश हो जाता है।

भय केवल दो प्रकार के ही नहीं है किन्तु बहुत प्रकार के हैं। जैसा कि जो प्राणी असमर्थ हैं, वे तो कल्पना मात्र से भयभीत होकर शान्त रहते हैं यह भय की पराकाष्ठा[२] है जैसे खरगोश आदि असमर्थ प्राणी शान्त ही रहते हैं। इनकी यह अवस्था सत्त्व सम्बन्ध वाली है। जो प्राणी समर्थ है उनको तो जब भय उपस्थित होता है तभी भय होता है। (वे अपनी सामर्थ्य से भय का निवारण करते हैं)

रस का अभिनय[३] केवल क्रिया से वाणी द्वारा सुन्दर होता है। इसलिए वही निरूपण किया गया है॥ १३॥

---

† भरद्वाज ऋषि के पुत्र भारद्वाज का जन्म इस अद्भुत प्रकार से हुआ है कि, भरद्वाज ऋषि का वीर्य 'घृताचि' अप्सरा को देख खलित हो गया। उसको भरद्वाज ने एक द्रोण (वर्तन) में रखा उससे भारद्वाज उत्पन्न हुआ इसलिए इसको द्रोणाचार्य कहते हैं।

१-दबाने वाला। २-सीमा। ३-नाटक।

आभास – बीभत्सरसलीलामाह क्वचित् ।

आभासार्थ – इस चौदहवें श्लोक में बीभत्स रस की लीला का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः – **क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम् ।**
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ – (ऐसे वृन्दावन में प्रसन्न मन वाले लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण) क्रीड़ा से हुई थकावट के कारण गोप के उत्सङ्ग को तकिया बनाकर आर्य (बलरामजी) पोढे थे तब अङ्गमर्दन आदि से उनकी थकावट दूर करते थे ॥ १४ ॥

सुबोधिनी – **क्रीडापरिश्रान्त**मिति, आर्यं बलभद्रं **स्वयं क्वचिद् विश्रमयति** विगतश्रमयुक्तं करोति **पादसंवाहनादिभिः**, पादे हि चलतः श्रमो भवति, अङ्गमर्दनं च तदुक्तकरणं च शय्यास्तरणादिकं **चादिशब्देनोच्यते**, हीनाद्धीनभाव उत्तमस्य बीभत्सो **भवति, भक्तिमतामेव स बीभत्स इतिप्रतीतेरत्यन्तानुचितप्रतीतिस्तेषामेवेति** यथा "स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ती"ति न पिशाचानां तादृशदर्शनेन बीभत्सरस उदेति किन्त्वस्मदादीनामेव तथेदमपि भक्तानां, एते हि सर्वे रसा भगवद्भजने तत्तदधिकारनिरूपकाः, सर्वरसाविष्टा अपि **भगवति सायुज्यं** प्राप्नुवन्तीति, पादसंवाहनादिकरणे हेतुः **क्रीडापरिश्रान्त**मिति, क्रीडा मल्लक्रीडा, भगवतैव सह बलिष्ठेन सह कृतश्रमो बलाधिक्यजनको भवति परं प्रथमं पीडां प्राप्नोति, तत्प्रतीकारं नान्यो जानाति, भगवद्बलेनैवातिमात्रं व्यापृतत्वात्, तदाह **परितः श्रान्त**मिति, अतिविह्वलतासूचनार्थं **गोपस्यैव** कस्यचिदुत्**सङ्ग उपबर्हणं** यस्य, अत एव विकलत्वात् स्वामिकृतमुपचारमपि सहते, **आर्यत्वादेव** भगवतस्तथाकरणम् ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ – श्रीकृष्ण स्वयं अपने ज्येष्ठ भ्राता बलरामजी के परिश्रम[१] को दूर करने के[२] लिए पादादि सकल अङ्गों को मसलते थे और आदि शब्द से अन्य कार्य, जैसे शय्या का बिछाना, उस पर बिस्तरा लगा देना भी करते थे । यह कार्य हीन से भी हीन था और उसको करने वाले उत्तम से भी उत्तम श्रीकृष्णजी थे । उत्तम पुरुष यदि हीन कार्य करें तो उसको देखकर देखने वाले प्रेमियों के हृदय में बीभत्स रस उत्पन्न होता है । उन प्रेमियों को ही यह कार्य अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है । केवल प्रेमियों को बीभत्स रस उत्पन्न होता है अन्यों (अप्रेमियों) को क्यों नहीं होता है ? इसको आचार्य श्री दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि, जैसे पिशाचों को माँस खाने जैसे हीन कार्य को देखकर बीभत्स रस का भान नहीं होता है किन्तु सत्पुरुषों को ही मांसादि भक्षण जैसे कार्य को देख वा सुनकर भी हृदय में बीभत्स भाव जगता है वैसे ही भगवान् के इस हीन कार्य को देखकर भक्तों को ही बीभत्स रस प्रकट होता है ।

ये सर्व रस भगवान् के भजन में उस अधिकार के निरूपण करने वाले हैं। सर्व रस में (रसों में से किसी भी रस में) जिसका प्रेम पूर्ण होता है तो उसको भगवत् सायुज्य की प्राप्ति होती है अतः यहाँ से सर्व रस भगवान् में वर्णन किए गए हैं।

भगवान् बलभद्र के पादादि अङ्गों के मसलने का कार्य इसीलिए करते थे कि बलभद्रजी भगवान् के साथ मल्ल आदि क्रीड़ा करके थक गए थे। बलिष्ठ के साथ की हुई मल्ल क्रीड़ा विशेष थकावट कराती है। वह क्रीड़ा प्रथम अङ्गों में पीड़ा करती है यह पीड़ा आदि भगवान् के विशेष बल के कारण हुई है इसका प्रतीकार[१] (यह पीड़ा किस प्रकार मिटेगी) भगवान् के सिवाय कोई अन्य नहीं जानता है। विशेष थकावट के कारण ही व्याकुलता उत्पन्न हुई थी उसको मिटाने के लिए किसी गोप के गोद को तकिया बनाकर आराम कर रहे थे। बलरामजी इस विकलता के कारण ही अपने स्वामी के किए हुए उपचार को भी सहन कर रहे थे (यदि विशेष विकलता होती तो भी स्वामी के उपचार को कभी सहन नहीं करते अर्थात् उनको करने ही नहीं देते)। भगवान् स्वामी थे तो स्वामी होकर उन्होंने सेवक की हीन सेवा क्यों की ? इसके उत्तर में आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् ने बड़े भाई के नाते ऐसा किया था वह योग्य ही था ॥ १४ ॥

आभास — रौद्ररसमाह नृत्यत इति,

आभासार्थ — इस श्लोक में रौद्र रस का वर्णन करते हैं।

श्लोकः - **नृत्यतो गायतः क्वापि युध्यतो वल्गतो मिथः।**
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ — (ऐसे वृन्दावन में प्रसन्न मन वाले लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण और बलराम) कहीं नृत्य करते, कहीं गाते, कहीं आपस में युद्ध करते और कहीं तो बड़प्पन दिखाते, गोपालों को हाथों से पकड़ कर हँसते थे और उनकी प्रशंसा करते थे।

सुबोधिनी — मल्लानामिव हि वीररसो रौद्रः, स चान्यत्रोत्पन्नोऽपि भगवतोपनिबध्यत इति भगवतो रसयुक्तलीला ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ — जैसे मल्लों का वीर रस क्रोध उत्पन्न कराता है वैसे रौद्र रस भी क्रोध उत्पन्न कराता है किन्तु भगवान् में रौद्र रस से इस प्रकार का क्रोध उत्पन्न नहीं होता है। रौद्र रस से दूसरों (गोपों)

१-उपाय।

में उत्पन्न क्रोध का भगवान् वर्णन मात्र करते हैं जिससे वह (क्रोध) भगवान् को हुआ है ऐसे समझा जाता है। इस प्रकार यह भगवान् की रौद्र रस से युक्त लीला है।

कारिका – **कायवाङ्मनोभिर्यद्युक्तमयुक्तं पीडकं च तत्।**
चतुर्विधा मल्ललीला स्तूयते हरिणा मुदा ॥ १ ॥

कारिकार्थ – काया, वाणी और मन से जो योग्य है और वह जो पीड़ा कारक होने से अयोग्य है। इन चार प्रकार के मल्ल युद्धों की भगवान् प्रशंसा करते हैं।

सुबोधिनी – साधारणत्वादत्रोभयोर्ग्रहणं, उभावुभौ मल्लयुद्धे, अन्यत्र बहवः, तत्र कायिकं **नृत्यं गानं** वाचिकं **वल्गनं मानसं** स्वप्रौढिख्यापकत्वान् **मिथश्च युध्यत** इति पीडारूपक्रिया कायिकीव, कांश्चिद्धसन्तौ कांश्चित् प्रशशंसतुः, **गृहीतहस्ता**विति न पक्षपातेन कस्यचित् क्रियाभिनिवेशः केनचित् कर्तव्य इतिज्ञापनार्थः, सापि लीला लोकप्रसिद्धा मुख्यत्वख्यापिका, **हसन्ता**विति, प्रथमं सन्तोषः पश्चात् **प्रशशंस**तुरिति वा ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ – यह मल्ल लीला साधारण होने के कारण इस मल्ल युद्ध में दोनों भाई हैं, दूसरी लीला में बहुत हैं। इस मल्ल युद्ध में दोनों भाईयों का होना इसलिए आवश्यक था कि यह मल्ल युद्ध अकेले से नहीं होता है, इसमें युग्म[१] की आवश्यकता है। अतः दोनों भाईयों ने मिल कर परस्पर मल्ल युद्ध किया था। चार प्रकार की मल्ल लीला में से नृत्य लीला काया से होने के कारण काया की लीला है, गान वाणी से किया जाता है अतः गान वाणी की लीला है, अपनी-अपनी प्रशंसा की फूलझड़ी उड़ाने का कार्य मन से किया जाने के कारण यह मानसी लीला है और परस्पर युद्ध करने का कार्य पीड़ा रूप होने से शारीरिक जैसा है। इस प्रकार परस्पर क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण और बलराम किन्हीं गोपों की हँसी करते थे और किन्ही गोपों की प्रशंसा करते थे, और गोपों के हाथों को पकड़ कर उनको जताते थे कि, कोई भी क्रीड़ा में किसी का पक्षापात न करें। हँसी करना और प्रशंसा करना भी एक प्रकार की लोक प्रसिद्ध क्रीड़ा है और जो इस प्रकार की क्रीड़ा करना जानता है, वह मुख्य क्रीड़क समझा जाता हैं। श्रीकृष्ण और बलराम हँसने से अपना सन्तोष प्रकट कर अनन्तर प्रशंसा करते थे ॥ १५ ॥

आभास – शान्तरसलीलामाह क्वचित् पल्लवतल्पेष्विति

आभासार्थ – इस श्लोक में शान्त रस लीला का वर्णन करते हैं।

१-जोड़े।

श्लोक — **क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः ।**
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ — (ऐसे वृन्दावन में प्रसन्न मन वाले लक्ष्मीयुक्त श्रीकृष्ण) बाहुयुद्ध के श्रम को जीतने वाले (वे श्रीकृष्ण) कभी वृक्षों के मूलों में नवीन कोमल पत्तों की शय्याओं पर गोपों के उत्सङ्गों को तकिये बनाकर शयन करते हैं ॥ १६ ॥

सुबोधिनी — शयानो हि शान्त इव भवति **नियुद्धं** बाहुयुद्धं तत्र यः **श्रमः** स **कर्षितो** येन, जितश्रम इत्यर्थः, **शान्तरसः** प्रत्येकपर्यवसायीति निरूपयन् भगवाननेकरूपः सर्वत्र **वृक्षमूलेषु** सर्वैरेव **गोपालै**रहमहमिकतयास्तृता बहव एव तल्पास्तेषां सर्वेषामेव युगपत्सौख्यसिद्ध्यर्थं सर्वेष्वेव **तल्पेषु** भगवान् शयानो जातः, तदाह बहुवचनं, ननु तथापि भगवान् किमिति तत्र शयनं कृतवानित्याह **वृक्षमूलाश्रय** इति, वृक्षस्य मूलमेवाश्रयत्वेन येषां ते **वृक्षमूलाः** परमहंसास्तानाश्रयते अतस्तत्र-तत्रातीन्द्रियत्वेन स्थितान् परमर्षीन् कृतार्थीकर्तुं तथा करोतीत्यर्थः, लोकानामेव प्रतीतिस्तल्पे शेत इति, वस्तुतस्तानि योगिनामन्तःकरणान्यतस्तेषु शेते, गोपानामुत्सङ्ग एवोप**बर्हणं** यस्येति तेषु भगवतः प्राधान्यस्थापनमृषिष्वप्राधान्यस्थापनमिति ज्ञापयति, ते हि वैश्या अतः स्वधर्मख्यापकमुत्सङ्गपदं, **उपबर्हणं** शिरस उपधानम् ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् बाहु युद्ध से उत्पन्न श्रम को जीत कर शयन कर रहे हैं अतः शान्त जैसे हैं, शान्त होने से यह भगवान् की लीला शान्त रस प्रकट करने वाली है। इस शान्त रस का परिणाम[१] प्रत्येक गोप में पृथक् पृथक् प्रकार से हुआ अतः प्रत्येक गोप ने स्पर्धा[२] से भगवान् के लिए वृक्षों के नीचे शय्याएँ पृथक् पृथक् बिछाई। भगवान् भी सब गोपों को साथ ही आनन्द देने के लिए अनेक रूप धारण कर सब शय्याओं पर शयन करने लगे। भगवान् ने वहाँ शयन क्यों किया ? इसका भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् ने इसलिए वहाँ शयन किया[३] कि वृक्ष मूल, परमहंस रूप हैं और परमहंस वृक्षों के मूल में ही रहते हैं, अतः इन्द्रियों से अदृश्य, उन परम ऋषियों को कृतार्थ करने के लिए, भगवान् भी वृक्षमूल का आश्रय कर रहे है। लोकों को ऐसी प्रतीति होती है कि भगवान् यहाँ शय्याओं पर शयन कर रहे हैं वास्तव में वे शय्याएँ योगियों के अन्तःकरण रूप थी अर्थात् भगवान् शय्याओं पर शयन नहीं कर रहे थे किन्तु योगियों के अन्तःकरण में स्थिति‡ कर रहे थे। भगवान् ने गोपों के उत्सङ्ग[४] को तकिया बनाकर, अपना मुख्य अङ्ग मस्तक, उस पर रखा

---

‡**लेखकार**-गोप यों समझते थे कि भगवान् श्रम से थक गए हैं अतः शय्याओं पर पोढ रहे हैं किन्तु भगवान् तो योगियों के अन्तःकरण में बिराज कर उनके मनोरथों को (चरण सेवा रूप) पूरण कर रहे थे।

१-फल। २-डाह या जलन। ३-स्थिति की। ४-गोद।

था शेष अप्रधान भोग ऋषियों के अन्तःकरण में स्थापन किया था। गोप, वैश्य हैं उनकी उत्पत्ति भगवान् के उरुओं से हुई है अतः गोपों ने अपने धर्म के ख्यापनार्थ भगवान् के प्रधान अंग मस्तक को वहाँ आश्रय दिया है ॥ १६ ॥

आभास – भक्तिरसमाह पादसंवाहनं चक्रु रिति, केचिदिति दुर्लभाः ।

आभासार्थ – इस (१७वें) श्लोक में भक्ति रस का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः – **पादसंवाहनं चक्रुः केचिदस्य महात्मनः ।**
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ – कितनेक ग्वाल इन महात्मा (श्रीकृष्ण) के पैर दाब रहे हैं, कितनेक निष्पाप, पत्ते आदि से बनाए हुए पंखों से हवा कर रहे हैं ॥ १७ ॥

सुबोधिनी – अस्येति, शान्तरसाभिनयकर्तुः **सर्व**रसास्वादकस्य वा, **महात्मन** इति, ततोऽप्यधिकस्य रसान्तरमुत्पादयितुं समर्थस्य, **पादसंवाहनमत्र** दास्यं, अन्ये पुनः कर्ममार्गानुसारेणापि भक्तिं कुर्वाणा **हतपाप्मानो** निष्कल्मषाः, कर्मिणां पापसम्भावना वर्तत इति तन्निराकरणार्थमुक्तं **हतपाप्मान** इति, ते ह्यासन्योपासकाः पूर्वं तेनैव तथाकृताः, अतो वायोः साम्यात् तदभिव्यक्तिहेतु**भिर्व्यजनैः** सम्यग**वीजयन्**, एवमुभयविधा अपि भगवत्सेवालक्षणं भक्तिरसं भगवत्सन्निधानाल्लभन्त इति भक्तिरससहिता भगवत एव लीला ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ – कोई इन (भगवान्) के चरण दाबते थे। 'कोई' कहने का भाव यह है कि पाद दाबने की सेवा करने वाले (भक्त) दुर्लभ[1] होते हैं। 'इन' शब्द कहने का भाव प्रकट करते हुए कहते हैं कि, जो शान्त रस का अभिनय करने वाले और सर्व प्रकार के रसों का जो आस्वादन करने वाले हैं। उससे भी (नवरसों से भी) अधिक अन्य (दशवें) रस को भी उत्पन्न करने में समर्थ हैं अतः वे महात्मा हैं। उन महात्मा (भगवान्) के पादों को दाबना 'दास्य' (भक्ति) है। कर्म मार्गिओं में यद्यपि कुछ पाप सम्भावना रहती है किन्तु यहाँ कर्ममार्गानुसारी भी जिन्होंने भक्ति की है वे निष्पाप हो गए हैं।

(प्राण) की ये सब आसन्य उपासना करने वाले हैं। आसन्य (प्राण) ने पहले ही इनको भगवान् का भक्त बना दिया था। अतः इन्होंने प्राण वायु के साम्य वाली क्रिया से अर्थात् पंखों से वायु करते हुए भगवान् की सेवा की। दोनों प्रकार के गोपों ने भगवान् के सान्निध्य से भक्ति रस की प्राप्ति की। यह भगवान् की लीला भक्ति रस वाली है ॥ १७ ॥

१-विरले ।

आभास — एवं रूपप्रपञ्चानुसारेण लीलामुक्त्वा नामप्रपञ्चानुसारेणापि तां लीलामाहान्य इति,

आभासार्थ — इस प्रकार (१७वें) श्लोक में रूप प्रपञ्च के अनुसार भक्ति रस लीला कहकर अब (१८वें) श्लोक में नाम प्रपञ्च के अनुसार भक्ति रस का वर्णन करते हैं।

श्लोक: — **अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः ।**
गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ — हे महाराज ! स्नेह से आर्द्र बुद्धि वाले अन्य, (गोप) उन महात्मा के मनोहर और उनके अनुरूप चरित्र धीरे धीरे गा रहे हैं ॥ १८ ॥

सुबोधिनी — भगवतोऽनुरूपाणि योग्यानि न त्वननुरूपाणि, निरोधार्थं केवलं कृतानि **मनोज्ञानि** मनोहराणि भगवतो भक्तानां च, यद् भगवता गोप्यं तत्प्राकट्यं भगवतो-मनोहरं भवति भक्तानां तु भक्तिमार्गविरुद्धं, **महात्मन** इति, भगवति सर्वं सम्भवति, अतो **भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा भगवान् कीर्तनीय** इतिज्ञापनार्थं **महात्मन** इत्युक्तं, **गानं** रागानुसारेण **भगवद्गुणोपनिबन्धयुक्तानां कीर्तनं, स्मेति** प्रसिद्धिः प्रमाणं, महाराजेतिसम्बोधनं राजलीलात्वज्ञापनाय, तेषामपि प्रेमोद्गमो भगवत्सान्निध्यादभीष्टगुणाच्च जात इति सर्वलीलान्ते तेषां प्रेमोच्यते **स्नेहक्लिन्नधियः** शनैरिति, स्नेहेन क्लिन्ना धीर्येषां, **आर्द्रवाससा स्पृष्टं सर्वमार्द्रमिव भवती**ति ज्ञापयितुं तेषां गानमपि तथा जातमित्याह शनैरिति एतदन्तैव भगवंल्लीला ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् ने निरोध के लिए जो मनोहर चरित्र किए और भक्तों के जो सुन्दर चरित्र हैं जो चरित्र भगवान् को प्रिय तथा उचित लगे वैसे चरित्र वे गाने लगे। जो चरित्र भगवान् गुप्त रखना चाहते हैं और जो भक्तों को भक्ति मार्ग के विरुद्ध देखने में आवे, उन चरित्रों का गान नहीं किया। यदि उन चरित्रों को गावें तो भगवान् को वह गान अप्रिय लगे।

'महात्मा' पद के देने का भाव बताते हैं कि भगवान् का माहात्म्य जान कर ही भगवान् के गुणों का गान करना चाहिये। और भगवान् में सर्व करने की शक्ति होने से सर्व सम्भव है इसलिए भी 'महात्मा' कहा है।

जिन पदों में भगवान् के गुणों का वर्णन है वे रागानुसार गाए जावें उनको कीर्त्तन कहते हैं। श्लोक में 'स्म' शब्द से प्रमाणित किया गया है कि यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है। अतः वे गोप वैसे ही गाते थे।

हे महाराज ! इस सम्बोधन से श्री शुकदेवजी बताते हैं कि यह राजलीला है। भगवान् के

सान्निध्य[१] से और अभीष्ट[२] गुणों से गोपों में भी प्रेम उत्पन्न हुआ। समस्त लीलाओं के अन्त में उनके प्रेम का प्रकट वर्णन किया गया है। जैसा कि 'स्नेहक्लिन्नधियः' स्नेह से आर्द्र बुद्धि वाले होने से धीरे धीरे गाने लगे। जैसे आर्द्र[३] वस्त्र से शुष्क[४] वस्त्र का मेल हो तो वह शुष्क वस्त्र भी आर्द्र हो जाता है। वैसे ही स्नेह से आर्द्र गोपों के संसर्ग से गुणगान भी स्नेहार्द्र हो गया, जिसके सुनने से सुननेवालों में भी प्रेम सञ्चार होने लगा। यहाँ तक ही भगवन् की की हुई लीलाओं का वर्णन है।

आभास — अतः परं जीवाः सायुज्यमेव प्राप्स्यन्तीति कैः सह लीला कर्तव्या स्यादत उपसंहरत्येव, ?

आभासार्थ — इसके (उपरोक्त लीलाओं द्वारा भगवान् में पुनः प्रेम उत्पन्न होने के) अनन्तर जीवों को सायुज्य की प्राप्ति होगी किनके साथ लीला की जाए ? जिनके साथ लीला की जाए वे तो रहेंगे नहीं अतः इस श्लोक में लीला का उपसंहार करते हैं।

श्लोकः — **एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन्।**
रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ — लक्ष्मी जिनके पाद पल्लवों का लालन कर रही है और जो इस प्रकार के चरित्रों से गोपबालकपन का विडम्बन[५] करते हैं तथा जो, ईश के समान चेष्टा वाले हैं ऐसे भगवान् ने अपनी माया से अपनी गति (ईश्वरीय ज्ञान) को छिपाकर ग्रामीणों के साथ ग्रामीणों के समान क्रीड़ा की ॥ १९ ॥

सुबोधिनी — एता एव **दशविधलीला** यत्र क्वचिद् भगवत उच्यन्ते, अग्रे भगवतो राजसीं सात्त्विकीं च लीलां वक्ष्यन् तामसीयं गोकुले ग्राम्यैः सह कृतेत्याह, ननु ज्ञानरूपे भगवति कथमियं लीला सम्भवति ज्ञानस्य तमोविरोधित्वात् ? तत्राह **निगूढात्मगतिरि**ति, **नितरां गूढा आत्मनो** गतिर्ज्ञानलीला यस्य, **स्वमायये**त्युभयत्र सम्बध्यते, स्वाधीनमायया **गोपात्मजत्व**मपि **चरितैः** कृत्वा **विडम्बय**त्यनुकरोत्युपहसति वा, न हि गोपा एतादृशा भवन्ति, अतो महानल्पस्य नाम स्वस्मिन् स्थापयंस्तानुपहसत्येव, चरितान्यलौकिकानि, विडम्बनं चालौकिकचरित्रैर्न भवतीति **माया** तेषु सहकारिणी क्रियते, बहूनामेव चरित्राणां बहुधा प्रदर्शितानां **विडम्बनं** सिध्यति, अतः स्वरूपं गोपयन् गोपानुकरणं चोपहसन् रेमे, लीलादावुक्ताया लक्ष्म्या उपसंहारे विनियोगमाह **रमालालितपादपल्लव** इति, **क्रीडान्ते पादसंवाहनं पतिव्रताया धर्मः, अन्यथा समतया गता भक्तिर्न पुनरागच्छेत्, अतः प्रत्यापत्त्यर्थमन्तेऽवश्यं पादसंवाहनं कर्तव्यं** एतादृशोऽपि **ग्राम्यैः समं** ग्राम्यरसानुभवार्थं **ग्राम्यवदेव** रेमे, अन्यथा विजातीये रसो नोत्पद्येत, **ईशचेष्टित** इति भगवतोऽप्यन्ते प्रत्यापत्तिः, ईशस्येव चेष्टितं यस्येति "लोकवत् तु लीलाकैवल्य" मितिन्याय उपदर्शितः, ईश्वरा अप्याखेटकादिरूपां व्याधवल्लीलां कुर्वन्ति तथैतदपि भगवता कृतमिति ॥ १९ ॥

१-पास होना। २-इच्छित। ३-गीले, भीगे हुए। ४-सूके।

५-अनुकरण, नकल।

व्याख्यार्थ — भगवान् की ये ही दश प्रकार की लीलाएँ जहाँ तहाँ कही जाती हैं। आगे के राजस तथा सात्त्विक प्रकरण में शुकदेवजी राजसी और सात्त्विकी लीला कहेंगे और तामसी लीला गोकुल में ग्रामीणों के साथ की है उसका अब वर्णन करते हैं।

जब तमोगुण ज्ञान का विरोधी है जहाँ ज्ञान है वहाँ तम रह नहीं सकता हैं तब ज्ञान रूप भगवान्, तामसी लीला करते हैं यह सम्भवित[१] नहीं लगता है। इस शङ्का के निवारण[२] के लिए श्लोक में भगवान् को 'निगूढात्मगति:' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि भगवान् ने अपनी ज्ञान लीला तिरोहित कर ली है जिससे भगवान् तामसी लीला कर सकते हैं। भगवान् ने अपनी माया से दो कार्य किए हैं, एक अपनी ज्ञान लीला तिरोहित की है और दूसरे अपने चरित्रों से गोपबालकपने का विडम्बन[३] किया है और उसका उपहास[४] किया है। उपहास कैसे किया ? वहाँ कहते हैं कि गोपजन भगवान् नहीं बनते हैं अत: महान् (भगवान्) छोटे का (गोप का) नाम धारण कर उनकी हँसी करते हैं। ये चरित्र अलौकिक हैं, किन्तु अलौकिक चरित्रों में विडम्बन नहीं हो सकता है, इसलिए इन चरित्रों में भगवान् ने माया को सहकारिणी बनाया है, जिससे विडम्बन हो सका है और माया के कारण सब भगवान् को भी सामान्य गोप समझने लगे। विडम्बन तब सिद्ध होता है जब चरित्र बहुत हो तथा पृथक् पृथक् प्रकार से किए जावें। अत: भगवान् अपने (ज्ञान) स्वरूप को छिपाके और गोपानुकरण कर गोपों पर हँसते हुए रमण करने लगे।

लीला के आरम्भ में (श्लोक ९ में) लक्ष्मी का आगमन और कार्य कहा है अब उपसंहार में भी उनकी सेवा का वर्णन करते हैं। लक्ष्मीजी अपने पतिव्रता धर्म को पालन करती हुई क्रीड़ा के अन्त में अपने पति भगवान् के चरणों को दबाती है। यदि लक्ष्मीजी इस प्रकार पति की सेवा नहीं करे तो क्रीड़ा के समय समानता के कारण तिरोहित हुई भक्ति का पुन: आविर्भाव[५] न हो अत: तिरोहित[६] भक्ति के आविर्भाव के लिए लक्ष्मीजी ने पाद संवाहन की सेवा की है। जिनकी सेवा लक्ष्मीजी कर रही है ऐसे भी भगवान् ग्रामीणों[७] के साथ ग्राम्य रस के अनुभव के लिए ग्रामीणों के समान ही रमण करने लगे। यदि आप ग्रामीण जैसे बनकर रमण न करते और ईश्वर होकर ही रमण करते तो रमण में रस उत्पन्न नहीं होता कारण कि विजातीय[८] से रमण में रस प्रकट नहीं होता है। यद्यपि उस समय भी भगवान् की चेष्टा वैसी ही ईशपने की थी, केवल ग्रामीणों को रसदानार्थ वैसा स्वांग कर 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यं' सूत्र में कहे हुए न्याय को प्रदर्शित किया है। जैसे राजा लोग शिकार के समय शिकारी जैसा वेश कर शिकार खेलते हैं वैसे ही भगवान् ने भी यह लीला की है। इस प्रकार लीला करते हुए भगवान् के भगवत्त्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आई है। जैसे राजा के राजापने में शिकार करते हुए कोई कमी नहीं आती है ॥ १९ ॥

आभास — एवं गोपानां संस्कारार्थं लीलां प्रदर्श्य तेषां दोषनिराकरणार्थं धेनुकवधलीलां प्रस्तावयति श्रीदामानामेति विंशत्या,

---

१-होने जैसा। २-मिटाने। ३-हँसी की, मजाक उड़ाया। ४-अनुकरण, नकल।
५-प्रकट। ६-छिपी हुई। ७-गँवारों। ८-दूसरे स्वभाव वाले।

आभासार्थ — इस प्रकार गोपों के संस्कार करने के लिए (अलौकिक भाव की सिद्धि के लिए) उपर्युक्त लीला की, अब उनके दोषों के निराकरण[१] के लिए धेनुक के वध की लीला की भूमिका प्रारम्भ करते हैं। यह लीला २० (२० से ३९) श्लोकों से वर्णन करते हैं।

श्लोकः — **श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा ।**
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥ २० ॥

श्लोकार्थ — राम और केशव के सखा श्रीदामा नाम वाले गोपाल ने, और सुबल स्तोक कृष्ण तथा स्तोक कृष्ण आदि गोपों ने प्रेम पूर्वक यह कहा ॥ २० ॥

सुबोधिनी — श्रीर्दामि यस्य, लक्ष्म्याः सम्बन्धी कश्चित् तद्भ्रातेव, सोऽपि गोपालो नन्दवंशोद्भवो **रामकेशवयोः सखा** साधारणः सख्यपर्यन्तमागतः स्त्रीसम्बन्धी लीलासम्बन्धी भक्ति सम्बन्धी च, तादृशानन्यानपि गणयति **सुबलेति, स्तोको** भिन्नः, कृष्णो, भिन्न **स्तोक**कृष्णश्चापरः, सुबलो बलभद्रानुसारी स्तोककृष्णो भगवदनुसारी सुबलस्तोककृष्णावेवाद्यौ येषां, ते सर्वे सम्भूय **प्रेम्णा** स्वाभिलषितं किञ्चित् प्रार्थयन्ति ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ — श्रीदामा गोपाल, लक्ष्मी का भ्राता जैसा सम्बन्धी है इसलिए ही इसका नाम ('श्री' लक्ष्मी 'दामा' रस्सी सम्बन्ध वाली जिसकी है) श्रीदामा पड़ा है। वह गोपाल नन्दजी के वंश में उत्पन्न हुआ है और राम तथा केशव का सखा है। जिसका तात्पर्य है कि इस श्रीदामा गोपाल ने भगवान् का सख्य प्राप्त कर सख्य भक्ति सिद्ध कर ली है। इस गोपाल का तीन प्रकार से सम्बन्ध हुआ है- १-लक्ष्मीजी के सम्बन्ध से सम्बन्धी, २-नन्दवंश में उत्पन्न गोपाल होने से लीला सम्बन्धी और ३-सख्य भक्ति के कारण से सम्बन्धी हुआ है। इस गोपाल के सिवाय वैसे अन्य सुबल आदि गोपों की गिनती करते हैं। १-स्तोक, २-कृष्ण, ३-स्तोक कृष्ण। सुबल गोप बलभद्र का अनुयायी था और स्तोक कृष्ण श्रीकृष्ण का अनुयायी था। सुबल और स्तोक कृष्ण ये दोनों गोपों में मुख्य थे। ये सब गोप मिलकर, प्रेम से अपने अभिलषित पदार्थ की प्रार्थना करते हैं ॥ २० ॥

आभास — तदाहुः

आभासार्थ — अब प्रार्थना करते हैं।

श्लोकः — **राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।**
इतोऽविदूरे सुमहद् वनं तालालिसङ्कुलम् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ – हे महाबलिष्ठ ! हे राम ! हे राम ! हे दुष्टों के नाश कर्ता कृष्ण ! यहाँ से निकट ही ताड़ वृक्षों की पंक्तियों से युक्त बड़ा सुन्दर वन है ॥ २१ ॥

सुबोधिनी – सुबलः प्रथमं निरूपित इति **रामरामेति सम्बोधनं** प्रथमं, कायिकश्चायं दोषस्तेनैव दूरीकर्तव्यः, **महासत्त्वे**ति तस्य स्तुतिः प्रकृतोपयोगिनी, मल्लयुद्धादिना च महाबलत्वं ज्ञातं, भगवतस्तु तद्रूपं माहात्म्यजनकं न भवतीति, धेनुकवधस्यावश्यकत्वाय **दुष्टनिबर्हणे**तिस्तुतिः, **इतः** क्रीडास्थानादविदूर एव निकट एव, **सुमहद**स्मादपि महत् **तालालिभि**स्तालपंक्तिभिर्व्याप्तमस्ति ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ – उपर्युक्त श्लोक में सखाओं की गणना करते हुए प्रथम सुबल का नाम दिया है, सुबल बलरामजी का सम्बन्धी है अतः यहाँ बलरामजी को हे राम ! हे राम ! संबोधन से पहिले पुकारा है तथा तालवन में रहने वाला धेनुकासुर देहाध्यास का रूप है अतः काया का दोष है, काया के दोष को बलरामजी को ही दूर करना है । इस कारण से भी राम को प्रथम प्रार्थना की है । काया के दोष रूप धेनुक का नाश बलरामजी करेंगे क्योंकि बलरामजी महाबलवान् हैं । महा बलिष्ठ कह कर राम की स्तुति करना प्रकृत विषय में उपयोगी है । राम के महा बलिष्ठत्व का परिचय उसके मल्ल युद्ध करने से हो गया है । यदि राम के समान यहाँ श्रीकृष्ण को महाबली का विशेषण देकर उनकी स्तुति की जाती तो उससे श्रीकृष्ण का महत्त्व नहीं बढता इसलिए कृष्ण का विशेषण 'दुष्ट निबर्हण' दुष्टों का नाशक देकर उनकी स्तुति की गई है । इस क्रीड़ा स्थान से थोड़ी दूर ही अर्थात् निकट ही इस वृन्दावन से भी सुन्दर तथा बड़ा तालवृक्षों के पंक्तियों से पूर्ण वन है ।

आभास – ततः किमत आह फलानीति,

आभासार्थ – वृन्दावन से भी सुन्दर तालवन निकट ही है इसके कहने का आशय आप लोगों का क्या है ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं-

श्लोकः – **फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च ।**
सन्ति किन्त्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ – उस वन में बहुत बड़े बड़े फल गिरे हुए हैं, गिर रहे हैं (तथा अन्य पेड़ों में लटक रहे हैं) । किन्तु दुष्ट धेनुक ने उनको रोक रखा है (जिससे कोई ले नहीं सकता है) ॥ २२ ॥

सुबोधिनी – पातनप्रयासोऽपि नास्ति **पतितानि सन्ति,** चिरपतितानां तथारसो न भवतीति **पतन्ति** चेत्युक्तं, न च तानि पतितानि केनचिन् नीयन्ते **किन्तु** सन्त्येव, तत्र हेतुर्धेनुकेना-**वरुद्धानि,** तर्हि प्रार्थनायां दास्यतीत्याशङ्क्याहुर्**दुरात्मनेति,** स हि दुष्टः प्रार्थितोऽपि न प्रयच्छति ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ – फलों को लेने के लिए फल गिराने का परिश्रम भी नहीं करना पड़ेगा कारण कि फल गिरे पड़े हैं। गिरे हुए फल शुष्क होने से उनमें रस होगा नहीं। यदि उनमें रस न हो तो भी कोई बात नहीं क्योंकि अब भी ताजे फल गिर रहे हैं वे फल कोई ले नहीं गया है यों ही पड़े हैं। तथा पेड़ों में भी अब तक बहुत फल हैं वे लेकर खाएँगे किन्तु ले नहीं सकते, धेनुक ने उनको रोक रखा है अर्थात् अपने अधिकार में ले लिया है, किसी को लेने नहीं देता है। यदि वह लेने नहीं देता है तो उससे माँग कर लो, इस पर कहते हैं कि वह धेनुक दुरात्मा है, अतः प्रार्थना करने पर भी नहीं देता है ॥ २२ ॥

आभास – किञ्च न तं कोऽपि प्रार्थयत इत्याह सोऽतिवीर्य इति,

आभासार्थ – अति पराक्रम के कारण उसको कोई प्रार्थना भी नहीं कर सकता है। इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक्।**
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ – वह असुर बहुत वीर्यवाला[1] है। हे राम! हे कृष्ण! और उसने गधे का रूप धारण किया है और अपने समान बल वाले ज्ञातिजन तथा अन्य भी बहुत उसके साथ में है ॥ २३ ॥

सुबोधिनी – अतिवीर्यत्वान् न कमपि गणयति, हीनभावाश्रये तु भक्षयत्येव यतोऽयमसुरः तर्ह्यस्माकमप्यशक्य इतिशङ्कां वारयितुं पुनर्नाम गृह्णन्ति **राम हे कृष्णेति,** स कथं परिज्ञातव्य इत्याशङ्क्याहुः खररूपधृगिति, न चैकः सः बहवश्च भवन्तः अतः सम्भूय मारणीय इतिशङ्कां वारयन्ति **आत्मतुल्यबलैरिति** बहूनां तादृशबलवत्त्वे कुलमेव हेतुरिति ज्ञापयितुमाहुर्ज्ञातिभिरिति, **अन्यैरपि** बहुभिर्वृतः, तेऽप्यन्ये सङ्घशो बहव एव सजातीयाः ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ – धेनुक अति पराक्रमी होने से किसी को भी ध्यान में नहीं लाता है, जिससे, कोई प्रार्थना भी नहीं कर सकता है, यदि कोई नम्र होकर दीनता पूर्वक प्रार्थना करता है तो उसको अपना भक्ष्य[2] बना लेता है क्योंकि यह असुर है। यदि ऐसा है तो हम से भी अशक्य है? (जीता नहीं जायगा?) इस शङ्का को मिटाने के लिए पुनः[3] राम! कृष्ण! नाम लेकर बताते हैं कि हे राम! आप महा बली हैं और हे कृष्ण! आप दुष्ट नाशक हो अतः आप इनको जीत सकते हो। अच्छा; हम जीत सकें ऐसा है तो उसको पहचाने कैसे? उसकी पहचान कराने के लिए कहा है कि उसने गधे का रूप धारण कर लिया है। आप गोप बहुत हो वह एक है अतः आप सब मिलकर उस अकेले का

१-तेजस्वी। २-भोजन। ३-फिर।

नाश कर दो। यदि राम और कृष्ण ऐसा कह दें, तो उसके लिए कहते हैं कि वह एक नहीं है किन्तु उसके साथ उसके समान बल वाले उसके बहुत जाति भाई और अन्य असुर भी बहुत हैं इसलिए हमसे उसका नाश न हो सकेगा ॥ २३ ॥

श्लोकः — **तस्मात् कृतनराहाराद् भीतैर्नृभिरमित्रहन् ।
न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम् ॥ २४ ॥**

श्लोकार्थ — हे शत्रु के नाशक ! मनुष्यों को खाने वाले इस दैत्य के भय से भीत, (डर कर) कोई भी मनुष्य वहाँ नहीं जाता है तथा पशु और पक्षियों ने भी वहाँ जाना छोड़ दिया है ॥ २४ ॥

सुबोधिनी — एवं तस्य वीर्यं प्रशस्तं यदर्थं तदाह **तस्मा**दिति, कृतो **नर** एवाहारो येन, स हि मनुष्यानेव विशेषतो भक्षयत्यत एव **तस्माद् भीतैर्नृभिर्न सेव्यते तद् वनं**, तर्ह्यस्माभिरपि न गन्तव्यमित्याशङ्क्याहुरमित्रहन्निति, हे कृष्ण भवानमित्रहन्ता सोऽप्य**मित्र** इति तद्धननं तव शक्यं कर्तव्यं च, अयं धर्मो भगवन्निष्ठो जागरूक एतेषां हृदि स्फुरतीत्युक्त-दोषवतोऽपि स्थाने गमनं प्रार्थयन्ति, अन्यथैवम्प्रेरणस्य प्रेमविरुद्धत्वेन "**प्रेम्णेदमब्रुव**" न्निति वचनं विरुद्धं स्यात् प्रियस्यामित्रे च न स्थापयितुमुचितमिति च, किञ्च तद् वनं सर्वेषामेवासेव्यं ये भूचरा ये चान्तरिक्षचराः, अतः **पशुगणैः पक्षिसङ्घैश्च** विशेषेण वर्जितं, अतो ये पशुपालका ये वा देवपरिपालकास्तैः सोऽवश्यं वध्यः ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ — इस प्रकार जिस कारण से उसके वीर्य[१] की प्रशंसा की उसका कारण वर्णन करते हैं।

वह (धेनुक) मनुष्यों को ही विशेष कर खाता है इस लिए उस, नर भक्षक के भय से डरे हुए मनुष्य, उस वन में नहीं जाते हैं। यह सुनकर कदाचित् राम कृष्ण कह दें कि तब तो हमको भी वहाँ नहीं जाना चाहिये; इसके उत्तर में कहते हैं कि आप शत्रुओं को नाश करने वाले हो*, वह भी शत्रु है, अतः उसको मारना आपका कर्त्तव्य है और आप उसको मार सकते हो। यह शत्रु को नाश करने वाला धर्म सदैव भगवान् में जगा हुआ रहता है। यह भगवान् का धर्म गोपों के मन में नित्य स्फुरित रहता है अतः ऐसे दोष (भय) वाले स्थान में जाने के लिए भगवान् को प्रार्थना करते हैं। यदि भगवान् के शत्रु नाश करने की स्फूर्ति गोपों के हृदय में न होती तो वे कदापि प्रार्थना नहीं करते, क्योंकि पहले कहा गया है कि 'प्रेम से यह कहने लगे' वे इनके वचन ऐसे भय वाले स्थान पर जाने की प्रार्थना करने से विरुद्ध हो जाते परन्तु भगवद्धर्म की अन्तःकरण में स्फूर्ति होने से विरुद्ध नहीं है। और उस वन में पृथ्वी पर विचरण करने वाले और अन्तरिक्ष[२] में विचरने वाले सब जा नहीं सकते

*लेखकार — यह विशेषण श्रीकृष्ण के लिए है क्योंकि पहले श्रीकृष्ण को 'दुष्टनिर्वहण' दुष्ट नाशक कहा है।

१-पराक्रम, शक्ति। २-आकाश।

हैं अर्थात् उनके जाने के योग्य वह वन नहीं रहा है, इस कारण से पशुगणों ने तथा पक्षिओं ने भी उसमें जाना छोड़ दिया है। इसलिए जो पशुओं के पालक हैं और देवताओं की पालना करने वाले हैं उन्हीं से यह मारने योग्य है अर्थात् आप पशुओं के पालक तथा देवताओं के रक्षक हैं अतः आप इनको नाश करो जिससे पशु पक्षी और देवताओं का यह सङ्कट मिट जावे और हम भी फलों का उपभोग कर सकें ॥ २४ ॥

श्लोकः – **विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च ।**
एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ – उपवन में कभी नहीं खाए, ऐसे सुगन्धित फल हैं। उन (फलों) की चारों तरफ फैली हुई सुगन्धि आ रही है ॥ २५ ॥

सुबोधिनी – **किञ्च तत्राभुक्तपूर्वाणि फलानि** दिव्यानि सन्ति, केचिद् भुक्तपूर्वाणीत्याहुरन्यथा कथं तेषां कामनेति, रक्षायां यद्यपि भोगो बाध्यते तथापि चौर्येण भक्षणं सम्भवति, तानि च फलान्यत्यन्तसुर**भीणि**, सौरभ्यं तु तेषां प्रत्यक्ष-सिद्धमेव, तदाहैष **वै सुरभिर्गन्ध** इति, **विषूचीनः** परितः प्रसरद्रूपः, अत एव सर्वतो **गृह्यते** ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ – उस वन के फल जो आगे खाए नहीं हैं वे दिव्य (अलौकिक अथवा स्वर्गीय फलों के समान) हैं। कितनेक यहाँ 'भुक्तपूर्वाणि' पाठ लेकर अर्थ करते हैं कि ये फल पहले खाए हुए हैं, यदि उन्होंने खाए न होते तो ये मीठे हैं यों कह कर उनकी कामना कैसे प्रकट करते, अतः यद्यपि धेनुक उसकी रक्षा करता है इसलिए वे खाए नहीं जा सकते हैं किन्तु चोरी से खाए जा सकते हैं। वे फल अत्यन्त सुगन्धि वाले हैं। उनकी सुगन्धि तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कारण कि वे चारों तरफ फैली होने से सब तरफ से आरही है ॥ २५ ॥

श्लोकः – **प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम् ।**
वाञ्छाऽऽसीन् महती राम गम्यतां यदि रोचते ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ – हे कृष्ण ! हे राम ! सुगन्धि से हमारे चित्त में फलों को खाने का लोभ उत्पन्न हो गया है अतः वे फल हमको दो क्योंकि उनके खाने की बहुत इच्छा है। यदि आपका जी चाहे तो आप वहाँ पधारें ॥ २६ ॥

सुबोधिनी – एवं दुर्लभतां फलोत्तमत्वं चोक्त्वा तानि प्रार्थयन्ते **प्रयच्छेति, दाने भगवानेव समर्थ** इति **कृष्णे**त्युक्तं, तस्यैव सर्वत्र स्वत्वात्, अन्येन प्रतिबन्धनिवृत्तावपि परस्वं न ग्रहीतुं शक्यं, तत्र कामनायां हेतु**र्गन्धलोभितचेत**-सामिति, गन्धेन **लोभितं** चेतो येषां, न केवलमिदानीमेव चित्तलोभः किन्तु पूर्वमपि **वाञ्छासीन् महती**, उत्सुको राम इति **राम**

गम्यतामित्युक्तं अति निर्बन्धे कदाचित् कोपं कुर्याद् गते चानिष्टं भवेदित्याशङ्क्याहुर्यदि **रोचत** इति, यदि गन्तुं रोचते ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ – फलों के मिलने की दुर्लभता और उनकी उत्तमता का वर्णन कर, उनको देने के लिए भगवान् को प्रार्थना करते हैं कि हे कृष्ण ! वे फल हमको दो । कृष्ण को क्यों कहा कि आप हमको फल दो उसका कारण बताते हैं कि, देने में भगवान् ही समर्थ हैं, सबों पर उनका ही स्वामीपन है । वन से धेनुक का प्रतिबन्ध हट जावे तो भी पराई वस्तु नहीं ली जा सकती है । अतः भगवान् को देने के लिए प्रार्थना की है । फलों के प्राप्ति की कामना का कारण यह है कि फलों की सुगन्धि ने इनका चित्त अपनी तरफ खींच लिया है । यह लोभ अब नहीं हुआ है किन्तु पहले भी विशेष इच्छा थी । फलों के लिए राम भी उत्सुक[1] है इसलिए कहते हैं कि हे राम आप वन में पधारो, यों कहते हुए गोपों के मन में शङ्का हुई कि विशेष आग्रह करने से राम को क्रोध आ जाय तो इसीलिए फिर कहते हैं कि यदि आप पधारना चाहें तो पधारो (यदि इच्छा न हो तो मत पधारो) ॥ २६ ॥

आभास – ततो गतावित्याहैवमिति,

आभासार्थ – गोपों के ये शब्द सुनने के अनन्तर दोनों (राम-कृष्ण) गए इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – **एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया ।**
प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ – ऐसे मित्रों के वचन सुनकर, मित्रों को प्रसन्न करने की इच्छा से दोनों भाई हँस कर गोपों के साथ ताल वन में पधारे ॥ २७ ॥

सुबोधिनी – सुहृदां **स्वभावत एव हितं कर्तव्यं,** तत्रापि तेषां **वचनं श्रुतं**, अतः सुहृदामेव **प्रियचिकीर्षया** तत्र गतौ, अन्यथाक्लिष्टकर्मा भगवान् निरपराधिनं कथं मारयेत् ? अत एव भगवता न मारितोऽपि, **मित्रहितं च कर्तव्यमतः** **प्रहस्य,** तेषामाग्रहं दृष्ट्वा दोषनिवृत्तिं वाञ्छन्तीति वा, सामान्यकार्यैमित्युभौ **जग्मतुः, गौपैर्वृताविति** कर्तव्यार्थ-निर्धारः, अन्यथा तैः सह न गच्छेतां, शङ्काभावार्थमाह प्रभू इति ॥२७॥

व्याख्यार्थ – यद्यपि मित्रों का हित बिना कहे हुए ही करना चाहिए किन्तु यहाँ तो मित्रों ने प्रार्थना भी की है । अतः सखाओं के हित के लिए दोनों भाई गए । जो मित्रों ने प्रार्थना नहीं की होती और उनके प्रिय करने की इच्छा दोनों भ्राताओं को न होती, तो क्लेश विना कर्म करने वाले भगवान्, निरपराधी

---

[1] १-लालसा वाला ।

धेनुक को क्यों मारे ? इसलिए भगवान् ने धेनुक को मारा भी नहीं। मित्रों का हित भी करना है। भगवान् ने गोपों का अभिप्राय समझा था कि ये जाने का आग्रह अपने दोषों (देहाध्यास) के निवृत्ति कराने के लिए कर रहे हैं इसलिए भगवान् हँसकर के जाने लगे। धेनुकादिकों का वध सामान्य कार्य है इससे दोनों गए। गोपों को साथ में इसलिए लिया था कि उन का देहाध्यास नष्ट करना था नहीं तो साथ में लेजाने की आवश्यकता नहीं थी। यदि यह शङ्का हो कि धेनुक अति वीर्यवान् है और उसके साथ भी ऐसे बहुत हैं उनको मारने के लिए गोपों की आवश्यकता समझ कर उनको साथ में लिया तो इस शङ्का के मिटाने के लिए श्लोक में दोनों के लिए 'प्रभु' विशेषण दिया गया है कि वे दोनों, उन सबों के नाश करने के लिए 'समर्थ' थे ॥ २७ ॥

आभास – तत्र गत्वा यत् कृतवन्तौ तदाह बल इति,

आभासार्थ – वहाँ जाकर उन्होंने जो किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन्।**
फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ – बलरामजी वन में जाकर हाथी के समान तालके वृक्षों को बाहुओं से हिलाते हुए फलों को गिराने लगे ॥ २८ ॥

सुबोधिनी – अक्लिष्टकर्मा भगवान् बहिरेव स्थितो बलस्त्वन्तः **प्रविश्य बाहुभ्यां तालानि सम्परिकम्पयन् फलानि पातयामास, यानि सुपक्वानि तानि चालनेन पतन्ति,** ननु विद्यमानेषु फलेषु किमिति बहूनि पातयामास ? **मतङ्गज इवेति,** मतङ्गजः सर्वाण्येवानुपयुक्तान्यपि पातयति बलजनितकण्डूनिवृत्त्यर्थं, उपायेनापि पातनं सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थ**माहौजसेति,** स्वबाहुबलेनैव ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ – क्लेश विना (लीला मात्र से) कर्म करने वाले भगवान् बाहिर ही खड़े रहे, बलरामजी ने तो अन्दर प्रवेश कर बाहुओं से ताल वृक्षों को अच्छे प्रकार से हिलाया जिससे वे पके हुए फल गिरने लगे, पके हुए फल पेड़ों को हिलाने से गिरते ही हैं। पृथ्वी पर आगे ही फल गिरे पड़े थे फिर अन्य फलों को गिराने की क्या आवश्यकता थी ? क्यों गिराए ? गिराने का कारण बताने के लिए मस्त हाथी की समानता का दृष्टान्त दिया है कि जैसे मदोन्मत्त हाथी केवल अपने बल जनित कण्डू[१] को मिटाने के लिए वृक्षों को हिलाता है जिससे काम में न आने वाले भी सर्व फल गिरते हैं वैसे ही बलरामजी ने भी फलों के गिराने की इच्छा से नहीं, फल तो अन्य उपाय से भी गिराए जा सकते थे, किन्तु अपने बढ़े हुए बाहु बल की विशेषता प्रकट करने के लिए ही अपने बाहुओं से वृक्षों को कम्पायमान किया ॥ २८ ॥

१-खाज।

आभास – ततो यज् जातं तदाह,

आभासार्थ – इसके अनन्तर जो कुछ हुआ उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोकः – **फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः ।**
अभ्यधावत् क्षितितलं सनगं परिकम्पयन् ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ – गिरते हुए फलों के शब्द सुनकर वह गर्दभरूप असुर पर्वत सहित पृथ्वी को कम्पायमान करता हुआ दौड़कर आया ॥ २९ ॥

सुबोधिनी – पततां फलानां **शब्दं** श्रुत्वासुरेष्वपि रासभोऽधमः, **असुरापेक्षयासुरपशवोधमास्तत्रापि** गर्दभाः, तस्य निर्भयागमने हेतुमिव सामर्थ्यमाह **सनगं परिकम्पयन्**निति गोवर्धनसहितं सर्वमेव **भूतलं परिकम्पयन्** ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ – पशु भी, दैवी असुर भेद से दो प्रकार के होते हैं, असुरों से भी असुर पशु अधम होते हैं । असुर पशुओं में भी, असुर गर्दभ, विशेष **अधम** होता है । इस धेनुक ने उस विशेष असुर गर्दभ का रूप धारण किया था । फलों के गिरने के शब्द सुनकर अपनी विशेष असुरता तथा सामर्थ्य प्रकट करने के लिए गोवर्द्धन पर्वत समेत समग्र पृथ्वीतल को कम्पायमान करता हुआ निर्भय होकर दौड़ता वहाँ आया ॥ २९ ॥

आभास – आगत्य बलभद्रं ताडितवानित्याह समेत्येति,

आभासार्थ – धेनुक ने आकर बलभद्रजी को मारा, उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – **समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली ।**
निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् खलः ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ – बहुत शीघ्र आकर बलरामजी के वक्ष स्थल में पिछले दोनों पादों से लात मार कर रिंकता हुआ यह बलवान दैत्य चारों ओर फिरने लगा ॥ ३० ॥

सुबोधिनी – समेत्य मिलित्वा निकटे समागत्य **तरसा** प्रत्यग्भूतो जातो विपरीतमुखस्ततो **द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं** बलभद्रमुरसि निहत्य ताडयित्वा **काशब्दं** रासभशब्दं **मुञ्चन्**नुच्चारयन् **पर्यसरत्** परितो वेष्टनमिव प्रदक्षिणां कृतवान्, जातिस्वभावोऽयं, ननु महान् फलार्थी स्वस्थाने समागतः स्वयमेव फलान्युत्पाट्य गृह्णाति तत्र कथमागत्य ताडनमनुचितं कृतवान् ? तत्राह खल इति ॥ ३० ॥

व्याख्यार्थ – बलरामजी के पास, निकट आकर मिले, बहुत शीघ्र शरीर को फिराकर, मुख को दूसरी तरफ और पादों को बलरामजी की तरफ किया । उसके अनन्तर (पिछले) दोनों पैरों को बलरामजी

के वक्षः स्थल में मारकर रिंगने लगा और चारों ओर बलरामजी को मानो लपेटते हुए प्रदक्षिणा करने लगा यों (प्रदक्षिणा) क्यों किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यह इनका, जाति स्वभाव है। शिष्टाचार यह है कि कोई महान् पुरुष फलों को लेने अपने घर में आवे तो वह आपही अपने हाथों से स्वयं फल ले लेते हैं। ऐसी हालत में अपने घर में आए हुए को कोई फलों को लेने से रोकता नहीं है, तो इसने (धेनुकासुर ने) वैसा अयोग्य कार्य कैसे किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि इसने यह अयोग्य कार्य किया इसका कारण, यह है कि, यह धेनुकासुर खल है ॥ ३० ॥

आभास – बलभद्रोऽपि स्वयमेवागतस्तत्स्थान इति सकृदपराधः सोढः, तावतापि स न निवृत्त इत्याह पुनरासाद्येति,

आभासार्थ – बलदेवजी ने भी उसके (धेनुक के) स्थान (वन) में उसका आज्ञा के विना प्रवेश किया था अतः उसका एक अपराध सहन कर लिया तो भी वह रुका नहीं, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः ।**
चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद् रुषा ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ – हे राजन् ! क्रोधाविष्ट शृगाल जैसे इस गर्दभ ने पुनः लौट कर उल्टे मुँह खड़ा हो क्रोध से पिछले पैर बलदेवजी पर फैंके ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी – पुनर्निकटे गत्वा क्रोधसंरब्ध **उपक्रोष्टा** सृगालतुल्यो गर्दभः **पराक् स्थितः** पुनर्विमुखो भूत्वा**परौ चरणौ** पुनर्बलाय प्राक्षिपत्, समागत्य प्रक्षेपपर्यन्तं क्रोधोऽनुवृत्त इति ज्ञापयितुमन्ते रुषेत्युक्तं, सम्बोधनं स्नेहादप्रतारणाय ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ – क्रोध से भरा हुआ शृगाल तुल्य यह गर्दभ फिर समीप जाकर उल्टे मुँह खड़ा हो पीछे के पैर बलदेवजी पर फैंकने लगा जब तक पैर मारे तब तक उसमें क्रोध भरा हुआ था इसलिए श्लोक में 'रूषा' शब्द का प्रयोग किया हुआ है। (श्रोता को) हे राजन् ! यह सम्बोधन स्नेह से दे कर बताया कि यह जो मैं कह रहा हूँ वह सत्य है आप को ठगने के लिए नहीं कह रहा हूँ ॥ ३१ ॥

आभास – तदा द्वितीयापराधे बलभद्रो मारितवानित्याह स तमिति,

आभासार्थ – जब एक बार अपराध सहन करने पर भी वह रुका नहीं फिर भी उसी तरह अपराध करने लगा तब बलरामजी ने उसको मारा जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक – **स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना ।**
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम् ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ – बलरामजी एक हाथ से उसके पिछले पादों को पकड़कर फिराने लगे, फिराते-फिराते उसके प्राण निकल गए तब उसे ताड़के वृक्षों पर फेंक दिया ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी – प्रपदोः पादाग्रयोर्**गृहीत्वैकपाणिनैव** तं **भ्रामयित्वा तृणराजस्य** तालवृक्षस्योपरि प्राहिणोद् यथा वत्सो भगवता, अयमप्यन्तरिक्ष एव मृत इत्याह **त्यक्तजीवितमिति**, त्यक्तं जीवितं येन ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ – बलरामजी ने उसके पिछले पादों के अग्रभाग (ऐड़ी) को एक ही हाथ से पकड़ कर फिराते फिराते ताल के वृक्ष के ऊपर फेंका जैसे भगवान् ने वत्सासुर को ऊपर ही फिराते प्राण हीन कर दिया था वैसे ही बलभद्रजी ने भी धेनुकासुर को फिराते हुए उसके प्राण ऊपर ही निकाल दिए थे इसलिए श्लोक में 'भ्रामण त्यक्त जीवितम्' कहा है (घुमाने से जिसके प्राण निकल गए हैं वैसे को) ॥ ३२ ॥

आभास – पूर्वं तु फलान्येव पतन्तीदानीं तु वृक्षाः स्वयमपि पतिता इत्याह तेनाहत इति,

आभासार्थ – पहले तो फल ही गिरते थे अब तो वृक्ष भी स्वयं गिरने लगे इसका वर्णन करते हैं।

श्लोकः –**तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः ।**
पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम् ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ – इस दैत्य के शरीर के पछाड़ने से कम्पायमान पास के ताड़ को भी कम्पित करता हुआ, बड़े शिर वाला वह ताड़ का वृक्ष गिर पड़ा, उससे दूसरा गिर पड़ा, और उस (दूसरे) से तीसरा गिरा ॥ ३३ ॥

सुबोधिनी – तेन बलभद्रेण रासभदेहेन वा आसमन्ताद्धतो **महातालोऽपि वेपमानो** जातस्ततो बृहच्छिराः स्थूलाग्रिमभागः कम्पने स्थिरीभवितुमशक्तः **स्वपार्श्वस्थं** वृक्षं **कम्पयन्नेव** मध्ये **भग्नः सोऽपि** पूर्ववद् वेपमानः पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः, सोऽप्येव**मपरः**, एवं सा पंक्तिः सर्वापि पतितेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ – बलभद्रजी से अथवा रासभ[१] के देह से चारों ओर से घायल बड़ा ताल का वृक्ष भी ऐसा कम्पित हुआ जो बड़े शिर वाला होते भी स्थिर रहने में असमर्थ हो गया, पास वाले वृक्ष को

१-गर्दभ ।

कम्पित करता हुआ बीच से टूट गया, वह पास वाला भी काँपता हुआ अपने पास वाले को कम्पायमान करता हुआ स्वयं टूट पड़ा, वह भी ऐसे ही टूटा, इसी तरह दूसरा भी तथा सारी पंक्ति इसी प्रकार गिर पड़ी ।

आभास – किञ्च न केवलमेका पंक्तिः पातिता किन्तु सर्व एव वृक्षा वेपमाना जाता इत्याह बलस्येति,

आभासार्थ – केवल एक ही पंक्ति गिरा दी हो ऐसा नहीं, किन्तु सब वृक्षों को कम्पित कर दिया । इस श्लोक में उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोकः – **बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः ।**
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ – बलरामजी ने लीला ही से फेंके हुए गर्दभ के देह से ताड़ित वृक्षों से जो अन्य वृक्ष ताड़ित हुए थे वे सब ताल वृक्ष ऐसे काँपने लगे जैसे मानों महावायु से कम्पायमान किए गए हों ॥ ३४ ॥

सुबोधिनी – साक्षाद्बलरूप एवायमतस्तेन **लीलया-प्युत्सृष्टखरदेहेन** हतेन वृक्षेण आ सर्वतो **हतास्ताला महावातेरिता** इव **चकम्पिरे**, अस्य क्रियाशक्तिरनेक-परम्परायामपि न शान्ता सर्वात्मकत्वादस्य यत्रैवास्य क्रियाशक्तिर्व्याप्नोति तत्सम्बन्धात् तत्र स्थितापि क्रियाशक्ति-रुद्गच्छति तया चान्यत्र **स्पर्शे** पुनरन्यत्र स्थिताप्युद्गच्छति यथा काष्ठेषु वह्निः, वह्निराधारमपि न स्थापयतीति वह्निसमानधर्मा वायुरत्र दृष्टान्तीकृतः, **महावातेन** स्पृष्टो गुप्तोऽपि वायुरुद्गतो महानेव भूत्वान्यमप्येवमुद्बोधयतीत्यन्तं महानेव भवति ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ – यह बलरामजी साक्षात् बल रूप हैं, इससे उनने लीला से भी फेंके हुए गर्दभ के देह से जो ताल वृक्ष गिरा उस ताल वृक्ष से चारों तरफ से आहत हुए ताल के सब पेड़, महावायु से जैसे कम्पायमान होवे वैसे काँपने लगे । एक पेड़ पर गर्दभ के देह की चोट लगी उस एक के सम्बन्ध से चारों तरफ सब पेड़ क्यों कम्पायमान होने लगे ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि, बलरामजी की क्रिया शक्ति सर्वात्मक होने से एक दूसरे में फैलती हुई शान्त नहीं हुई । इसकी (बलरामजी की) क्रिया शक्ति जहाँ भी पहुँची उसके सम्बन्ध से वहाँ स्थित क्रिया शक्ति भी प्रकट हो जाती थी उसका अन्यत्र[१] स्पर्श होने से वहाँ भी स्थित शक्ति प्रकट हो जाती है जैसे काष्ठ में अग्नि एक स्थान से प्रकट हो तो वह स्पर्श से अन्यत्र भी प्रकट होती रहती है यहाँ अग्नि का दृष्टान्त देकर वायु का दृष्टान्त दिया है, उसका कारण यह है कि अग्नि स्पर्श करती है तो अपने आधार (काष्ठ) को

१-दूसरी जगह ।

भी नाश कर देती है अतः अग्नि का दृष्टान्त न देकर, अग्नि के समान धर्म वाले वायु का दृष्टान्त दिया है। कारण कि जैसे बलरामजी की क्रिया शक्ति जहाँ जाती है वहाँ गुप्त क्रिया शक्ति को जगाती है वैसे महावायु भी जहाँ जाता हैं वहाँ गुप्त रूप से स्थित वायु को प्रकट करता है वह भी महान् बनकर दूसरे गुप्त को जगाता है इस प्रकार गुप्त शान्त वायु भी महान् वायु का रूप धारण करती है ॥ ३४ ॥

आभास – इदं बलभद्रचरित्रमाश्चर्यमिव मत्वा समाधत्ते नैतच्चित्रमिति,

आभासार्थ – इन बलदेवजी के चरित्र को आश्चर्य जैसा माना जाता है अतः उसका इस श्लोक में समाधान करते हैं कि–

श्लोकः – **नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे ।**
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ – अनन्त और जगदीश्वर भगवान् के इस कार्य करने में कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि सकल जगत् उनमें (भगवान् में) ऐसे ओतप्रोत है जैसे तन्तुओं में पट ओतप्रोत है ॥ ३५ ॥

सुबोधिनी – **नेदं कर्म बलभद्रस्य किन्त्वाविष्टस्य भगवतः**, तदाह **भगवति नैतच्चित्रमिति**, किञ्चायमनन्तः सर्वसंहर्ता **सङ्कर्षणस्तस्य** तालवृक्षमात्रकम्पनं किमाश्चर्यं यं कालं स्मृत्वा जगदेव कम्पते ? किञ्च **जगदीश्वरः**, अयं जगतो नियन्ता, **ईश्वरस्याज्ञयैव** सर्वे **कम्पन्ते** "यद्भयाद् वाति वातोऽय" मित्यादिवाक्यात्, प्रथमप्रहारपर्यन्तं बलभद्रः, ततो व्यथाप्रतीकारार्थमुपायान्वेषणे भगवदुपदेशे स्मृते सहसैवाविष्टो भगवांस्तथा कृतवान्, अन्यथा बाहुभ्यां कम्पन एव वृक्षभङ्गो **भवेत्** किञ्च **यस्मिन्** सङ्कर्षणेहम्ममाभिमानाधिष्ठातरि सर्वमेव जगदोतं प्रोतं च समवायरूपत्वान्निमित्तरूपत्वाच्च, तन्तुभिः पट ओतःप्रोतश्च दीर्घतन्तव ओतास्तिर्यक्तन्तवः प्रोतास्तथा सर्वमेव जगद् भगवति समवेतत्वेन ग्रथितत्वेन च स्थितं अतो हस्तचालनेनापि सर्वजगत्कम्प उचितः, किमाश्चर्यं वृक्षाणां महाव्यापारे ? ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ – यह कर्म (लीला) बलभद्रजी का किया हुआ नहीं है किन्तु उनमें आविष्ट भगवत्स्वरूप द्वारा हुआ है। अतः कहते हैं कि भगवान् में इस प्रकार लीला करने से कोई आश्चर्य नहीं है, और यह अनन्त है अर्थात् सर्व का संहार[१] करने वाला संकर्षण है, उसने ताल वृक्षों को (भय से) कंपायमान किया इसमें क्या आश्चर्य है ? कारण कि उसके कालस्वरूप के स्मरण से समग्र जगत् कांपता है, और वह जगदीश्वर होने से सकल जगत् का नियन्ता[२] हैं। सब देवादि ईश्वर की आज्ञा से ही डरकर अपने कार्य में संलग्न रहते हैं। जैसा कि कहा है कि 'यद्भयात् वाति वातोऽयं' जिसके भय से वायु वाता[३] है।

धेनुक ने बलरामजी को प्रथम प्रहार किया तब तक केवल बलरामजी थे। उस प्रहार की व्यथा मिटाने के लिए उपाय ढूँढने पर भगवान् का दिया हुआ उपदेश (इस अध्याय के श्लोक ५ से ८ वाला उपदेश) स्मरण करने पर उन बलभद्र स्वरूप में भगवान् का आवेश आ गया तब इस प्रकार कर सके अर्थात् धेनुक को पकड़ कर फिराते हुए ताल पर फेंक दिया जिससे सब पेड़ कंपित होकर क्रमशः टूटने लगे। यदि यह कार्य भगवान् ने आविष्ट होकर न किया होता, अकेले ही बलदेवजी ने किया होता, तो पहले जब बाहुओं से पेड़ों को हिलाया था तब वृक्ष टूट जाते थे वैसा अब न होने से यह सिद्ध होता है कि यह कर्म बलरामजी में आविष्ट भगवान् के संकर्षण स्वरूप का है, और अहं[1] तथा मम[2] के अभिमानी अधिष्ठाता सङ्कर्षण स्वरूप में सकल जगत् ऐसे ओत-प्रोत हैं जैसे तन्तुओं में पट ओत-प्रोत हैं। जैसे वस्त्र में तन्तुएँ दो प्रकार की होती हैं एक दीर्घ[3] दूसरी तिर्यक्[4] होती हैं। दीर्घ तन्तु ओत[5] होती है और तिर्यक् तन्तु प्रोत[6] होती है वैसे ही समग्र जगत् भगवान् में समवेत तथा ग्रथित हो कर ओत-प्रोत है। अतः भगवान् ने केवल हस्त चलाने से जब सर्व जगत् का कम्पित होना भी योग्य है अर्थात् हो सकता है तब केवल वृक्षों की यह दशा हुई तो इसमें किसी प्रकार के आश्चर्य की बात नहीं है ॥ ३५ ॥

आभास – एवं धेनुकवधं भगवत्सामर्थ्यं चोक्त्वा प्रसङ्गात् तत्सम्बन्धिनां सर्वेषां वधमाह तत इति,

आभासार्थ – इस प्रकार धेनुक का वध और भगवान् के सामर्थ्य का वर्णन कर इसी प्रसङ्ग में उसके सब साथियों का भी हुआ उस वध का वर्णन अब करते हैं।

श्लोकः – **ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये ।**
क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ – फिर धेनुक के नाती जिनका बन्धु मर गया है वे सब गधे (श्लोक में 'क्रोष्ट' शब्द दिया है जिसका अर्थ 'गीदड़' होता है, यहाँ गीदड़ थे नहीं फिर 'क्रोष्ट' शब्द क्यों दिया ? इस शङ्का का निवारण श्री सुबोधिनीजी में आचार्य श्री ने यों किया है कि जो गर्दभ गीदड़ के समान ध्वनि करते हैं उनको भी 'क्रोष्ट' कहते हैं) क्रोध में आकर राम और कृष्ण पर आक्रमण करने लगे ॥ ३६ ॥

---

१ - मैं। २ - मेरा। ३ - लम्बी। ४ - तिरछी। ५ - ताने वाली।
६ - पेटे वाली।

सुबोधिनी – ते तु बहवो मूर्खाः **कृष्णं रामं च धेनुकस्य ज्ञातयो ये** धेनुकवधेन क्लिष्टा **हतबान्धवाः क्रोधसंरब्धाः** सन्तः **क्रोष्टारो** गर्दभा आक्रोशयुक्ता **अभ्यद्रवन्,** चकारद्वयेन गोपानप्यभ्यद्रवन्, तदा प्रतिगोपं कृष्णो रामश्चोपस्थितौ भवतः अतो बहुधा कृष्णं बहुधा राममिति ज्ञापयति ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ – वे (धेनुक के सम्बन्धी) तो बहुत मूर्ख थे, जो सम्बन्धी धेनुक के वध से दुःखी हुए थे इसी कारण क्रोध में भर गये थे। उन गीदड़ों ने (गीदड़ जैसी ध्वनि करने वाले गर्दभ थे अतः इनको गीदड़ कहा गया है) राम और कृष्ण पर आक्रमण किया, श्लोक में 'च' दो बार आया हैं उसका आशय है कि उन्होंने गोपों पर भी आक्रमण किया। उस वक्त राम और कृष्ण प्रत्येक गोप के पास उपस्थित थे, जिस से राम कृष्ण पर बहुत स्थानों पर बहुत बार आक्रमण हुआ ॥ ३६ ॥

आभास – तदनु भक्तरक्षार्थं सर्वानेव मारितवन्तावित्याह तांस्तानिति

आभासार्थ – तदनन्तर भक्तों (गोपों) के रक्षाणार्थ कृष्ण तथा राम ने उन को मारा, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया ।**
गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत् तृणराजसु ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ – हे नृप ! जो जो गधे, सामने पास आए, उनके पिछले पाँव पकड़ कर राम और कृष्ण ने लीला ही से उनको ताड़ वृक्षों पर फेंक दिए ॥ ३७ ॥

सुबोधिनी – य एवाग्र आगतास्त एवाग्रे मारिताः, **कृष्णो रामश्चेति**, यस्यैवाग्रे पतन्ति, **नृपेति**सम्बोधनं पूर्ववत्, तेषां वधे न कोऽपि प्रयास इत्याह **लीलयेति** गृहीतौ **पश्चाच्चरणौ** येषां, सर्वेषामेवान्तरिक्षमारणार्थं दुष्टारोपित-तालवनदूरीकरणार्थं च **तृणराजस्वेव प्राहिणोत्**, रामः कृष्णश्चैक एवेत्येकवचनम् ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ – जो जो आगे आते थे उनको क्रमशः मार देते थे, कृष्ण के पास जो आते थे उनको कृष्ण मारते थे और जो राम के पास आते थे उनको राम नाश करते थे। यहाँ भी 'नृप' सम्बोधन पूर्व के समान दिया है (अर्थात् इस बात को प्रेम पूर्वक समझाया है कि यह कही हुई बाते सत्य हैं।) इनके (धेनुक के सर्व सम्बन्धियों के) वध करने में राम तथा कृष्ण को किसी प्रकार का श्रम नही हुआ था, इसको बताने के लिए कहा है कि 'लीलया'लीला से[१] उनको मारा था। पिछले पैरों को पकड़ने का भाव यह था कि उनके प्राण अन्तरिक्ष में ही निकालने थे। और ताड़ के पेड़ों पर फेंक कर ताड़ के वृक्षों को नाश करने का आशय यह था कि ये पेड़ इस दुष्ट ने पाल कर बड़े किये थे अतः ये रहने नहीं चाहिए। राम तथा कृष्ण एक ही स्वरूप हैं इसको समझाने के लिए 'प्राहिणोत्' यह क्रिया एक वचन में दी है यदि दो होते तो द्विवचन देते ॥ ३७ ॥

---

१ - खेल के समान क्रिया से।

आभास — ततो यज् जातं तदाह फलप्रकरैः

आभासार्थ — इनके अनन्तर जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः — **फलप्रकरसङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः ।**
रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम् ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ — (उस समय) पृथ्वी फलों के ढेर से, मरे हुए गर्दभों की लोथों से और ताड़ के पेड़ों की शाखाओं से वैसी शोभित होने लगी जैसे बादलों से आकाश शोभित होता है ॥ ३८ ॥

सुबोधिनी — फलसमूहैः सङ्कीर्णं **दैत्यदेहैर्गतासुभिश्च सङ्कीर्णं ध्वस्ता** भग्ना ये **तालाग्रास्तालशिरांसि** तैरपि **सङ्कीर्णं** तलं भूतलं रराज शोभामेव प्राप्तवत्, न तु भूशोभा काचिन्नष्टा, तत्र दृष्टान्तो **घनैर्नभ** इवेति, निर्मलं **नभः** सूर्यसहितं चन्द्रनक्षत्रसहितं यथा शोभते तथा **घनै**रपि सम्बद्धं शोभते घनानां सर्वजनापेक्षाविषयत्वात् त्रीण्यप्येतानि नीलावान्तरजातियुक्तानि, अतिनीलानि फलानि रासभास्तु धूसरास्तालाग्राश्च श्यामा मेघा अपि तथैव ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ — फलों के समूहों से, मरे हुए दैत्यों की लोथों से और ताड़ के पेड़ों से टूट कर गिरी हुई शाखाओं से छाया हुआ वह पृथ्वी का तल शोभित होने लगा। इनसे पृथ्वी की कुछ भी शोभा नष्ट नहीं हुई। इसको दृष्टान्त दे कर समझाते हैं कि जैसे निर्मल आकाश, सूर्य अथवा चन्द्रमा तथा ताराओं से जिस प्रकार सुशोभित है उसी प्रकार बादलों के सम्बन्ध होने पर भी वह सुशोभित हो जाता है। उसकी शोभा में बादलों के आने से कोई कम नहीं आती है कारण कि बादलों की तो सारी जनता को अपेक्षा है। ये तीनों ही नील[१] रंग की अवान्तर जातियाँ है जैसे ताल के फल आसमानी रंग के होते हैं, रासभ[२] धूसर रंग के होते हैं, और ताल के पेड़ की शाखाएँ श्याम होती है वैसे ही मेघ भी इसी रंग के होते हैं ॥ ३८ ॥

आभास — तत् कर्म तयोः सर्वजगत्प्रसिद्धं जातमिति ज्ञापकमाह तयोरिति,

आभासार्थ — इन (राम और श्रीकृष्ण) का यह कर्म समस्त जगत में प्रसिद्ध हुआ इसको जताने के लिए यह श्लोक कहते हैं ॥ ३९ ॥

श्लोकः — **तयोस्तत् सुमहत् कर्म निशम्य विबुधादयः ।**
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः ॥ ३९ ॥

---

१ - आसमानी। २ - गर्दभ, गधे।

श्लोकार्थ – राम तथा कृष्ण का यह बड़ा कर्म देखकर देवादिकों ने पुष्पों की वृष्टि की, बाजे बजाए और स्तुति की ॥ ३९ ॥

सुबोधिनी – सुमहत् कर्म धेनुकवधलक्षणं **विबुधादयो** गन्धर्वादय: **पुष्पवर्षाणि मुमुचुर्वाद्यानि चक्रुस्तुष्टुवुश्च**, त्रिविधानां त्रयं हर्षनिधानं, अनेन देवानां हितार्थं वध उक्त: ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ – उन दोनों का धेनुक वध रूप महत् कर्म देखकर, अथवा जानकर गन्धर्व आदि देवों ने पुष्पों की वृष्टि की बाजे बजाए और स्तुति की । तीन प्रकार के देवों के ये तीनों कार्य हर्ष प्रदर्शक हैं। जिससे देवताओं ने यह बताया कि भगवान् ने धेनुक का वध उनके हित के लिए किया है ॥ ३९ ॥

आभास – एवं सपरिकरो धेनुकवधो निरूपित:, भगवता तु तालफलानि न दत्तानि परं स्वेच्छयैव सर्वैर्भक्षितमित्याह

आभासार्थ – इस प्रकार सपरिकर धेनुक के वध का निरूपण किया । भगवान् ने अपने हाथ से किसी को तालफल नहीं दिए किन्तु सबों ने अपनी इच्छा से लेकर फलों को खाया, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक: **– अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसा: ।**
तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ – अनन्तर जिस वन में धेनुक मारा गया था उस वन में मनुष्य निर्भय होकर फल खाने लगे ओर पशु भी डर छोड़कर घास चरने लगे ॥ ४० ॥

सुबोधिनी – अथेति भिन्नप्रक्रमेण, **तालफलान्यादन्** सर्व एव **मनुष्या गतसाध्वसाश्च** जाता:, **तृणं च पशवश्चेरु:**, **हतो धेनुको** यत्र तादृशे **कानने**, तत्र छायया तृणं न शुष्कं भवतीति, **चकारात्** पक्षिणोऽपि सुखिनो जाता: ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ – अथ शब्द कहकर यह बताया हैं कि अब यह प्रसङ्ग पृथक्[१] प्रारम्भ होता हैं । जहाँ धेनुक मरा, वैसे वन में, मनुष्यों को फल लेकर खाने में किसी प्रकार का अब डर नहीं रहा अत: निडर होके फलों को लेकर खाने लगे । वहाँ छाया हो जाने से घास हरा ही पड़ा रहा था जिससे पशु भी हरा घास प्रेम से खाने लगे । श्लोक में आए हुए 'च' शब्द का भाव आचार्य श्री बताते हैं कि इससे ('च' देनें से) जाना जाता है कि केवल मनुष्य और पशु निडर होकर भोजन करने लगे यों नहीं किन पक्षी भी सुखी हुए वे भी फल खाने और छाया में विचरने से आनन्दित हुए ॥ ४० ॥

---

१ - भिन्न ।

आभास — एवं वनलीलामुक्त्वा पुनर्व्रजे भगवतः समागमनमाह कृष्णः कमलपत्राक्ष इति,

आभासार्थ — इस प्रकार वन की लीला पूर्ण कर भगवान् व्रज में पधारे उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — **कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।**
स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजत् ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ — जिनका श्रवण और कीर्त्तन पुण्य प्रद है, वैसे कमल दल लोचन कृष्ण, गोपों से स्तुति कराते हुवे बलरामजी के साथ व्रज में पधारे ॥ ४१ ॥

सुबोधिनी — **कृष्णो व्रजमाव्रजदि**ति व्रजस्थानां महानानन्दहेतुरुक्तः, तदेतावत्कालं विरहतप्तानां कथं तापं दूरीकरिष्यतीत्याशङ्क्याह **कमलपत्राक्ष** इति, **कमलपत्र**वदायतेतिशाले परतापापनोदके **अक्षिणी** यस्य, अनेन दृष्ट्यैव तापहारित्वमुक्तं, ननु कारणभूत आध्यात्मिके पापे विद्यमाने कथं तापनिवृत्तिः ? तत्राह पुण्यश्रवणकीर्तन इति, **पुण्ये श्रवणकीर्तने** यस्य, अनेन पापं जलपूरेणेव नाश्यत इति निरूपितं **श्रवणे प्रविशति कथा पूरो हृदयं ततः सर्वमेव दोषमालोड्य मुखतो निःसरति**, एवं कियत्कालपर्यावृत्त्या सर्वथैव शुद्धो भवति । नन्वेवमपि सति भगवत्कीर्तिः कथं प्राप्यते ? तत्राह **स्तूयमानो**नुगैरिति, अनुगा भक्ता **गोपाश्च**, तेन भगवच्चरित्रं **सर्वथैव सुलभ**मुक्तमलौकिकेन लौकिकेनापि प्रकारेण, साग्रज इति, धेनुकवधस्तेन कृत इति तं पुरस्कृत्य सहैवागतो भगवान् न तु पृथक्पृथग् यथायथम् ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् का व्रज में पधारना व्रजवासियों के लिए महान् आनन्द का कारण है। व्रजवासी तो इतने समय से भगवान् के विरह† के कारण तप्त होने से दुःखी हैं। उनका वह दुःख भगवान् कैसे मिटायेंगे, जब दुःख को मिटावें तब भगवान् का आना उनके सुख का कारण बने। इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् के नेत्र, कमल के पत्र के समान, विशाल हैं। जैसे कमल पत्र ताप को बुझाते हैं वैसे ही आप कमल जैसे नेत्रों की दृष्टि मात्र से ताप को मिटाने वाले* हैं। जब तक विरह ताप का कारणभूत आध्यात्मिक‡ पाप विद्यमान है तब तक कार्य रूप विरह ताप कैसे मिटेगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आपके श्रवण और कीर्तन से वे पाप ऐसे मिट जाते हैं जैसे जल का प्रवाह गन्दगी को साफ कर बाहर फेंक देता है। भगवान् के गुणों का अमृत पूर्ण कथा रूप प्रवाह श्रवण द्वारा हृदय में जाता हैं वहाँ जाकर जो

---

† **लेखकार** – इस श्लोक में 'विरह' ताप कहा है जिसे दूर करने का कहा है-आने वाले श्लोक में दूसरे प्रकार का ताप कहेंगे।

* **लेखकार** – भगवान् दृष्टि से संयोग दान का संकेत करते है जिससे विरह ताप मिटता हैं।

‡ **लेखकार** – मद आदि।

भी कश्मल[१] होता हैं उसको खींच कर, कीर्तन करते हुए मुख द्वारा बाहिर निकाल देता है। इस प्रकार कितने ही काल पर्यन्त आवृत्ति[२] करने से सर्वथा ही मनुष्य शुद्ध हो जाता है अर्थात् आध्यात्मिक पाप निवृत्त[३] हो जाते हैं जिससे कार्य रूप विरह ताप तो स्वत: ही नष्ट हो जाता है अत: कहा है कि भगवान् 'पुण्य श्रवण कीर्तन:' है। पुन: शङ्का होती है तो भगवत्कीर्ति का ज्ञान कैसे होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'स्तूयमानोऽनुगै:' भगवान् के अन्तरंग भक्त और गोप सदैव भगवान् की अलौकिक (रहस्य लीला) तथा लौकिक प्रकार से स्तुति करते ही रहते हैं अत: भगवत्कीर्ति का ज्ञान इस प्रकार सुलभ रीति से प्राप्त हो सकता है जिससे नित्य प्रेम करने से प्रतिबन्धक आधिदैविक पाप भी नष्ट हो जाते हैं। भक्त और गोपादिक जिसके साथ स्तुति करते आ रहे थे ऐसे भगवान् बलरामजी को आगे कर आप पीछे होके व्रज में पधारें, यों करने का कारण यह है कि धेनुक का वध बलरामजीने किया था अत: पहले भगवान् पीछे बलरामजी इस क्रम से पृथक् पृथक् नहीं आए॥ ४१ ॥

आभास – आगच्छन्तं भगवन्तं वर्णयति तं गोरजश्छुरितकुन्तलेति-

अभासार्थ – व्रज में पधारते समय जैसा भगवान् ने स्वरूप धारण किया था वैसा वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: – तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेता: ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ – भगवान् के दर्शन की इच्छा वाली दृष्टि से युक्त गोपियाँ, जिनके केशों में गौओं के खुरों की रज लग रही है, मोर पिच्छ और वन के पुष्प गुथे हुवे हैं, हास्य तथा नेत्र सुन्दर हैं और जो मुरली बजा रहे हैं तथा जिनके पीछे पीछे अनुचर[४] यश गा रहे हैं वैसे भगवान् को चारों ओर से घेर रही थी ॥ ४२ ॥

सुबोधिनी– **तं** भगवन्तं **गोप्योऽभ्यगमन्निति सम्बन्ध:**, पूर्वं पुरुषार्थचतुष्टयसहिता दशरसयुक्ता लीला च प्रदर्शिता, सा गोपिकाभिर्न दृष्टेति गोपिकानां भवति तापोऽतस्तन्निवृत्त्यर्थं चतुर्दशधर्मयुक्तो भगवानत्र निरूप्यते, तत्र **गोरजोभिश्छुरितानि** व्याप्तानि **कुन्तलानि** यस्येति पुरुषार्थलीला प्रतिपादिता, गावोऽत्र धर्मो **रजोऽ**र्थो व्याप्ति: **कामो अलका** मोक्षस्थानीया: सत्यावलम्बिन:, **धर्मादिसहितानामेव** मोक्ष इति चतुर्णामेकवाक्यता, **कुन्तलाश्च** कामरूपा **रजो** रजोगुण एव

*__लेखकार__ - श्रवण और कीर्तन से पाप रूप कश्मल बाहिर निकल जाता है स्वरूप से पाप नष्ट नहीं होता हैं। निबन्ध में आचार्य श्री ने इस प्रकार कहा है।

१ - पाप, मैल। २ - अभ्यास। ३ - बाहिर निकल जाते हैं। ४ - भक्त।

गावोऽत्रानुभावा:, तेन पुष्ट: **शृङ्गाररसो** निरूपित:, **बद्धो बर्ह: बर्हस्य** मयूरपिच्छस्य **बन्धनं** वीराद्भुतरसौ बोधयति, **वनोद्भवानां प्रसूनानां** सम्बन्धो भयानकहास्ये जनयति, **रुचिरेक्षणं** करुणाख्यं, **चारुहासो** रौद्ररसं, महतस्तादृशो विशिष्टो वेषो नाट्यावशिष्टरसं जनयति, **वेणुं क्वणन्तमिति शान्तरस:,** ब्रह्मामृतं प्रकटीकुर्वन्, **अनुगैरनुगीता कीर्तिर्यस्येति** भक्तिरस:, एवं सर्वरसयुक्तं भगवन्तं पश्यन्त्योऽपि **दिदृक्षितदृष्ट्य** एव स्थिता:, न हि **साधारण्येन दृष्टो भगवान् स्वस्य परमरसमुत्पादयति,** एकान्ते समागतं भगवन्तं सर्वरससहितं **द्रक्ष्याम** इतिदिदृक्षैव स्थिता, अत एव **प्रथमं** दर्शनं नोक्तं **समागम** एवोक्त:, समागमार्थं यद् दर्शनं तदन्यशेषभूतमिति न पृथङ्निरूपणमपेक्षते, **अभित: समागता** इति भगवतस्ताभिरेव वेष्टनं निरूपितं, एकस्यास्तत्कार्यं न भवतीति समेता:, अग्रे गावो बलभद्रप्रमुखाश्च गता: पश्चादा-गच्छन्तो गोपिकाभिरेव व्यवहिता:, मध्ये गोपिकाभिर्भगवान् वेष्टित इत्यर्थ: ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ – गोपियाँ भगवान् को चारों तरफ घेर रही थीं। कारण कि भगवान् ने जो पहले चतुर्विध पुरुषार्थ युक्त दश रस वाली लीला की थी, वह गोपियों ने नहीं देखी थी, जिससे उनको उसका ताप था, उस ताप से निवृत्ति के लिए यहाँ भगवान् चतुर्दश धर्म युक्त होकर पधारें हैं जिसका यहाँ निरूपण है।

भगवान् की अलकें गोरज से व्याप्त[१] थी, इस विशेषण से पुरुषार्थ लीला का प्रतिपादन किया है, जैसे कि 'गौ' से धर्म, रज से अर्थ, व्याप्ति से काम और कुन्तल[२] से मोक्ष बताया है। अलक सदैव पृथक रहते हैं और सत्य (भगवान् के स्वरूप) के आश्रय करने वाले होने से मोक्ष रूप हैं। जिन (जीवों) के धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं उनको ही मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिए श्लोक में चारों (गो, रज, धूरित, कुन्तल) का समास किया गया हैं।

चतुर्विध† पुरुषार्थ की लीला दिखाकर, अब दश विध रस सम्बन्ध वाली लीला दिखाते हैं। दश रसों में से प्रथम, "श्रृ"ङ्गार रस की सम्बन्धिनी लीला, 'अलक' 'रज' और 'गौ' उपरोक्त इन

---

† **साहित्याशय, टिप्पणी और लेख**

इस लीला में 'गौ' को धर्म इसलिए कहा गया है कि 'वृष' (सांड-बैल) गौ जाति का हैं जिसको भागवत में 'धर्म' रूप कहा है और 'गौ' धर्म के कारण रूप है। 'रज' को अर्थ कहने का कारण यह हैं कि 'अर्थ' धर्म से प्राप्त होता है अत: 'अर्थ' धर्म का सम्बन्धी है, गौ धर्म रूप है। गौओं के चलने से उड़ने वाली रज, गौओं के सम्बन्ध वाली हैं। और रज' 'रजोगुण रूप होने से मद उत्पन्न करने वाली है, अर्थ भी मद कर्ता होता है अत: रज को अर्थ कहा गया है। 'व्याप्ति' को काम कहने का भाव यह है कि कामनावाला ही सर्व से सम्बन्ध रखता है, निष्काम किसी से सम्बन्ध नहीं रखता है। 'व्याप्ति' का तात्पर्य है अन्य पदार्थों से मिलकर रहना और अन्य पदार्थों में मिलजाना अर्थात् उसको अपना रूप बना देना अत: 'व्याप्ति' को काम कहा है। जैसे भगवान्, में कामना उत्पन्न हुई तब इस जगत् को उत्पन्न कर इसमें प्रविष्ट होकर रहे और सर्व रूपों से आविर्भूत हो कर सर्व में व्याप्त हो गए, इस दृष्टान्त से सिद्ध है कि 'व्याप्ति' काम हैं। 'अलक' मोक्ष रूप इस कारण से कहा कि 'केश' बद्ध

---

१ - सुशोभित। २ - अलक।

रहते हैं तीन शब्दों से दिखाते हैं। 'अलक' 'कामरूप'[१] है 'रज'[२] रजोगुण रूप है और 'गौ'[३] अनुभावक है। इन से पुष्ट शृङ्गार रस का निरूपण हुआ है।

मयूर पिच्छ का बन्धन 'वीर'[४] तथा 'अद्भुत'[५] रसों का बोध कराता है। वन में उत्पन्न पुष्पों का सम्बन्ध 'भयानक'[६] और हास्य[७] रस उत्पन्न करते हैं। सुन्दर दृष्टि करुणा[८] रस उत्पन्न करती है। मनोहर हास 'रौद्र'[९] रस उत्पन्न करता है। महान्पुरुष जब इसी प्रकार का विशेष वेश धारण करतें हैं, जिससे

और 'अलक' मुक्त रहते हैं। अलक मुक्त होने से, भक्त जनों के मन कहीं अन्यत्र चले गए हो तो भी वे मन भी अलक की शोभा देखकर वहाँ आकर्षित हो कर आ जावें, इस प्रकार भगवान् अलकों द्वारा इन भक्तों को बुलाकर स्वरूपानन्द का दान देते हैं।

इस लीला में गौ, रज:कण, व्याप्ति और अलकों के दर्शन से क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों का भक्तों को अनुभव हुआ।

---

१ - लोक में यह प्रसिद्ध है कि कोई भी, जब रसिक को उत्तम रस भोग करते देखता है, तब उसको भी रस भोग करने की चाह होती है। यहाँ भगवान् के कुन्तल (अलक) आपके श्री मुखरूप कमल के चारों तरफ भ्रमरवत् सुशोभित हो रहे हैं अतः जो भी इनके दर्शन करते हैं उनके भावों में उद्दीपन (वृद्धि) होता है इससे ये कुन्तल काम रूप हैं। **''टिप्पणी''**

'कामरूप' अर्थात् काम का निरूपक अथवा काम को जागृत करने वाला है। **''लेख''**

२ - गौ के द्वारा उड़ते हुए रज:कण 'काम उत्पन्न करते हैं, अतः ये रजः कण, शृङ्गार रस के उद्दीपन होने से 'रजोगुण' रूप है। **''लेख''**

३ - गौ भगवान् के साथ सदैव रहती है अतः इनको देखने से भगवान् का स्मरण होता है जिससे मन दूसरी जगह हो तो वहाँ से खींचकर भगवान् के रस का अनुभव कराती है इसलिए गौ अनुभावक (रस का अनुभव कराने वाले) हैं। **''टिप्पणी''**

४ - मयूर पिच्छ उत्साह उत्पन्न कर्ता होने से वीर रस प्रकट करता है। **''प्रकाश''**

५ - भगवान् ने मोर पिच्छ बान्धा है यह देख कर सबको विस्मंय उत्पन्न होता हैं इसलिए यह 'अद्भुत' रस है। **''प्रकाश''**

६ - दुर्गम स्थान में उत्पन्न होने से वहाँ से लाना भयंकर है अतः इनको देखने से भयानक रस उत्पन्न होता हैं। **''प्रकाश''**

७ - ये पुष्प कभी इस प्रकार धरे हुए हों जो देखने में अच्छे न लगने से 'हास्य' रस उत्पन्न करते हैं।

८ - सुन्दर दृष्टि के दर्शन से मन में पश्चाताप होता है कि हा ! हमने इतने समय तक इसके दर्शन ही नहीं किए जिससे 'करुणा' रस हृदय में उत्पन्न होता है।

९ - मनोहर हास से किसी अधिकारी को 'रौद्र' रस उत्पन्न होता है।

नाटक का अवशिष्ट रस 'बीभत्स'[१] रस उत्पन्न होता है। भगवान् वेणु बजाते हुए ब्रह्मानन्द प्रकट करते हुए व्रज में पधारते हैं तब उससे 'शान्त रस' प्रकट होता है। अन्तरङ्ग भक्त भगवान् की कीर्ति का गान करते हैं जिससे 'भक्ति'[२] रस प्रकट होता है।

इस प्रकार सर्व रस युक्त भगवान् को देखती हुई भी पुनः पुनः देखने की इच्छा युक्त दृष्टि वाली वे गोपियाँ वहाँ ही खड़ी रही। वहाँ ही खड़ी क्यों रही ? उसका कारण प्रकट करते हैं कि जब भगवान् को साधारण रीति से सबों के संग में देखा जाता है तब भगवान् दर्शन तो देते रहते हैं किन्तु अपने सर्व रसों को प्रकट कर दर्शन नहीं देते हैं। जब भगवान् अकेले होंगे तब एकान्त में पधारे हुए भगवान् का सर्व रस सहित दर्शन करेंगी इस आशा से वे गई नहीं, खड़ी रही। इसी कारण से प्रथम, दर्शन, न कहकर समागम कहा। समागम में जो दर्शन होता है वह दूसरों के अवशेष* में होता है। इसलिए इसके पृथक् निरूपण की अपेक्षा की आवश्यकता नहीं है।

वह कार्य एक का नहीं था इसलिए उन सबों ने मिलकर भगवान् को घेर लिया था।

आते समय पहले गौ उनके पीछे बलभद्रजी जिनके नेता हैं वैसे गोप थे, इसके अनन्तर जो पीछे गोप भगवान् के साथ थे उनको गोपियों ने भगवान् से अलग कर दिया। स्वयं सब ने भगवान् को घेर कर, भगवान् को बीच में लेकर सबों के साथ आने लगी। वे गोप सबसे पीछे आते रहते थे ॥ ४२ ॥

आभास – ततस्ता यत् कृतवत्यस्तदुक्त्वा पश्चाद् भगवतो व्रजे समागमनं निरूपयति पीत्वेति,

आभासार्थ – गोपीजनों ने जो कुछ कृत्य किया उसका वर्णन कर अब इस श्लोक में भगवान् के व्रज में आने का निरूपण करते हैं।

श्लोकः **–पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैस्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि ।**
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ – व्रज की स्त्रियों ने मुकुन्द भगवान् के मुखारविंद के मधु का

---

१ - भगवान् के इस प्रकार के वेश को देखकर जुगुप्सा (ग्लानि) उत्पन्न होने से 'बीभत्स रस' उत्पन्न होता है।
''प्रकाश''

२ - भक्तों के दर्शन से रूपात्मक् भगवान् की सेवा रूप भक्ति रस उत्पन्न होता है।
भगवान् के कीर्ति का गान सुनने से नामात्मक भगवान् का 'सेवा' रूप भक्ति रस उत्पन्न होता है।
''लेख''

---

*बाकी।

अपने नेत्र रूप भ्रमरों से पान कर दिन में लज्जा, हास तथा विनय सहित कटाक्षों से र में पधारे ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी – आदौ तापापनोदनार्थं गोपीजन-वल्लभसरसः करुणावीचियुक्ताल्लावण्यामृतं पातव्यं अन्यथान्तस्तापो न गच्छेत्, **गते हि तापे रसास्वादनं,** बहिस्तापो मिलनादेव गतः, स पेपीयमानो रसो यदि तापहारको मिष्टश्च भवति तदैव भूयान् पातुं शक्यः, तच्च लोके नास्ति, दुग्धादीनां तृषादिजनकत्वात्, जलं नीहारवत् पातुं न शक्यते, उभयात्मकमपि यदि परिणामे सुखदं न भवति तदापि न समीचीनं, अतो **भगवल्लावण्यामृतं सर्वगुणविशिष्टमित्याह,** मुकुन्दो मोक्षदाता ज्ञानरूपः शान्तः, अतो नाग्रे दोषजनकः प्रत्युत मोक्षपर्यवसायी, **मुखं हि भक्त्यात्मकं** भवति, अतः **स्नेहाद् बहुपानं सम्भवति,** तत्र **सारघं, सरघा** मधुमक्षिका, तया सर्वेभ्यः पुष्पेभ्यो रसं समानीयैकत्र मधु क्रियते तत् कोटरादिषु तिष्ठति, अन्यजातीयं तु मधु न द्रवीभूतं भवति, **घनीभूतं च पातुं न शक्यं,** ब्रह्मादयोऽत्र सर्वे श्रुतयश्च सर्वाः सरघास्थानीयाः, तैः सर्वैरेव सर्वप्रकरणेभ्यः परमानन्दं समुद्धृत्यैकत्रानन्दनिधिर्बोधितः **सर्वप्रकरणेषु प्रतिपादित आनन्द एकीभूयात्र स्थित** इत्यर्थः, ब्रह्मादिभिः श्रुतिभिश्च प्रार्थनया भगवानत्रानीतः, **रसस्तु गोपिकाभिरेव भुक्तः,** त **एव हि रसं जानन्ति ये तदेकोपजीविनो भवन्ति,** ते भृङ्गाः, न तेषामन्यदेहनिर्वाहकमप्यस्तीति विषयान्तरसम्बन्धो नास्त्येव, केवलमन्यत्र परिभ्रमणमात्रं, तथा गोपिकानामपि चक्षूंषि परिभ्रमन्ति सर्वत्र, विषयीकुर्वन्ति भगवन्मुखलावण्यामृतमेव, अत आहाक्षिभृङ्गैरिति, अनेन **गोपिकानां** श्रुत्यादिभिः सह साजात्यमपि निरूपितं, पानं बहिःस्थितस्य द्रवद्रव्यस्यान्त-र्निवेशनं, नेत्राणामपि स्वतो रसाभिज्ञत्वज्ञापनाय भृङ्गपदं, तथा सति स्वतोऽपि प्रवृत्तिर्भवति, अन्यत्र च न विनियोगः सिध्यति, गोपिकानामपि देवतात्वादन्येनापि पानं सम्भवति,

व्याख्यार्थ – गोपीजनों के तीन कार्य इ २-विरहोत्पन्न ताप का मिटना, ३-भगवान् का सत्व

करुणा रूप तरङ्गे उछल रही हैं वैसे गोपीजनवल्लभ रूप सरोवर से लावण्यामृत का पान अवश्य कर्तव्य[१] है। यदि इस लावण्यामृत का पान नहीं किया जाएगा तो विरह ताप नहीं मिटेगा। जब ताप नष्ट होगा तब ही रस का आस्वादन[२] हो सकेगा।

बाहिर का ताप तो भगवान् के साथ मिलन होने पर मिट गया। भीतर का ताप लावण्यामृत रस का पान कर मिटाया।

जिस रस का पान किया जाए वह रस ताप को मिटाने वाला और मिष्ट होता है तो विशेष पीया जा सकता है, किन्तु लौकिक कोई रस वैसा नहीं है। दूध मिष्ट और ताप हारक है, परन्तु तृषादि जनक दोष वाला है इसी प्रकार जल भी बर्फ के समान ज्यादा पीया नहीं जाता है तात्पर्य यह है कि मिष्ट और ताप हारक होते हुए भी परिणाम में सुखदायी न होने से उनका पान करना श्रेष्ठ नहीं हैं। अतः भगवान् का लावण्यामृत रस ही सर्व गुणों वाला है, इसका वर्णन करते है। यह लावण्यामृत रस, ज्ञान रूप तथा शान्त होने से निर्दोष है और अन्त में मोक्ष देने वाला भी है। भगवान् का मुखारविन्द भक्त्यात्मक[३] है, अतः भक्ति स्नेह रूप द्रवीभूत तत्त्व होने से उसका पान प्रेम से विशेष किया जा सकता है।

यह लावण्यामृत रस, मुकुन्द के मुखारविन्द का मधु है। जैसे मधु-मक्षिकाएँ सर्व पुष्पों से रस को चूस कर ले आती हैं और उस रस को वृक्ष के कोटर में स्थापित करती हैं वह मधु द्रवीभूत है। अन्य जाति का मधु धनीभूत होने से पीने योग्य नहीं होता है। वैसे ही यहाँ ब्रह्मादिक देव रूप मधुमक्षिकाओं ने तथा श्रुति मधुमक्षिकाओं ने सकल शास्त्रों के प्रकरणों में स्थित, परमानन्द रूप मधु (आनन्द रस) को, वहाँ से लाकर इस स्वरूप में धरा हैं, अर्थात् सर्व प्रकरणों में प्रति पादित[४] आनन्द इकट्ठा हो कर, यहाँ आकर कृष्ण स्वरूप में प्रकट स्थित हुआ है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मादि देवताओं की तथा श्रुतियों की प्रार्थना से भगवान् यहाँ प्रकट हुए हैं।

उस प्रकट रस स्वरूप के रस का गोपिकाओं ने ही उपभोग किया है। जो, उस रस पर ही जीवन धारण करते हैं, वे ही, उस रस के स्वरूप को समझते हैं। वे भ्रमर हैं उनके (भ्रमरों के) देह का निर्वाह करने वाला कोई अन्य पदार्थ नहीं है इसलिए उनका दूसरे किसी से सम्बन्ध भी नहीं हैं। वे दूसरे स्थानों पर केवल भ्रमण करने के लिए जाते हैं। इसी प्रकार गोपिकाओं के नेत्र रूप भ्रमरों के देह का निर्वाह करने वाला मुकुन्द के मुखारविन्द का मधुर रस ही हैं। अतः वे नेत्र रूप भ्रमर अन्यत्र भ्रमण करते हुए भी भगवान् के मुखारविन्द के लावण्यामृत मधु को ही ग्रहण करते रहते हैं। इसलिए कहा है कि गोपिकाओं ने नेत्र रूप भ्रमरों से, मुकुन्द के मुखारविन्द रूप मधु का पान किया। इस प्रकार कहने से यह बताया है कि गोपीजन भी श्रुतियों के जाति वाली हैं अर्थात् गोपीजन श्रुतियाँ हैं।

---

१ - करना चाहिए। २ - पूर्ण स्वाद की प्राप्ति। ३ - भक्ति स्वरूप

४ - समझा कर निर्णय किया हुआ।

बाहिर स्थित द्रवपदार्थ[१] का शरीर के अन्दर प्रवेश कराना पान कहा जाता है। नेत्र, स्वतः रस के अभिज्ञ[२] हैं इसको जताने के लिए नेत्र को 'भृङ्ग' कहा हैं। नेत्र भृङ्ग है इस कारण से ही उनकी रस पान में स्वतः (गोपियों की प्रेरणा विना) प्रवृत्ति होती है। दूसरे किसी वस्तु में प्रवृत्त नहीं होते हैं। गोपीजन, देवता होने से, दूसरे (नेत्रों) से भी पान कर सकते हैं। अतः इतने समय तक, हमने इस रस का स्वाद नहीं लिया, इस चिन्ता से जो ताप उत्पन्न हुआ है, वह (ताप) लावण्यामृत रस से जब पूर्ण रीति से अन्तःकरण पूर्ण होगा, तब निवृत्त होगा। इसके सिवाय, अन्य जो त्रिविध ताप था, वह तो भगवान् के दर्शन मात्र से मिट गया था, शेष रहा विरहज ताप, वह अब रसपान कर मिटाया है।

गोपिकाओं ने विरह ताप क्यों उत्पन्न किया ? क्यों नहीं भगवान् के सान्निध्य में सदैव रहती थी ? इस शङ्का को मिटाने कि लिए गोपिकाओं को 'व्रजयोषितः' कहा है। 'व्रज' की स्त्रियाँ विवेक रहित[३] और पराधीन होने से सारा दिन गोपालों के साथ गोष्ठ[४] में रहती थी और स्त्री स्वभाव भी अन्यत्र जाने में बाधक है। इन कारणों से सन्निधि[५] में नहीं रह सकती थी जिससे विरहताप हुआ।

तदनन्तर इकट्ठी हुई गोपियों का उनके मध्य में स्थित भगवान् के प्रति जो कर्तव्य है वह कहना अशक्य है अतः संक्षेप में कहा है कि गोपियों ने भगवान् का अच्छा सत्कार किया। भगवान् ने उनके किए हुए सत्कार को स्वीकार किया। जो कुछ चारों तरफ समालिङ्गन आदि तथा भगवद्वैभव से भी जो कुछ हो सका वह सब सत्कार शब्द से कह दिया है। प्रत्येक गोपी ने पृथक् पृथक् जो सत्कार किया उसका अनुभव कर अच्छे प्रकार से गोपीजनों को कृतार्थ कर, भगवान् ने गोष्ठ में प्रवेश किया।

गोपीजनों ने किस प्रकार का सत्कार किया ? यदि सत्कार लौकिक भोजनादि से किया हो तो भगवान् का 'गोष्ठ' में पधारना व्यर्थ ही है और लौकिक का भी बाध होता है। अतः जिस प्रकार से विशिष्ट सत्कार किया, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिसका स्पष्ट विशेष वर्णन नहीं किया जा सकता है। किन्तु सूक्ष्म में कहते हैं कि 'सव्रीडहास विनयं' लज्जा, हास्य और विनय सहित कटाक्षों के डालने से सत्कार किया मुखारविन्द में ही रस है, उस मुखारविन्द का रस पान जैसा अन्धकार (गुप्त स्थान) में प्राप्त किया जाता है वैसा वर्णन यहाँ करना (होना) अशक्य होने से नहीं किया हैं।

कटाक्ष मोक्ष के भी पृथक् पृथक् प्रकार होते हैं। जैसा रस अद्‌भुत कराना हो वैसा कटाक्ष मोक्ष होता है। भगवान् किस प्रकार का अभिनय[६] करेंगे इस का विचार करती हुई प्रथम वार ही आई हुई गोपी के मुख्य रस के अङ्गभूत तीन रसों का वर्णन करते हैं। (१) व्रीड़ा[७] से रस प्रादुर्भाव होकर जब

---

१ - रस रूप पदार्थ। २ - ज्ञाता, जानने वाले। ३ - बुद्धि हीन - भोली - सीधी सादी।

४ - गौशाला में गायों का बाड़ा या खिड़क। ५ - पास। ६ - लीला। ७ - लज्जा।

पुष्ट होता है तब (२) हास्य होता है और अन्त में (३) विनय होता है। इन तीन प्रकारों से वर्तमान, प्रत्येक रस अनेक प्रकार का है, इस कारण से यह भगवान् का दिव्य प्रभाव कहा गया है। इसके वर्णन करने में लौकिक प्रकार (दृष्टि) से किसी प्रकार के औचित्य का भङ्ग न हो अत:सूक्ष्म में (सत्कृति) शब्द दिया है। भगवान् जगत् के पूज्य है। प्रत्येक गोपी ने अपने अधिकारानुसार भगवान् का सत्कार किया है। गोष्ठ में आने के अनन्तर भी सत्कार हो सकता था तो मार्ग में ही सत्कार क्यों किया ? उसके उत्तर में कहते हैं कि यह 'गोष्ठ' है गौओं के बन्धन का स्थान* है। वहाँ इस प्रकार से गोपियाँ सत्कार नहीं कर सकती थीं तो भी भगवान् के प्रभाव से जैसा उचित बन सका वैसा घर में भी किया ॥ ४३ ॥

अभास — तत्रापि सत्कारो जात इत्याह तयोरिति,

आभासार्थ — गोष्ठ में भी सत्कार हुआ जिनका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — **तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयो: पुत्रवत्सले ।**
यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिष: ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ — पुत्रों पर प्रेम वाली यशोदा और रोहिणी, दोनों पुत्रों को इच्छानुसार तथा कालानुकूल बड़े-बड़े आशीर्वचन कहने लगी ॥ ४४ ॥

सुबोधिनी — साधारण इतिज्ञापनार्थमुभयोर्ग्रहणं, **यशोदारोहिण्याविति** लोके ख्यातिरुक्ता, **पुत्रयोरिति** **लौकिक एव भाव:**, प्रेमरहितं न गृह्णातीत्याशङ्क्य **पुत्रवत्सले** इत्युक्तं, इच्छामप्यनतिक्रम्य कालमप्यनतिक्रम्य **परमाशिषो व्यधत्तां**, काम: स्वनिष्ठ:, **सन्ध्याकाले** च **परोक्षतयैवाशिषो वक्तव्या** इति **कालापेक्षा**निरूपणं, नमस्कारे कृतेऽकृते वा स्वस्य महित्वं स्थापितवत्याविति ज्ञापयि**तुमाशिषां** निरूपणम् ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ — गोष्ठ में पधारने पर राम तथा कृष्ण का जो यह सत्कार हुआ वह सामान्य था, अत: दोनों का नाम दिया है। जननी अथवा माताओं न कहकर, जो उनके नाम यशोदा और रोहिणी दिए गए उसका तात्पर्य है कि, इससे इनकी लोक में प्रसिद्धि बताई। यहाँ राम-कृष्ण नाम न देकर यह 'पुत्रयो:' कहने का आशय यह है कि राम और कृष्ण में इनका लौकिक पुत्र भाव था। भगवान् किसी की भी कोई वस्तु तब ग्रहण करते हैं जब देखते हैं कि इसको मेरे लिए प्रेम है, यदि प्रेम नहीं हो तो ग्रहण नहीं करते हैं अत: कहा है कि ये यशोदा रोहिणी 'पुत्र वत्सले' पुत्रों में प्रेमवालियाँ थीं। इनमें अपने लिए प्रेम देखकर, जो कुछ इन्होंने अपनी इच्छानुसार तथा कालानुसार किया उसको भगवान् ने अङ्गीकार किया। जैसा कि सन्ध्या काल में परोक्ष में ही आशीर्वचन कहने चाहिए इसलिए आशीर्वाद देने में काल की अपेक्षा की आवश्यकता का वर्णन है। श्रीकृष्ण तथा बलराम ज्यों-ज्यों उनको प्रणाम करने लगे

---

*गोष्ठ में आने के अनन्तर सत्कार न कराने का कारण यह भी था कि भगवान् 'रसं दान' संसार रूप घर में नहीं करते हैं। "**प्रकाश**"

त्यों-त्यों वे अपनी महत्ता दिखाने के लिए आशीर्वाद देने लगी ॥ ४४ ॥

आभास — तत उपचारा गताध्वानश्रमाविति,

आभासार्थ — तदनन्तर गोष्ठ में जो उपचार[१] हुए उनका वर्णन करते हैं।

श्लोकः — **गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः ।**
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥ ४५ ॥
जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ — वहाँ व्रज में, स्नान और मर्दन[२] से मार्ग में हुई थकावट जिनको मिट गई है उन (राम-कृष्ण) दोनों भ्राताओं ने सुन्दर नीवी[३] पहनी और दिव्य पुष्पों की मालाएँ गले में डाल, ललाट पर चन्दन चरच जननी के लाए हुए स्वादिष्ट अन्न का भोजन कर, माता से लालित (दुलारे) हुए, सुन्दर शय्या पर लेट आनन्द से पौढे ॥ ४५-४६ ॥

सुबोधिनी — मज्जनान्युन्मर्दनादीनि, उन्मर्दनमादिर्येषां मज्जनानां, छान्दसः परनिपातः, मज्जनं वा पादयोः, मज्जने वोन्मर्दनादिना, रजोनिवृत्त्यर्थमादौ वा मज्जनं, प्रातीतिकोऽयं श्रमः, नीवीं मल्लानामिव रुचिरां पीताम्बरादिनिर्मितां, **दिव्येन स्रग्गन्धादिना** च **मण्डितौ** जातौ मध्ये त्वधिकारिदेवैस्तथाकृतौ ॥ ४५ ॥

सुबोधिनी — पश्चाज्जनन्युपहृतं प्राश्येति रोहिण्या समानीतं, प्रायशो भगवतो बलभद्रेणैव सह भोजनं, असमासाद् द्रव्यमेकमेवेति न यशोदाया वैलक्षण्यं, **प्राश्येति** कोमलं दुग्धान्नादिकं सूचितं, तत **उपलालितौ** पित्रादिभिः सर्वै रेव, सर्वेषामनुग्रहार्थमेवमुक्तं, **वरशय्यायां संविश्येति** रात्रिकृत्यमुक्तं, जनन्यादिभिः सह शयननिषेधार्थमुक्तं सुखं सुषुपतुरिति, लीलाह्निकी सम्पूर्णा निरूपिता, **व्रजे हि नात्यन्तं धर्मप्रधानता**, अतो न रात्रिकृत्यं किञ्चिदुक्तं, व्रजस्यानुक्तिसिद्धत्वेऽपि कथनेन **सम्पूर्णे व्रजे स्वप्रियाभिः सहशयनं** सूच्यते ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ — श्लोक में 'मज्जनोन्मर्दनाभिः' पंक्ति में मज्जन और उन्मर्दन दो शब्द हैं। लौकिक व्याकरण के अनुसार उन्मर्दन शब्द प्रथम आना चाहिए, किन्तु यहाँ मज्जन प्रथम आया है उसका कारण यह है कि यहाँ वैदिक व्याकरण के नियम को लागू किया है। अथवा प्रथम केवल दो पैरों को ही स्नान कराके अनन्तर उबटन कर सर्व श्री अङ्ग को स्नान कराया (अथवा मार्ग में आते रज से श्री अङ्ग को स्नान कराया।) अथवा मार्ग में आते रज से श्री अङ्ग मलीन हुए थे अतः पहले उस मैल को निकालने

१ - सेवाएँ। २ - मालिश। ३ - काछनी।

के लिए स्नान कराया पुनः तैल फुलेल आदि से उबटन कर दूसरी बार स्नान कराया ।

इस प्रकार के संस्कार श्रम निवारण के लिए किए गए थे किन्तु यह श्रम की प्रतीति मात्र थी वास्तविक श्रम नहीं था ।

तदनन्तर उन्होंने जैसे मल्ल काछनी पहनते हैं, वैसी सुन्दर काछनी पीताम्बरादि से बनी हुई को धारण की, दिव्य मालाओं तथा गन्धादि चरचकर सुशोभित हो† रोहिणी‡ माता के लाया हुआ दुग्ध अन्नादि का कोमल भोज्य, बलभद्रजी के साथ प्राशन किया । भगवान् बहुत करके बलभद्रजी के साथ ही भोजन करते थे । अनन्तर पितादि सर्व बान्धवों ने उनको दुलार किया अर्थात् लाड़ लड़ाए । इस प्रकार की क्रिया से भगवान् ने सबों पर अनुग्रह प्रकट किया । अब रात्रिचर्या का वर्णन करते हैं कि 'सुन्दर शय्या' पर पोढे । इस प्रकार पृथक् शयन कह कर दिखाया कि मातादि के साथ शास्त्रों में शयन का निषेध है । यहाँ दिन का समग्र कृत्य कहा है किन्तु रात्रि का कृत्य नहीं कहा है उसका कारण बताते हैं कि व्रज में धर्म की विशेष प्रधानता नहीं है किन्तु धर्मी की प्रधानता है इसलिए रात्रि का कृत्य नहीं कहा ।

यद्यपि रात्रि का कृत्य स्पष्ट नहीं कहा तो भी व्रज में 'सुख से पोढे' केवल धर्मी की इतनी लीला कहने से रात्रिचर्या ज्ञात हो जाती है कि भगवान् ने सम्पूर्ण व्रज में स्वप्रियाओं के साथ शयन किया* । ॥ ४६ ॥

आभास – एवमाह्निकं भगवत्कृत्यं निरूप्य वैषयिकं भगवत्कृत्यं वक्तुं कालीय-ह्रदगमनार्थं प्रस्तावनामाहैवं स भगवानिति,

अभासार्थ – इस प्रकार भगवान् के आह्निक कृत्य का वर्णन कर अब भगवान् के अभिलषित विषय का कृत्य वर्णन करने के लिए कालीय ह्रद पर जाने की भूमिका इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः – **एवं स भगवान् कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित् ।**
ययौ राममृते राजन् कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥ ४७ ॥

---

† ४५ श्लोक में जो संस्कार हुए वे अधिकारी देवों ने गुप्त रूप से किए हैं अतः इस श्लोक में माता ने किए ऐसा नहीं लिखा है ।

‡ श्लोक में 'जननी' शब्द एक वचन में दिया है इसलिए भोजन लाने वाली माता एक ही थी, वह कौन थी ? इस शङ्का का निवारण भी 'जननी' शब्द से किया गया है । श्रीकृष्ण को तो किसी ने जना नहीं है किन्तु राम को रोहिणी ने जना है अतः भोजन 'रोहिणी' लाई थी यशोदा नहीं लाई थी ।

* अन्यथा व्रज में शयन तो बिना कहे भी समझा जा सकता है परन्तु बिना कहे गूढाशय को जानना कठिन था अतः "व्रज में शयन किया" यह अलग से कहना पड़ा ।

श्लोकार्थ – हे राजन् ! इस प्रकार सखाओं से आवेष्टित वे श्रीकृष्ण, राम के बिना अकेले एक दिन वृन्दावन में घूमते हुए कालिन्दी पर पधारे ॥ ४७ ॥

सुबोधिनी – एवं निरोधार्थं **वृन्दावनचरो** भगवाञ् जातः तत्र हेतुः **स भगवानिति**, **स** इति निरोधार्थमेवागतः, **भगवानिति** सामर्थ्यं, कृष्णइतिनाम्ना'नेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथे' तिवाक्यार्थं बोधयितुं प्रवृत्तिरुचितेति, क्वचित् कदाचित् कस्मिंश्चिद्देशे वा तत्कार्यं स्वसाध्यमेवेति ज्ञात्वा **राममृते कालिन्दीं ययौ**, वनं ह्युभयत्रापि भवति पर्वतसमीपे कालिन्दीसमीपे च, तत्र **निदाघे प्रायशः कालिन्दीसमीप एव गोचारणं, सखिभिर्वृत** इति तेषां समानशीलतोक्ता, अपरिहार्यतापि, अन्यथा भगवान् स्वयमेव गच्छेत् ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थ – व्रजस्थों के निरोधार्थ ही, भगवान् वृन्दावन में घूमते थे। कारण कि आप (भगवान्) सर्व समर्थ (निरोध आदि करने के लिए समर्थ) हैं और आप (कृष्ण) के लिए ही गर्गाचार्य जी ने कहा है कि इनके द्वारा आप सङ्कटों को पार करोगे अतः इस वाक्य को सत्य करने के लिए आपको प्रवृति करनी उचित है। कभी अथवा किसी स्थान पर जो कार्य आपसे ही हो सकने योग्य समझा उस कार्य के लिए राम के बिना ही आप अकेले कालिन्दी पर पधारे। वन, पर्वत तथा कालिन्दी, (यमुना) दोनों के पास था किन्तु उष्णकाल में प्रायशः[१] कालिन्दी के पास वाले वन में ही सखाओं के साथ गौओं को चराते थे। इससे यह बताया कि सखाओं का स्वभाव भी भगवान् के समान था इसलिए भगवान् अपने समान स्वभाव वाले सखाओं को छोड़ भी नहीं सके, उनको भी साथ ले कालिन्दी पर पधारे। यदि सखा वैसे न होते, तो भगवान् उनको छोड़ अकेले आप ही पधारते ॥ ४७ ॥

आभास – एवं सम्भूयगतानां मध्ये भगवानन्यत्रैव स्थितः भिन्नप्रक्रमेणैव गावो गोपालाश्च गता इत्याहाथेति,

आभासार्थ – इस प्रकार मिलकर गए हुए भगवान्, गोप और गौओं में से, भगवान् एक स्थान पर खड़े हो गए और गोप तथा गौ अन्य क्रम से जाने लगे। इस प्रकार का वर्णन इस श्लोक में करते है।

श्लोकः – **अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः ।**
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम् ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ – अनन्तर ग्रीष्म के आतप[२] से पीड़ित तथा तृषा से व्याकुल गौओं और गोपों ने विष से दूषित यमुनाजी का दुष्ट जल पिया ॥ ४८ ॥

---

१ - बहुत करके। २ - गरमी।

सुबोधिनी — क्वचिद् वृक्षच्छायायां भगवन्तं स्थापयित्वा जलं पाययित्वा पीत्वा चागमिष्याम इत्यभ्यनुज्ञाय दूरे गन्तव्यमिति बोधिता अपि विशेषतो न निषिद्धा **निदाघातपे**नात्यन्तं **पीडिता दुष्टं तस्या** यमुनाया जलं पपुः, सा हि यमभगिन्यतो **दुष्टायापि** स्थानं दत्तवती, स च दोषो न तस्याः **किन्त्वन्यकृत** इत्याह **विषदूषितमिति, विषे**णात्यन्तं दूषितं, उष्णस्पर्शादिनापि दूष्यते तदर्थं विशेषः ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ — श्लोक में 'अथ' शब्द देकर बताते हैं कि अब दूसरे प्रसङ्ग का प्रारम्भ होता है।

गोपगण भगवान् को वृक्षों की छाया वाले किसी स्थान पर ठहरा कर, आज्ञा लेकर गए कि, हम गौओं को पानी पिलाकर तथा स्वयं पान कर आते हैं। भगवान् ने उनको समझाया भी, दूर जाकर पानी पीना किन्तु विशेष स्पष्ट यहाँ ही पीने का निषेध नहीं किया। वे ग्रीष्म की गर्मी से व्याकुल थे अतः वहाँ ही यमुना का दुष्ट जल पीने लगे। उसने (यमुनाजी ने) यम की भगिनी होने से दुष्ट को भी स्थान दिया था। यमुना के जल में जो दोष हुआ था वह यमुनाजी का नहीं था किन्तु दूसरे का किया हुआ था। इसलिए कहा है कि यमुना का जल विष से अत्यन्त दूषित[1] हुवा है। अत्यन्त दूषित इसलिए कहा है कि उष्णता; स्पर्श आदि से भी जल बिगडता है किन्तु यह विष से बिगड़ा है इसके लिए विशेष बिगड़ाना कहा है ॥ ४८ ॥

आभास — पानफलमाह विषाम्भ इति

आभासार्थ — इस श्लोक में विष से दुष्ट जल पीने से जो फल मिला उसका वर्णन करते हैं।

श्लोकः — **विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः ।**
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ — हे कुरूद्वह ! दैवसे[2] चेतना हीन उन्होंने विष से युक्त जल का उपस्पर्शन[3] किया जिससे वे प्राण रहित होकर जल के समीप ही गिर पड़े ॥ ४९ ॥

सुबोधिनी — उपस्पर्शनं पानस्नानादिकं स्पर्शमात्रं वा तावतैव सर्वे **व्यसवः सलिलान्त** एव **निपेतुः**, ननु तेषां जीवनादृष्टस्य विद्यमानत्वात् कथं व्यसवो जाताः ? तत्राह **दैवोपहतचेतस** इति, तेषां हि तावदेव जीवनादृष्टमतो दैवेनैवोपहत**चेतसः, सलिल**समीपेऽर्धजल एव **निपेतुः**, यद्यपि दोषो दूरीकृतो धेनुकवधेन तथापि पूर्वसन्ततिरपि दूरीकर्तव्या, **दुष्टेनैव हि दोषाणां नाशो** भवत्यलौकिकसुकृतेन च दिव्यभावोत्पत्तिः, विश्वासार्थं सम्बोधनम् ॥ ४९ ॥

† टिप्पणी आगे के ८२ पृष्ठ पर है।

१ - दोषवाला, २ - प्रारब्ध से, ३ - स्नान पानादि का केवल स्पर्श,

व्याख्यार्थ – ज्योंही उन्होंने जल में स्नान, वा जल का पान अथवा केवल जल का स्पर्श ही किया त्योंही प्राण रहित हो के जल के समीप आधे जल में गिर पड़े। उनकी अभी आयु तो थी फिर निष्प्राण कैसे हुए ? इसके उत्तर में कहा है कि उनकी आयु इतनी ही थी, विशेष नहीं थी, इसलिए प्रारब्ध ने इनकी विषयुक्त जल को पीने की बुद्धि कर दी। यद्यपि धेनुक के वध से दोष† दूर कर दिये थे, तो भी शेष रहे दोषों की सन्तति[१] को भी नाश करना आवश्यक है। दोषों का नाश दुष्ट कर्म द्वारा ही होता है। अलौकिक पुण्य कर्म से दिव्य भाव‡ की उत्पत्ति होती है। राजा परीक्षित को 'कुरूद्वह' विशेषण देकर यह बताया है कि आप कुरु वंश में हो इसलिए आपको इस कथा पर विश्वास करना चाहिए ॥ ४९ ॥

आभास – ततो भगवत्कृत्यमाह वीक्ष्येति,

आभासार्थ – इस श्लोक में भगवान् के लिए हुए कृत्य का वर्णन करते हैं।

श्लोकः – **वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।**
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत् ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ – उनको निश्चय से इस (मृत-प्राण हीन) दशा को प्राप्त देखकर योगेश्वरों के ईश्वर श्रीकृष्ण ने, अमृत वर्षा करने वाली अपनी दृष्टि से, जिनके आप नाथ हैं, उन सबको, सम्यक् प्रकार से जीवित किया ॥ ५० ॥

सुबोधिनी – स्वभावतोऽपि जानाति तथापि क्रीडायां साधनं वक्तव्यमिति **योगेश्वरेश्वर** इत्युक्तं, **योगस्यापि** नियन्ता, **योगेन हि सर्वेषां ज्ञानं** भवति, तत्राप्ययं नियामकः, किं पुनः स्वज्ञाने वक्तव्य इत्यर्थः, **योगेश्वराणामपीश्वर** इत्युपदेष्टृणामप्ययं नियामक उक्तः, तत्र हेतुः **कृष्ण** इति, सदानन्दः, **तान्** निरोधार्थमानीतान् वै निश्चयेन तथाभूतान् न तु मूर्च्छितान् स्वयमागत्य वीक्ष्य वीक्षणेन नूतनदेहान् निर्मायामृत**वर्षिण्येक्षया समजीवयत्**, सर्वे हि प्राण अमृता आधिदैविकाः, तान् दृष्ट्यैवानीय तेषु देहेषु वर्षति स्म, नन्वेतावत्करणे को हेतुः ? तत्राह **स्वनाथानिति**, **सम्यगजी-वयदिति**, पुनर्विषसम्बन्धेऽपि न **तेषां** काचित् क्षतिः ॥ ५० ॥

व्याख्यार्थ – यद्यपि भगवान् स्वभाव से भी जानते हैं कि इनको कैसे जीवित किया जा सकता

---

†धेनुक के वध से देह का अध्यास मिटाया जिससे **पुनः** देह की प्राप्ति नहीं होगी। किन्तु जब तक 'लिङ्ग' देह है तब तक दोष संतति 'पुनः पुनः जन्म' मिटेगा नहीं अतः विष पान द्वारा 'लिङ्ग देह' नाश कराके सदैव के लिए देह प्राप्ति मिटा दी। "लेख"

‡५० वें श्लोक में भगवान् के सत्कृत्य से दिव्य भाव रूप फल की प्राप्ति का वर्णन है। **"लेख"**

---

१ - पंक्ति।

है तो भी लीला करने के समय कोई भी कार्य आप साधन से करते हैं। इसको स्पष्ट समझाने के लिए श्लोक में भगवान् का 'योगेश्वर' विशेषण दिया है। योग से सर्व पदार्थ मात्र का ज्ञान होता है, आप तो उस (सर्व पदार्थ का ज्ञान कराने वाले) योग को नियम में रखने वाले हैं अतः आप में सर्व प्रकार का ज्ञान पूर्ण है। इसमें कोई संशय नहीं है। न केवल योग के नियामक हैं, किन्तु योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं अर्थात् योग के उपदेश करने वालों के भी आप नियामक हैं। कारण कि आप, कृष्ण (सदानन्द रूप) हैं। अतः निरोध के लिए लाए हुए उनको, आपने स्वयं आकर देखा कि ये मूर्छित नहीं हैं किन्तु गत प्राण हैं, केवल देखने से उनके देह, नवीन बन गए पुनः अमृत वर्षा करने वाली दृष्टि से उन (देहों) को सम्यक् प्रकार से जीवित किया। सम्यक्[1] प्रकार से कहने का तात्पर्य यह है कि उनके जो प्राण मरे (गए) थे वे आधिदविक थे। उनको (आधिदैविक प्राणों को) अमृत वर्षा करने वाली दृष्टि से ला कर उन देहों पर बसाये अर्थात् वे आधिदैविक प्राण उनमें डाले जिससे पुनः विष सम्बन्ध होवे तो भी कोई हानि न हो। ऐसा करने का कारण यह है कि आप उन (गोपादिकों) के नाथ हैं ॥ ५० ॥

आभास – तेषां पूर्वस्माद् वैलक्षण्यं तद्रूपतां च प्रतिपादयति त इति,

आभासार्थ – उन (गौ तथा गोपों) का पहले से भिन्न प्रकार का और पहले जैसा रूप इस श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोकः – **ते सम्प्रतीतस्मृतयः समुत्थाय जलान्तिकात् ।**
आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम् ॥ ५१ ॥

श्लोकार्थ – जिनको पुनः सम्यक् प्रकार से स्मृति आ गई वैसे वे जल के समीप से उठकर, परस्पर देखते हुए विस्मय करने लगे ॥ ५१ ॥

सुबोधिनी – त एवैते जीवाः, सम्यक् **प्रतीता स्मृतिर्येषां**, अनुसन्धानं प्राप्तमेव भवति परं सर्ववृत्तान्तपुरःसरं न भवतीत्याधिदैविकभावमापन्नाः सर्वे स्मृतियुक्ता जाताः, अतः **समुत्थाय** जलसमीपं **परित्यज्य** प्रदेशान्तरं गताः **सुविस्मिता** जाताः, **एतावान्** भावो भगवता विशेषः कारितोऽतो विस्मयो भगवद्भावस्य निवृत्तत्वात् ततः **सर्वे परस्परं वीक्षमाणा** प्रत्येकमुद्बोधका इव जाताः ॥ ५१ ॥

व्याख्यार्थ – ये वे ही जीव थे अतः इनको पूर्व स्मृति पुनः होने लगी जिससे वे कुछ विचार करने लगे कि हम कौन थे ? कहाँ थे इत्यादि, किन्तु पूर्णातया वह इसको समझ न सके, यह इतनी स्मृति भी आधिदैविक भाव को प्राप्त होने के कारण हुई थी। अतः उठकर जल का समीप वाला स्थान छोडकर दूसरे प्रदेश पर गए वहाँ अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुए। भगवान् ने उनमें यह विशेषता उत्पन्न की थी जो उनको नूतन[2] देह दी थी; जिससे उनको विस्मय हुआ किन्तु भगवद्भाव निवृत्त होने के अनन्तर सब

१ – अच्छे, सुन्दर प्रकार से। २ – अलौकिक।

परस्पर वैसे देखने लगे जैसे कि एक दूसरे को जाग्रत करने पर देखते हैं कि यह क्या हुआ है ? ॥ ५२ ॥

आभास — अत एवोद्बुद्धज्ञानाः पूर्वसिद्धं सर्वमेव ज्ञातवन्त इत्याहान्वमंसतेति,

आभासार्थ — परस्पर इस प्रकार जाग्रत करने से उनको पूर्व वृत्तान्त का ज्ञान हो गया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — **अन्वमंसत तद् राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम् ।**
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः ॥ ५२ ॥

श्लोकार्थ — हे राजन् ! विष के पान से मरे हुओं ने अपना पुनः उठकर खड़ा होना (जीवित होना) भगवान् के अनुग्रह रूप दृष्टि से हुआ है यों माना ॥ ५२ ॥

सुबोधिनी — **स्वयमेवानुमानं** कृतवन्तः प्रायेणैवं भविष्यतीत्युत्प्रेक्षितवन्तः, भगवद्वैभवस्याप्रत्यक्षत्वात्, **राजन्निति** स्नेहसम्बोधनं, **तदग्रे** वक्ष्यमाणं, **गोविन्दस्यानुग्रहेणेक्षणं** यत्रेति तज् ज्ञातवन्तः, तदाह **विषं पीत्वा परेतस्यात्मनः** स्वस्य पुनरुत्थानमिति, भगवत्कृपावीक्षणेनैव जातमिति ज्ञातवन्तः, **एवं ज्ञानपूर्णो देहस्तैः प्राप्त** इति प्रथमो निरोधो निरूपितः ॥ ५२ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षि'त'विरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वादशाध्यायविवरणम् ॥

व्याख्यार्थ — उन्होंने स्वयं यह अनुमान किया कि, बहुत करके मरे हुए हम निम्न प्रकार से जीवित हुए हैं । उन्होंने अनुमान इसलिए किया कि जिस समय भगवान् ने अमृत वृष्टि से ईक्षण किया उस समय ये तो थे नहीं जो इन्होंने प्रत्यक्ष देखा हो अतः अनुमान से ही समझ लिया कि भगवान् की कृपा से अमृतमयी दृष्टि की वृष्टि से हम जीवित हुए हैं ।

यहाँ राजन् ! यह सम्बोधन स्नेह से किया गया है ।

इस प्रकार इन्होंने ज्ञान पूर्ण आधिदैविक (अलौकिक) देह प्राप्त की । इससे इनका प्रथम निरोध सिद्ध हुआ ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के १२वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण के प्रथम अध्याय की हिन्दी टीका सहित सम्पूर्ण ।

राग सारंग - **खेलत चलत बजावत तारी ।**
खात ताल फल करत कुलाहल देत परस्पर गारी ॥
बहुत दिवस बन राख्यो रासिभ अब के मारन पायो ।
जै जै राम-कृष्ण नंद-सुत अब ग्वालनु जसु गायो ॥
अब गोधन निर्भय है चरिहै तुअ प्रसाद गोविंदा ।
इह सब कथा चलैगी आगे बलि-बलि परमानन्दा ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः (पूर्वार्धः)

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

'द्वितीयोऽध्यायः'

श्री सुबोधिनी अनुसार १३वाँ अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार १६वाँ अध्याय

तामस प्रकरण के द्वादशाध्याय में भगवान् ने पधार कर अपनी अमृत वर्षिणी दृष्टि द्वारा विषयुक्त जल पीने से मूर्छित गोपों को इस प्रकार पूर्ण जीवन दान दिया जिससे पुनः (फिर दूसरी बार) विष का प्रभाव उनकी देहों पर न पड़े कारण कि वह देह ज्ञान पूर्ण अलौकिक बन गया था। गोपों ने भी जान लिया था कि यह सब भगवान् की कृपा दृष्टि से हुआ है इसी भाँति उस (१२वें) अध्याय में गोपों का प्रथम निरोध सिद्ध हुआ।

उसके अनन्तर अक्लिष्ट कर्मा भगवान् ने लीला द्वारा जो छः अर्थ सिद्ध किए उनका वर्णन इस १३वें अध्याय में है जिससे मध्यम निरोध सिद्ध हुआ है।

आचार्य श्री, प्रथम, इस अध्याय में की हुई लीलाओं का तात्पर्य, (सार-भाव) कारिकाओं द्वारा बताते हैं।

कारिका — **इन्द्रियाणि समस्तानां मृत्यवः समुदाहृताः ।**
त एव विषपूर्णानि कालीयस्य शिरांसि हि ॥ १ ॥

कारिकार्थ — शास्त्रों में इन्द्रियों का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा गया है कि ये ही सबों की मृत्यु रूप हैं । वे ही कालीय सर्प के विष से भरे हुए शिर हैं ॥ १ ॥

कारिका — **अतस्तदुपमर्दोऽत्र निरूप्यो हि त्रयोदशे ।**
सन्तुष्टो भगवांस्तेषु स्वलीलां चेत् करोति हि ॥
भक्तिमार्गानुसारेण निस्तारो नान्यथा भवेत् ॥ २½ ॥

कारिकार्थ — इस कारण से इस अध्याय में उनके मर्दन (उनके पूर्व के धर्मों को नष्ट कर नवीन धर्म प्रकट करा देने) का वर्णन आया है । सन्तुष्ट भगवान् उनके साथ भक्ति मार्गानुसार स्वयं जब लीला करें तब, उनका, संसार से छुटकारा होता है, अन्य प्रकार से नहीं होता है ॥ २½ ॥

कारिका — **तेषां प्रपञ्चः कामिन्यस्ताश्चेत् कृष्णस्य सर्वथा ।**
ततोऽञ्जसैवेन्द्रियाणि भवन्त्याज्ञावशे हरेः ॥
तदैव विषयश्चापि हरेर्भवति सर्वथा ।
सर्वोपयोगरहितः पूर्वसम्बन्धहानतः ॥३-४½॥

कारिकार्थ — उनका (इन्द्रियों का) विस्तार स्त्रियों द्वारा विषय सम्बन्ध से होता है यदि वे स्त्रियाँ ही भगवान् की आज्ञाकारिणी बन जाएँ तो सबका विषय भी भगवान् हो जाएँ, जिससे विषयों का सम्बन्ध स्त्री आदि से टूट जाए और किसी के काम की वे (विषय) न रहें ॥ ३-४½ ॥

कारिका — **परीक्ष्यैवेन्द्रियाणां हि निग्रहं कुरुते हरिः ।**
परीक्षार्थं ततो देवः कालं प्रेरितवांस्तथा ॥ ५½ ॥

कारिकार्थ — भगवान् परीक्षा के वास्ते ही अपनी इन्द्रियों का निग्रह करते हैं अतः, देव ने काल को, वैसी प्रेरणा की है ॥ ५½ ॥

कारिका – **स्वासक्तिश्चापि कर्तव्या निरोधे मध्यमे महान् ।**
यत्नः कर्तव्य इत्येव मुग्धभावं चकार ह ॥ ६½ ॥

कारिकार्थ – भगवान् गोपों की अपने में आसक्ति कराना चाहते हैं, अतः मध्यम निरोध की सिद्धि कराने में उनको (भगवान् को) महान् यत्न करना है इसलिए ही आपने (भगवान् ने) मुग्धभाव प्रकट किया ॥ ६½ ॥

कथामात्रत्वाभावाय संक्षेपेणाह तां पुरा ।
अक्लिष्टकर्मा भगवान् ज्ञापयामास लीलया ॥
उद्यमश्चापराधश्च परीक्षाकार्यमेव च ।
स्तुतिः प्रसाद इत्यत्र षडर्थाः परिकीर्तिताः ॥ ८½ ॥

कारिकार्थ – यह केवल कथा (कहानी मात्र) नहीं है, यह जताने के लिए प्रथम इसका संक्षेप में वर्णन किया। यह भी भगवान् ने लीला करके बता दिया, क्योंकि आप अक्लिष्ट कर्मा* हैं ।

उद्यम[१], अपराध[२], परीक्षा[३], कार्य[४], स्तुति[५] और प्रसाद[६] ये छः अर्थ इस अध्याय में कहे गए हैं ॥ ८½ ॥

कारिका – **व्याख्या तथा टिप्पणी, लेख, प्रकाश और योजना का संक्षिप्त भावार्थ-**

'शतायुः पुरुषः शतेन्द्रियः' इस वाक्य में पुरुष की आयु शत वर्ष बताने के साथ, उसकी मृत्यु भी सौ, बताई गई है। यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द मृत्यु वाचक है। गोपों की जिस विष पूर्ण इन्द्रियों से (१२वें अध्याय)में मृत्यु हुई थी। वे ही इन्द्रियाँ कालीय के शिर हैं। कालीय ने क्रोध से उस विष को अपने उच्च शिरों में धारण कर रक्खा है, इस कारण से, नेत्रों से विष का वमन करता है।

---

* जिनको कर्म करने में किसी प्रकार का क्लेश न होता हो।

---

१ - कालीय का दमन। २ - कालीय का अपराध। ३ - भक्तों के स्नेह की परीक्षा।

४ - कालीय के दमन का कार्य। ५ - नाग पत्नीओं की, की हुई भगवान् की स्तुति।

६ - भगवान् की कृपा।

द्वादश अध्याय के अन्त में भगवान् ने अपनी अमृतमयी दृष्टि से गोपों को जीवित कर, उनकी देह अलौकिक बना दी, जिससे विष का रूप विष सहित मृत्यु रूप इन्द्रियाँ, गोपों की देह में प्रवेश न कर सकी अत: वे कालीय के शिरों में जाके रही इसलिए कालीय के शिरों को गोपों की इन्द्रियाँ कहा गया है ।

इन्द्रियों की वृत्ति सदा विषय के तरफ होने से वह भगवद्विमुख होती है । जब तक इन्द्रियाँ विमुख होती हैं, तब तक उनका भगवान् से सम्बन्ध नहीं होता है, उनका (इन्द्रियों का) भगवान् से सम्बन्ध होने के लिए उपमर्दन करना आवश्यक है । वह दो प्रकार से होता है, एक ज्ञान मार्ग से अन्य भक्ति मार्ग से । ज्ञान मार्ग द्वारा किए हुए उपमर्दन से इन्द्रियों का स्वरूपत: मर्दन (नाश) होता है, जिसमें वे इन्द्रियाँ भगवद्भजनानन्द ले नहीं सकती हैं इससे इन्द्रियों के उत्पत्ति की निरर्थकता हो जाती है । भक्ति मार्ग द्वारा होने वाले उपमर्दन से इन्द्रियों का स्वरूप से नाश नहीं होता है, किन्तु उनके दोषों का नाश होता है जिससे वे निर्दोष हो कर भगवद्भजनानन्द का स्वाद ले सकती हैं और उनके उत्पन्न होने की इससे सार्थकता भी होती है यह भक्तिमार्गीय उप-मर्दन तब हुआ, जब भगवान् ने प्रसन्न होकर, भक्तिमार्गीय प्रकार से, गोपों के इन्द्रिय रूप कालीय के शिरों पर नृत्य लीला की है, कारण कि, भगवान् की इच्छा थी, कि गोपों की संसार से मुक्ति हो । इस नृत्य लीला द्वारा भगवान् ने गोपों की संसार से निवृत्ति कराई तथा कालीय के दोषों का नाश किया, तात्पर्य यह है कि संसार से छुटकारा भक्ति मार्ग द्वारा होता है अन्य प्रकार से नहीं होता है ।

संसार जाल में, विशेष फँसना तब होता है, जबकि इन्द्रियां प्रपंच में (विषय रूप विस्तार को आश्रय देने वाली स्त्रियों में) आसक्त होती हैं । ये स्त्रियां प्रपंच के विस्तार की जड़ें हैं यदि वे (जड़ रूप स्त्रियाँ) ही भगवान् की बन जाए तो इन्द्रियाँ स्वत: भगवान् की आज्ञा पालन करने वाली हो जाए, कारण कि, उनके विषयों का विस्तार (प्रपंच) अपने आप बन्द हो जाए ।

यहाँ विषय विष का विस्तार करने वाली नाग पत्नियां थीं, वे भगवान् की हो जाए तो सर्व कार्य सिद्ध हो जाए, इसलिए, भगवान् ने, यह नृत्य लीला की; जिसका परिणाम कालीय के दोषों के नाश होने के साथ साथ यह भी हुआ कि नाग पत्नियां भगवान् के शरण आकर स्तुति करने लगी ।

भगवान् ने अपराधी कालीय का निग्रह[१] किया, यह तो श्रेष्ठ किया किन्तु आपने अपने को नाग के फणों से लपेटाकर जो मूर्च्छित भाव दिखाया और अन्य उत्पात कराए वे कार्य उनको कराने के योग्य नहीं थे ? ऐसी शङ्का का उत्तर (५-५½) कारिका में देते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि--भगवान् ने इस प्रकार अपनी इन्द्रियों का जो निग्रह किया उसका कारण यह है, कि भगवान् ने जो गोपों का स्नेह रूप निरोध (१२वें अध्याय में) सिद्ध किया था, वह गोपों का स्नेह परिपक्व है वा नहीं इसकी परीक्षा लेने के लिए लीलाएँ की थी । प्रेमी की पीड़ा देखकर, स्नेह वाले को मृत्यु से भी विशेष दु:ख होता है । यदि गोपों का मुझ में सच्चा स्नेह होगा, तो उनकी भी वैसी ही दशा होगी, इसको

१ बन्धन, बुरे कार्य से रोक ।

देखने के लिए, भगवान् ने यह लीला की थी। इसी प्रकार आधिदैविक काल, जो स्वयं आप ही हैं, उसको प्रेरणा द्वारा तीन प्रकार के (आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक) उपद्रव भी परीक्षार्थ ही कराए।

विशेष स्पष्ट करने के लिए कहते हैं, कि स्नेह की परीक्षा से, उनको उत्तीर्ण (पास) कर, पश्चात् मध्यम श्रेणी का आसक्ति रूप निरोध सिद्ध करना था, इसलिए भगवान् ने इतना महान् परिश्रम किया है।

यह तो कथा है इसमें निरोध कैसे सिद्ध होगा, इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि यह केवल कथा नहीं है, प्रथम श्लोक में, शुकदेवजी ने संक्षेप में, इसलिए कहा है, कि भक्ति मार्ग का यह सिद्धान्त है, कि श्रोता प्रश्न करे, तब वक्ता उसके प्रश्न का विस्तार पूर्वक, समझा कर, उत्तर देवे। इस सिद्धान्त के अनुसार, श्री शुकदेवजी ने राजा के प्रश्न करने के अनन्तर, विस्तार से सब चरित्र वर्णन कर बताएँ हैं, जिससे राजा को, समग्र चरित्र करने का भाव, पूर्णतया समझ में आ गया। लीला से यह भी भगवान् ने दिखा दिया कि मुझे किसी भी कार्य करने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है।

कारिका व्याख्या सम्पूर्ण

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — **विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः ।**
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत् ॥ १ ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे, कि कृष्णा (श्री यमुनाजी) को, कृष्ण (कालीय) सर्प से दूषित हुआ देख कर, सर्व समर्थ श्री कृष्णचन्द्रजी ने उसकी शुद्धि करने का विचार कर, उस सर्प को वहाँ से निकाल दिया ॥ १ ॥

सुबोधिनी — तत्र प्रथमं संक्षेपेण कथामाह **विलोक्येति**. **कृष्णां** यमुनां कृष्णाहिना कालसर्पेण कालीयेन **दूषितां** विलोक्य समर्थो भगवांस्तस्या **विशुद्धिमग्रे** क्रीडार्थमन्विच्छंस्तं सर्पमुदवासयत् ततोऽन्यत्र प्रेषितवान् सारूप्यं प्राप्तो हि भगवता निर्दुष्टः कर्तव्यः **सारूप्यं प्राप्तेन** च दोषो नान्येन निवारणीयो रूपान्तरे च रूपान्तरदोषो न **निर्वाय इतिमर्यादा**, अतः कृष्णपदत्रयं, विभुरिति सामर्थ्यं, प्रकृतोपयोगिसारूप्यादेव न मारणं, हृषीकेशत्वाच्च नर्तनं, अत एव कलौ **कृष्ण एव सर्वदोषनिवारको** यदि सर्वेन्द्रियेषु नृत्यतीन्द्रियकृतमपराधं च सहते. अतो यमुना शुद्धा कर्तव्येति **तस्याः** प्रसिद्धायाः प्रसिद्धं सर्पं दूरीकृतवान् ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ — प्रथम श्लोक में, संक्षेप से, ही कथा कही गई है। श्लोक में, श्री यमुनाजी के लिए कृष्णा शब्द देकर उसका स्वरूप श्याम है, यह बताया है। कालीय को 'कृष्णाहि' कह कर यह सिद्ध किया है कि कालीय सर्प, भी काला है, इसी प्रकार भगवान् का नाम भी 'कृष्ण' दिया है जो काले हैं।

तीनों की सारूप्यता बताने का तात्पर्य यह है, कि मर्यादानुसार समान रूप वालों के दोष समान रूप वाले को ही मिटाने चाहिए। समान रूप वालों के दोष, अन्य रूप वाले को नहीं मिटाने चाहिए और इसी प्रकार अन्य रूप वाले में, यदि दूसरे रूप वाले के दोष आजावें तो वे नहीं मिटाने चाहिए। अतः यहाँ श्री कृष्णचन्द्र जो सर्व करण समर्थ भी हैं। उन्होंने कालीय को अपने समान रूप वाला देख, उसको निर्दोष बनाना योग्य समझा इस कारण से, कालीय को लीला द्वारा निर्दोष बनाया इसी प्रकार, भगवान् ने विचार किया, कि श्री यमुनाजी भी अपने सदृश श्याम हैं और इनमें जो दोष आए हैं वे भी काले रूप वाले होने से, समान बने सर्प से आए हैं इसीलिए इनके दोष भी निवृत्त करने चाहिए। यमुनाजी की इसलिए भी शुद्धि करनी चाहिए कि मुझे आगे इनमें रमण करना है सर्प को अपराधों के कारण मारना योग्य नहीं हैं, क्योंकि इसने मेरा काला रूप धारण किया है। भगवान् ने इन्द्रियों के ईश होने के कारण, कालीय के इन्द्रिय (मृत्यु रूप) शिर पर नृत्य किया, जिससे उसके दोष दूर हो गए एवं अपराध का दण्ड भी मिल गया इसके अनन्तर उसको यमुनाजी से दूसरे स्थान पर भेज कर यमुनाजी को भी शुद्ध बना दिया। इस लीला से यह बताया है कि कलियुग में श्रीकृष्ण ही सर्व प्रकार के दोषों को मिटाने वाले हैं, अथवा सर्व जीव मात्र के दोषों की निवृत्ति करने वाले हैं ॥ १ ॥

आभास — राजा विशेषं पृच्छति कथमिति,

आभासार्थ — इतना सुनकर परीक्षित राजा को इस चरित्र को विशेष सुनने की इच्छा हुई इसलिए नीचे के दो श्लोकों से पृच्छा है।

॥ राजोवाच ॥

श्लोकः — **कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णाद् भगवानहिम् ।**
स वै बहुयुगावासं यथाऽऽसीद् विप्र कथ्यताम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ — राजा परीक्षित ने कहा कि हे विप्र ! भगवान् ने गहरे जल के भीतर रहे हुए सर्प को किस प्रकार पकड़ कर रक्खा और यह भी बताइए कि वह (सर्प) बहुत लम्बे समय से यहाँ क्यों निवास कर रहा था ॥ २ ॥

सुबोधिनी — स हि जानाति बडिशेन यथा मत्स्यो बध्यते तथा कालीयो बद्ध इति, अतस्तस्य महतः कीदृशं बडिशमितिसाधनप्रकारप्रश्नः, यदि लोके तादृशमपि बन्धनं स्यात् तदा न प्रष्टव्यः स्यात् स तु नास्ति, यतः स **बहुयुगपर्यन्तमावासो** यत्र तादृशं यथा भवति **तथावात्सीत्**, यदि तादृशं भवेद् बन्धनं पूर्वमेव निवृत्तः स्यात् न चैतदसम्भावितं **यतो भगवान्** अतः प्रकारं कथयेतिप्रश्नः, विप्रेतिसम्बोधनं विशेषणज्ञानपूरणाय **विशेषेण** प्रकर्षेण वा **कथ्यता**मिति ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ — राजा परीक्षित ने यों समझा था, कि जैसे मत्स्यों[१] को पकड़ने वाले अंकुड़ी

१ — मछलियों ।

(लोहे की टेडी कँटिया) जिसको रस्सी से लकड़ी में बाँध कर और आटा लगा के पानी में डाल देते हैं जिससे मत्स्य आटे के लोभ से उसमें फँस जाते हैं इसी प्रकार, किसी साधन से कालीय का निग्रह किया होगा, किन्तु यह कालीय बड़ी देह वाला और अथाह जल के भीतर रहने वाला, उसका निग्रह भगवान् ने जिस साधन से किया, उस साधन को जानने की इच्छा से, यह प्रश्न किया, कि कैसे (किस साधन से,) उसका निर्ग्रह किया ? यदि परीक्षित को यह पता होता, कि वैसे बड़े को पकड़ने का लोक में, यह साधन है, तो राजा प्रश्न ही नहीं करता, किन्तु वैसा बड़ा, कभी लोक में, न पकड़ा गया देखा और न सुना है, जिससे उसके साधन का ज्ञान हो। यह सर्प तो यहाँ युगों से निवास करता है यदि वैसे के बन्धन का साधन होता, तो इससे पूर्व ही इसको पकड़ के निकाल देते क्योंकि इसके विष के प्रभाव से, इतने प्राणी मरते थे। इससे निश्चय है, कि लोक में ऐसा कोई साधन नहीं है, इसी कारण से ही, राजा ने इस प्रकार प्रश्न किया है। यदि ऐसा साधन लोक में नहीं है और इसी कारण से ही, यह यहाँ इतना समय रह सका था तो, असम्भवित साधन का प्रश्न करना ही व्यर्थ है। इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि इसको निग्रह करने वाला सर्व समर्थ भगवान् है। अतः, उनके पास साधनों की कमी नहीं है। उन्होंने अवश्य कोई साधन काम में लाए होंगे, इसलिए मैं उस साधन को, जानने की इच्छा वाला हूँ। अतः प्रश्न किया है। आप साधारण ज्ञाता नहीं हो किन्तु 'विप्र' हो, अर्थात् आप में वह ज्ञान है, जिससे प्रश्न कर्ता की शङ्काओं को विशेष प्रकार से निवृत कर उसके मन का सन्तोष कर सकने में समर्थ हो। इसलिए कृपया मेरे प्रश्न का उत्तर अवश्य विस्तार पूर्वक कहिए ॥ २ ॥

आभास — जलचरसाधारणबन्धवदिदमपि भविष्यत्यतो न वक्ष्यतीत्याशङ्क्य साधारण्येन भगवत्कथां श्रोतव्यत्वेन स्तौति, ब्रह्मन्निति सम्बोधनं ज्ञानायानुद्वेगाय च,

आभासार्थ — परीक्षित के मन में संशय उत्पन्न हुआ, कि मैंने केवल, साधन का प्रश्न किया, यदि वह साधन, जल जन्तुओं के बन्धन के समान होगा तो, शुकदेवजी उसका उत्तर नहीं देंगे। इसलिए निम्न श्लोक में अन्य प्रकार से प्रश्न करते हैं कि मनुष्य मात्र को, साधारण रीति से, भगवान् के चरित्र श्रवण करने ही चाहिए, कारण कि, वे उत्तम और अमृत रूप आनन्द देने वाले हैं इस प्रकार स्तुति करते हुए कहते हैं कि,

श्लोकः — **ब्रह्मन् भगवतस्तस्य भूम्नः स्वच्छन्दवर्तिनः ।**
गोपालोदारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ — हे ब्रह्मन् ! स्वच्छन्द विहार करने वाले, उन भूमा भगवान् के, उदार चरित रूप अमृत का सेवन करने वाला कौन है जो उससे तृप्त हो जाए (पशु धन के सिवाय कोई नहीं है) ॥ ३ ॥

सुबोधिनी — ब्रह्मन्निति सम्बोधनं ज्ञानायानुद्वेगाय च **भगवत** इति सर्वैव लीला षड्गुणयुक्ता भविष्यतीत्यप्रयोजकत्वं निवारितं, **भूम्न** इति सर्वत्र लीलाधिक्यं, **स्वच्छन्दवर्तिन** इति लीलायां न कस्याप्यनुरोधः, तत्रापि

गोपालस्य लौकिकानां बुद्धिपरिग्रहार्थं यतमानस्य, **उदारं** सर्वपुरुषार्थान् पात्रापात्रविवेकं परित्यज्य प्रयच्छतीति पुरुषार्थानामपेक्षितत्वात् सर्वथैतदेव वक्तव्यं श्रोतव्यं च, तदपि **चरितं** न तु कल्पितं, तत्रापि सर्वदोषनिवारकं मृत्युनिवारकं च, तदाहामृतमिति, किञ्च, **अमृतं जुषन्** किं कश्चित् तृप्येतेतिलौकिकोक्तिः ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ – राजा ने प्रश्न करते हुए श्री शुकदेवजी को (ब्रह्मन्) यह सम्बोध (विशेषण) इसीलिए दिया है, कि एक तो आप भगवान् के सकल चरित्रों को जानने वाले हो और दूसरा गुण आपमें यह है कि आप को प्रश्नकर्ता के प्रश्न करने से मन में क्षोभ नहीं होता है किन्तु प्रसन्नता होती है। श्रोता के प्रश्नों का उत्तर प्रसन्नता पूर्वक विस्तार से देते हो जिससे श्रोता की शंकाओं का पूर्ण समाधान हो जाता है एवं उसका चित प्रसन्न होता है।

भगवान् की लीलाओं का प्रश्न बिना प्रयोजन वाला नहीं है कारण कि, भगवान् की सर्व लीलाएँ ऐश्वर्यादि षड्गुण युक्त हैं। तथा वह लीलाकर्ता (भूमा) होने से, स्वच्छन्दवर्ती हैं, अतः विशेष लीलाएँ करते हैं उनकी लीला करने में, कोई भी रुकावट नहीं कर सकता है तथा उसमें (लीला करने में) किसी की भी परवाह भी नहीं करते हैं। आप 'गोपाल' हैं इसका भाव बताते हैं कि गोपाल होने से, आप सदैव लौकिक मनुष्यों की बुद्धि को, अपने में, लीलाओं द्वारा, आसक्त कराने के लिए प्रयत्न करते हैं। 'गोपाल' शब्द का अर्थ है, इन्द्रियों की रक्षा करना, वह तब हो सकती है, जब इन्द्रियाँ विषय की ओर न जाकर आपमें (भगवान् में) ही लगी रहे। यदि इन्द्रियाँ विषय की तरफ गई तो इन्द्रियों का नाश हुआ। अतः भगवान् उनकी अर्थात् इन्द्रियों की लीलाओं द्वारा अपने में आसक्ति कराके विषयों से हटाते हुए उनकी रक्षा करते हैं। आप 'उदार' हैं, इसलिए पुरुषार्थों का दान करते समय पात्र व अपात्र का विचार भी नहीं करते हैं, इससे जाना जाता है, कि सबको पुरुषार्थों की अपेक्षा है। जिससे 'सर्वथा[1] भगवान् के चरित्र कहने तथा सुनने चाहिए। वे चरित्र भगवान् के किए हुए हैं कल्पित नहीं हैं। उनके (भगवान् के) वे चरित्र अमृत रूप हैं अतः उनसे केवल सर्व दोषों की निवृत्ति होती है यों नहीं है किन्तु मृत्यु (जन्म मरण का चक्कर) भी मिट जाता है। कोई भी मनुष्य लोक में ऐसा नहीं है, जो अमृत के पान से तृप्त हो जाए ॥ ३ ॥

आभास – भगवतोऽतिसामर्थ्यं ख्यापयितुं हृदस्वरूपमाह द्वयेन कालिन्द्यामिति,

आभासार्थ – अब निम्न दो श्लोकों से श्री शुकदेवजी भगवान् के विशेष सामर्थ्य के ज्ञान की प्रसिद्धि के लिए उस हृद[2] का स्वरूप बताते हैं जिसमें कालीय निवास करता था।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः – **कालिन्द्यां कालियस्यासीद्ध्रदः कश्चिद् विषाग्निना ।**
श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥ ४ ॥

---

१ हर तरह से। २-कुण्ड।

श्लोकार्थ – कालिन्दी (श्री यमुनाजी) में एक कालीय सर्प ह्रद (कुण्ड) था जिसमें उसके (कालीय सर्प के) विष की अग्नि से जल उबलता रहता था, आकाश मार्ग से जाते हुए पक्षी उसमें गिर पड़ते थे ॥ ४ ॥

सुबोधिनी – कालियः कालीय इत्युभयं, कालीयस्य सम्बन्धी कश्चिद्ध्रद **आसीत्,** सम्बन्धोऽग्रे वक्तव्यः, विषाग्निना तस्यैव **श्रप्यमाणमावर्त्यमानं** विषेण व्याप्यमानं वा पयो **यस्मिन्,** यस्मिन् ह्रद आकाशमार्गेणापि गच्छन्तोऽपि **खगा** मध्ये **पतन्तीत्युपरि** दोषमर्यादा निरूपिता ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ – इस काले सर्प को 'कालिय' तथा 'कालीय' भी कहते थे। कालीय के सम्बन्ध वाला (अर्थात् जिसमें कालीय निवास करता था) एक ह्रद कालिन्दी (श्रीयमुनाजी में) था। सम्बन्ध आगे कहेंगे। जिस ह्रद में उसके विष की अग्नि से जल उबलता रहता था और वह विष सर्वत्र जल में फैला हुआ था उस विष का दोष आकाश मार्ग तक फैल गया था जिससे आकाश मार्ग से उड़ कर जाने वाले पक्षी भी उस विष के दोष से मूर्च्छित होकर ह्रद में गिर पड़ते थे ॥ ४ ॥

आभास – परितो दोषमाह विप्लुष्मतेति,

अभासार्थ – विष का दोष चारों तरफ फैल गया था उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

श्लोकः – विप्लुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः ।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ – जहरीले जल की तरंगों से उत्पन्न बिन्दुओं वाले वायु के लगते ही जिसके (ह्रद के) तीर पर जाते हुए चर तथा अचर सब प्राणी मर जाते हैं ॥ ५ ॥

सुबोधिनी – बिन्दुसहितेन **विषोदसम्बन्धिनामूर्मीणां** चलनेन जातेन वायुना**भिमर्शिताः** स्पृष्टा एवोभयकूले विद्यमानास्**तीरगा** भूमिष्ठा अपि **प्राणिनः** स्थावरा वृक्षा **जङ्गमा** मण्डूकादयोऽपि प्रमादादप्यागता **म्रियन्ते** लतावृक्षशाखाश्च वर्धमानास्तत्रायान्तीति तथोक्तम् ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ – चारों तरफ फैले हुए विष के परिणाम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि, विष से पूर्ण सम्बन्ध वाले कालिन्दी के जल के तरंगों की बून्दों से मिश्रित वायु के स्पर्शमात्र से दोनों किनारों पर स्थित स्थावर एवं जंगम प्राणी अथवा वहाँ आए हुए भी आते ही मर जाते हैं। प्राणी दो तरह के होते हैं १-जंगम, २-स्थावर। जगंम तो इधर उधर चलकर आते जाते हैं अतः मेंढक आदि आते ही मर जाते हैं, स्थावर कैसे आएँगे इसको समझाते आचार्य श्री कहते हैं कि वृक्ष की शाखाएँ ज्यों बढती थी त्यों इस तरफ आ जाती थी एवं उनके साथ लताएँ भी बढ़कर वहाँ जाती थी तथा वहाँ आते ही नष्ट हो जाती थी इस प्रकार स्थावर भी आकर नष्ट हो जाते थे ॥ ५ ॥

आभास — एतादृशो दोषः परिहरणीय इति भगवानुद्यमं कृतवानित्याह तमिति,

आभासार्थ — इस प्रकार फैले हुए जीव हिंसक दोषों को मिटाना चाहिए इस विचार से भगवान् उद्यम करने लगे।

श्लोकः —तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्गमास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद्विषोदे ॥६॥

श्लोकार्थ — उग्र वेग वाला विष ही जिसका पराक्रम है, वैसे उस सर्प को, तथा उसके पराक्रम से दूषित कालिन्दी को देखकर, खलों का दमन करने के लिए अवतार धारण करने वाले श्री कृष्णचन्द्र ने बहुत ऊँचे कदम पर चढ़ कर, अपनी कमर का फेंटा कस के और ताल ठोक कर उस विषैले जलवाले ह्रद में, जिसमें कालिय का घर था कूद पड़े ॥ ६ ॥

सुबोधिनी — आदौ भगवान् स्वयं तत्र गत इत्याह तं कालीयं प्रसिद्धमल्पेन न निराकार्यं चण्डवेगं कालवदतिवेगवत्तरं अत एव भगवतैव शक्यप्रतीकार इत्यवेक्ष्य कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्गात् बाहुस्फोटनं कृत्वा मल्लभावाविष्करणेन विषोदे न्यपतदितिसम्बन्धः, प्रथमत एव **चण्डवेगं** तत्रापि विषं वीर्यं यस्येत्युपासिता देवता तस्य प्रत्यक्षेति सूचितं, अत एव भगवदतिक्रमोऽपि, "विषमिति सर्पा" इतिश्रुतेः "श्रुतद्धैनान् भूत्वावतीति च" अत एव विषस्य चण्डवेगता गुण उक्तः, विषस्यापि पराक्रमः, **तेन** दुष्टामिति विशेषणांशे भरः, अत एवाधिदैविकेन दुष्टा देवाधिदेवं विना नान्येन समीचीना कर्तुं शक्या, **चकारात्** तं चापि दुष्टं समीचीनं कर्तुं, **खलसंयमनावतार** इत्य-वतारप्रयोजनमपि तत्, **खलाः** परोपद्रवकारिणस्तेषां **संयमो** नियमनं, **जीवने दोषनिवृत्तौ दोषमेव दूरीकरोति न मारयतीत्यन्यदा मारयतीतिनियमः, नियमनार्थमेवावतारः, कृष्ण** इति सदानन्दो दोषनिवृत्त्यर्थं, तज्जातीयश्च कदम्बो वृक्षः, स हि **तुङ्ग** उच्चे वर्तते, स हि कदम्बो भगवत्कृत एव गरुडस्थानभूतः, तत्रागत्य गरुडः कालीयनिर्गमनं मारणार्थं प्रतीक्षते, गरुडकृपयैव न शुष्यति, **विप्लुष्मतेतिविशेषणात्** सजलवायुस्पर्श एव मरणस्योक्तत्वादूर्मिजनितस्यैव वायोस्तथात्वादुच्चैः स्थितोयं **महान् वृक्षो न म्रियत** इति**सिद्धान्तः**, प्रथमतस्तस्यारोहणं कृत्वा ततो वृक्षादतितुङ्गादत्युच्चे रोधसि प्ररूढादत्युच्चाधिदैविकेन सह समानेन युद्धं कर्तुमास्फोटनं कृत्वा मध्ये कालेन भूमौ मर्यादाभङ्गो मा भवत्विति **गाढा रशना** यस्य तादृशो भूत्वा नितरामास्फालनं कृतवान्, स्थानस्य क्रूरतानिर्देशो भगवन्माहात्म्यज्ञापनाय ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ — काल के समान अतिशय वेगवाले कालीय के दोषों का निराकरण[1] भगवान् के बिना अन्य कोई करने में समर्थ नहीं है। इसलिए आप स्वयं वहाँ जाकर बहुत ऊँचे कदम्ब पर चढ़कर, बाहुओं पर ताल ठोक, मल्लयुद्ध करने के समय के भाव प्रकट करते हुए उस विष युक्त जल में कूद पड़े। श्लोक में सर्प के लिए दो विशेषण दिए हैं १-चण्डवेग २-विषवीर्य। प्रथम

१-हटा देना।

विशेषण से सर्प का गुण बताया गया है, और दूसरे विशेषण से यह सूचित किया है कि कालिय को उसके इष्ट देवता उपासित होने से प्रत्यक्ष हो गया था जिससे उसका पराक्रम, उस विष में ही समाया हुआ था, इसी से सर्प भगवान् का भी अतिक्रमण करने लगा है। 'विषं इति सर्पाः'-श्रुति इस श्रुति में सर्पों का स्वरूप ही विष है यह कहा है विष को किसी से भी लड़ने वा कोई हानि करने में हिचक नहीं होती है अतः सर्प भगवान् से भी लड़ने के लिए तैयार हो गया। विष सर्प रूप होकर इनकी (सर्पों की) रक्षा करता है अतः निर्भय हो भगवान् का अतिक्रमण करने लगा। इससे यह बताया कि विष में प्रचण्ड[१] वेग का गुण है। विष के पराक्रम से (कालीय से) ही यमुनाजी का जल दूषित हो गया है कालिन्दी स्वतः स्वयं दोष वाली नहीं है किन्तु कालीय के (विष के) सम्बन्ध से उसमें दोष आया है। यह दोष विषके आधिदैविक देवता का है अतः उसका नाश भी आधिदैविक श्रीकृष्ण ही करने में समर्थ हैं। अन्य कोई समर्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण के प्राकट्य का प्रयोजन खलों को नियम में लाना है, इस कारण से भी, कालीय को बन्धन में लाने के लिए श्रीकृष्णचन्द्र की आवश्यकता है, किन्तु उसे मारे बिना उसके दोष नाश कर उसको नियम में चलने की शिक्षा देना यही सदानन्द श्रीकृष्ण में विशेषता है। अतः उसको सूनियम्य ही किया। कदम्ब भी वैसा ही (आनन्दमय) है, वह ऊँचा था तथा ऊँचे स्थान पर था। और उसको गरुड़ के रहने के लिए भगवान् ने उत्पन्न (प्रकट) किया था। उस पर बैठ कर गरुड़ सर्प की राह देखता था कि बाहिर निकले तो कालीय को अपना कवल[२] बना दूं। अन्य पेड़ तो विष के प्रभाव से सूख गये किन्तु यह गरुड़ की कृपा के कारण ज्यों का त्यों स्निग्ध खड़ा था। उसको विष बिन्दुओं से युक्त वायु, ऊपर होने से भी शुष्क न कर सका।

भगवान् कुण्ड के पास आकर, सम्पूर्ण परिस्थिति को देख, प्रथम उस ऊँचे कदम पर चढ़ गए। भगवान् ने विचारा कि मुझे आधिदैविक से लड़ाई करनी है, अतः पूर्ण रीति से तैयार होकर चलना चाहिए। बीच में मर्यादा भंग न हो, इसलिए कमर की फेंट को कस कर बान्ध लिया तथा समान के साथ लड़ना है यह दिखाने के लिए पहलवानों के समान भुजाओं पर ताल ठोंकते हुए जोर से कूदे। इस स्थान की क्रूरता से भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान प्रकट किया है॥ ६ ॥

आभास — ततो यज् जातं तदाह सर्पहृद इति,

आभासार्थ — भगवान् के कूदने से क्या हुआ ? उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — **सर्पहृदः पुरुसारनिपातवेगसङ्क्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।**
पर्युत्प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मिर्धावन् धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत् ॥ ७ ॥

१-जबरदस्त। २-ग्रास।

श्लोकार्थ — कालीदह का जल सांप के विष के कारण पहले ही से खौल रहा था। उसकी लहरें लाल पीली कषाय रंग की और अत्यन्त भयङ्कर उठ रही थी। पुरुष श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण के कूद पड़ने से उसका जल और भी उछलने लगा और जल इधर उधर उछल कर सौ सौ धनुष तक फैल गया। भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त बलशाली हैं सो ऐसा होने में कोई आश्चर्य नहीं है।

सुबोधिनी — **पुरुपसारस्य** पुरुषोत्तमस्य **निपातवेगेन सम्यक क्षोभितो** योऽयमुरगस्तस्य यद् **विषोच्छ्वसितं** विषोच्छ्वासस्तेनोच्छ्वसिताम्बुराशिर्यस्य, **उच्छ्वसितपदमावृत्त्या** योजनीयं, एतादृशो ह्रदः **परितः प्लुत उत् प्लुतः**, वर्षायामिवोच्छूनो जात उत्प्लुत्य गच्छन्निव जातो वा, भगवन्निपातेन जातक्षोभादितोऽन्यत्र गमिष्यामीति, **विषेण कषाया विशेषेण भीषणा ऊर्मयो** यस्य तादृशश्च सः, एतादृशो धावन् जातः, अधावदिति वा, अडभावश्छान्दसः, **धनुःशतं** हस्तानां, चतुःशतं, **अनन्तबलं** यस्य तादृशस्य नैतदाश्चर्यं, अनन्ते काले वा बलं यस्मात्, यस्तु जगदेवोत्प्लुतं करोति, **विषकषायविभीषणोर्मि**त्यकथनात् सर्वभारकत्वं तस्योक्तं उपासितभगवच्चरित्रमेतत् ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ — पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र के कुण्ड में ऊँचे स्थान से तथा जोर से कूदने से और सर्प के विषेले स्वांस लेने से घबराए हुए कुण्ड का जल भी उछलने लगा। जिस प्रकार वर्षा का जल वेग से नीचे ऊँचे स्थानों से दौड़ता हुआ जाता है वैसे ही हृद (कुण्ड) का जल वेग से दौड़ने लगा ऐसा प्रतीत होता था कि भगवान् के कूदने से कुण्ड घबरा कर अन्य स्थान में जा रहा है। विष से जल कषाय हो गया था और विशेष जल के कारण भयानक तरंगों वाला बन कर दौड़ता† जाता था। उस कुण्ड का जल ४०० हाथ आगे दौड़ कर गया, यों होना आश्चर्य कारक नहीं है, कारण कि भगवान् अनन्त बल वाले होने से समस्त जगत् को दौड़ाते हैं वहाँ हृद को दौड़ाने में कौनसा आश्चर्य है, हृद के विष से कषाय एवं भयानक तरंगें सब का नाश करने वाली हैं क्योंकि कालीय सर्प काल रूप है। यह उपासित (उपासना किए हुए) देवता का चरित्र है ॥ ७ ॥

आभास — भगत्समीपमागत इत्याह तस्येति,

आभासार्थ — कालीय भगवान् के पास आया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — **तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्णवार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य ।**
आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य चक्षुःश्रवाः समसरत् तदमृष्यमाणः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ — हे अंग ! श्रेष्ठ हस्ती के समान पराक्रम वाले तथा हृद में विहार करने वाले उन भगवान् के भुजदण्डों से हिलाए हुए जल के शब्द को सुनकर, उस ध्वनि से

---

†मूल श्लोक में 'धावत्' पद है आचार्य श्री कहते हैं यहाँ 'अ' नहीं लिखा है उसका कारण रूप (वैदिक) है नहीं तो अधावत् चाहिए।

अपने घर का अपमान समझ अथवा घर पर आक्रमण हुआ देख, उसको सहन न कर सकने के कारण सर्प भगवान् के पास आ गया ॥ ८ ॥

सुबोधिनी – **ह्रदे विहरतो** भगवतः समसर्द् समीपं गतः, भुजदण्डयोः प्रहारेण घूर्णायमानं यद् वार्जलं तस्य **घोषमाश्रुत्य** तदमृष्यमाणः समागत इति सम्बध्यते, आदौ निपाते किं जातमित्याश्चर्याविष्टस्ततः कश्चिद् विहरतीति श्रुतवान्, ततोऽपि तस्य बाहुप्रहारेण जले शब्दः श्रुतः, शब्दे हेतुर्वरवारणविक्रमस्येति, वर उत्कृष्टो यो **वारणो** गजस्तद्वद् **विक्रमो** यस्येति, तस्य हि स्वभावो जले विहरणं, सर्वोपमत्वाद् भगवतोऽपि तथा, न श्रवणमात्रेण तस्यागमनं किन्तु **तेन** भगवता **स्वसदनस्याभिभवं** श्रुत्वा, तेन शब्देन वा, **चक्षुःश्रवा** इति श्रवणदर्शने एकत्रैव, अतः श्रुतमपि दृष्टमिव मन्यते, समागत इति, स्वप्रौढिसहितः, **तत्स्वसदनाभिभवममृष्यमाण** इत्यागमने हेतुः ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ – भुजारूप दण्डों के प्रहार से इधर-उधर (चारों ओर) चक्कर खाते हुए जल की गम्भीर गर्जना को सुनकर, उसको न सहता हुआ, ह्रद में खेलते हुए भगवान् के पास कालीय आया। आने के कारण और आने से पहिले की स्थिति (दशा) बताते हुए कहते हैं कि, प्रथम तो भगवान् के कूदने से आश्चर्य में पड़ गया अनन्तर, कोई जल में विहार (क्रीड़ा) कर रहा है ऐसे शब्द सुने, और विशेष पुनः शब्द सुना कि कोई जल में भुजाओं से प्रहार कर रहा है। जल में भुजाओं के प्रहार का शब्द इसलिए सुना कि भगवान् का यह विहार भी श्रेष्ठ गज के समान था। कारण कि भगवान् श्रेष्ठ हाथियों के समान पराक्रम से जल में विहार करने वाले हैं। भगवान् सर्वरूप तथा सर्वगुण सम्पन्न है अतः उनको सबकी उपमा दी जा सकती है केवल शब्द सुनने से सांप भगवान् के पास नहीं आया किन्तु अपने घर पर आक्रमण हुआ सुन अथवा देखकर, उसको सहन न कर सकने के कारण आया था। सांप सुनने का और देखने का दोनों काम आँखों से लेता है, अतः जो सुना वह देखा भी। अकेला नहीं आया, किन्तु अपने परिकरों को भी साथ लेकर आया ॥ ८ ॥

आभास – ततोऽपराधं कृतवानित्याह तमिति,

आभासार्थ – आकर जो अपराध किए उनका वर्णन करते हैं-

श्लोकः – **तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम् ।**
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ – दर्शन करने के योग्य, सुन्दर कुमार, मेघ के समान श्याम, श्रीवत्स का चिन्ह धारण किए हुए तथा पिताम्बर ओढ़े मन्द मुसक्यान सहित सुन्दर मुख वाले एवं कमल के मध्य भाग के समान कोमल चरण वाले भगवान् को निर्भय क्रीड़ा करते हुए देख कालीय ने मर्म स्थानों में डसते हुए क्रोध पूर्वक अपने शरीर से भगवान् को लपेट लिया ॥ ९ ॥

सुबोधिनी – अयुक्तं कृतवानिति वक्तुं भगवन्तं वर्णयति **प्रेक्षणीयमिति**, **प्रेक्षणीय**श्चासौ **सुकुमार**श्चासौ **घनावदात**श्च सात्त्विकादित्रिविधानामप्यादरणीयः, अनेन लोकविरुद्धं तेन कृतमित्युक्तं भवति, परमार्थतोऽपि विरुद्धं कृतवानित्याह **श्रीवत्सेन** सहितं **पीतवसनं** यस्य, प्रमेयविरोधः प्रमाणविरोधश्चोक्तं स्मितयुक्तं सुन्दरमास्यं यस्येति **भक्तिमार्ग**विरोधश्च, **क्री**डन्तमिति रसशास्त्रविरोधश्च, **अप्रतिभयमिति** नीतिशास्त्रविरोधश्च, **कमलोदराङ्घ्रिमिति** सर्वोपास्यत्वेन जगद्विरोधश्च, तत्रापराधं कृत्वा स्वस्थानं नेष्यामीति विचार्य रोषेण भुजया स्वकायेन फणेन वा आच्छादितवान् वेष्टितवान् वा ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ – कालीय ने इस प्रकार जो भगवान् का अपराध किया वह अयोग्य कार्य किया यह बताने के लिए भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

सात्त्विक, राजस तथा तामस तीनों गुणों वाले भगवान् का आदर करते हैं, कारण कि वह (भगवान्) दर्शनीय† है, इसलिए सात्त्विक आदर करते हैं। सुकुमार हैं, इसलिए राजस आदर करते हैं। मेघ के समान श्याम हैं, इसलिए तामस आदर करते हैं जिससे सर्प ने ऐसे का अपराध कर लोक से विरुद्ध कार्य किया है। इसने केवल लोक से ही विरुद्ध नहीं किया है, किन्तु यह कार्य परमार्थ दृष्टि से भी विरुद्ध किया गया है। कैसे सो वह कहते हैं कि जैसे श्रीवत्स अक्षर रूप हैं, इसलिए वह ज्ञेय स्वरूप होने से प्रमेय हैं, उसको धारण करने वाले का अपराध करना प्रमेय से विरुद्ध कार्य है। भगवान् पीताम्बर धारण करते हैं, भगवान् का पीताम्बर वेदरूप है, वेद को धारण करने वाले का अपराध करना प्रमाण से विरुद्ध कार्य है। जिसका मन्द मुसक्यान वाला मुखारविन्द (प्रेम स्वरूप) है उसका अपराध भक्ति मार्ग से विरुद्ध कार्य है। भगवान् खेल रहे थे। खेलते समय रस की उत्पत्ति होती है उस रसिक का अपराध करना रस शास्त्र से विरुद्ध कार्य है। जो ऐसे विष युक्त जल में (जिस जल का इतना प्रकोप है कि आकाश मार्ग से जाने वाले पक्षी गिर कर मर जाते हैं आसपास वाले चर अचर नष्ट हो जाते हैं) निर्भय होकर खेल रहे हैं उसका अपराध करना नीति से भी विरुद्ध कार्य है। जिसके कमल जैसे कोमल चरणों को समग्र जगत् पूजता है इसका अपराध करना सकल जगत् के विरुद्ध कार्य है। सर्प ने मन में ऐसा विचार किया था कि इनको दंशित[१] कर भुजाओं से लपेट अपने स्थान पर ले जाऊँगा इसलिए इतना अपराध किया गया है॥ ९ ॥

†गो. श्री वल्लभजी लेख में कहते हैं कि-

१- ज्ञान प्राप्त करने योग्य स्वरूप होने से दर्शनीय है अर्थात् जिसके दर्शन से ज्ञान प्राप्त हो जाता है ज्ञान सतोगुण से प्राप्त होता है अतः सात्त्विक आदर करते हैं।

२- सुकुमार, सुन्दर कुमार स्वरूप होने से, उसके प्राप्त करने का लोभ होता है, लोभ रजोगुणी को होता है अतः रजोगुण वाले आदर करते हैं।

३- मेघ श्याम होने से आपकी वह श्यामता, कालों को (तामस गुण वालों को) अपनी कालास (तमोगुण) मिटाने के लिए उपयोगी है, अतः तामस गुण वाले आदर करते हैं।

१-डस

आभास – ततो यज् जातं तदाह तमिति,

आभासार्थ – यों अपराध करने से जो हुआ उसका वर्णन करते हैं-

श्लोकः – **तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः ।**
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥ १० ॥

श्लोकार्थ – उनको सर्प के शरीर से वेष्टित[1] और निश्चेष्ट[2] देख कर, उनके प्यारे मित्र गोप अति दुःखी हुए, और भय से चेतन हीन होकर गिर पड़े, क्योंकि उनकी आत्मा, मित्र, धन, स्त्री और भोग सब श्रीकृष्ण के ही अर्पण किए हुए थे ॥ १० ॥

सुबोधिनी – नागशरीरेण परिवीतं शेषशयनाभिनयनकर्तारमत एवा**दृष्टचेष्टमालोक्य** प्रलयो भविष्यतीत्याशङ्क्य तस्य भगवतः **प्रियाः** सखायश्च तादृशा **भृशमार्ता** जाताः, ते ह्यात्मनिवेदिनः, आत्मनिवेदिनां न पृथक् स्थातुमुचितं, अत एव व्याकुला जाताः, तदाह, **कृष्णे** भगवत्यर्पित **आत्मा** सङ्घातः **सुहृदो** मित्राण्यर्थो धनं **कलत्रं** स्त्री **कामाः** पुत्रादयः, सर्वं एवार्पिता यैः, अत एव **दुखं**, आत्मापि तत्र वर्तत इति **अनु** पश्चाच्छोकश्च, सुहृदोऽपि तत्र निवेदिता इत्युभाभ्यां **मूढा भयेन** च गुणत्रयकार्यैस्त्रिभिर्गप मूढा धीर्येषां ते, पूर्वं जीविता अपि मूर्छिताः सन्तो निपेतुः ॥१०॥

व्याख्यार्थ – गोपों ने भगवान् को सर्प के शरीर से लपेटा देख यों समझा कि अब भगवान् प्रलय करेंगे अतः शेषशय्या पर पोढ़ने की तैयारी कर रहे हैं इसलिए आपने सब चेष्टाएँ बन्द कर शान्त स्वरूप धारण कर लिया है, इस लीला के करने से गोप जो भगवान् के प्रिय सखा थे वे अत्यन्त दुःखी हुए, क्योंकि वे आत्म-निवेदित थे जिन्होंने आत्मनिवेदन किया है वे भगवान् से पृथक् रह नहीं सकते हैं । इस कारण से वे दुःखी हुए इन्होंने (गोपों ने) भगवान् कृष्ण में देह, मित्र, धन, स्त्री और पुत्र आदि सर्व अर्पण कर दिए थे अतः दुःखी हुए थे । सर्प के दंश से भगवान् को तो कुछ भी दुःख नहीं हुआ किन्तु गोपों की आत्मा जो वहाँ थी उसको दुःख हुआ, अतः गोप दुःखी हुए एवं मित्र आदि भी भगवान् में थे वे दुःखी हुए उनको दुःखी देख गोपों को शोक भी हुआ । इससे इनके होश उड़ गए, भयभीत होकर, तीन गुणों के कार्य से मूढ बने हुए पहिले जीवित किए हुए थे तो भी अभी मूर्छित होकर गिर गए ॥ १० ॥

आभास – गावोऽपि गोपालवज् जाता इत्याह गाव इति,

आभासार्थ – गौओं की भी गोपालों जैसी दशा हुई उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोकः – **गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः ।**
कृष्णे न्यस्तेक्षणप्राणाः क्रन्दन्त्य इव तस्थिरे ॥ ११ ॥

१-लिपटे हुए । २-चेष्टा रहित, बिना हरकत वाले ।

श्लोकार्थ — गौ बैल, छोटे बछड़े ये सब ही दुःखी हो रांभने लगे, श्रीकृष्ण में दृष्टि तथा प्राण लगाते हुए मानो रोते हैं इसी भाँति डर के साथ खड़े रहे ॥ ११ ॥

सुबोधिनी — स्त्रियः पुरुषा बालाश्च क्रन्दमानाः सुदुःखिता जाताः, तेषां चित्ते सात्त्विकत्वाभावान्न मूर्छिताः किन्तु **कृष्णे न्यस्तानीक्षणानि** प्राणाश्च यासां ताः सर्पादिभेदं न जानन्ति, पश्यन्ति च कृष्णं, किन्त्वगम्ये तिष्ठतीति **दुःखिताः क्रन्दन्त्य** इति ग्राम्यपशुसङ्घत्वात् स्त्रीप्रयोगः, 'ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री'' त्यनुशासनात्, यथा वा विवेकयुक्ताः स्त्रियो रुदन्ति तद्वदेव तस्थिरे, सर्वे एव देवा लोका भूतानि च कालादयोऽपि भगवान् शेषशायी प्रलयं करिष्यतीति ज्ञात्वा प्रलये यावन्त उत्पातास्तान् सर्वानेव कृतवन्तः ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ — स्त्री (गौ) पुरुष (बैल) बालक (छोटे बछड़े बछड़िया) रांभते हुए दुःखी हो गए। वे मूर्छित न हुए कारण कि उनमें सात्विक भाव नहीं था किन्तु कृष्ण में अपने नेत्र और प्राण लगा दिये थे वे सर्प आदि के भेद को नहीं जानते थे केवल कृष्ण की चेष्टा को देख रहे थे कृष्ण को वैसे स्थान में देख जहाँ स्वयं जा नहीं सकती थीं इससे दुःखी हो रही थीं, पुकार रही थीं, यहाँ स्त्री लिंग इसलिए दिया है कि ग्राम्य† पशुओं का संघ है। ये पशु इसी भाँति रोते हुए खड़े रहे जैसे विवेक वाली स्त्रियाँ खड़ी होकर रोती हैं। सब देवता, लोक, भूतमात्र तथा कालादिक भी शेषशायी भगवान् अब प्रलय करेंगे यों समझ कर सर्व प्रकार के उत्पात करने लगे ॥ ११ ॥

आभास — ततो गोकुलवासिनस्तान् दृष्ट्वा भीता जाता इति वक्तुं प्रकृतोपयोगित्वाच्च व्रज एवोत्पातान् वर्णयत्यथेति,

आभासार्थ — इन उत्पातों को देख कर गोकुलवासी डर गए व्रज का ही प्रकरण है अतः व्रज में हुए उत्पातों (उपद्रवों) का इस श्लोक में वर्णन करते हैं-

श्लोकः — **अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः ।**
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ — अनन्तर व्रज में तुरन्त ही अतिभयानक तीन प्रकार के बड़े-बड़े उत्पात निकट होने वाले भय की सूचना देते हुए पृथ्वी, आकाश तथा शरीर में होने लगे ॥ १२ ॥

सुबोधिनी — सर्वकालविलक्षणार्थमथेति, **महोत्पाताः** प्रलयकालीना दिवि भुव्यन्तरिक्षे चेति त्रिविधाः, हि युक्तश्चायमर्थः, प्रलये हि ते कर्तव्या अन्यथाधिकारिणो दण्ड्याः स्युः, किञ्च शीघ्रमेव प्रलयो **भविष्यतीत्या**-

---

†व्याकरण का नियम है कि ग्राम्य पशु संघ में स्त्री लिङ्ग देना चाहिए।

सन्नभयशंसिनः, सूचका अपि स्वरूपतोऽपि भयानका इत्याहातिदारुणा इति, **दिव्युत्पेतुरुत्पन्नाः**, **भुव्यात्मनि** शरीरे चोत्पन्नाः, एकदोत्पन्नत्वादतिशीघ्रानिष्टपर्यवसायित्वम् ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ – यह काल साधारण काल नहीं था किन्तु सर्वकालों से विलक्षण था, यह बताने के लिए श्लोक में 'अथ' शब्द दिया है प्रलय काल में होने वाले उत्पातों जैसे तीन प्रकार के[*] उत्पात स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष[1] में होने लगे। श्लोक में आए हुए 'हि' शब्द का भाव बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि प्रलय के समान दृश्य देख कर भी यदि अधिकारी देव वैसे (प्रलय जैसे) उत्पात (उपद्रव) न करें तो दण्ड के भागी हो जाए अतः उन्होंने ये उपद्रव किए। वे उत्पात स्वरूप से भी अति दारुण[2] थे एवं अभी जल्दी प्रलय होने वाली है वैसी सूचना देते थे कारण कि एक ही काल में साथ में सर्वत्र उत्पात होने लगे थे ॥ १२ ॥

आभास – ते च व्रजस्थास्तानालक्ष्यैत

आभासार्थ – गोप उपद्रव देखकर घबरा गए उसका वर्णन करते हैं–

श्लोकः –**तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः ।**
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम् ॥ १३ ॥
तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः ।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः ॥ १४ ॥
आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः
निर्जग्मुर्गोकुलाद् दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ – हे प्रिय ! उनको (उत्पातों को) देख कर, नन्द आदि गोप भय से विह्वल[3] हो गए उस समय श्रीकृष्ण भी अकेले (राम के बिना) गौओं को चराने चले गए थे ये गोप, श्रीकृष्ण के प्रभाव से अनजान थे इसीलिए इन बुरे निमित्त देखकर श्रीकृष्ण का अनिष्ट हुआ मान बैठे, जिससे श्रीकृष्ण में ही प्राण और मनवाले वे सब गोप छोटे बड़े दुःख शोक तथा भय से व्याकुल हो गए। पशु के समान वृत्ति वाले वे सर्व गोप दीन[4] होकर श्रीकृष्ण के दर्शन को इच्छा से गोकुल से बाहर निकल गए ॥ १३-१४-१५ ॥

---

* **लेखकार** कहते हैं कि, आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीन प्रकार के उत्पात हुए।

१-जहाँ सूर्य आदि नक्षत्र घूमते हैं पृथ्वी और स्वर्ग का मध्य भाग। २-डरावने।
३-घबरा गए। ४-उदास, नम्र।

सुबोधिनी – उत्पाता भवन्तीति ज्ञात्वा **भयेनोद्विग्ना** जाता यतो **गोपाः**, **नन्दः** कर्मसिद्धान्तयुक्तः **पुरोगमो** मुख्यो येषां, कृतनिरोधा वा विवेकिनः, कृष्णे विद्यमानेऽस्माकं प्रलयोऽपि न भविष्यतीति निश्चित्य प्राकृतबुद्ध्या कल्पयन्ति स्म, **विना रामेणेति**, **रामो** हि बलिष्ठो लोकप्रतीत्या धेनुकोऽपि तेनैव मारित इति **रामेण विना** भगवानेव **गाश्चारयितुं** गतस्तन्मध्य उत्पाताश्च जायन्ते ॥ १३ ॥ अतो **दुर्निमित्तान्यत्यनिष्टं सूचयन्तीति** विपरीतं ज्ञात्वा **निर्जग्मुरित्युत्तरेण सम्बन्धः**, विपरीतज्ञाने हेतुस्**तद्विद** इति, तस्य भगवतो माहात्म्यं न विदन्तीत्युचितमेव तेषां, लौकिका हि ते, **लौकिकानां प्रियोऽनिष्टं भावयत्यप्रिय इष्टमितिस्थितिः, भवननिषेध-विषयत्वेन सर्वदानिष्टमेव भावयति प्रियः स्नेहस्य तथाभावकस्वभावत्वात्**, **अन्यस्य विपरीतं, किञ्च** ते आत्मानमेवानिष्टविषयं भावितवन्त इत्याह तत्प्राणा इति, तस्मिन्नेव प्राणा येषां, तस्मिन्नेव मनो येषां, अत एव **दुःखं** शोकं भयं च त्रिभिरातुराः ॥ १४ ॥ गोकुलं शून्यं विधाय **सर्व** एव निर्गता इत्याहा**बालवृद्धवनिता** इति, **अङ्गेति**सम्बोधनं सर्वत्र स्नेहसूचकं, पशूनामिव **वृत्तिर्येषामिति** न देहवस्त्रादिदृष्टिः, **गोकुलादेव** निर्गताः, तेषां कामनामाह **कृष्णदर्शने लालसाः**, दर्शनार्थमतिव्याकुलाः ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ – व्रजवासियों ने उत्पातों के प्रथम चिन्ह देखे पीछे जान लिया कि उपद्रव हो रहे हैं जिससे डर गए तथा घबराहट में आ गए क्योंकि गोप थे। ये गोप कर्म के सिद्धान्त को मानने वाले थे, अर्थात् दुःख सुख कर्म से ही प्राप्त होता है उन्होंने जो मुख्य गोप नन्दजी थे वे भी कर्मवादी थे अतः ये उत्पात कर्म के ही फल हैं।

कर्म को मानने वालों के अतिरिक्त अन्य गोप जिनका भगवान् ने निरोध किया था, वे विवेक वाले थे, जिससे उनको यह दृढ़ विश्वास था कि श्रीकृष्ण की उपस्थिति में हमारा प्रलय नहीं होगा। पश्चात् प्राकृत बुद्धि (लौकिक बुद्धि) से विचारने लगे कि श्रीकृष्ण अकेले गए हैं राम बलवान् हैं धेनुक† को भी राम ने ही मारा था वे तो यहाँ हैं। इसी बीच में उपद्रव हो गए हैं अब क्या होगा? शकुन भी अच्छे नहीं दिखते हैं, इससे समझ में आता है कि श्रीकृष्ण का अनिष्ट हुआ है। यों विचारते हुए गोकुल से बाहिर निकले। ऐसा बुरा विचार इनको इसलिए आया कि ये श्रीकृष्ण के प्रभाव को नहीं जानते थे। अतः इनको ऐसा विचार होना उचित हीं है कारण कि ये लौकिक (लोक बुद्धि वाले) हैं। उन में (लौकिकों में) सदा ऐसे विचार होते हैं कि जब भी कुछ उपद्रव आदि सुनते हैं तो अपने प्रिय का अनिष्ट ही उनके मन में आ जाता है। यह स्नेह का स्वभाव है। शत्रु के लिए तो ऐसे विचार नहीं आते हैं। गोपों को अपना भी अनिष्ट होगा ऐसे भी विचार आने लगे क्योंकि उनके प्राण तथा मन आदि सब श्रीकृष्ण में अर्पित (दिए गए) थे जिससे श्रीकृष्ण के साथ अपना भी अनिष्ट अवश्य होगा ऐसा विचार उनको होने लगा। अतः वे सब दुःख, शोक तथा भय से व्याकुल हो गए उसी अवस्था में छोटे बड़े स्त्री तथा पुरुष सब गोकुल को शून्य (बिना प्राण वाला) करके वहाँ से निकल गए। हे अंग! यह सम्बोधन स्नेह की सूचना देने वाला है। उन गोपों की वृत्ति (दशा) पशुओं जैसी हो गई थी अर्थात् देह वस्त्र आदि का भी ज्ञान नहीं रहा था गोपों ने इस प्रकार गोकुल को खाली कर दिया उसका कारण श्रीकृष्ण के दर्शन की उत्कट कामना थी, वे दर्शन के लिए व्याकुल हो रहे थे ॥ १३-१४-१५ ॥

† लोक की वैसी प्रतीति थी कि धेनुक को राम ने मारा है वास्तविक तो श्रीकृष्ण ने ही राम में प्रविष्ट हो उसको मारा था।

आभास – तेषां श्रीभगवत्समीपगमने भ्रमाभावाय हेतुमाह तेऽन्वेषमाणा इति

आभासार्थ – वे गोप गोकुल से निकल कर सीधे भगवान् के समीप पहुँच गए जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – **तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः ।**
भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम् ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ – वे प्यारे कृष्ण को ढूंढते-ढूंढते भगवान् के लक्षण वाले चरणों से सूचित मार्ग से (पग-डंडी से) सीधे यमुनाजी के तट पर पहुँचे ॥ १६ ॥

सुबोधिनी – पतिरवान्वेषणीयस्ततोऽपि सदानन्दः, ते भगवद्गतमार्गेणैव गताः, तदाह **पदव्या यमुनातटमिति, पदवी** सूक्ष्मो मार्गः, तया **यमुनातटमेव** गताः, तेषां मार्गान्तरगमने तथैव च गमनेऽभिज्ञानमाह **भगवल्लक्षणैः पदैः** सूचितयेति **ध्वजवज्राङ्कुशाद्यसाधारणचिह्नैर्भगवच्च - रणसम्बन्धे भूमेरार्दता भवतीति स्फुटसर्वलक्षणानि** पदानि **भूमावुद्गच्छन्ति** तैः सूचिता पदवी भवति ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ – साधारण पति कहीं चला गया हो और उस समय कोई उपद्रव उत्पन्न हो जाए तो वैसे पति को भी ढूंढा जाता है सो यह पति तो सदानन्द स्वरूप पति हैं, उनको तो अवश्य ढूंढना चाहिए इस विचार से वे उसी मार्ग से गए जिस मार्ग से श्रीकृष्ण गए थे । वह रास्ता कैसा था ? इस पर कहते हैं कि वह मार्ग पगडंडी का था और उस पगडंडी पर भगवान् के चरण चिन्ह अंकित (लगे) थे तथा वह सीधा यमुना किनारे तक था अतः ये भी इस रास्ते से बिना भ्रम के यमुना तट पर पहुँच गए जाने में रास्ते का भ्रम नहीं हुआ, कारण कि वह भूमि आर्द्र[१] थी जिससे उस पर भगवान् के ध्वज 'वज्र' अंकुश आदि चिन्ह साफ-साफ देखने में आ रहे थे ॥ १६ ॥

आभास – तत्रापि भगवान्न केवलं गतः किन्तु गोगोपालसहित एव गत इत्यत्राभिज्ञानमाह ते तत्रेति,

आभासार्थ – भगवान् अकेले नहीं गए थे किन्तु साथ में गो और गोपों को भी ले गए थे जिस का ज्ञान निम्न श्लोक से कराते हैं ।

श्लोकः – **ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनिध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः ॥**
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः ॥ १७ ॥

---

१. गीली ।

श्लोकार्थ – वे लोग वहाँ-वहाँ (जहाँ-जहाँ) कमल, यव, अंकुश, वज्र और ध्वजा के चिन्ह वाले वैश्यों के अधिपति भगवान् के चरणों को अन्यों के चरणों के मध्य में स्थित देख कर शीघ्र वहाँ पहुंचे ॥ १७ ॥

सुबोधिनी – तत्र तत्र मार्गे विश्पतेर्वैश्याधिपते-र्गोकुलराजस्य भगवतः **पदानि** दृष्ट्वा तेनागतप्राणाः **सत्वरा ययुः**, अन्यथा गमनेऽप्यसामर्थ्यं स्यात्, **यवः कीर्तिप्रतिपादकः**, **अब्जाकाररेखा सुसेव्यत्वाय**, **भक्तानां मनोगजनिवारणायाअंकुशरेखा**, **अशनिः पापपर्वतच्छेदाय**, **ध्वजो निर्भयवासदानाय**, एवमनेकविधैश्चिह्नैरुपपन्नानि **पदानि**, अतः स्वस्यापि कृतार्थता भविष्यतीति शकुनमिव प्राप्येष्टदर्शनार्थं शीघ्रं गताः, **गवां मार्गेऽन्येषां** गोपालानां च पदान्यन्तरा यत्र, तेन सर्वैः सह तिष्ठतीतिसन्तोषोऽपि, **अन्तरा** मध्ये ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ – जाते समय वे गोप इसी प्रकार चलते थे, मानो उनमें प्राण हैं ही नहीं, किन्तु जब राह में जहाँ, तहां, अन्यों के पद पंक्तियों के मध्य में, भगवान् के चरण चिन्ह देखे, तब उनमें प्राण आ गए, जिससे वे शीघ्र चलने लगे। आचार्य श्री भगवान् के चरण चिन्हों के भावों को स्पष्ट कर बताते हैं- ''यव'' का चिन्ह कीर्ति[1] का प्रतिपादन[2] करने वाला है 'कमल' का चिन्ह इसलिए है कि आपके श्री चरण, संसार ताप हारक होने से, सेवा करने के योग्य हैं। 'अंकुश' का चिन्ह इस लिए धारण किया है कि भक्तों के मन रूप हस्ती को अपने वश में कर रक्खें। 'वज्र' धारण करने का तात्पर्य यह है कि शरणागत भक्तों के पाप रूप पर्वतों को नष्ट करने में विलम्ब न होए। 'ध्वज' का चिन्ह धारण कर भक्तों को निर्भय रहने का दान किया है अर्थात् मेरे शरणागतों को किसी प्रकार भय नहीं करना चाहिए यह आश्वासन[3] दिया है इस प्रकार अनेक चिन्हों से युक्त आप के चरणारविन्द हैं। अतः जैसे पृथ्वी कृतार्थ हुई है, वैसे ही हम भी कृतार्थ होंगे, अर्थात् हमारी मनों कामना पूर्ण होंगी, कारण कि, ऐसे शुभ चिन्हों का दर्शन शुभ शकुन है। ऐसा जान शीघ्रता से जाने लगे। राह में अन्यों के साथ भगवान् के चरण देख संतोष भी हुआ कि भगवान् अकेले नहीं हैं जिससे चिन्ता आदि कुछ कम हो गए ॥ १७ ॥

आभास – ननु कथमत्र सर्वज्ञो बलभद्रो न तेषां निषेधं कृतवानित्याशङ्क्याह तांस्तथेति,

आभासार्थ – बलरामजी जो सर्वज्ञ थे, उन्होंने गोपों को क्यों नहीं रोका ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं कि-

श्लोकः – **तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः ।**
प्रहस्य किञ्चिन् नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः ॥ १८ ॥

१-यश। २-बताने। ३-विश्वास।

श्लोकार्थ — बलरामजी उनको वैसे भीरु[१] देख कर हँसे, किन्तु कुछ भी बोले नहीं, कारण कि, अपने छोटे भाई माधव (भगवान्) के प्रभाव को जानते थे ॥ १८ ॥

सुबोधिनी — तथा कातरानतिदीनान् **वीक्ष्य प्रहस्य** भगवत्परीक्षां स्मृत्वा विधिनिषेधयोरन्यतरदपि नोक्तवान्, यतोऽनुजस्य भगवतः **प्रभावज्ञः, अयं श्लोकः पूर्वत्र वा विगीतो वा** ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ — बलरामजी उन (गोपों) को इस प्रकार अति दीन देख, हँस कर चुप रह गए, उनको कुछ नहीं कहा कि वैसे करो, अथवा न करो, क्योंकि छोटे भाई के प्रभाव को वे जानते थे और यह भी जानते थे कि कृष्ण ने इनकी परीक्षा के लिए यह लीला की है। यह श्लोक इससे पहले चाहिए अथवा क्षेपक समझना चाहिए। इसी कारण से आचार्य श्री ने इस श्लोक पर सूक्ष्म में टीका की है दूसरे टीकाकारों ने इसको १६वां श्लोक माना है ॥ १८ ॥

आभास — गता भगवन्तं दृष्टवन्त इत्याह अन्तर्हृद इति

आभासार्थ — वहाँ गए, जाते हुए, दूर से ही (जैसे समुद्र में शेषशायी के दर्शन होते हैं वैसे हैं) यहाँ (यमुना ह्रद में) भगवान् के दर्शन किए, उसका वर्णन करते हैं।

श्लोकः — **अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात् कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते ।**
गोपांश्च मूढधिषणान् परितः पशूंश्च सङ्क्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ — वे सब कालीय दह के भीतर दूर से सर्प के शरीर से वेष्टित[२] निश्चेष्ट[३] श्रीकृष्ण को और जलाशय के पास मूर्छा खाकर गिरे हुए गोपों को तथा आर्त स्वर से राँभते हुए पशुओं को देखकर दुःखी हुए जिससे वे मूर्छित हो गए ॥ १९ ॥

सुबोधिनी — दूरादेव भगवन्तं यमुनाह्रदे समुद्रे शेषशायिनमिव भगवन्तं दृष्टवन्तः, तदाह, ह्रदमध्ये **भुजगभोगेन** सर्पशरीरेण **परीतं** वेष्टितमारादेवोपलभ्य सुप्तत्वान् **निरीहं जलाशयसमीपे** च गोपानुपलभ्य, वृत्तान्तप्रश्नाभावाय विशेषणमाह मूढधिषणानिति, **मूढा लयं प्राप्ता धिषणा** बुद्धिर्येषां, **परितः** सर्वतो विक्षिप्तान् **पशूंश्च सङ्क्रन्दन्त** इति तेषामनिष्टसूचकत्वं, अतो मार्गे यथाकथञ्चि-दप्यागता एतत् त्रितयं दृष्ट्वा परमकश्मलं मूर्छामापुः, आर्ता विकलाः सन्तापयुक्ताश्च जाताः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ — ह्रद (दह) के मध्य में दूर से ही साँप के शरीर से लपेटे हुए भगवान् को तथा जलाशय के समीप जिनकी बुद्धि शिथिल हो गई है, ऐसे गोपों को और चारों ओर व्याकुल हुए

१-डरपोक। २-लिपटे हुए। ३-बेसुध।

अनिष्ट होने के कारण आर्तता से रांभते हुए पशुओं को देखा । ये गोप राह से तो जैसे तैसे भी आ गए, किन्तु यहाँ की ऐसी तीन प्रकार की अवस्था देख कर आर्त[1] हो गए जिससे व्याकुल और सन्ताप[2] को प्राप्त हो मूर्छित हुए ॥ १९ ॥

आभास – एवमार्त्यनन्तरं गोपिकानां यशोदासहितसाधारणस्त्रीणां नन्दादीनां च वृद्धगोपानामवस्था आह गोप्य इतित्रिभि:,

आभासार्थ – इस प्रकार आर्ति के होने के अनन्तर गोपियों की तथा यशोदा सहित सब साधारण स्त्रियों की एवं नन्दादि वृद्ध गोपों की अवस्था का वर्णन नीचे के तीन श्लोकों से करते हैं ।

श्लोक: – **गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते तत्सौहृदस्मितविलोकगिर: स्मरन्त्य: ॥**
ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदु:खतप्ता: शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम् ॥ २० ॥

श्लोकार्थ – जिनका मन भगवान् में प्रेमपूर्वक आसक्त है वैसी गोपियाँ, अपने प्रियतम को साँप से जकड़ा हुआ देख उनके सौहार्द मंद हास्य, कटाक्ष और मीठी वाणी को स्मरण कर अति दु:ख से पीड़ित हो गईं और प्यारे के बिना उनको तीन लोक शून्य देखने में आए ॥ २० ॥

सुबोधिनी – गोप्यस्तु भगवन्तं तादृशं दृष्ट्वा त्रैलोक्यमेव प्रियरहितं ज्ञातवत्य:, **प्रिया एव हि रक्षणीया:**, अत: **प्राण**रक्षायामिहलोकरक्षायां **परलोक**रक्षायां च निवृत्तव्यापारास्तथैव लयं प्राप्तवत्य इति तामस्यवस्था, **अनुरक्तं मनो** यासां, अनेन तेषां प्राणवियोगाभावे हेतुरुक्त:, ननु भगवति साम्प्रतं मन: प्राणवियोजकमेव न तु प्राणरक्षकमित्याशङ्क्याह **भगवती**ति, सर्वकरणसमर्थो **भगवान्**, अत: षड्भिरपि गुणैस्तासां प्राणा रक्षिता इत्यर्थ:, तथापि विषयस्यानिष्टरूपत्वे प्राणरक्षा भक्तिविरोधिनीत्याशङ्क्याहानन्त इति, न विद्यतेऽन्तो यस्येति, विषयश्च नानिष्टरूप:, अतो भगवता रक्षिता: सजीवा एवेतिकर्तव्यतामूढा: स्थिता:, किञ्च तासां जीवने हेत्वन्तरमपि जातमित्याह **तत्सौहृदेति, तस्य** भगवत: **सौहृदं स्मितं विलोकं** गिरश्च **स्मरन्त्य:, सौहृदस्मरणे** शरीरस्थिति: **स्मित**स्मरण इन्द्रियाणां **विलोक**स्मरणे प्राणानां वाक्यस्मरणेऽन्त:करणस्य, साधकानुक्त्वा बाधकमाह**अहिना** सर्पेण वेष्टिते परमप्रीतिविषये **भृशं दु:खेन तप्ताश्च** जाता:, अतस्त्रि**लोकं** प्रियेण **व्यतिहृतं** शून्यमेव **ददृशु**रित्यर्धजरतीयम् ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ – गोपीजन भगवान् की इस प्रकार की चेष्टा (शरीर की स्थिति) देख त्रिलोकी को प्रीतम से शून्य समझने लगी । अपने प्रिय रक्षा करने योग्य हैं, इस कारण से उन्होंने अपनी तीनों प्रकार (प्राणरक्षा, लोकरक्षा और परलोक रक्षा) की रक्षा करनी छोड़ जैसे भगवान् के समान लय

१-पीड़ित, दु:खी । २-मन का दु:ख ।

प्राप्त कर ली। गोपिजनों की तामसी अवस्था है यदि उनकी गोपियों की वैसी दशा हो गई तो उनके प्राण क्यों न निकल गए? उस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं कि उनका मन भगवान् में लगा हुआ था इनके पास मन नहीं था। अतः सर्व समर्थ षड् गुण पूर्ण भगवान् ने उनके प्राणों की रक्षा कर ली उनको (प्राणों को) जाने नहीं दिया। प्रीतम की यह दशा और भक्त के प्राण रहे यह भक्ति से विरुद्ध है। इस शंका के समाधान के लिए भगवान् का विशेषण 'अनन्त' दिया है, अर्थात् वह भगवान्, किस प्रकार लीला करते हैं क्यों करते हैं, उसको वे (अनन्त भगवान्) ही जानते हैं और यह विषय अनिष्ट भी नहीं है अतः भगवान् ने उनकी रक्षा कर उनको जीवित रहने दिया। केवल अब क्या करना चाहिए इतनी समझ नहीं रही और भी यह अन्य कारण उनके जीवन में हैं। वे भगवान् की प्रीति, मन्दहास्य, कटाक्ष एवं वाणी का स्मरण कर रही थीं, जिससे वे जीवित रह गईं। प्रभु के प्रेमस्मरण से देह, मन्दहास्य के स्मरण से इन्द्रियाँ, कटाक्षों के स्मरण से प्राण, तथा वाणी की स्मृति से अन्तःकरण नष्ट न हुआ। ये कारण तो प्राणों के रक्षक हुए। अब प्राणों के बाधक कारण कहते हैं। गोपियों के परम प्रेम का स्थान भगवान् श्रीकृष्ण है। उनको साँप ने लपेट लिया है यह देख गोपियाँ अत्यन्त दुःखी हो गईं, जिससे प्रीतम बिना तीन लोक उनके लिए निरर्थक हो गए। इससे उनकी दशा आधी जली हुई के समान हो गई मानो उस समय वे न जीवितों की पंक्ति में थीं और न मरे हुए की गिनती में गिनने योग्य थीं ॥ २० ॥

आभास — यशोदासहितानामवस्थामाह ता इति,

आभासार्थ — यशोदा के साथ आई हुई स्त्रियों की अवस्था का वर्णन करते हैं-

श्लोकः —**ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ॥**
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन् कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ — यशोदाजी, पुत्र के पीछे जो जल में प्रवेश करने लगी, तो उनको रोक कर, यशोदा जैसी ही व्यथा वाली गोपियाँ आँसू डालती हुई, व्रज के प्यारे की विविध कथाएँ कहने लगी। वे कृष्ण के मुखारविन्द को ही देख रही थीं उस समय उनकी दशा मृतकों के समान थी ॥ २१ ॥

सुबोधिनी — **कृष्णमातरं समनुगृह्य** लोकन्यायेन **शुचः स्रवन्त्यो** जाताः, यशोदा **त्वपत्यं** भगवन्तम**नुप्र-विष्टा** तत्रैव गता, अन्यासां जीवने हेतुः, **तास्ता** व्रजप्रियस्य भगवतः कथाः कथयन्त्यः, किञ्च कृष्णाननेऽर्पिता दृशः, भगवन्मुखारविन्दमपि पश्यन्ति, अतो **मृतकप्रतीका आसन्** मृतप्रायाः सजीवा एव स्थिताः, पूर्वं भगवता रक्षिता एता भगवद्गुणैर्दर्शनेन च ॥२१॥

व्याख्यार्थ — यशोदा के साथ जो स्त्रियाँ (गोपियाँ) आई थीं उन्होंने यशोदाजी को अपने पुत्र श्रीकृष्ण के लिए जल में प्रवेश करती देख लौकिक रीति के अनुसार उनको रोक रखा। उस समय उनकी आँखों

में से जल बह रहा था। यशोदाजी ने तो पुत्र के पीछे जल में प्रवेश किया अन्य उनके साथ आई थीं उन्हों का जल में प्रवेश न करने का कारण यह था कि वे व्रज के प्यारे की लीलाओं का गान कर रही थीं और उनके मुखारविन्द के दर्शन का रस ले रही थीं जिससे वे जीवित रह गई (पानी में प्रवेश नहीं किया) यद्यपि वे जीवित थीं तो भी प्रिय विरह (दु:ख) के कारण मृतक समान हो रही थीं। ऊपर के श्लोक (२०) में के गोपियों की रक्षा भगवान् ने की थी जिससे वे जीवित रह गई और ये भगवान् के गुणगान तथा दर्शन के कारण जीवित रहीं ॥ २१ ॥

आभास – अन्ये तु नन्दादयो बलभद्रेण रक्षिता

आभासार्थ – बलभद्र ने नन्दादि गोपों की रक्षा की उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक: – **कृष्णप्राणान् निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् ।**
प्रत्यषेधत् स भगवान् राम: कृष्णानुभाववित् ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ – कृष्ण में प्राण वाले, नन्द आदि गोपों को ह्रद में प्रवेश करते हुए देख, भगवान् बलरामजी ने ऐसे करने से उनको रोका क्योंकि आप श्री कृष्ण के प्रभाव को जानते हैं ॥ २२ ॥

सुबोधिनी – इत्याह **कृष्णेति**, **कृष्णे प्राणा** येषां, **प्राणस्थाने हि स्वेनापि** स्थातव्यमिति तमेव ह्रदं **निर्विशन्तो** जाता:, तदा तान् बल: प्रत्यषेधत्, कथं तेन प्रतिषिद्धा: स्थिता इत्याशङ्क्याह **स भगवानिति**, स रामो **भगवान्** भगवत्सहितो वा, सोऽपि किमिति प्रत्यषेधत् ? तत्राह **कृष्णानुभावविदिति**, कालीयदमनलक्षणं **भगवदनुभावं** जानातीति ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ – जीव का निवास स्थान प्राण है, अत: जहाँ प्राण है, वहाँ जीव जाना ही चाहता है यहाँ भी नन्दादिकों के प्राण श्रीकृष्ण में थे इसलिए वे श्री कृष्ण के पास जाना चाहते थे, किन्तु राम, कृष्ण के प्रभाव को जानते थे उनको ज्ञान था कि श्रीकृष्ण कालीय के दमन के लिए यह लीला कर रहे हैं, इसलिए आपने (बलरामजी ने) इनको (नन्दादि गोपों को) जाने से रोका नन्दादि गोप भी जाने से रूक गए कारण कि नन्दादि गोपों को यह ज्ञान था कि 'राम' साधारण मनुष्य नहीं है किंच भगवान् वा भगवान् के आवेश से युक्त है ॥ २२ ॥

आभास – एवं सर्वेषां गोकुलवासिनां वैयग्र्यमुपपाद्य सर्वसमर्थस्य भगवत एवङ्करणमनुचितमित्याशङ्क्य

आभासार्थ – सर्व समर्थ भगवान् को इस प्रकार सब गोकुलवासियों को व्याकुल करना वा उलझन में डालना योग्य नहीं था इस शंका का निवारण 'इत्थं स्वगोकुल' श्लोक से करते हैं।

श्लोक: — **इत्थं स्वगोकुलमनन्यपतिं निरीक्ष्य सस्त्रीकुमारमतिदु:खितमात्महेतो: ॥**
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमान: स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार भगवान् ने अच्छे प्रकार से देख लिया कि मेरा यह गोकुल मेरे बिना अन्य किसी की भी शरण नहीं लेता है। मैं एक ही इसका आश्रय हूँ अत: मेरे लिए ही जब स्त्री बालक सहित सर्व नन्दादि गोप दु:खी हैं तब मुझे भी विशेष समय तक इस स्थिति में नहीं रहना चाहिए ऐसे विचार, थोड़े समय तक इस स्थिति में रह कर, शीघ्र ही सर्प के बन्धन से स्वत:[१] छूट आए ॥ २३ ॥

सुबोधिनी — तत्समाधानार्थं भगवान् परीक्षां कृतवानित्याहेत्थमिति, परीक्षायां हेतु: **स्वगोकुलमिति, स्वस्य गोकुलं परीक्षणीयमेव, अन्यथा कृतकरिष्यमाणयोर्निरोधयोर्वैयर्थ्यं स्याद् यदि तेषु कृतकार्यं नोपलभ्येत,** परीक्षया यत् सम्पन्नं तदाहानन्यपतिमिति, **न** विद्यतेऽन्य: पतिर्यस्य, जडत्वाद् गोकुलत्वेनान्यपत्यभाव एव निरूपित:, किञ्च **सस्त्रीकुमारमात्महेतोरतिदु:खितं निरीक्ष्य,** स्त्रिय: साधारण्य:, **कुमारा** अतिबाला: तदन्वाज्ञाय विचार्य, भवत्येवमेवैतदिति निश्चित्य, ननु स्वत:सर्वज्ञस्य किं परीक्षयेत्याशङ्क्याह **मर्त्यपदवीमनुवर्तमान** इति, **यथा तेषु मानुषभावेनैव निरोधं करोति** तथा **परीक्षामपि** कृतवान्, अतो **मुहूर्तं** स्थित्वोरगबन्धात् सर्पबन्धनाद**ुदतिष्ठ**दुत्थित:, निद्रापाये सृष्टिमिव कृतवानित्यर्थ: ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ — यह गोकुल (गोकुल में रहने वाले सब मनुष्य पशु आदि) मेरी है क्योंकि मैंने इसका निरोध किया है अत: इसकी परीक्षा करनी आवश्यक है, यदि परीक्षा नहीं की गई तो कैसे पता लगेगा कि इनका जो निरोध किया वह सिद्ध है वा ये भूल गए हैं। परीक्षा से यदि यह ज्ञान हो जाए कि ये अब 'निरोध' में स्थित नहीं हैं, तो किया हुआ कार्य और जो करना है वह व्यर्थ है। इसलिए परीक्षा ली गई है। परीक्षा का परिणाम यह आया कि ये इतना कष्ट झेलते हुए भी दूसरे की शरण में नहीं गए हैं दूसरे की शरण नहीं जाने से दु:ख के कारण जड़ बन गए हैं। भगवान् ने परीक्षा से यह निश्चय किया तथा स्त्री, बाल और आप सब दु:खी हैं यह देख विचार कर इनके दु:ख को मिटाने के लिए स्वत: थोड़े ही काल में सर्प के बन्धन से छूट गए। भगवान् आप सर्वज्ञ हैं तब परीक्षा की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् ने यह मनुष्य के समान परीक्षा की है। इसलिए जैसे मनुष्य भाव से लीला करते हुए निरोध किया है वैसे ही उसी भाव से परीक्षा भी की है। जैसे शेषशय्या पर कुछ देर निद्रा लेते हैं और निद्रा की निवृत्ति होते ही सृष्टि करते हैं वैसे ही यहाँ भी थोड़ी देर नाग के बन्धन में स्थिति कर स्वत: उस बन्धन से छूट गए ॥ २३ ॥

आभास — तस्योत्थानं यदासीत् तदाह तत्प्रथ्यमानात्,

१-अपने आप, बिना किसी की सहायता के।

आभासार्थ – कालीय ने भगवान् को छोड़ दिया उसके पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः –**तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोगस्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्गः ।**
तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ – (भगवान् को जब नाग ने अपनी पाश में जकड़ लिया तब वे अपने अंग को फुलाने लगे) भगवान् के शरीर के बढने से उस साँप का शरीर पीड़ित होने लगा (अर्थात् नसें टूटने लगी) जिससे उसने भगवान् को अपने बन्धन से छोड़ तो दिया किन्तु क्रोधित होकर विषैली फूँकारे नाक छिद्रों से फेंकने लगा तथा आवा (भट्टी) में तपाए हुए (खपरा के समान) लाल स्थिर नेत्रों से युक्त मुख से आग की लपटें निकालते हुए और श्रीकृष्ण को देखते हुए सामने खड़ा हो गया।

सुबोधिनी – अत्र भारतादौ बलभद्रस्तुति-**प्रबोधादिकं निरूपितं तत् कल्पान्तरीयं, तत्रांशावतारो मनुष्यभावापत्तिश्चेति केचित्, लीलयैव तथेत्यपरे, वस्तुतो यथा येन यत्र कारयति तथा स करोतीतिव्यवस्था,** पूर्वं भगवान् सूक्ष्मः स्थितः पश्चात् पुष्टो जातस्तेन स्वयमेव वेष्टनानि भग्नानीव जातानि, तदाह **तेन** भगवता **प्रथ्यमानं** यद् **वपु**स्तेन कृत्वा **व्यथित आत्माभोगो** यस्य, एतादृशः शीघ्रं भगवन्तं परित्यज्य **स्वफणानुन्नमय्य कुपितो भुजङ्गो** युद्धार्थं **तस्थौ क्रोधे हि बलमधिकं** भवतीति, स्थितिसमयेऽपि **श्वसन्** विषवायुं विमुञ्चन् स्थितः किञ्च **श्वसनरन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमु**खस्तस्य ह्युपरि पञ्च छिद्राणि नासे चक्षुषी मुखमिति, स्थानत्रयेऽपि स घोर इत्युच्यते, तत्र प्रथमं **श्वसनरन्ध्रे विषं** यस्य, **अम्बरीषवद्** भाष्ट्राग्निवत् **स्तब्धे ईक्षणे** यस्य, **उल्मुक**युक्तं **मुखं** यस्य, एतादृशोऽपि **हरिमीक्षमाणो** भगवत्सान्निध्यात् स्वयमपि न ज्वलितः परं सम्मुखं स्थितः ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ – भारत आदि ग्रन्थों में कहा है कि जब भगवान् साँप से अपने को लपेटे जाकर निश्चेष्ट हो गए थे, तब बलरामजी ने भगवान् की स्तुति की है और उनको प्रबोध भी किया है (जगाया है) यह उन ग्रन्थों में कही हुई कथा किसी दूसरे कल्प की है। कितने ही कहते है कि उस कल्प में भगवान् अंशावतार थे और मानुष भाव ग्रहण किया था (दूसरों का कहना हैं कि भगवान् ने लीला से यों किया था) वास्तविक बात तो यह है कि भगवान् जहाँ, जैसे, जिससे जो कुछ कराते हैं वह (भगवान् की प्रेरणानुसार) वहाँ वैसा ही करता है। पहले (जब साँप ने आपको लपेटा था तब) आप सूक्ष्म थे पश्चात् (लपेटे जाने के कुछ समय के अनन्तर) स्थूल बन गए जिससे साँप के शरीर के बन्धन स्वतः मानों टूटने लगे और उस शरीर की स्थूलता से सर्प के शरीर में पीड़ा होने लगी, पीड़ा के कारण शीघ्र ही उसने भगवान् को छोड़ तो दिया किन्तु अपने फणों को ऊँचे कर क्रोधित होके लड़ने के लिए सामने खड़ा हो गया क्रोध इसलिए किया कि जब शरीर

में क्रोध उत्पन्न होता है तब शक्ति बढ़ जाती है। खड़े होने के समय भी सर्प अपने पाँच छिद्रों (२ नेत्र के २ नाक के और एक मुख) से भयावह दिखता था, जैसे नाक के छिद्रों से विष सहित वायु निकालता था, आँवा (भुनने के पात्र) के समान लाल स्तब्ध[1] नेत्रों से, मानो अग्नि आ रही हैं, इसी प्रकार जिसके मुख से भी आग उगली जा रही है वैसा वह काला कालीय हरि को देख रहा था। इस विषैली वायु एवं अग्नि से भगवान् को तो कुछ हो ही नहीं सकता था, किन्तु सर्प नष्ट हो जाता फिर भी वैसा नहीं हुआ, कारण कि, भगवान् की सन्निधि में खड़ा था इसलिए जला नहीं, भगवान् के सामने ही खड़ा रहा ॥ २४ ॥†

आभास – तदा भगवान् यत् कृतवान् तदाह तं जिह्वयेति,

आभासार्थ – उसके पश्चात् भगवान् ने जो किया वह इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः – **तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं द्वे सृक्किणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम्।**
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥२५॥

श्लोकार्थ – दो शिखा वाली (दोहरी) जीभ से दोनों गलफरों को चाट रहा है ऐसे अति विकराल विषाग्नि से भरे हुए दृष्टि वाले इस सर्प के चारों ओर क्रीड़ा करते हुए भगवान् गरूड़ के समान फिरने लगे और वह भी अवसर देखता हुआ भगवान् के चारों ओर फिरने लगा ॥ २५ ॥

सुबोधिनी – द्विशिखया जिह्वया युगपदेव **द्वे सृक्किणी परिलेलिहानं तं** प्रसिद्धं कालीयमति-**करालविषमेवाग्निदृष्टौ** यस्य तादृशं सर्वप्रकारेण क्रोधमूर्छितं, **कौतुकी भगवान्** क्रीडन्नेवामुं परिससार, भगवतो निर्भयगमने दृष्टान्तं हेतुत्वेनाह **यथा खगेन्द** इति, न हि **कस्यचिद् भक्ष्याद् भयमस्ति, दुष्टाश्च भगवतो दाह्याः**, न हि **काष्टाद् वह्नेर्भयं भवति,** अतः **स** एव भगवतो भीतः युद्धार्थमेवा**वसरं** प्र**समीक्षमाणो बभ्राम,** प्रदक्षिणां बहुधा कृतवान् ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ – दो शिखा वाली (दोहरी) जीभ से दोनों होठों के भागों को चाटते हुए, अतिविकराल विषरूप अग्नि सहित दृष्टि वाले सर्व प्रकार क्रोध से बेसुध बने हुए उस प्रसिद्ध कालीय के चारों तरफ कौतुकी (विनोद करने वाले) भगवान् जैसे गरूड़ निर्भय हो फिरता है वैसे निर्भय फिरने लगे। जैसे काष्ठ से अग्नि को भय नहीं होता है। भक्ष्य[2] पदार्थ से भक्षक[3] को भय नहीं होता है,

† इस लीला के सम्बन्ध में भक्तवर सूरदासजी का एक सुन्दर पद इस अध्याय के अन्त में देखें।

१ निश्चल, स्थिर। २-जो वस्तु खाई जाए। ३-खानेवाला।

वैसे ही जो जलाए जाते हैं उनसे जलाने वाले को डर नहीं होता है इसी प्रकार दुष्टों को तो भगवान् जलाकर नष्ट करते हैं उनसे आपको भय कैसे होगा ? अतः आप निर्भय हो फिर रहे थे। वह ही डर रहा था, तो भी दुष्टता के कारण एवं अज्ञता से दाव देखता हुआ भगवान् के चारों ओर अनेक प्रकार से फिरने लगा ॥ २५ ॥

आभास – तदा भगवांस्तं निगृह्य तदुपरि नृत्यं कृतवानित्याहैवमिति,

आभासार्थ – इस प्रकार फिरते समय भगवान् ने उसको पकड़ लिया और उस पर नृत्य करने लगे उसका वर्णन नीचे के इस श्लोक में करते हैं–

श्लोकः – **एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसमानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ।**
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ – वैसे फिरते फिरते, जब उसका (सर्प का) बल नष्ट हो गया, तब ऊँचे कन्धे वाले उसको (सर्प को) नमाकर, वे आदि पुरुष भगवान् उसके (चंचल) शिरों पर चढ गए और नृत्य करने लगे क्योंकि आप सर्व कलाओं के गुरु हैं। उस समय आपके चरण कमल उसके मस्तक के रत्नों के समूह से अतिशय लाल हो रहे थे ॥ २६ ॥

सुबोधिनी – ननु दुष्टः कथं नृत्यं कारितवान् ? तत्राह **परिभ्रमहतौजस**मिति, **सर्पो हि** परिभ्रमे **व्यथां प्राप्नोति,** अतो बहुधा **परिभ्रमाद्धतौजा** इव जातः, केवल**मुन्नता** अंसा यस्य तादृश**मानम्य** तमपि भागमधस्तात् कृत्वा तत्र द्वयोर्द्वौ पादौ निवेश्यान्यौ हस्ताभ्यां धृत्वा**नम्य तत्पृथुशिरःस्व**धिरूढो जातः, ननु सर्पोऽयममङ्गलः कथं भगवता आरूढ इति चेत् तत्राहआद्य इति, **स हि सर्वकर्ता सर्वस्यात्याद्यस्तस्यापि** पिता **भवत्यतस्तमारूढवानथ** वा **शेषशायी स हि** सर्वदा **सर्पमेवास्थ्य तिष्ठति,** अतस्तस्य सर्पारोहणेऽभ्यासात् तत्र स्थितः संस्तस्य मूर्धसु यानि रत्नानि तेषां **निकरः** समूहस्तस्य स्पर्शेना**तिताम्रं पादाम्बुजं** यस्यैतादृशः, पूजितचरण इव सन्तु**ष्टस्तत्पृथुशिरस्सु** ननर्त, ननु विषमशिरस्सु कथं नृत्यं कृतवान् ? तत्राहा**खिलकला**दिगुरुरिति, **अखिलकला**नामादिगुरुः, कला**कौशलानि यावन्ति लोके तानि सर्वाण्यनेनैव कृतान्युपदिष्टा**नि **च,** लोका रज्जौ पादुकासहिता नृत्यन्तो दृश्यन्ते तत्र किमाश्चर्यं स्थूलेषु बहुषु शिरस्सु नृत्यतीति ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ – यद्यपि कालीय सर्प दुष्ट होने के कारण भगवान् को अपने ऊपर नृत्य करने नहीं देता, किन्तु सर्प की शक्ति चक्कर काटने से नष्ट हो जाती हैं अतः इसने भी बहुत परिभ्रमण किया था जिससे इसकी शक्ति नष्ट हो गई थी, शक्ति हीन हो जाने से भगवान् के नृत्य में रुकावट डाल न सका। शक्ति हीन हो गया था किन्तु कन्धे ऊँचे थे उनको भगवान् ने नमा लिया। दो कन्धों के ऊपर दो पाद धर कर उनको नमाया और दो को हाथों से नीचे कर लिया अनन्तर उन विशाल

शिरों पर चढ़ गये। यद्यपि सर्प अमंगल है उस पर चढ़ना नहीं चाहिए किन्तु भगवान् सब के आदि होने से सब के पिता हैं तो सर्प के भी पिता हैं पिता के लिए कोई सन्तति अमंगल नहीं है और भगवान् सर्वदा शेषशायी हैं इस लिए आपको सर्प पर चढ़ने का अभ्यास भी है अत: वहाँ चढ़ गये। चढ़ने के अनन्तर सर्प के शिरों के रत्नों से आपके चरण लाल हो गए, जिससे आप उसको मानों अपनी पूजा समझ सन्तुष्ट हो गए अत: आप उन (शिरों) पर नृत्य करने लगे।

कालीय के शिर सीधे नहीं थे और विषम[१] थे उन पर नृत्य कैसे किया ? इस शंका को मिटाने के लिए कहा है कि भगवान् ने ही सब नृत्य आदि कलाएँ संसार मात्र को सिखाई हैं अत: आप सम्पूर्ण कलाओं को सिखाने वाले आदि (पहले) गुरु हैं। जगत् में जब देखा जाता है कि रस्सी पर खड़ाऊँ पहनकर नाचते हैं तब इन स्थूल विशाल फणों पर नाचने में कौन सा आश्चर्य है ॥ २६ ॥

आभास – नृत्ये गीतवाद्ययोरङ्गत्वात् तदभावे नृत्यं विगुणं स्यादित्याशङ्क्याह तं नर्तुमुद्यतमिति,

आभासार्थ – नाच के समय यदि गीत और बाजे नहीं हो तो नृत्य में रस नहीं आता है इस शंका के होने पर यह श्लोक कहा गया है-

श्लोक: – तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीयगन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्व: ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभि: सहसोपसेदु: ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ – जब आप नृत्य करने को उद्यत[२] हुए, तब आपको देख, भगवदीय गन्धर्व, सिद्ध मुनि, देव, चारण और अपसराएँ ये सब आनन्द पूर्वक मृदंग, पणव, आनक आदि बाजे, गीत और पुष्प, तथा भेट एवं स्तुति से सेवा करने के लिए तुरन्त उपस्थित हो गए ॥ २७ ॥

सुबोधिनी – सर्वत्र देवा भगवन्तं पश्यन्त एव तिष्ठन्ति, अत्रापि ते लौकिकानां सेवासामर्थ्यात् स्वयमेव सेवां कृतवन्त इत्याह **नर्तुमुद्यतं** भगवन्तम**वेक्ष्य तदा** तस्मिन् समये **तदीया** ये गन्धर्वादयस्ते **प्रीत्या** स्वस्य **सेवाविनियोगं** ज्ञात्वा **मृदङ्ग**पणवान**कानि वाद्यानि** गीतानि **पुष्पो**पहारा: पुष्पवृष्ट्यो **नुतिभि:** स्तोत्रै: **सहसा** शीघ्रमेवोपसेदुरुपसन्ना:, **नृत्ये हि** प्रथम**तो नान्दी तत्र** देवतास्तुति: पुष्प**वृष्टिश्च कर्तव्या तदनु वाद्यं गीतं च,** तदत्रापि वाद्यगीतयोरारम्भं कृत्वानान्दी-प्रकटनार्थं पुष्पवृष्टिर्भवत्येव, भगवन्तमेव **च** देवाधिदेवं स्तुवन्त:, अत्र क्रमो न विवक्षित इति ज्ञापयितुं सहसा शीघ्रमेवोपसेदुरित्युक्तं, **गन्धर्वा** गायका:, सिद्धा: पुष्पवृष्टिकर्तार:, **मुनय:** स्तोत्रकर्तार:, **चारणा** वाद्यका:, **देववध्वो**प्सरस: सहनर्तक्य:, क्वचिदभिनय उभयोर्बहूनां च नृत्यं भवति तदोपकारस्तासाम् ॥ २७ ॥

१-भीषण, टेढ़े बाँके। २-तैयार।

व्याख्यार्थ – देवता लोग सब स्थानों में भगवान् को देखते रहते हैं यहाँ भी उन्होंने देखा कि लौकिक मनुष्यों में भगवान् की सेवा करने का सामर्थ्य नहीं है इसलिए स्वयं सेवा करने के लिए उपस्थित हुए जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

भगवान् को नृत्य के लिए उद्यत देख कर उसी समय भगवदीय जो गन्धर्व आदि थे, वे अपने सेवा के विनियोग (सेवा में लगने का) अवसर देख, समझ, मृदंग, पणव और आनक आदि बाजे गीत (गाने) पुष्प वृष्टि तथा स्तोत्र आदि लेकर शीघ्र ही आकर वहाँ उपस्थित हुए । जब नृत्य आरम्भ करना होता है तब प्रथम नान्दी* पश्चात् पुष्पों की वर्षा होती है उसके अनन्तर वाद्य (बाजे बजने) तथा गीत आदि की क्रिया की जाती है । यहाँ भी प्रथम वाद्य तथा गीत का प्रारम्भ कर नान्दी को प्रकट करने के लिए पुष्पवृष्टि होगी ही । यहाँ क्रम कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि देवों के भी अधिदेव भगवान् की स्तुति करनी है अत: कहा गया है कि शीघ्र ही वे वहाँ आकर पहुँचे ।

गन्धर्व (गानेवाले) व सिद्ध (पुष्प वर्षा करने वाले) मुनि (स्तुति करने वाले) चारण (बजाने वाले) देव वधू - अप्सराएँ (नृत्य करने वाली) ये सब सेवा करने के लिए प्रेम से आए हुए थे। नाटक में कभी दो का नृत्य होता है और कभी बहुतों का नाच दिखलाया जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी उनका इस नृत्य में उपयोग होने से उपकार ही है ॥ २७ ॥

आभास – एवं नृत्ये क्रियमाणे यदासीत् तदाह यद्यदिति,

आभासार्थ – भगवान् के नृत्य करने से जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं-

श्लोक: – **यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्णस्तत्तन् ममर्द खलदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ।**
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोसृङ् नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ – हे अंग ! सौ मुख्य मस्तक वाले का जो, जो शिर नहीं नमता है (था) दुष्ट दमन करने वाले भगवान् अपने चरण प्रहार से[१] उसका दमन कर देते थे कालीय नाग की आयु क्षीण हो रही थी तब भी घूम रहा था उससे (घूमने से) उसके मुख तथा नासिका से रक्त बहने लगा जिससे उसको बहुत कष्ट होने लगा ॥ २८ ॥

*नाटक में सूत्रधार आकर जो सर्वप्रथम मङ्गलाचरण से देवता की स्तुति करता है उसे नान्दी कहते हैं ।

१ - लात मारकर ।

सुबोधिनी — **यद्यद्**व कालीयस्य **शिरो न नमते** त**दे**व **नामयन् दमयाम्बभू**वेतिसम्बन्धः, **शतं** शतसङ्ख्याकान्येकानि प्रधानानि **शीर्षाणि** यस्य, एतादृशस्य कालीयस्य सर्वाण्येव शिरांसि प्रधानानीत्येकनमनेऽपि नान्येषां नमनं, अतः प्रत्येकं नामनं, अङ्गेतिसम्बोधनं स्नेहात्, आदौ यावन् नमनं न मन्यते ऽन्यत्र स्थित एवाङ्घ्रिपातैर्नृत्ये गतिविशेषैस्ताल-समाप्तिस्थानेषु तस्मिन्नेवोच्चशिरसि पादप्रहारं करोति, ततः पादप्रहारभिया तन् नतमेव तिष्ठति. किञ्च न प्रहारमात्रं करोति किन्तु **ममर्द**, पादेन मर्दनमपि करोति यथोपरितनी त्वग् गच्छति द्वितीयप्रहारेऽधिकव्यथाजननार्थं. नन्वक्लिष्टकर्मा किमित्येवं **करो**ति ? तत्राह **खलदण्ड**धरइति **खलानां दण्डमयं बिभर्ति,** अतो दण्डार्थमेवं करोतीत्यर्थः, ततः **क्षीणायुषः** क्षीणप्राणबलस्य मूर्छितस्य **रुधिरमुल्बणं** जातं, तदन्तः स्थापयितुमशक्यमिति मुखान् **नस्तो** नासिकातश्च **वमन् नागः परमकश्मलमाप,** मूर्छां महतीं व्यथां वा, **नागजातित्वान्न पलायते शूरा हि ते, क्षीणायुषो रुधिरमुल्बणमिति** भिन्नं वाक्यं सङ्घातपरं देहपरं वा, अन्यत् तु जीवपरम् ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ — जो जो कालीय का शिर नहीं नमता था उसको ही भगवान् दमन[1] करते थे। कालीय के सौ शिर थे किन्तु प्रत्येक शिर मुख्य था अर्थात् स्वतंत्र था जिससे एक के दमन करने से दूसरे का दमन नहीं होता था, इसी कारण से भगवान् को हर एक शिर का दमन पृथक् पृथक् करना पड़ा। यहाँ अंग ! यह सम्बोधन स्नेह प्रकट करने के लिए दिया गया है यदि कालीय स्वतः अपने सिर को पहले ही नहीं नमा लेता था तो भगवान् अन्य शिर पर स्थित होते हुए ही नाच करते, जब ताल को लय की गति समाप्ति होने का समय आता तो उस के साथ आप अपने पाद के प्रहार से उस दूसरे उठाए हुए शिर को लात मारने के साथ कुचल भी देते थे जिस से वह डर कर पुनः उस शिर को ऊपर न उठाकर नीचे ही रखता था कुचलने से साँप की ऊपर की चमड़ी उखड़ जाती जिससे दूसरी बार लात मारने से विशेष पीड़ा हो तो यह अपने शिर को पुनः ऊँचा न उठावे। भगवान् तो क्लिष्ट (दुखः) देने वाले कर्म करते नहीं हैं फिर यहाँ वैसा कर्म क्यों किया ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि भगवान् अक्लिष्ट कर्मा होने के साथ दुष्टों को दण्ड देने वाले भी हैं। अतः सर्प को दण्ड देने के लिए यों करते हैं। इस प्रकार दमन करने से उसकी प्राण शक्ति निर्बल होने से वह मूर्छित के समान हो गया और उसके नासिका तथा मुख से रक्त बहने लगा जिसे रोकने की शक्ति उस में नहीं रही थी। रक्त निकल जाने से उसको अत्यन्त कष्ट हुआ। अथवा बहुत मूर्छा आ गई। ऐसी दशा में भी वह इसलिए नहीं भागा कि सर्प जाति शूरवीर होती है, वीर युद्ध में मरना स्वीकार करते हैं किन्तु भागना नहीं चाहते हैं, इससे यह कालीय काला सर्प कैसे भागे। क्षीणबल वाले में रुधिर बढ़ गया यह वाक्य पृथक् हैं अर्थात् केवल देह से सम्बन्ध रखने वाला हैं। शेष अन्य वाक्य जीव से सम्बन्ध रखने वाले हैं ॥ २८ ॥

आभास — पूर्वश्लोक आधिभौतिकस्याध्यात्मिकस्य च दण्डो निरूपितः, आधिदैविकस्य दण्डमाह तस्याक्षिभिरिति-

आभासार्थ — पूर्वश्लोक २८ में आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक के दण्ड का वर्णन किया अब २९ में आधिदैविक के दण्ड का वर्णन करते हैं-

---

१-यह क्रिया २९ वे श्लोक में दी हुई है।

श्लोकः — **तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतःशिरस्सु यद्यत् समुन्नमति निःश्वसतो रुषोच्चैः ।**
नृत्यन् पदानुनमयन् दमयाम्बभूव पुष्पैः सुपूजित इवेह पुमान् पुराणः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ — क्रोध से ऊँचा श्वास लेता और नेत्रों में से गरल[1] उगलता हुआ यह नाग, शिरों में से, जिस जिस शिर को उठाता है, उसी शिर को नृत्य करते हुए भगवान ने अपने चरण से नमा कर सर्प का दमन[2] किया उस समय गन्धर्वादिक देवों ने जो पुष्प वृष्टि की उससे मानो भगवान का यहाँ पूजन हुआ है। वैसा दृश्य देखने में आया ॥ २९ ॥

सुबोधिनी — **तस्याक्षिभिरिति**, नासिकामुखयोः रुधिरमेव विषप्रतिबन्धकं जातं, अक्ष्णोस्तु ज्ञानप्रधानत्वात् प्रतिबन्धकं न जातमिति यदाक्षि**भिर्गरलमुद्वमति** तादृशस्य **शिरस्सु** मध्ये **यद्यत् समुन्नमति** तत्तदेव **पदानुनमयन् दमयाम्बभूव**, आधिदैविकभावापन्नान्यपि कानिचिच्च छिरांसि, तान्येव वा पुनरुद्गतानि, गरलं स्वस्योपास्यं रूपं, तदग्रे करोति, पश्चात् तस्मिन्नपि प्रतिहते **निःश्वसिति** नातः परं निस्तार इति, तादृशं क्षीणमपि **चेन्** मारयति भगवांस्तदा मरणार्थं **रुषोच्चैर्भवति**, समुन्नमतीत्यनेन देवताधिष्ठानं ज्ञापितं, आधिदैविके क्षीणे मरणार्थमुपस्थिते साक्षान्मारणमनुचितमिति **नृत्यत्पदा नृत्यं** कुर्वतैव नृत्यकरणभूतेन पदा, **अनुनमयन्** स्वसम्मुखतया नमनं कारयञ्छिक्षयन्निव दमयाम्बभूव दमनं कारितवान्, स्वयमेव वा कृतवान् एवं दमनं कृत आधिदैविकस्योपास्यस्य भगवतो वारम्वारस्यं भवेत् तदा मर्यादाविरोधः स्यादित्याशङ्क्याह **पुष्पैः सुपूजित इवेह पुमान् पुराण** इति **इहा**स्मिन्नवसरे **पुष्पैः सुपूजित इव** जात आध्यात्मिको भगवता सन्मार्गे शिक्षित इति तयोः सन्तोष एवातस्ताभ्यां **पूजितो** भगवान्, तौ ह्यलौकिकप्रकारेण दिव्यैः **स्वतेजोभिः** पूजां कृतवन्तौ, तानि पुष्पाणीव जातानि, तदाह **पुष्पैरिव सुपूजित** इति, उभयोः पूजायां प्रत्येकं हेतुमाह **पुरुष** इति, आधिदैविकपूजायां हेतुः, त्रयमपि प्राकृतमिवेति पुराणस्तूपास्यः पुरुषोत्तमो हि सर्वोपास्यरूपाणामप्युपास्यो यथा व्यासकपिलादेः, एवं मूर्छापर्यन्तं दण्डं कृतवानद्भुतकर्मत्वान्नृत्येनाक्लिष्टकर्मत्वान्न मारितवान् ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ — कालीय अब अपना विष नेत्रों द्वारा बाहिर निकालने लगा क्योंकि पहले तो रक्त विशेष होने से नासिका तथा मुख से वह बहने लगा था जिससे सर्प उन द्वारों से विष वमन नहीं कर सका कारण कि रुधिर ने विष के निकलने का मार्ग बन्द कर दिया था। नेत्र ज्ञान प्रधान थे अतः विष को निकलने से नहीं रोका। आँखों से गरल वमन करने वाले के शिरों में से जो शिर ऊँचा उठता था उसको भगवान् चरण से मार कर दमन कर देते थे। इन सर्प के शिरों में जो शिर आधि* दैविक भाव को प्राप्त हुए थे, वे ही फिर ऊँचे होते थे। ऊँचे होने की शक्ति उसके (सर्प के) उपाय स्वरूप गरल से उनमें आई हुई थी फिर वह शिर भी जब पादप्रहार से कुचल कर निर्बल हो जाता तब ठंडी साँस लेने

* जिन शिरों में सर्प का उपास्य देव विष आ गया था वह शिर आधिदैविक भाव वाला हो गया था।

१ सर्प का विष। २-दबा दिया।

लगता और समझ जाता कि अब कोई अन्य छुटकारा नहीं है। क्षीण होने पर भी, यदि भगवान् मारेंगे तो भले मारें, मरने के लिए स्वयं आगे आ जाता और क्रोध में भरकर शिर को अच्छी तरह ऊँचा करता. इससे यह जताता कि, यह शिर देवता का अधिष्ठान (रहने का स्थान) है। आधिदैविक बल भी क्षीण होने से, मरण के लिए उपस्थित (निकट आया) हुआ है किन्तु इसको साक्षात् मारना उचित (योग्य) नहीं है अतः भगवान् नाच करने वाले पाद से उसको सन्मुख कर फिर अपने को प्रणाम कराके एक शिक्षा† करते हुए उसका दमन कराने लगे अथवा स्वयं भगवान् ने ही दमन किया। इस प्रकार दमन करने से आधिदैविक (शेष) एवं (विष) उपास्य देवता की कोई अनिष्ट (अप्रसन्नता) न हो जाए यदि होगी तो यह कार्य मर्यादा के विरुद्ध हुआ कहा जाएगा। किसी को इस प्रकार शंका हो जाए तो उसका निवारण करते हुए कहते हैं कि इस अवसर पर भगवान् मानों पुष्पों से पूजे गए। आध्यात्मिक को भगवान् ने सन्मार्ग की शिक्षा† दी इससे आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों संतुष्ट हुए जिससे उन्होंने अलौकिक प्रकार से अर्थात् अपने दिव्य तेजों से भगवान् का पूजन किया वे तेज, पुष्प जैसे हो गए इसलिए कहा है कि पुष्पों से भगवान् की पूजा की।

दोनों ने भगवान् की आधिदैविक प्रकार से पूजा की प्रत्येक के पूजा का कारण यह है कि, भगवान् पुरुष हैं, श्लोक में केवल पुरुष न कहकर पुराण भी कहा है इस लिए जो पुराण पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम है तथा जिसकी व्यास कपिल आदि भी उपासना करते हैं वह सबों को पूजना चाहिए इस लिए जो तीन प्राकृत* रूप उपास्य है वे भी उस की (पुरुषोत्तम की) उपासना करते हैं। अतः कालीय ने आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दोनों रूपों से जो पूजा की वह उचित ही है।

भगवान् अद्भुत कर्मा हैं अतः मूर्छा‡ पर्यन्त दुष्ट कालीय को दण्ड दिया और अक्लिष्ट कर्मा होने के कारण नृत्य करते हुए दण्ड दिया, मारा नहीं ॥ २९ ॥

आभास — एवं सति भगवच्चरणारविन्दप्रसादात्तस्य ज्ञानभक्ती जाते इत्याह तच्चित्रेति।

आभासार्थ — इस प्रकार नृत्य करने से भगवान् के चरणारविन्द के अनुग्रह से उसको (कालीय को) ज्ञान तथा भक्ति की प्राप्ति हुई, इस श्लोक में यह वर्णन किया है।

---

† ऐसे पवित्र स्थान पर जिस प्रकार का कार्य अब तूँ कर रहा है उस प्रकार नहीं करना चाहिए इस प्रकार की शिक्षा करते हुए।

* एकादश स्कन्ध के २२वें अध्याय के इस श्लोक (ममांग माया) में लिखा है कि मेरी माया अनेक प्रकार की है इसलिए रूप में जो विकल्प बुद्धि होती है वह गुणों द्वारा होती है जिससे **अध्यात्म**, **आधिदैव** एवं अधिभूत कहा जाता है इत्यादि। **'प्रकाश'**

‡ उससे इन्द्रियों का सामर्थ्य नष्ट हो गया। यह दण्ड आध्यात्मिक स्वरूप को दिया है। **'लेख'**

श्लोकः – **तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो रक्तं मुखैरुरु वमन् नृप भग्नगात्रः ॥**
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ – हे नृप ! भगवान् के विचित्र ताण्डव करने से जिसके फण रूप छत्र टूट पड़े ऐसा, वह नाग मुखों में से रक्त उगलता हुआ जब भग्नशरीर हो गया तब उसने श्रीकृष्णचन्द्र को चराचर के गुरु, पुराण पुरूष और नारायण समझ मन से उनकी शरण ली ॥ ३० ॥

सुबोधिनी – नन्वभिमाने विद्यमाने कथं ज्ञानम् तत्राह **चित्रताण्डवेन विरुग्णा फणातपत्रं** यस्येति, **अभिमानस्य सूचकाः फणा एव** श्वेतातपत्रस्थानीयाः, ते **पुनर्विचित्रताण्डवेन** विशेषेण भग्नाः, नृत्यं **द्विविधं लास्यताण्डवभेदेन लास्यं स्त्रीनृत्यं ताण्डवं पुरुषनृत्यं, तयोरवान्तरभेदाः शतशः सन्ति,** तत्र रसाभिनिविष्टः **पुरुषः प्रलये महादेव इव विचितत्राण्डवं करोति तद्** भगवतात्र तच्छिक्षार्थं कृतं, तेन विशेषेण भग्नफणातपत्रो जातः, ननु शरीरदोषे विद्यमान आध्यात्मिके भौतिके च कथं ज्ञानभक्ती भवत इत्याह **रक्तं मुखैरुरु वम**न्निति, **रुधिरमन्तर्दोषात्मकं,** तद्वमऽन्तर्दोषो **गतः, भग्नगात्रत्वाद् बहिर्दोषोपि,** अतो निर्दुष्टो नारायणं स्मृतवान्, आधिदैविके हि शेषे स्वसम्बन्धिनि स शेते, अत **आधिदैविकेनोपकृतो नारायणं** स्मृतवान्, उपास्येन च स एवायं नारायण इति ज्ञातवान्, तदा स्वस्य दासत्वमस्य भगवतः स्वामित्वं चाद्यत्वेन ज्ञात्वा **तमेवारणं** शरणं **मनसा जगाम, मनसा हि नारायणः शरणत्वेन भावनीयः** स **ह्यन्तः-करणसाक्षी, शरणं गतो हि पश्चात् सेवया भक्तो भवति, ततः परं न प्रहार** इति ज्ञातव्यम् ॥ ३० ॥

व्याख्यार्थ – वह कालीय अभिमानी था उसको ज्ञान की प्राप्ति कैसे हुई ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे राजा को राजापन का अभिमान तब तक रहता है जब तक उसका श्वेत छत्र स्थापित है, उसके नष्ट होने पर, राजा का राजापन का अभिमान नष्ट हो जाता है, वैसे इसके फण रूप छत्र को, भगवान् ने विचित्र ताण्डवनृत्य करने से, विशेष भाँति भग्न[१] कर दिया जिससे उसका अभिमान भी नष्ट हो गया ।

नृत्य दो प्रकार के होते हैं, एक का नाम लास्य है और दूसरे का नाम ताण्डव है । लास्य नृत्य स्त्रियाँ करती है और ताण्डव पुरुषों का नृत्य है । उन नाचों के अनेक प्रकार हैं । उनमें, जैसे प्रलय के समय, विचित्र ताण्डव नृत्य कर महादेवजी उस रस में मग्न हो जाते हैं । वैसे ही पुरुष भी ताण्डव करता हुआ रस मग्न होता है । वह नृत्य भगवान् ने यहाँ उसकी (सर्प की) शिक्षा के लिए किया । अन्तःकरण का दोष रक्त है वह आध्यात्मिक दोष मुख से रक्त के वमन हो जाने से नष्ट हो गया और गात्रों के टूट जाने से, आधिभौतिक[२] दोष दूर हो गया । जिससे निर्दोष हो गया अतः अभिमान त्याग, नारायण स्मरण करने लगा । नारायण का स्मरण इसलिए किया कि नारायण, आधिदैविक शेष

१-तोड़ । २-बाहर का ।

पर शयन (स्थिति) करते हैं, क्योंकि वे अपने सम्बन्ध वाले हैं जिससे उस पर आधिदैविक का उपकार हो जाता है। इस उपकार से शुद्धान्तःकरण हो, नारायण की स्मृति करने लगा। निर्दोष होने पर भी जब तक महापुरुषों की कृपा नहीं होती, तब तक भगवत्स्मरण नहीं होता है कालीय निर्दोष हो गया किन्तु जब आधिदैविक ने उपकार किया, तब पूर्ण स्मरण करने लगा।

उपास्य की कृपा से, इसको (कालीय को), यह ज्ञान हो गया, कि वह ही यह पुरुषोत्तम है। ऐसा ज्ञान होने से अपने को दास समझ उनको स्वामी मान और यह ही सबके आदि हैं यों निश्चय पूर्वक जान लेने से उनके ही शरण मन पूर्वक गया।

नारायण के शरण की भावना मन से ही करनी चाहिए क्योंकि वे अन्तःकरण के साक्षी हैं। इसलिए जब तक हम मन से शरण नहीं जायेंगे तब तक उससे फल सिद्धि नहीं होगी क्योंकि वे हमारे अन्तःकरण की सब बात जानते हैं। इस प्रकार शरण जाने के पीछे सेवा करने से भक्त बनता है। भक्त होने के पीछे प्रहार नहीं होता है यों समझ लेना चाहिए ॥ ३० ॥

आभास – अन्येन स एवं जात इत्यन्येनैव तस्य विमोचनं वक्तुं तस्य स्त्रियः समागता इत्याह कृष्णस्येति।

आभासार्थ – कालीय भगवान् की शरण अन्यों की प्रेरणा से आया था अतः उसको अन्यों ने ही छुड़ाया यह कहने के लिए उसकी (नागकी) स्त्रियाँ आईं जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

श्लोकः – **कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं पार्ष्णिप्रहारपरिभग्नफणातपत्रम् ॥**
दृष्ट्वाहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ – उदर में स्थित समस्त जगत् के भारवाले भगवान् के बोझ से पीड़ित और उनकी एड़ी के प्रहार से टूटे हुए फण रूप छत्र वाले कालीय नाग को देख जिनके वस्त्र, आभूषण और बालों की शोभा शिथिल हो गई है वैसी अत्यन्त आर्त[1] उसकी पत्नियाँ भगवान् के शरण आई ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी – ता हि भर्तारं द्रष्टुमागताः पतिव्रता नार्यः, अतः स्वधर्मेणैव तासां ज्ञानं, कृष्णस्य **भारेणावसन्नं** पीडितं पार्ष्णिप्रहारेण च परितो **भग्नं फणातपत्रं** यस्य, एवं स्वतोऽभिमानतश्च गतदोषम**मुष्यैव पत्न्य**स्तं **दृष्ट्वा**र्ताः सत्यो भगवन्त**मुपसेदु**रितिसम्बन्धः, ननु **बालक**स्य भगवतः को भारः तत्रापि सच्चिदानन्दस्य स्थूलकार्यस्यैव भारत्वात् ? तत्राह

१-दुःखी।

गर्भे जगद् यस्येति न ह्येकेन **जगद्भारः सोढुं शक्यते,** नन्वस्यैव भ्राता शेषः कथं सहते ? तत्रोक्तं परितो **भग्नं फणातपत्रं** यस्येति, न केवलं भगवान् भाररूपः किन्तु मारयति च, नन्वन्यस्य स्त्रियः कथं भगवत्स्थाने समागताः ? तत्राहाद्यमिति, स ह्यहेः स्वस्य च मूलभूतो भवति, **किञ्चामुष्य पत्न्यः** "पत्युर्नो यज्ञसंयोग" इति यज्ञसंयोग एवासां पत्नीत्वं, अयं च भगवान् यज्ञः, तत्र पतिः संयुक्तः स्वयं चेदसंयुक्ताः स्युस्तदा पत्न्य एव न स्युः, किञ्चार्ताः पत्नीत्वादेव तस्यार्धशरीरं भवन्त्यतः स्वयमेव ताडिता अर्धमृता विज्ञापयन्ति, नन्वन्यस्य मारणे कथमन्यो मारित इव पीडितो भवेत् ? शास्त्रं तूपचरितार्थमिति मतं दूरीकुर्वंस्तत्राधिकारे तथैव भवतीति ताडितचिह्नान्याह श्लथन्ति **वसनानि भूषणानि केशबन्धाश्च** यासाम् ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ – नाग की स्त्रियाँ पतिव्रताएँ थीं, वे पति के दर्शन के लिए वहाँ आई थीं उनको ज्ञान पतिव्रत धर्म के पालन के बल से हुआ था। श्रीकृष्ण के बोझ से पीड़ित[१] तथा (वैसे) एड़ी के प्रहार से, जिसके फण रूप छत्र टूट गए हैं वैसे नाग को, उन्होंने (नाग पत्नियों ने) देखा। भगवान् के इस प्रकार की लीला से, जिसके अपने (देह के) तथा अभिमान के दोष शेष नष्ट हो गए हैं वैसे उसको देख, उसकी स्त्रियाँ दुःखित होने लगीं, अतः भगवान् के निकट शरण में आईं।

भगवान् के भार से पीड़ित[१] हुई, यह कहना असंगत है, कारण कि पीड़ा बोझ से होती है, बोझ स्थूल पदार्थ में होता है, स्थूल पदार्थ वह होता है जो पाँच भूतों में से बना हुआ हो। भगवान् का श्री अंग पँचभूतों से नहीं बना है अतः सूक्ष्म अलौकिक होने से, उसमें भार तो है ही नहीं, तब वह पीड़ित कैसे हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि देह के भार से पीड़ित नहीं हुआ किन्तु उदर में स्थित जगत् के भार से पीड़ित हुआ है अकेला इतना जगत् का भार कैसे सहन कर सकेगा इसलिए दुःखी हुआ है।

इसका (कालीय का) भाई, शेष कैसे जगत् भार अकेले धारण करता है। जब वह धारण कर सकता है, तो यह क्यों न धारण करे। इस पर कहते हैं, कि उसकी (कालीय की) फणें भगवान् ने तोड़ डाली हैं, जिससे वह क्षीण हो गया है। क्षीण शक्ति वाला भार कैसे सहन कर सकेगा, केवल भगवान् का भार हो, तो किसी प्रकार वह सहन करने का प्रयत्न भी करे, किन्तु वे तो मारते भी थे।

ये स्त्रियाँ, नाग की पत्नियाँ हैं, वे दूसरे के वहाँ, अर्थात् भगवान् के स्थान पर कैसे आई इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि वह (भगवान् कृष्ण) सर्प (कालीय) तथा उसकी स्त्रियाँ के आदि हैं। ये स्त्रियाँ कालीय की पत्नियाँ तब हो, जब वे, भगवान् से संयोग करें क्यों कि, 'पत्युर्नो यज्ञसंयोग' इस शास्त्र वचन के अनुसार पत्नीत्व तब होता है, इसको स्पष्ट कर समझाते हैं कि यह भगवान् यज्ञ रूप हैं उससे हमारे पति का (कालीय का) संयोग हुआ है। अब हम यज्ञ रूप भगवान् से संयोग न करें तो हम पत्नियाँ ही नहीं बनें। पत्नी होने से उसका (कालीय का) अर्धशरीर थीं तब ही तो दुःखी

१-दुःखी।

हुई जिससे वे बताती हैं, कि देखो हम भी उनसे (भगवान् से) ताड़ित होकर आधी मरी हो गई हैं।

कोई कहें, कि यह आपका कहना सत्य नहीं है। क्योंकि एक के मारने से अन्य का मारा जाना कैसे माना जाए, जिससे दूसरे को पीड़ा हुई हो। उसका उत्तर देती हैं कि यह आपका मत, अनुभव से विरुद्ध है। शास्त्र ने जो पत्नी को पति का आधा अंग कहा है वह अलङ्कारिक भाषा नहीं है किन्तु सत्य वाक्य है। इसके प्रमाण में हम अपना अनुभव तथा चिह्न बताती हैं। मार खाने से हमारे शरीर दुबले हो गए हैं। जिससे हमारे वस्त्र, आभूषण और केश पाश सब शिथिल हो गए हैं ॥ ३१ ॥

आभास – आदिमध्यावसानेषु संयुक्तपदार्थानामपगमस्ताडनव्यतिरेकेण न सम्भवति तत्रापि मानवतीनां तासां भर्तृमोचनार्थं भर्तरि दयोत्पादनार्थं भर्तुर्बालकत्वं ज्ञापयन्त्यो भर्तृरूपान् बालकान् पुरस्कृत्योपायनमिव स्वसर्वस्वं भर्तृस्थापितं निवेद्य स्वयमपि भूमौ जल एवोद्गताधिदैविकभूमौ तीरस्थभूमौ वान्तर्ह्रदमध्ये प्रविष्टं भगवन्तं वात्मनिवेदनमिव कुर्वन्त्यो नमस्कारं कृत्वा भगवत्स्तोत्रं कृतवत्य इत्याह तास्तमिति,

आभासार्थ -- शरीर पर धारण किए हुए वस्त्र, मध्यमें पहने हुए आभूषण और मस्तक पर केशपाश जो अंगों से संबद्ध[१] थे, वे मार पड़े बिना कभी भी शिथिल नहीं पड़ते हैं और ये तो पतिव्रताएँ थीं इसलिए इनका शरीर तो हृष्ट पुष्ट रहता है अतः मार के कारण ही वैसा हुआ है। ये पतिव्रताएँ, पति को छुड़ाने के लिए पति पर भगवान् दया करें, ऐसे विचार भगवान् के हृदय में उत्पन्न कराने के लिए, यह हमारा बालक है वैसा जनाती हुई, भर्तृरूप बालकों को भेंट की तरह आगे कर, और पति के दिये हुए अपने सर्वस्व को भगवान् के आगे निवेदन कर, आप (नाग पत्नियाँ) भी ह्रद के मध्य पृथ्वी† पर प्रविष्ट हुए भगवान् को मानों आत्म-निवेदन (अर्पण के समान) करती हुई प्रणाम कर, उनकी स्तुति करने लगीं-इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं-

---

† (१) यमुनाजी के किनारे की भूमि (२) जल के भीतर उत्पन्न (निकली हुई) आधिदैविक भूमि और (३) ह्रद के नीचे की भूमि। इस प्रकार भूमि शब्द तीन प्रकार की भूमि बताता है। किन्तु भगवान् स्त्रियों की लज्जा रखने के लिए ह्रद के नीचे की भूमि पर, कालीय के साथ प्रविष्ट हुए।

'प्रकाश' व 'लेख'

१-मिले हुए।

श्लोक: — **तास्तं विपन्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भाः कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः ॥**
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाःशमलस्य भर्तुर्मोक्षेप्सवःशरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ — उद्विग्न[१] मनवाली और पापी पति को दुःख से छुड़ाने की इच्छा वाली वे पतिव्रताएँ, अपने बच्चों को आगे कर, शरण देने वाले भगवान् की शरण में आकर हाथ जोड़ अपने शरीर को पृथ्वी पर (दण्डे की भाँति) धर के प्रणाम करने लगी ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी — नन्वागता एव कथं न प्रार्थितवत्यः ? तदाह **विपन्नमनस** इति, **विपन्नं मनो** यासां, भगवान् मोचयिष्यतीति गतविश्वासा भर्तुरपराधित्वात्, अतस्तं प्रकारं परित्यज्याथ भिन्नप्रकारेण स्तोत्रं कृतवत्यः, **पुरस्कृता अर्भा** बालका याभिः संयुक्ता तु सामग्री पूर्वमेव गताती भूमौ **कायं निधाय**, नन्वेतादृगवस्थायां कथं पुरुषान्तरे पतिताः ? तत्राह **भूतपतिमिति**, स हि भूतमात्रस्य **पतिः** साधारणः, तर्ह्येता एवानुगृहीताः स्युस्तत्राह **साध्व्य** इति, ता हि भर्तृरूपमेव भगवन्तं सेवितुं वाञ्छन्ति नान्यप्रकारेण, अतः **कृताञ्जलिपुटा** अञ्जलिं **बद्ध्वा** देवतारूपत्वाद् दिव्यस्त्रीरूपा भर्तुः **शमलस्य** पापस्यापराधस्य च मोक्षे मोक्षण इच्छा यासां तादृश्यः सत्यो **भगवान् शरणद** इति **शरणं प्रपन्नाः**, स तु **शरणागत** इति **भगवतैव न मारणीयस्त**थापि तस्य पापं सहजं तमोरूप-मपराधश्च न गच्छतीत्येतासामुद्योगः ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ — उनको (नाग पत्नियों को) आते ही भगवान् को प्रार्थना करनी चाहिए थी, किन्तु चिन्ताग्रस्त मन होने से उनको यह विश्वास नहीं हुआ कि हमारे इस अपराधी पापी पति को भगवान् छोड़ेंगे या नहीं ? अतः प्रथम प्रार्थना न कर, अन्य प्रकार से स्तुति करने लगी । जिन्होंने बालकों को आगे कर रखा है इसलिए कि ये हमारे बालक हैं इनको देख कर भगवान् को दया आएगी । और संयुक्त सामग्री तो पहले ही भगवान् के पास जा चुकी थी । अतः पृथ्वी पर शरीर को दण्डवत् धर दिया । ये पतिव्रताएँ थी इनको पर पुरुषों के पास इस प्रकार लेट जाना योग्य नहीं था । इस शंका के मिटाने के लिए कहा है कि ये पर पुरुष के पास नहीं नमी थीं किन्तु जिनके आगे नमी थीं वे समस्त भूतों के पति हैं, पति होने से इनके ऊपर भी अनुग्रह करेंगे और साथ में ये साध्वी (पति के साथ छाया के समान रहनेवाली पतिव्रताएँ) हैं । इन्होंने भगवान् की जो प्रणाम रूप से, सेवा की है, वह भगवान् को पति समझ कर ही की है, न कि अन्य प्रकार से अर्थात् पर पुरुष समझकर नहीं की हैं । अतः हाथ जोड़ कर देवता रूप होने से, वे दिव्य (अलौकिक) रूपस्त्रियाँ अपने पति के पाप तथा अपराध को क्षमा कराना चाहती थीं । इन्होंने जान लिया कि भगवान् शरण्य (शरण आए हुए पर दया करने वाले) हैं इसलिए उनके शरण गईं । वह (सर्प) तो शरण आया हुआ ही था भगवान् उसको तो मारेंगे नहीं किन्तु वह सहज (स्वभाव से) पापी है क्यों कि तमोरूप है और इसी कारण से भगवान्

१-दुःखी ।

का अब अपराधी हुआ है। इस पाप तथा अपराध का जाना कठिन है इसलिए ही नाग पत्नियों का उद्यम है ॥ ३२ ॥

कारिका – **दण्डानुमोदनं षड्भिर्नमनं दशभिस्तथा ।**
प्रार्थना पञ्चभिश्चेति त्रेधा स्तुतिरुदीर्यते ॥ १ ॥
द्विविधस्यापि पापस्य सापराधस्य नाशिका ।
भगवान् षड्गुणस्तास्तु दशधा पञ्चधा पतिः ॥ २ ॥

कारिकार्थ – छः श्लोकों से दण्ड का समर्थन, दश श्लोकों से प्रणाम, पाँच श्लोकों से प्रार्थना, इस प्रकार तीन भाँति स्तुति कही जाती है ॥ १ ॥

वह स्तुति, अपराध तथा दो प्रकार के पापो को, नाश करने वाली हैं, उनके (नाग पत्नियों के) हृदय में भगवान् छः गुणों से प्रकट हुए हैं और पाँच प्रकार से उनके पति हैं ॥ २ ॥

कारिका व्याख्यार्थ – नाग पत्निओं ने भगवान् की तीन भाँति इक्कीस श्लोकों में स्तुति की है। पहला प्रकार छः श्लोकों (३३ से ३८) में जो स्तुति की, उसमें भगवान् ने जो कालीय को दण्ड दिया उसका अनुमोदन (आपने इसको दण्ड दिया वह अच्छा किया इस प्रकार के वचन कहने से) किया। दूसरा प्रकार दश श्लोकों (३९ से ४८) में जो स्तुति की उसमें भगवान् को प्रणाम किया है कारण कि उनके हृदय में दशलीला युक्त भगवान् का आविर्भाव हो गया था। तीसरा प्रकार पाँच श्लोकों (४९ से ५३) में जो स्तुति की वह प्रार्थना रूप में की है। उस (प्रार्थना) का पाँच श्लोकों में करने का तात्पर्य (भाव) यह है कि भगवान् पाँच प्रकार से पति हैं।

१-श्रियः पतिः, २-यज्ञ पतिः, ३-प्रजापतिः, ४-धियापतिः, ५-लोकपतिः,※ अतः इनके भी पति हैं-अतः उनको प्रार्थना करना योग्य हैं यह भी इससे बता दिया है ॥ १ ॥

नाग पत्नियों ने भगवान् की स्तुति इस आशय से की है कि, हमारे पति के तीन प्रकार के दोष नष्ट हो जावें।

१-सहज दोष, देह के साथ (जन्म से) उत्पन्न हुए वे दोष हैं अतः वे स्वाभाविक दोष कहे जाते हैं।

※ लक्ष्मी के पति हैं, यज्ञ के पति हैं, प्रजा के पति है, बुद्धि के पति हैं, और लोक-धरा के पति हैं। इस प्रकार पाँचों के पति हैं, लोक और धरा एक ही मान पाँच के पति कहे हैं। लोक में नागपत्नियाँ तथा सर्प के भी पति हैं क्योंकि लोक में ये भी आ जाते हैं।

२-तमोरूप वा अज्ञान रूप है जिस के कारण वह प्रतिदिन अपने विष से प्राणियों का नाश करता था ।

३-भगवान् को दंश (डसने) से पीड़ा पहुँचाना और उनको लपेट लेना, उनका यह (भगवान् का) अपराध किया है अतः यह तीसरा दोष है ।

इस प्रकार वह तीन तरह से दोषी था जिससे उन तीनों दोषों की निवृत्ति एक प्रकार की स्तुति से नहीं हो सकती है इसलिए उन तीनों की निवृत्ति के लिए पृथक् पृथक् प्रकार से स्तुति की है ॥

॥ इति कारिका व्याख्या सार ॥

आभास — तत्र प्रथमं भगवत्कृतस्य दण्डत्वं स्वीकृत्य तस्य न्याय्यत्वमाहुर्न्याय्यो हि दण्ड इति.

आभासार्थ — नाग पत्नियाँ निम्न श्लोक में कहती हैं कि भगवान् ने जो दण्ड दिया है वह न्याय के अनुसार है ।

॥ नागपत्न्य ऊचुः ॥

श्लोकः — **न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिंस्तवावतारः खलनिग्रहाय ।**
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ — नाग पत्नियाँ कहने लगी कि - इस पापी (अपराधी) को जो आपने दण्ड दिया है वह न्याय किया है । आपका अवतार दुष्टों को दण्ड देने के लिए ही है । आप जो कुछ दण्ड देते हैं वह फल का विचार करके देते हैं, कारण कि, आप शत्रु तथा पुत्र को एक समान देखते हैं ॥ ३३ ॥

सुबोधिनी — अयं मारणलक्षणो दण्डो न्यायादनपेतः, ईश्वरो हि **त्रिविधदण्डं करोति न्याय्यं न्यूनमधिकं च** प्रसादमर्या**देश्वरत्वधर्मास्तत्र प्रयोजकाः**, तत्रायं **न्याय्यः**, कृतं किल्**बिषं** पापं येन, अनेन बहव एव विहिंसिता इत्येत[illegible]माप्युचितैव, ननु पापे दण्डधरो यमोऽस्ति मया कथं न करो[illegible] इति चेत् तत्राहुस्तवा**वतारः खलनिग्रहायेति, खला हि निरन्तरं दोषकर्तारो बहुजीविनश्च**, मरणानन्तरमेव यमोऽधिकारी तावत्पर्यन्तमुपेक्षायां सर्वनाश एव स्यात्, अतः खलानां निग्रहार्थमेव भगवान् मध्येऽवतीर्णः, ननु तथापि **कश्यपपुत्रोऽयं शेषभ्राता** कथं दण्ड्य इति चेत् तत्राहू **रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेरिति**, न **ह्यवतीर्णः सम्बन्धमपेक्षते दण्डार्थमेव ह्यवतारात्** रिपोः **सुतानां** स्वसुतानां च

सम्बन्धिनी तद्विपयिका भगवतस्तुल्यैव दृष्टिः, अन्यथाकरणे वैषम्यं स्यात्, रिपोः सम्बन्धिनी सुतसम्बन्धिनी वा सप्तम्यर्थे वा षष्ठी, किञ्च **भगवान् दण्डं न पीडार्थं करोति तथा सत्यात्मत्वं भज्येताद्यत्वं च किन्तु भगवान् पुत्रमिव तस्याग्रे सत्फलमेवानुशंसन् दमं करोति**, तदाह **धत्से दमं फलमेवानुशंसन्**निति, अतोऽस्याग्रे फलं भविष्यतीति दण्डेन विनिश्चितम् ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ – इसको जो आपने पीटा है वह न्याय युक्त है। ईश्वर में तीन प्रकार के धर्म हैं, १ प्रसाद, २-मर्यादा और ३-अनुग्रह। अतः दण्ड भी तीन प्रकार करते है १-न्याय (पूरा) २-कम, और तीसरा अधिक। इनमें से दण्ड न्याय्य है कारण कि इसने बहुतों की हिंसा कर अनेक पाप किए हैं इसलिए इसका इस प्रकार दमन करना उचित ही है। आप यों नहीं कहना कि पाप का दण्ड देना तो यम के अधिकार की बात है मेरे अधिकार की नहीं है। क्योंकि आपने अवतार ही खलों (दुष्ट पापियों) के दमन करने के लिए लिया है कारण कि, यदि आप इस प्रकार मध्यमें ही अवतार लेकर खलों का निग्रह नहीं करो तो, ये खल बड़ी आयु वाले होने से अपने कर्मों से संसार को नष्ट कर देते। यम तो मरने के अनन्तर दुष्टों को दण्ड देने का अधिकारी है। अतः आप जगत् की रक्षा के लिए मध्य में अवतार लेकर खलों को दण्ड देकर अपना जगत् रक्षक (पालक पिता) का धर्म पालन करते हैं।

यदि आप कहो कि यह (कालीय) तो कश्यप का पुत्र और शेष का भ्राता है वह दण्ड के योग्य कैसे? यह आपका कहना आपके सहज धर्म के अनुकूल नहीं है क्योंकि आपका सहज धर्म, शत्रु और पुत्रों† को समान देखना है अतः यह कश्यप का पुत्र हो, वा शेष का भाई हो, तो भी, अपराधी होने के कारण, आपसे दण्ड्य[1] ही है। नहीं तो आपका सहज धर्म, समदृष्टि रहेगी नहीं। इसको यदि आप दण्ड नहीं देते तो आप विषम[2] दृष्टि वाले कहे जाते।

भगवान् सब की आत्मा और आदि हैं अतः किसी को भी दण्ड, पीड़ा[3] देने के लिए नहीं देते हैं यदि पीड़ा देने के लिए देवें तो उनका अनन्तापन तथा आदि कारण रहे नहीं। यदि पीड़ा के लिए नहीं देते हैं तो किस लिए देते हैं। उसके उत्तर में कहते हैं कि, पहले विचार करते हैं, कि इस को ऐसा दण्ड दूँ, जिससे, इसका हित होवे, यह फल विचार कर, पश्चात् उसी प्रकार का उसको वैसा दण्ड देते हैं ॥ ३३ ॥

---

† यहाँ मूल में (रिपोः सुतानां) ये दो पद षष्ठी विभक्ति में है किन्तु यह षष्ठी सप्तमी के अर्थ में [illegible] अतः इनका अर्थ सप्तमी के समान होगा। अर्थात् इसका अर्थ होगा - शत्रु और पुत्रों [illegible] रखते हैं ॥ सु.॥

१-दंड देने योग्य। २-असमान, एक जैसी नहीं। ३-दुःख।

आभास — एवं भगवत्कृतस्य दण्डत्वमङ्गीकृत्येदानीं दण्ड एवायं न भवति किन्त्वनुग्रह एवेत्याहुरनुग्रह इति,

आभासार्थ — उपरोक्त ३३वें श्लोक में भगवान् ने जो सर्प का दमन किया उसको दण्ड स्वीकार किया है, अब इस ३४वें श्लोक में उस दण्ड के लिए कहती हैं कि वास्तव में वह दण्ड होते हुए भी आपका अनुग्रह[१] ही है ।

श्लोक: — **अनुग्रहोऽयं भवत: कृतोऽहिनो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापह: ।**
यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिन: क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मत: ।। ३४ ।।

श्लोकार्थ — आपने सर्प के ऊपर अनुग्रह ही किया हैं क्यों कि आप जो दण्ड करते हैं वह पापियों के पाप को नाश करने वाला है । यह जिस पाप के कारण सर्प योनि में आया है (वह पाप इस दण्ड से नष्ट हो गया है) सत्पुरुष आपके क्रोध को अनुग्रह ही मानते हैं ।। ३४ ।।

सुबोधिनी — भवतायमनुग्रह एव कृत:, **अहिनोहे:,** अप्रयोजकत्वान्नपुंसकत्वं, ततो नुम्, अतो **वानुग्रह:, अहीनो** वानुग्रह:, ननु दु:खात्मकस्यास्य कथमनुग्रहरूपत्वम् ? तत्राहु**र्दण्डोऽसतां खलु कल्मषापह** इति, **दण्डो भगवानिति भारते** व्यवस्थापितं, अत: क्लेशरूपोऽपि तपोवद् यागवद् दण्डोऽपि कल्मषनाशक इत्य**नुग्रह** एव, ननु पापस्य **प्रत्यहं** जायमानस्य दीपेनान्धकारस्येव निवृत्तिरप्यप्रयोजिकान्यथा दु:खनिवारणार्थं कोऽपि पापं न कुर्याद् दण्डापेक्षया पूर्वदु:खस्यैवाल्पत्वादत आह **यद् दन्दशूकत्व**मिति, आदावसत्त्व-प्रतिपादकत्वं तस्योक्तमेव तद्गतेन **सत्त्वं** भवतीति च सिद्धं. **दन्दशूकत्वं** सर्पत्वमपि जातं तदपि गच्छति चेद् दन्दशूकत्वमपि गच्छेत् ततो **देहिन** इतिशब्दाद् देहसम्बन्धस्तदभिमानश्च गच्छेत अतो **बह्वर्थसाधकदण्डस्य हेतुभूत: क्रोधोऽप्यनुग्रह एव,** न केवलं युक्तिमात्रं किन्तु **सम्मत:** सतां मत: सर्वाविप्रतिपन्नरूप:, अतो **दण्डो दण्डहेतु: क्रोधश्चानुग्रह एव** ।। ३४ ।।

व्याख्यार्थ — आपने इस सर्प* पर अनुग्रह ही किया । साधारण अनुग्रह नहीं किया है, किन्तु विशेष

---

* श्लोक में (अहिन:) पद है यों (अहि) शब्द पुल्लिग का है उसको नपुंसकलिंग में देने का भाव यह है कि यहाँ दिखाना है कि 'सर्प' का पौरूष (पुरुष पने का बल) यहाँ चल नहीं सका है अत: यह नपुसंक है । आचार्य श्री कहते हैं कि यदि (अहिन:) स्थान पर (अहीन:) पद मान लिया जाय और वह 'अनुग्रह' का विशेषण समझ कर अर्थ किया जाय कि आपका सर्प के उपर यह अनुग्रह स्वल्प (थोड़ा) नहीं है किन्तु विशेष है । 'प्रकाश'

१-कृपा ।

अनुग्रह किया है। जिस दण्ड के मिलने से दु:ख होता है, वह दण्ड का अनुग्रह है, इस प्रकार आप कैसे कहती हो ? इसके उत्तर में कहती हैं कि भारत में (दण्ड) को भगवान् का ही रूप सिद्ध किया है क्योंकि जैसे भगवान् पापी के पापों को नाश करते हैं वैसे ही दण्ड क्लेश रूप होते हुए भी तपस्या तथा याग के समान पाप को नाश करता है, अत: हम कहती हैं कि यह दण्ड, दण्ड रूप आप, भगवान् का, अनुग्रह ही है।

पाप तो नित्य होते हीं हैं, उनकी निवृत्ति[१] के लिए दण्ड सहन करना निरर्थक[२] है क्योंकि जैसे दीपक से अन्धेरा मिटाने पर भी अन्धेरा सर्वथा निवृत्त नहीं होता है, क्योंकि अन्धकार का कारण रात्रि विद्यमान हैं। यदि पाप पुन: उत्पन्न न होवे, तो उनके मिटाने के लिए दण्ड सहन करना युक्त है, किन्तु वैसा होता नहीं है, अर्थात् दण्ड सहन करने के अनन्तर, पुन: पाप किए जाते हैं। सांसारिक धनाभाव आदि दु:खों से छूटने के लिए प्राणी अनेक प्रकार के पाप करते हैं, यदि पापों से छूटने के लिए दण्ड रूप दु:ख भोगा जाय और उसके भोगने पर, पुन: पाप न किए जावें तो वह दु:ख का भोगा जाना सार्थक है, किन्तु दण्ड रूप दु:ख भोगने पर भी पाप प्रवृत्ति की निवृत्ति नहीं होती है, तो दण्ड रूप दु:ख भोगने से, वे सांसारिक दु:ख स्वल्प है, अत: वे ही भोगे जाने अच्छे हैं। इस शंका को मिटाने के लिए कहती हैं कि इस (कालीय) को जो सर्प योनि मिली है उसके मिलने का कारण पाप है। उन पापों को मिटाने वाला आपका किया हुआ यह दण्ड है। इस दण्ड से, इसके पाप मिट जाने से, यह असत् है, वह सत् हो जाएगा, जिससे इस देह का सम्बन्ध एवं उससे उत्पन्न अंहकार भी नष्ट हो जाएगा। अत: बहुत अर्थों (कार्यों) को सिद्ध करने वाला यह आपका दिया हुआ दण्ड तथा दण्ड का कारण क्रोध, दोनों ही अनुग्रह रूप हैं। यह केवल युक्ति से हम नहीं कहती हैं किंच सर्व सत्पुरुषों का यह सिद्धान्त है, कोई भी सत्पुरुष इसका विरोध नहीं करते हैं।

आभास – किञ्चास्तां दण्डप्रसादवार्ता, एकमत्यन्तमाश्चर्यं प्रतिभाति यदस्मिन् नृत्यं कृतवानिति तत्र हेतुं न जानीम इत्याहुस्तप: सुतप्तमिति,

आभासार्थ – यह दण्ड अनुग्रह है इसको तो हमने समझ लिया किन्तु आपने इसके ऊपर जो नृत्य किया वह क्यों किया ? उसका हमको बहुत आश्चर्य है इसको हम समझ नहीं सकती हैं- इस अपने विचार को निम्न श्लोक में कहती हैं-

श्लोक: – **तप: सुतप्तं किमनेन पूर्वं निरस्तमानेन च मानदेन ।**
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीव: ॥ ३५ ॥

१-हटाने। २-व्यर्थ।

श्लोकार्थ – इसने पूर्व जन्म में ऐसा क्या तप किया है, जिससे सबको जिलाने वाले आप, इस पर प्रसन्न हुए है, अवश्य इसने मान छोड़, दूसरों को मान दिया है और सब पर दया भी की है इस प्रकार धर्म तथा तप करने के कारण ही आप इस पर प्रसन्न हुए हो ॥ ३५ ॥

सुबोधिनी – **धर्मो द्विविधः प्रवृत्तिलक्षणो** निवृत्तिलक्षणश्च **तत्र निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तपो विद्यमानस्यैवासत्सम्बन्धस्य त्याजकत्वात्, अत एव "यदा वै दीक्षितः कृशो भवत्यथ मेध्यो भवती" त्यादिवाक्यानि सम्पादकस्तु प्रवृत्तिलक्षणो धर्म इत्युच्यते, एकस्तु दोषनिवृत्त्या विद्यमानमेव फलं प्रकटीकरोत्यपरस्तु दोषचिन्तां परित्यज्यागन्तुकं फलं साधयति, भगवांस्त्वात्मा ईश्वरश्च ज्ञानप्रसादो भक्तिप्रसादश्च, तत्राद्ये पक्षे तपसा ये दूरीकर्तुमशक्या दोषास्तेषु विद्यमानेषु तपसा न निवृत्तिः सम्पादयितुं शक्या, स दोषस्त्वहङ्कारात्मकः, यस्तपसा न गच्छति प्रत्युताहं तपस्वीत्यधिक एवाहङ्कारो भवति,** तदर्थमाह **किं वानेन** लोकोत्तरं **तपस्तप्तमिति** येन **भवान्** परमात्मा **तुष्यति** ? तोषान्यथानुपपत्त्या तादृशमपि तपोऽस्तीति कल्प्यते, तत्रापि सुतप्तं, **देशकालादि**साधनानि सम्यग्जातानि प्रकारश्च, अन्यथा षड्गुणो भगवान् न तुष्येत्, परं दोषान्तरनिराकरणार्थं धर्मद्वयमपेक्षते, तदाह **निरस्तमानेन च मानदेनेति, स्वयं निरभिमानो महानप्यन्यस्मै हीनायापि मानं प्रयच्छति,** तदाह स्वकृतः परकृतश्चाभिमानो गच्छतः, यद्यप्यस्य पक्षस्य **तोषजनकत्वमस्ति** तथापि यावता भगवान् नृत्वेन तावत्तोषजनकत्वं न भवतीति पक्षान्तरमाह **धर्मोऽथ** वेति, प्रथम-पक्षे बहिस्तोषरूपनृत्यहेतुत्वं नोपपद्यतेऽत उभयमप्यपेक्षितं, **वाशब्दः** समुच्चये वाशब्दप्रयोगाच्चैवं ज्ञायते तपो निवृत्तिलक्षणो धर्मोऽस्तु न वा बहिस्तोषहेतुरवश्यमपेक्ष्यते, **अथेति** भिन्नप्रक्रमे तेन **धर्मशास्त्रानुसारेण धर्मो** नैतादृशं **फलं साधयति किन्तु भगवच्छास्त्रानुसारेणैव, तत्राप्येको दोषः परिहरणीयः, द्रव्यमयश्चेत् परोपद्रवकारी क्रियामयश्चेदात्मोपद्रवकारी ज्ञानमयश्च तथा, अयमेवा--परितोषस्तपसि,** अतस्तद्दोषपरिहारार्थमाह **सर्वजनानुकम्पयेति, सर्वजनेषु यानुकम्पा यत्र स्वपरद्रोह सम्भावना नास्ति,** भगवच्छ्रवणकीर्तनादौ, **तत्रापि कीर्तने,** ननु भगवत्तोषहेतुषु परिचर्यादिरूपेषु भगवद्धर्मेषु सत्सु कथमयमेव **सर्वोपकारी** धर्मस्तोषहेतुरिति चेत् तत्राह **सर्वजीव** इति, सर्वान् जीवयतीति **सर्वजीवः** सर्वे वा जीवा यस्मादिति वा, सर्वेषां जीवात्मरूपो वा, अतः सर्वोपकारिणि धर्मे तोष उचितः यतो भगवान् **सर्वजीवः,** अनेनैवापराधाभावोऽपि सूचितः, **योनिजीवस्वभावकर्मणां विरुद्धत्वादाश्चर्यम्** ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ – शास्त्रों में धर्म दो प्रकार के कहे हैं। एक प्रवृत्ति रूप धर्म और दूसरा निवृत्ति रूप धर्म। इनमें से निवृत्ति रूप धर्म तपस्या है, क्योंकि, वह (तपस्या) धर्म, असत् (लौकिक, धन, पुत्र आदि से सम्बन्ध) है उसको छुड़ाता है। अतः निवृत्ति रूप है। जैसे कहा है कि ('यदा वै दीक्षितः कृशो भवति अथ मेध्यो भवति') जब दीक्षित कृश‡ (निर्बल) हो जाता है तब वह पवित्र हो जाता है।

'प्रवृत्ति' रूप धर्म दोषों की चिन्ता छुड़ाकर नवीन फल प्राप्त कराता है, जिससे प्राणी उस फल को पाकर उसमें आसक्त हो, उसको भोगता है।

‡ उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाने से विषय की इच्छा रहित हो जाती हैं और लौकिक सम्बन्ध भी शिथिल होता है। 'अनुवादक'

निवृत्ति' रूप धर्म दोषों को मिटाकर प्रथम जो था वही फल प्रकट करता है ।

भगवान् तो ईश्वर (सर्व समर्थ) हैं तथा सबकी आत्मा है अतः ज्ञान तथा भक्ति से प्रसन्न होते हैं ।

प्रथम पक्ष (निवृत्ति पक्ष) - यद्यपि 'तपस्या' निवृत्ति धर्म सिद्ध कराने वाली है तो भी इससे सर्व दोषों की निवृत्ति नहीं होती है जब तक सर्व दोषों का नाश नहीं होता है तब तक निवृत्ति धर्म सिद्ध नहीं होता है । जैसे कि अंहकार दोष तपस्या से मिटता तो नहीं है किन्तु बढ़ता है कि मैं तपस्वी हूँ । जब तप से सर्व दोषों की निवृत्ति नहीं हुई तो भगवान् की प्रसन्नता कैसे होगी ? हम देखते हैं कि इस पर आप प्रसन्न हैं, इससे अनुमान हैं कि इस साधारण तपस्या से दूसरी कोई विशेष तपस्या है जिसको इसने किया है जिससे इस पर आप प्रसन्न हुए हैं । आप के प्रसन्न होने की कोई अन्य प्रकार की उपपत्ति नहीं है ।

वह विशेष तपस्या भी साधारण प्रकार से नहीं की है किन्तु अच्छे प्रकार से की है । अर्थात् देश काल आदि सर्व साधन उत्तम थे और तप करने का प्रकार भी श्रेष्ठ था यदि इस प्रकार न होते तो भगवान् (आप) प्रसन्न नहीं होते ।

अन्य दोषों को मिटाने के लिए दो धर्मों की आवश्यकता रहती है । एक स्वयं निरभिमान होना और अपने से जो हीन हैं उन से भी नम्र होकर व्यवहार करना यों करने से अपने आप जो अंहकार होता है वह नष्ट होता है और दूसरों के द्वारा आदर किये जाने से जो अंहकार उत्पन्न होता है, उसका भी नाश होता है । जब ये दो धर्म भी सिद्ध होते हैं तब भगवान् प्रसन्न तो होते हैं किन्तु इस पक्ष (विशेष तप और दोनों धर्म की सिद्धि) के अनुसार भी यदि भगवान् नृत्य करे तो भी उनमें उतनी प्रसन्नता नहीं होती है जितनी कि होनी चाहिए अतः दूसरा पक्ष कहते हैं क्योंकि पहले पक्ष (तप करने) से भगवान् का बहिः सन्तोष (प्रसन्नता) और नृत्य करना दोनों सिद्ध नहीं होते हैं यहाँ तो भगवान् प्रसन्न भी हुए हैं और उन्होंने नृत्य भी किए हैं अतः इस के लिए कोई अन्य कारण ढूंढ़ना चाहिए । श्लोक में के समुच्चयार्थक ॥ वा ॥ शब्द का भाव बताते हैं कि निवृत्ति सिद्ध कराने वाला धर्म (तप) हुआ हो या न हुआ हो किन्तु भगवान् की प्रसन्नता के कारण की अपेक्षा है ही अतः उस कारण को ढूंढ़ना आवश्यक है ।

श्लोक में 'अथ' शब्द आया है; जिसका तात्पर्य है कि, अब उसका शोध करने के लिए दूसरा प्रक्रम[१] करते हैं । धर्मशास्त्र के अनुसार किया हुआ धर्म इस प्रकार का फल सिद्ध नहीं कर सकता है, किन्तु भगवत् शास्त्र के अनुसार किया हुआ धर्म इस प्रकार का फल सिद्ध कर सकता है; किन्तु उसमें (भगवत् शास्त्र के अनुसार किए हुए धर्म में) भी एक दोष आता है उसे मिटाना चाहिए । यदि वह (भगवद् शास्त्रानुसारी) धर्म द्रव्य मय (जो द्रव्य से किया जाता है) हो, तो अन्य को (जिसका द्रव्य

१-सिलसिला ।

लगाया जाता है उसको) उपद्रव करने वाला होता है क्रियामय (कर्म रूप) धर्म हो, तो अपने को उपद्रव (परिश्रम) देने वाला होता है और ज्ञानमय होने पर भी अपने को (साधनों के करने में क्लेश करने से) उपद्रव कारक होता है । तपस्या करने में भी यही क्लेश है । अत: कहते हैं कि इन दोषों को मिटाने के लिए ऐसे धर्म का आचरण करना चाहिए, कि जिससे किसी को भी परिश्रम आदि क्लेश नहीं हो । वह धर्म भगवान् के चरित्रों का श्रवण कीर्तन आदि है; जिससे अपना तथा दूसरें का भी द्रोह नहीं होता है और सर्व जीवों पर दया की ही जाती है । श्रवण से भी कीर्तन में विशेषता है क्योंकि उसको दूसरे से सुन कर प्रसन्न होते हैं ।

भगवान् को प्रसन्न कराने वाले भगवान् की सेवा आदि भगवत् धर्मों के होते हुए आप कीर्तन से ही भगवान् को प्रसन्न करने वाला एवं सर्व का उपकारक धर्म कैसे कहती हो ? उसके उत्तर में 'सर्व जीव' पद दिया है । जिस पद का भावार्थ बताते हुए आचार्यश्री उसके तीन अर्थ करते हैं- १-भगवान् सबको जिलाने वाले हैं । २-भगवान् से सर्व जीव मात्र उत्पन्न हुए हैं । ३-भगवान् सबों के जीव रूप से आत्मा हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् ही इस प्रकार सर्व जीव रूप हैं। अत: जिस धर्म से सर्व जीव प्रसन्न हो और उनका उपकार[१] हो उसी धर्म से भगवान् प्रसन्न होते हैं वह योग्य ही है । इस प्रकार कहने से नाग पत्नियों ने यह भी सूचित किया है कि यह कालीय निरापराधी है कारण कि जब भगवान् सर्व जीव रूप हैं तो इसकी आत्मा भी भगवान् का रूप है इस प्रकार के (सर्व जीवों पर दया रूप) धर्म का आचरण इसने किया हो यह आश्चर्य जैसा है क्योंकि सर्प की योनि, सर्प का स्वभाव और उसके कर्म (प्राणियों को नाश करना) ये तीनों ही इस धर्म के विरुद्ध है ॥ ३५ ॥

आभास – किञ्चास्तामिदमाश्चर्यं, इतोऽप्यधिकमाश्चर्यमस्तीत्याहु: कस्येति,

आभासार्थ – यह तो आश्चर्य है किन्तु इससे भी विशेष आश्चर्य अन्य है उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करती हैं ।

श्लोक: – **कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकार: ।**
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत् तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ – जिस आपके चरण रज की प्राप्ति की इच्छा पूर्ति के लिए लक्ष्मीजी ने सर्व कामनाओं का त्याग कर बहुत समय तक तप किया (किन्तु प्राप्त नहीं हुई) उस आप के चरण रज के स्पर्श का अधिकारी, यह किस के प्रभाव से हुआ यह हम नहीं जानती हैं ॥ ३६ ॥

१-हित, भला ।

सुबोधिनी –भगवच्चरणारविन्दरेणवो भगवदीयदेह सम्पादका इति पूर्वमवोचाम, तादृशानां सम्बन्धोऽस्य च जातस्तेन ज्ञायते भगवदीयदेहं प्राप्स्यतीति परं येषामेव कोटिजन्मोपार्जितत्रिविधधर्मसंस्कृतभूतानि तेषामेव देहं सम्पादयन्तीति मर्यादया व्यवस्था, साधारणसंस्कारपक्षे तूपपत्तिः सम्भवति, तत्रापि हेतुः कश्चन वक्तव्यः, स च क्रियारूपो न भवति, अधिकारिणामेव तथात्वसम्पादकत्वात्, अलौकिकस्तु भवति, स लोकेऽनु**भावो** न सिद्धः, ततोऽस्यापि कस्यचिदनु**भावोऽस्तीति** ज्ञायते, परं स सम्बन्धी न निर्णीतस्तस्यानुभावस्य प्रयोजनमाहुस्तवाङ्घ्रि**रेणुस्पर्शाधिकार** इति तवाङ्**घ्रिरेणूनां स्पर्शेऽधिकारो** येन **गुणातीता एव हि जीवास्तदधिकारिणो**, न **तु सगुणाः** कथञ्चन, यतो महद्भिरपि सगुणैर्जीवैस्तत्र प्राप्यत इत्याह **यद्वाञ्छयेति, श्रीः** सात्त्विकी भगवच्छक्तिः, तस्याश्चेत्राधिकारो ब्रह्मरुद्रयोस्त-त्सम्बन्धिनां च सुतरामेव नाधिकारः, ब्रह्मानन्दरूपापि सा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **ललनेति**, या श्रीः स्त्रीरूपा शक्तिरूपेति यावत्, अनेन **भगवतोऽन्तरङ्गदासीभूता** निरूपिता, **सापि तपः** करोति **दास्यसिद्ध्यर्थं तथापि न प्राप्तवती**, त्रितयमेवैतत्स्थानमिति सर्वप्रसिद्धिः, न तु चरणौ, न च वक्तव्यं स्त्रीभावेन भोगेच्छा तत्र प्रतिबन्धिकेतीत्याह **विहाय कामानिति**, सर्वनिवान्तःकरणाभिलाषरूपान् धर्मान् परित्यज्य तपः करोति, न च वक्तव्यं दीर्घकालादरनैरन्तर्याभावस्तस्या इति, तत्राहुः **सुचिरं** धृतव्रतेति, **आदरनैरन्तर्ये** व्रताभिनिवेशाज् जायेते, एवं साधनविचारेण रेणूनामुत्कृष्टत्वमुक्त्वा तत्स्पर्शायोग्यत्वमस्य समर्थितम् ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् के चरणकमल की रेणु, प्राणी की देह को भगवदीय (अलौकिक) बना देती हैं। यह पहले हमने (आचार्यश्री ने सुबोधीनी जी में) कहा हैं। उन रेणुओं का सम्बन्ध, इसने सिद्ध कर लिया है, अतः निश्चय से जाना जाता है कि इसे अवश्य भगवदीय देह की प्राप्ति होगी।

मर्यादा के अनुसार यह नियम है कि करोड़ों जन्मों में उपार्जित[१] किए हुए तीन प्रकार के (श्रौत, स्मार्त और भगवदीय) धर्मों से जिनके भूत (जिनसे सूक्ष्म देह बनती है) संस्कार (शुद्ध) किए हुए हैं उनको भगवान् के चरणारविन्द की रज के स्पर्श की प्राप्ति होती है जिससे उनकी देह भगवदीय बनती है।

साधारण धर्म से यदि देह संस्कृत[२] हुई हो कदाचित् उसको भगवान् के चरण रेणु का स्पर्श होता हुआ देखा जाय तो उसमें कोई हेतु[३] कहना (समझना) चाहिए वह हेतु क्रियारूप, धर्मरूप नहीं होना चाहिए क्योंकि धर्म रूप तो करोड़ों जन्मों के अनन्तर फल सिद्धि कराने में सफल होता है अतः साधारण धर्म से यदि यह फल (भगवान् के चरण रज की प्राप्ति) होवे तो उसमें कोई अलौकिक कारण होगा किन्तु ऐसा कोई दृष्टान्त अब तक लोक में देखने में नहीं आया है।

इस सर्प को जो आपके चरण रेणु के स्पर्श का सौभाग्य[४] प्राप्त हुआ है, इसमें अवश्य कोई किसी महानुभाव का प्रभाव होगा किञ्च वह प्रभाव किसका है यह हम नहीं जान सकी हैं।

१-इकट्ठे। २-शुद्ध। ३-कारण। ४-अधिकार।

जो जीव आपके चरणारविन्द के रेणु के अधिकारी हैं वे निर्गुण हैं सगुण जीव आपके चरण रेणु के स्पर्श का अधिकारी नहीं है वे सगुण कितने भी ऊँचे अधिकार वाले हो, तो वे प्राप्त नहीं कर सकते हैं, जैसे कि श्री लक्ष्मीजी भगवान् की सात्विक शक्ति सत्व गुणाधिष्ठाता विष्णु की स्त्री हैं तो भी उसको सर्व काम त्याग कर वर्षों तक तप (धर्म) करने पर भी आपके चरण रेणु की प्राप्ति नहीं हुई है जब उसको (सात्विक शक्ति-विष्णु की स्त्री को) नहीं मिली तो ब्रह्मा रुद्र आदि तथा उनके सम्बन्धियों को तो निश्चय से उसकी (रेणु की) प्राप्ति नहीं होगी ।

लक्ष्मी तो ब्रह्मानन्दरूपा हैं उसको इसकी प्राप्ति कैसे न होगी ? इस शंका को मिटाने के लिए श्लोक में 'ललना' शब्द दिया हैं जिसका तात्पर्य है कि यहाँ जिस (श्री) (लक्ष्मी) का दृष्टान्त दिया है वह ब्रह्मानन्द रूपा श्री नहीं है, किन्तु सात्विक शक्ति सत्व गुणाधिष्ठाता विष्णु की पत्नी कही गई है, इससे यह बताया कि, यह लक्ष्मी भगवान् की अन्तरंग दासी है, वह दास्य सिद्धि के (चरण रेणु के) लिए तप करती है तो भी रेणु को प्राप्त नहीं कर सकती है । कारण कि इस लक्ष्मी का स्थान तीन गुण ही है, क्योंकि सकाम, सगुण होते हैं । निर्गुण भगवद् भक्तों में, किसी प्रकार की कामना नहीं रहती है । यद्यपि लक्ष्मी ने सर्व काम त्याग कर तप किया है तो भी वह चरण रेणु प्राप्त नहीं हुई उसका कारण है कि लक्ष्मी ने तप रूप साधन से धर्म का आश्रय किया है । साधन धर्म आश्रय से भगवान् वा भगवान् के चरण की रेणु प्राप्त नहीं होती है ॥ ३६ ॥

आभास – इदानीं फलविचारेणापि माहात्म्यं वदन्त्यस्तथात्वमाहुर्न नाकपृष्ठमिति,

आभासार्थ – उपर्युक्त श्लोक में साधनों का विचार करते हुए यह सिद्ध किया है कि रेणु उत्कृष्ट होने से साधनों से भी प्राप्त नहीं होती हैं, अत: यह (सर्प) तो उनके स्पर्श के भी योग्य नहीं है इसका समर्थन किया है ।

अब फल के विचार से भी उनका (रेणुओं का) माहात्म्य कह कर सिद्ध करती हैं कि इससे भी यह (सर्प) उनके (रेणुओं के) स्पर्श का अधिकारी नहीं है-जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करती हैं-

श्लोक: – **न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।**
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरज:प्रपन्ना: ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ – जो आपके चरण रज के शरण हैं, वे न तो स्वर्ग, न चक्रवर्तीराज, न ब्रह्मलोक, न पाताल का राज, न योग न सिद्धियाँ और न मोक्ष चाहते हैं ॥ ३७ ॥

सुबोधिनी – लोके ह्येतावन्ति फलानि त्रिविधधर्मसाध्यानि, तत्र सात्त्विकधर्मसाध्यः **स्वर्गो नाकपृष्ठात्मको** यत्रेन्द्रादयो निवसन्ति, राजसधर्मसाध्यं **सार्वभौमं** सर्वस्या अपि भूमेराधिपत्यं, ज्ञानसहित-सात्त्विकराजसोभयधर्मसाध्यं **पारमेष्ठ्यं** ब्रह्मस्थानं, तामसधर्मसाध्यं **रसाधिपत्यं**, निवृत्तिधर्मसाध्यो **योगः**, **सिद्धयश्चाणिमादयो** ध्यानादिसाध्याः, **अपुनर्भवो** मोक्षः स सर्वसाध्यः, एतावन्ति फलानि, वाशब्देनानुक्त सर्वसमुच्चयोऽनादरश्च सूच्यते, **एतानि सर्वाण्येव फलानि यत्पादरजः प्रपन्ना न वाञ्छन्ति, रजः प्राप्तौ तु न वाञ्छन्तीति किं वाच्यम्** ? रजः **प्रपन्ना** एव अत्र न **वाञ्छन्ति** ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ – इस श्लोक में कहे हुए फल लोक में फल रूप माने गए है । वे तीन प्रकार के धर्म से प्राप्त होते हैं । जैसे कि सात्विक धर्म से, जहाँ इन्द्रादिक देवता रहते हैं वह स्वर्ग प्राप्त होता है । राजस धर्म से समस्त पृथ्वी का राज्य अर्थात् चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है । ज्ञान के अतिरिक्त सात्विक तथा राजस धर्म के करने का फल कह कर अब ज्ञान सहित सात्विक तथा राजस धर्म से, जिस फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि ज्ञान सहित सात्विक तथा राजस धर्म से ब्रह्मा के लोक की प्राप्ति होती है । तामस धर्म से पाताल लोक का आधिपत्य मिलता है । निवृत्ति धर्म से योग की सिद्धि रूप फल प्राप्त होता है । ध्यान आदि धर्म करने से अणिमादि ८ (आठ) सिद्धियाँ मिलती हैं । सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि रखने से, तथा सर्व का हित करने से, जो सर्व साध्य धर्म किया जाता है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है ! श्लोक में आए हुए 'वा', शब्द का भाव यह है कि इनके सिवाय जो अन्य फल हैं उन सब का साथ में अनादर* दिखाया है ।

जिन जीवों ने भगवान् (आप) के चरण रज की शरण ली है, वे भी उपर्युक्त फलों को नहीं चाहते हैं तो जिनको आपके चरण रज की प्राप्ति हो गई है, वे इन फलों को न चाहें तो उसमें क्या कहना है ॥ ३७ ॥

आभास – एवं रजसो महाफलत्वं निरूप्य तदनेन प्राप्तमित्यस्य भाग्यमभिनन्दन्ति तदेष इति,

आभासार्थ – इस प्रकार रेणु के माहात्म्य का वर्णन कर कहती हैं कि वह रेणु इसने (सर्प ने) प्राप्त की है जिससे यह भाग्यशाली है उसका वर्णन निम्न श्लोक में करती हैं-

श्लोकः –**तदेष नाथाप दुरापमन्यैस्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः ।**
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो यदिच्छतःस्याद् विभवः समक्षः ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ – हे नाथ ! जिस रज को अन्य पुरुष, प्राप्त नहीं कर सकते हैं उसको

*वे फल कहने के योग्य नहीं हैं । 'अनुवादक'

इस तमः गुण से उत्पन्न और क्रोध के वशीभूत सर्पराज ने प्राप्त किया है। यह आपकी (चरण) रज ऐसी है जिसको संसार के चक्र में घूमता हुआ प्राणी भी केवल इच्छा करता है तो उसको विभव (ऐश्वर्य वा मोक्ष आदि फल) प्रत्यक्ष होता है ॥ ३८ ॥

सुबोधिनी — नाथेतिसम्बोधनेनोपपत्तिरुक्ता **अन्यैर्दुरापमप्ययमाप** प्राप्तवान्, अस्यायोग्यत्वधर्मानाह **तमोजनिरित्यादिभिः**, केवलतमसैव **जनिर्जन्म** यस्य, अनेन मूलाशुद्धिरुक्ता, **क्रोधवश** इति कार्याशुद्धिः, **अहीश** इति संसर्गाशुद्धिरुक्ता, ईशपदेनान्यकृतपापसम्बन्धोऽप्युक्तः, **एवं सर्वदोषनिधानस्य सर्वोत्कृष्टदुर्लभफलप्राप्तिः केवलं** भगवदिच्छयेत्याहुः **संसारचक्र** इति **यादृच्छिकमिदं** फलं भगवदिच्छयैव भवतीति निर्णीयते, **चक्रे** हि पतितः सर्वो **परिभ्रमति**, स भगवच्चरणसमीपमायाति भगवति समागते न **कोपि हेतुः कर्मादिः**, किन्तु **यदिच्छतो** यस्य चरणारविन्दरेणोरि**च्छत** इच्छां कुर्वतः पुरुषस्य साधनरहितस्यापि **विभव** उत्कृष्टफलं कदाचित् **समक्षो** भवति प्रत्यक्षोभवति, **यदृच्छत** इतिपाठे यदृच्छातोऽकस्माद् भगवदिच्छया वा ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ — हे नाथ !* इस संबोधन देने से इस (कालीय) को भगवान् के चरण रेणु की प्राप्ति हुई इसको कारण बताकर सिद्ध किया है।

अन्यों को यह (रज) दुराय भी (कठिनता से प्राप्त) है, किन्तु इसको यह प्राप्त हो गई है, जबकि यह सर्व प्रकार अयोग्य भी है। इसकी अयोग्यता के धर्मों को कहती है - १. इसका जन्म तमो गुण से हुआ है अतः यह मूल से (जन्म से) ही अशुद्ध है। २. क्रोध के अधीन होने से कार्य से अशुद्ध है। ३. सर्पों का राजा है इस का संसर्ग सर्पों से ही रहता है अतः संसर्ग दोष वाला है। इसके अतिरिक्त सर्पों का राजा होने से सर्पों के पाप से भी, इसका सम्बन्ध है इस कारण से भी यह अशुद्ध है। इस प्रकार, सब दोषों के भण्डार इसको सबसे उत्तम और दुर्लभ फल की प्राप्ति हुई है वह केवल भगवदिच्छा से हुई है। उसका वर्णन श्लोक के उत्तरार्द्ध से करती है - अचानक यह उत्कृष्ट फल भगवान् की इच्छा से ही होता है (हुआ है) इसका निर्णय करती है। संसार रूप चक्र (भंवर) में घूमता हुआ प्राणी कभी भगवान् के पधारने पर उनके चरण के समीप भी आ पहुँचता है इस पहुँचने में किसी प्रकार का कर्म आदि कारण नहीं है। किन्तु भगवान् के चरण रेणु की इच्छा ही कारण है, वह पुरुष भले ही साधन से हीन भी हो, तो भी, कभी अचानक उसको उत्कृष्ट[1] फल प्रत्यक्ष होता है। श्लोक में यदिच्छतः के स्थान पर यदृच्छातः' पाठ लेने से उसका अर्थ होता है, अकस्मात्[2] वा भगवान् की इच्छा से यह उत्कृष्ट फल मिला है ॥ ३८ ॥

---

* आप स्वामी हो सब कुछ आपकी इच्छा से होता है अतः यह भी आपकी इच्छा से ही हुआ है।

१-उत्तम।   २-अचानक।

आभास — एवं चरणस्पर्शभगवत्तोषादिलक्षणं तस्य भाग्यमभिनन्द्य तत्सम्बन्धात् स्वयमपि भगवन्नमस्काराधिकारिण्य इति नमस्यन्ति नमस्तुभ्यमिति दशभिः ॥

आभासार्थ — कालीय को भगवान् के चरण स्पर्श हुए यह भगवान् के प्रसन्न होने के लक्षण हैं, इस प्रकार उसके भाग्य का बखान किया जिससे, यह भी बता दिया कि उसके (सर्प के) हम सम्बन्धी (अर्द्धांगिनी) हैं अतः हम भी भगवान् को नमस्कार करने के लिए अधिकारिणी हैं यों सिद्ध कर 'नमस्तुभ्यं' से लेकर दश श्लोकों से नमस्कार करती हैं-

कारिका — **दश रूपाणि तु हरेर्मूलरूपः स्वशास्त्रतः ।**
वेदान्तवेद्यरूपश्च जगद्रूपस्तथैव च ॥ १ ॥
सङ्घातजीवरूपश्च नानारूपश्च शास्त्रतः ।
एवं प्रमेयरूपाणि पञ्चधोक्तानि वै हरेः ॥ २ ॥
वेदार्थरूपस्तन्त्रार्थो गुणार्थो ह्यवतारकृत् ।
अन्तर्यामी च भगवान् दशधोक्तः स्वलीलया ॥ ३ ॥

कारिकार्थ — हरि के दश रूप हैं-१-अपने शास्त्र के अनुसार 'मूलरूप' २-वेदान्त से जिस रूप का ज्ञान होता है, और ३-वैसे ही जगद् रूप ॥ १ ॥

४-संघात जीव रूप ५-शास्त्र में जो अनेक रूप कहें हैं। इस प्रकार ये पाँच रूप हरि के प्रमेय रूप हैं ॥ २ ॥

६-वेदार्थ रूप ७-तन्त्रार्थ रूप, ८-गुणार्थ रूप, ९-अवतार लेने वाला रूप और १०-अन्तर्यामी है, इस प्रकार भगवान् के जो दश रूप कहे हैं वे आप की लीला के कारण हैं ॥ ३ ॥

कारिका व्याख्यार्थ — प्रकाश, लेख और योजना साहित्य का स्वल्पसार - वेद में भगवान् के कर्म (यज्ञ) और ब्रह्म के भेद से दो रूप कहे हैं एवं तन्त्र शास्त्र में चार व्यूह रूप कहे हैं, अतः दो या चार श्लोकों से नमन कहना चाहिए न कि दश श्लोकों से, इन छः रूपों से अधिक रूपों का वर्णन कहीं देखने में नहीं आता है, इस शंका का निवारण करते हुए इन कारिकाओं द्वारा भागवत् में की गई दश लीलाओं के अनुसार भगवान् के दश रूप हैं यह सिद्ध करते हैं। जिससे दश श्लोकों से नमन करने में किसी प्रकार का दोष नहीं है।

भगवान् के दश रूप हैं। जैसे कि १-मूल रूप (३९वें) श्लोक में जिसको परमात्मा (सर्वोत्तम) भूतावास (सर्वाश्रय) और व्यापक कहकर मूल रूप कहा है उसको नमस्कार करती हैं।

२-वेदान्त वेद्य रूप (४०वें) श्लोक में उस रूप को नमन करती हैं जो वेदान्त शास्त्र से जाना जाता है उस श्लोक में भगवान् को ज्ञान विज्ञान की निधि अधिकारी और अनन्त शक्तिमान आदि विशेषणों से उसका स्वरूप वर्णन कर यह बताया है कि यह स्वरूप वेदान्त (उपनिषदों से) समझ में आता है।

३-जगत्रूप (४१वें) श्लोक में जिस भगवान् के रूप का वर्णन 'विश्व' शब्द से किया है और उस विश्व (जगत्) के रूपों को समझाया है। अत: नाग पत्नियाँ उसमें जगत् रूप भगवान् को नमस्कार करती हैं वह नमस्कार भी वेदान्त में कहे हुए प्रकार से जगत् को ब्रह्म रूप जान कर करती हैं।

४-संघात जीव रूप, इस भगवान् के रूप को वेदान्त (उपनिषद्) तथा सांख्य में भी भूत, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप से वर्णन किया है तदनुसार समझ कर ब्रह्म भावना से नमस्कार करती हैं।

५-नाना रूप, यह भगवान् का नाम और सृष्टि रूप है जिसका वर्णन (४३वें) श्लोक में 'अनन्त' पद से किया है। उसको इस श्लोक में नमस्कार करती हैं।

ये उपर्युक्त पाँच रूप जिनको नाग पत्नियों ने (३९वें) श्लोक से (४३वें) श्लोक में नमस्कार किया है वे भगवान् के पाँचों रूप प्रमेय रूप हैं।

६-वेदार्थ रूप, इस भगवान् के रूप को (४४वें) श्लोक में नमस्कार करती हैं। इस स्वरूप का उस श्लोक में स्वरूप दिखाया है। वेद रूप और उसका अर्थ रूप भी भगवान् है यह 'प्रमाण' मूल शब्द देकर सिद्ध किया (समझाया) है।

७-तन्त्रार्थ रूप (तन्त्र में कहा हुआ रूप) इस रूप को (४५वें) श्लोक में वर्णन किया है जैसे कि चारों व्यूह राम (संकर्षण) वसुदेव सुत (वासुदेव) प्रद्युम्न और अनिरुद्ध सहित पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण के रूप का तन्त्र में प्रतिपादन है, उस स्वरूप को नमस्कार किया है।

८-गुणार्थ रूप (गुणों का अर्थ सहित प्रकाश करने वाला) इस रूप का वर्णन (४६वें) श्लोक में हैं और उस रूप को इस श्लोक में नमन किया है।

९-'अवतार लेने वाला रूप' इस रूप का वर्णन (४७वें) श्लोक में किया हैं जिसमें 'अव्याकृतविहाराय' पद से दिखाया है कि आप का विहार (अनेक अवतार लेते हो वह विहार) विकार रहित है अर्थात् अवतार लेकर क्रीड़ा करते भी आपमें विकार उत्पन्न नहीं होता है ऐसे स्वरूप को इस श्लोक में नमस्कार करती हैं।

१०-'अन्तर्यामी रूप' इसका वर्णन (४८वें) श्लोक में सब की गति को जानने वाला आदि विशेषण देकर किया हैं और उस श्लोक में नागपत्नियों ने इस स्वरूप को नमस्कार किया हैं।

इस प्रकार दश लीला कर्ता भगवान् के दश रूपों को दश श्लोकों से नाग पत्नियाँ नमस्कार करती हैं-

आभास – ज्ञात्वा हि स्तोत्रं कर्तव्यं कोऽयमिति कियानिति कथङ्गुणक इति च, तत्र दशविधो भगवान् दशविधलीलाभिरेकस्यामेकस्यां लीलायां यावन्त्यवान्तररूपाणि तानि सर्वाण्युच्यन्ते, तत्र प्रथमं सृष्टिलीलां वदन्त्यः पुरुषोत्तमरूपं भगवन्तं निरूपयन्त्यो नमस्यन्ति ॥

आभासार्थ – भगवान् के स्वरूप को जान कर ही स्तुति करनी चाहिए जिसकी हम स्तुति करते हैं, वह कौन है ? कितना है ? इसके गुण कैसे हैं ? इन सब बातों को जान कर जो स्तुति की जाती हैं, उससे भगवान् प्रसन्न होते हैं । अन्यथा भगवान् यों समझते हैं कि इसने कदाचित् अन्य के गुणों का मुझ में आरोप कर दिया है और शास्त्र यह भी कहता है कि यदि स्वरूप जाने बिना भगवान् की स्तुति की जाय तो भगवान् का स्वरूप जिस प्रकार का है, उसका अन्य प्रकार से वर्णन कर देवे, तो स्तुति कर्त्ता, आत्मापहारी चोर कहा जाता है, अतः जान कर ही स्तुति करनी चाहिए ।

भगवान् एक होते हुए भी दश प्रकार की लीला करने से दशविध कहे जाते हैं किन्तु एक लीला में जितने अवान्तर[१] के रूप हैं वे सब यहाँ कहे जाते हैं । उसमें प्रथम सृष्टि लीला का वर्णन करती हुई, पुरुषोत्तम रूप भगवान् का निरूपण कर, इस निम्न श्लोक में उनको नमस्कार करती हैं ।

श्लोकः – **नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।**
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ – आप भगवान्, महात्मा, पुरुष रूप, आकाशादि भूतों के आश्रय रूप, सब से उत्तम परमात्मा को हम नमस्कार करती हैं ॥ ३९ ॥

सुबोधिनी – नमस्तुभ्यमिति, भगवान् मूलभूतः स एव भवान्, तदाह **तुभ्यं भगवते नम** इति, आविर्भूतानाविर्भूतरूपे एते एव, ततः सर्वोत्तमोऽप्ययं जात इतीतरसापेक्षत्वेन पुरुषोत्तमत्वं पदद्वयेन निरूपयन्ति **पुरुषाय महात्मने**, महांश्चासावात्मा चेति, **आत्मा** हि साक्षात् सर्व**स्मृति**प्रतिपाद्यः, **पुरुषः** साङ्ख्यप्रतिपाद्यः, **महान्** वेदप्रतिपाद्यः, त्रितयमेकीकृतं **महान् पुरुषस्य आत्मे**त्युक्तं भवति, अनेनैव **सच्चिदानन्दरूपता**प्युक्ता, **पुरुषः** सद्रूपो महानानन्दरूपश्चिद्रूप **आत्मे**ति, ततो मूलभूतस्य पञ्चात्मकत्वमाह **भूतावासा**येत्यादिपदैः, स **एव मूलरूपो भवति यस्मिन्** सर्वाणि **भूतानि तिष्ठन्ति, एतदर्थमेव** भगवता **प्रदर्शितं मात्रे स्वस्मिञ् जगत्,** तदाह भूतानामावासो यस्मिन्निति, तानि चेद् भूतानि भिन्नानि भवेयुस्तदासङ्गत्वं भगवतो भज्येतेति भूतरूपोऽपि भगवान्, तदाह **भूताय परायेति,** स एव च पुनर्मूलरूपो भवति यस्तु प्रशास्ति, अनियामकस्य मूलत्वं न सम्भवतीति तदाह परायेति, '**एतस्यैवाक्षरस्य** प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत' इत्यादिश्रुतेः, यश्च पुनर्न सर्वोत्तमः स मूलभूतो न भवतीति

१-भीतर, मध्य ।

परम उत्कृष्ट उक्त:, तथा न व्यापको योऽयं नात्मा स विभूतिमान् न भवतीति न तस्य मूलत्वं, तदाहात्मन इति, परमश्चासावात्मा चेति, सर्गलीलायां तु प्रथमतो भगवान्, ततः **पुरुषः**, ततो महत्तत्वं, ततो भूतावासोऽहङ्कारः, ततो भूतानि, ततः **सर्वं** जगत्, तत्रापि परो विराड्रूपः **परमात्मा** नारायणश्चेति ब्रह्माण्डविग्रहान्ता सर्वकथा ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ – जो भगवान् मूल रूप (सबकी जड़) कहे जाते हैं वे ही आप हैं। इसलिए कहती हैं कि 'आप भगवान् को नमस्कार है'। भगवान् के प्रकट और अप्रकट दोनों रूप, यही (जो हमारे सामने स्थित आप हैं वही) हैं।

यह ही रूप सर्वोत्तम[१] है (भूमा-अजन्मा है) तो भी प्रकट हुवा है प्रकट होने वाले को दूसरे की अपेक्षा रहती है किन्तु इसको नहीं है क्योंकि पुरुषोत्तम है। इसका समर्थन करने के लिये 'पुरुषाय' 'महात्मने' दो विशेषण दिए हैं, जिनका आशय[२] यह है कि 'आत्मा' शब्द कहने से यह बताया है कि स्मृति शास्त्र भी आपका 'आत्मा' पद से प्रतिपादन करते हैं, 'पुरुष' शब्द देकर यह सिद्ध किया है कि सांख्य शास्त्र 'पुरुष' शब्द से आपका ही वर्णन करता है। एवं 'महान्' पद से बताते हैं कि वेद भी आपको ही मूल रूप कहता है, इन तीनों पदों को मिलाने से महान्, पुरुष रूप और आत्मा यों कहा गया है इससे ही आप सच्चिदानन्द रूप हैं यह भी कह दिया गया है। जैसे कि, पुरुष पद से आप सद्रूप हैं महान् पद से आप 'आनन्द रूप' हैं आत्मा पद से आप चिद् रूप हैं अर्थात् आप 'सच्चिदानन्द स्वरूप' मूल रूप हैं।

अब मूल भूतस्वरूप के जो पाँच प्रमेय रूप हैं उनका वर्णन करती हैं आप मूलरूप का एक प्रमेय रूप भूतावास स्वरूप है मूल रूप उसे कहते हैं जो सबका आश्रय हो आपने माता को मुख में सकल जगत् दिखा कर यह प्रमाणित कर दिया है कि मैं मूल रूप हूँ।

२ - 'भूताय' शब्द से कहा है कि भूत रूप भी आप हैं। भीतर (उदर में) रहे हुए भूत आदि आप से पृथक्[३] होवे तो आप अन्य हो और भूत अन्य हैं ऐसा सिद्ध होने पर द्वैत हो जाए, किन्तु आप सर्वभूत होने से द्वैत का नाश हो जाता है और आप किसी से भी पृथक् नहीं हैं सब में मिले हुए होने से भूत रूप हैं।

३ - नियामक[४] रूप भी आप हैं। श्रुति भगवती कहती हैं कि--हे गार्गि ! इस अक्षर (ब्रह्म) की आज्ञा से पृथ्वी आकाशादि कार्य कर रहे हैं। अतः नियम में रखने वाले होने से आप (मूल रूप) हैं इसलिए आप 'पर' शब्द से वर्णन किये जाते हैं।

४ - सर्वोत्तम भी आप हैं इसलिये आपका 'परम' शब्द से वर्णन किया गया है जो सर्वोत्तम नहीं है वह मूल रूप भी नहीं हो सकता है, आप सर्वोत्तम होने से मूल रूप हैं।

१-सबसे अच्छा। २-भाव। ३-भिन्न, अलग। ४-नियम में रखनेवाले।

५-व्यापक रूप भी आप हैं, इसलिए आपका 'आत्मा' शब्द से वर्णन किया गया है। जो व्यापक नहीं है, वह विभूतियों वाला नहीं होता है और न वह मूल रूप हो सकता है। अत: आपको आत्मा कह कर, व्यापक सिद्ध किया गया है, जिससे आप मूल रूप हैं यह निश्चित् सिद्धान्त हो जाता है, अत: आप 'परम' 'सर्वोतम' तथा 'आत्मा' (व्यापक) होने से मूल रूप (परमात्मा) ही हैं।

मूल रूप जब सृष्टि लीला करते हैं तब **प्रथम** भगवान् † होते हैं, पश्चात् 'पुरुष' अनन्तर 'महत्तत्व' उसके पश्चात् 'अहङ्कार'* पीछे 'भूत', पुन: पश्चात् सारा 'जगत्' होता है। उस में भी 'पर' विराट् रूप और नारायण स्वरूप होते हैं इस प्रकार समग्र ब्रह्माण्ड का विग्रह[१] किस प्रकार बनता है वह सब कथा यहाँ (भागवत) में कही है। ३९ ॥

आभास – विसर्गसहितं ब्रह्मरूपं भगवन्तं नमस्यन्ति ज्ञानविज्ञाननिधय इति,

आभासार्थ – विसर्ग लीला कर्त्ता ब्रह्मस्वरूप भगवान् को इस निम्न श्लोक में नमस्कार करती हैं-

श्लोक: – **ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।**
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ – ज्ञान तथा विज्ञान के निधि, ब्रह्मरूप अनन्त शक्ति, निर्गुण, निर्विकार और अप्राकृत वैसे आप को हम नमस्कार करती हैं ॥ ४० ॥

सुबोधिनी – ज्ञानं शास्त्रीयं विज्ञानमनुभव:, निर्विषयकं सविषयकं वा आत्मभूतं गुणभूतं च, तयोर्निधिरु-त्पत्तिस्थानं, **ये केचन ज्ञानविज्ञानार्थिनस्ते सर्वे तत एव कृतार्था भवन्तीति**, एवं साधनरूपतामुक्त्वा फलरूपतामाह **ब्रह्मण** इति, ननु ब्रह्मण: फलरूपत्वं जगत्कर्तृत्वं च कथमुपपद्यते ? तत्राहानन्त**शक्तय** इति, **अनन्ता: शक्तयो** यस्य, तेन सर्वरूपोऽपि भवितुं शक्नोति, अनन्तशक्तित्वं गुणसङ्गाद् भविष्यतीत्याशङ्क्याहागुणायेति, न विद्यन्ते **गुणा** यस्य, गुणसम्बन्धाभावे हेतुर**विकाराये**ति, विकारेषु सत्सु कारणत्वेन गुणा मृग्यन्ते, विकारा अत्र जन्मादयो दोषाश्च, तत्रापि हेतुरप्राकृतायेति, प्राकृतो हि विकारी दोषवांश्च भवति, **चकारादप्राकृतत्वे**सङ्गित्वं हेतुरुक्त:, विसर्गे तु ज्ञानमधिका-रिविशेषणं, **ज्ञानपूर्णो** ब्रह्मा भवति, **विविधज्ञानं** सृष्ट्युपयोगि, एवं स्वरूपकार्योपयोगिविशेषणद्वयमुक्त्वा **विसर्गरूपमाह**

---

† अपने ऐश्वर्यादि षड्गुणों को अपने स्वरूप में प्रकट करते हैं अत: भगवान् कहे जाते हैं।

* जिस में भूतों का निवास है।

१- शरीर।

ब्रह्मणे इति, **ब्रह्मात्र** चतुर्मुखः, ततः सर्वकार्योत्पत्त्यर्थम**नन्तशक्तय** इति, बन्धाभावायागुणायेति, दोषाभावाया**विकारायेति**, स्वेच्छया सृष्टिव्यावृत्त्यर्थं-**माहाप्राकृतायेति**, अनेन **विसर्गे** षड्गुणाप्युक्ता गुणत्रयं दोषत्रयाभावश्च, ज्ञानमहत्त्वसामर्थ्यानि गुणा बन्ध दोष जड़ता दोषा भवन्ति त्रिविधाः ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ – ज्ञान (जो शास्त्र से होता है) विज्ञान (अनुभव से) यह ज्ञान तथा विज्ञान निर्विषयक (किसी पदार्थ के सम्बन्ध वाला न हो) अथवा सविषयक (पदार्थ के विषयों से सम्बन्ध वाला) हो, आत्मा के (किसी पदार्थ के अपने) हो, या गुणों के हो । इस प्रकार जो सब ज्ञान तथा विज्ञान है, उनकी निधि (उत्पन्न होने का स्थान) आप हो । जो कोई ज्ञान तथा विज्ञान को समझना चाहते हैं उनको भी वे आप से हीं प्राप्त होते हैं, कारण कि प्रत्येक पदार्थ वहाँ से प्राप्त किया जाता है जहाँ उन पदार्थों का भण्डार हो, तो ज्ञान तथा विज्ञान के भण्डार आप हैं जिससे इनके चाहने वाले, आपसे ही प्राप्त करने के लिए आपकी शरण लेते हैं ।

इस प्रकार साधन का रूप बताकर अब फल के रूप का वर्णन करती हैं । जगत् का कर्ता फल रूप कैसे होगा ? इस शंका के निवारण के लिए उत्तर में कहती हैं कि, आप अनन्त शक्ति-मान हैं शक्तिमान सब कुछ कर सकते हैं अतः आप जगत् बना भी सकते हैं और फल रूप भी रह सकते हैं ।

अनन्त शक्ति, गुणों के सम्बन्ध बिना, नहीं आती है, गुणों का सम्बन्ध, विकारों को पैदा करता है । इस शंका की निवृत्ति के लिए कहती हैं कि, गुणों का सम्बन्ध और उससे विकार का होना उनमें होता है जो प्राकृत होते हैं । आप अप्राकृत है, जिससे आपका गुणों से सम्बन्ध नहीं है । अतः आप निर्गुण हैं एवं अप्राकृत होने के कारण निर्गुण हैं तो आपका निर्विकारी होना स्वतः सिद्ध है ही । अतः आप में जन्म मरणादि दोषों का अभाव है, इत्यादि उपपत्ति से आप जगत् कर्ता होते हुए भी फल रूप भी हैं । इस में किञ्चित् मात्र संशय नहीं है । आप संगरहित होने के कारण ही 'अप्राकृत' हैं। यह श्लोक में आए हुए 'च' शब्द का आशय है ।

विसर्ग लीला में तो 'ज्ञान' शब्द अधिकारी का विशेषण है अर्थात् जो ज्ञान से पूर्ण होगा वही सृष्टि की रचना कर सकेगा । अतः ब्रह्मा ज्ञान पूर्ण है । अनेक प्रकार का ज्ञान, सृष्टि के बनाने में उपयोगी होता है । इस प्रकार स्वरूप और कार्य के उपयोगी दोनों विशेषण कह कर अब विसर्ग रूप का वर्णन करते हुए कहती हैं, कि (ब्रह्मणे) आपका ब्रह्मा रूप विसर्ग (करने) का है । यहाँ 'ब्रह्मन्' शब्द से चतुर्मुख ब्रह्मा कहा गया है । वह अनन्त शक्तिमान् है क्योंकि, उस को सर्व प्रकार के सृष्टि के कार्य की उत्पत्ति करनी है । और सृष्टि कार्य करते हुए भी इस स्वरूप को बन्धन नहीं है, कारण कि वह निर्गुण है । सृष्टि कार्य करने से आपके स्वरूप में कोई विकार (दोष) नहीं होता है । क्योंकि, आप निर्विकार हैं । अपनी इच्छा से सृष्टि कार्य बन्द कर देते हैं कारण कि आप 'अप्राकृत' हैं ।

इससे विसर्ग लीला में छः गुण ऊपर कहे हैं । तीन गुणों से, तीन दोषों (विकारों)† का अभाव दिखाया है शेष तीन गुण, ज्ञान महत्त्व और सामर्थ्य गुण रूप रहे हैं ॥ ४० ॥

आभास – जगद्रूपतां सहेतुकामुक्त्वा नमस्यन्ति कालायेति,

आभासार्थ – भगवान् को हेतु (कारण) सहित जगत् रूपपन कह कर उस रूप को नमन करती हैं - जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में किया है ।

श्लोकः – **कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।**
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे तस्य हेतवे ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ – कालरूप, नाभि में काल को आश्रय देने वाले, काल के अवयवों के साक्षी, विश्व रूप, विश्व के द्रष्टा विश्व के कर्ता और विश्व के कारण (हम आपको नमन करती हैं) ॥ ४१ ॥

सुबोधिनी – स्थानं हि द्विविधमुक्तं, शब्दमर्यादायां कालो नियामकः, अर्थमर्यादायां भूमिरिति, तदप्याह जगतो मूलकारणं कालः, भगवच्चेष्टारूपत्वात् **कालो नाभौ** यस्येति सृष्टौ प्रयोजनमुक्तं, मृत्युर्हि कालः, स स्वस्थाने तिष्ठति, नाभिस्तस्य स्थानं, मृत्युना भक्षिता हि मृत्योर्बहिःकृता मृत्युमन्तर्निवेश्य 'मृत्युनैवेदमावृतमासीदि' त्यत्र विस्तरेण प्रपञ्चितं, तेन कालत्वेन क्रियाशक्तिरुक्ता, **कालनाभत्वेन** सृष्टिप्रयोजनमुक्तं, सृष्टिप्रकारमाह **कालावयवसाक्षिणे** इति, **कालावयवानां** सर्वोत्पत्तिनिमित्तानां **साक्षिणे**, अनेन विश्वसृष्टौ क्लेशाभावोऽप्युक्तः, शब्दमर्यादायां तु **कालः** सूर्यः **कालनाभाः** शब्दाः, सर्व एव वेदाः **कालावयवसाक्षिणः** कर्माणि, सूर्यस्य कालात्मत्वं तृतीये प्रपञ्चितं, वर्णा हि मात्रात्मकाः, तेन **काल** एव **नाभौ** येषामिति सर्वथा कालापेक्षा तेषामेव "काले कर्म हि चोद्यत" इति**कालावयवसाक्षित्वं**, कर्मणां नित्यत्वाय कालावयवस्य साक्षित्वमुक्तं, विश्वकारणरूपत्वमुक्त्वा विश्वरूपत्वमाह **विश्वायेति**, तस्य विश्वस्य त्रैविध्यं निरूपयन्नादावाधिदैविकरूपमाह **तदुपद्रष्ट्र** इति, **तस्य** विश्स्योपद्रष्टा, आधिदैविकव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपेणैवासम्भवात्, **तत्कर्त्रे** इत्याध्यात्मिकरूपं, स हि सर्वकर्ता, आधिभौतिकमाह **तस्य हेतव** इति हेतुः कारणं भूतादि, अनेनार्थमर्यादापि निरूपिता, विश्वमेवार्थरूपः, तदुपद्रष्टा **मोक्ष**रूपः तत्कर्ता कामरूपः, तद्धेतुर्धर्मः ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ – स्थान[1] दो प्रकार के हैं, इस नियमन लीला में नियामक[2] दो हैं । 'शब्द' [illegible]

---

†बन्ध, दोष और जड़ता ये तीन दोष (विकार) ।

---

१ - नियमन, व्यवस्था, शासन । २ - व्यवस्था करने वाले ।

(वेद में कही हुई मर्यादा) में काल नियामक है। 'अर्थ' मर्यादा (अर्थ (स्थान जम्बूद्वीप तीर्थ आदि) की मर्यादा) में भूमि (शेषात्मक ब्रह्माण्ड भूमि) नियामक है। उसका वर्णन करती हैं कि, भगवान् की चेष्टा[१] रूप होने से काल ही जगत् का मूल कारण है। काल मृत्यु रूप भी है, उस मृत्यु रूप काल से समस्त जगत् घिरा* हुआ है, वह मृत्यु रूप काल, जगत् का भक्षण कर अपने स्थान भगवान् की नाभि में जाकर निवास करता है। भगवान् ने मृत्यु को अपनी नाभि में आश्रय दे कर रखा है उसका प्रयोजन यह है कि जब भगवान् की सृष्टि करने की इच्छा होवे, तब मृत्यु रूप काल ने जिनका भक्षण किया है, उनको नाभि से बाहिर निकालते हैं। यह काल भगवान् की क्रिया रूप शक्ति है। उस क्रिया शक्ति रूप काल के, जो अवयव, इस समग्र विश्व के पदार्थ मात्र के, उत्पन्न होने के कारण हैं उनके आप साक्षी हो अतः विश्व की रचना में, आपको किंचित्मात्र भी, क्लेश नहीं होता है, इस प्रकार 'अर्थ' मर्यादा को समझाकर अब 'शब्द' मर्यादा का वर्णन करती है।

'शब्द' मर्यादा (वेद में कही हुई मर्यादा)में सूर्य† काल का रूप है 'शब्द'‡ काल की नाभि है अर्थात् शब्दों‡ में (वेदों में) रहता है।

काल के अवयव जिनके साक्षी हैं, वैसे सर्व वेद कर्म हैं। सूर्य का कालात्मा रूप, तृतीय स्कन्ध में वर्णन किया है। वर्ण मात्रा रूप है अतः वर्ण में काल की अपेक्षा रहती है। काल में ही कर्म किए जाते हैं अतः काल के अवयव उनके साक्षी हैं, क्योंकि कर्म नित्य हैं। इस प्रकार आप (भगवान्) विश्व के कारण रूप हैं यह प्रतिपादन कर, अब 'विश्वाय शब्द' से कहती हैं कि, विश्व रूप भी आप हैं। वह विश्व आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप से तीन प्रकार का है। उस विश्व के उपद्रष्टा आप, विश्व के आधिदैविक रूप हो यदि आप आधिदैविक रूप न होते तो, विश्व भी न होता अतः प्रथम, आधिदैविक स्वरूप, आप को कहा है। अनन्तर विश्व के 'कर्ता' आप आध्यात्मिक रूप हो, उसके बिना भी जगत् बने नहीं, अतः द्वितीय आध्यात्मिक स्वरूप आपका वर्णन किया है। पश्चात् तीसरे आधिभौतिक विश्व के रूप का वर्णन करती हुई कहती हैं कि इस विश्व के हेतु (महाभूत आधिकारण) भी आप हैं। इस प्रकार इन चार (विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे और तस्य हेतवे) पदों से अर्थ (पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की मर्यादा का भी निरूपण हुआ। कैसे निरूपण हुआ उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि 'विश्व' ही 'अर्थ रूप' है, उस विश्व का उपद्रष्टा ही 'मोक्ष रूप' है, उसका कर्ता 'कामरूप' है और उसका हेतुधर्म 'रूप' है ॥ ४१ ॥

* 'मृत्युनैवेदमावृत्तमासीत्' 'काण्व शाखा के बृहदारण्यक'के प्रारम्भ अग्नि ब्राह्मण में यह श्रुति है वहाँ इस विषय का विस्तार से वर्णन है।

† आधिभौतिक काल का रूप दृश्यमान सूर्य है। 'योजना'

‡ ऋक्, यजुः और साम तीनों वेदों में कालात्मा सूर्य है वह कालात्मा सूर्य, वेदों में रहता है। उसके द्वारा वेद वर्ण (अक्षर-शब्दों)की व्यवस्था प्रकट करता है, अतःवेद कालनाभि हैं। 'प्रकाश'

१ -- इच्छा।

आभास – एवं विश्वरूपत्वमुक्त्वा तद्भोक्तृ - सङ्घातजीवरूपत्वमाह, तत्र प्रथमं सङ्घातं निर्दिशति भूतमात्रेति,

आभासार्थ – इस प्रकार भगवान् के विश्व रूप का वर्णन कर, उस विश्व के भोक्ता सङ्घात और जीव रूप का वर्णन इस निम्न श्लोक में करती है -

श्लोकः – **भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने ।**
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ – पंच महाभूत, तन्मात्रा, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और चित्त, आत्मा (अहंकार रूप) तथा त्रिगुण रूप अभिमान से, अपने अंश रूप आत्माओं के अनुभव को आच्छादित कर दिया है । वैसे आपको, हम नमन करती हैं ॥ ४२ ॥

सुबोधिनी – भूतानि मात्रा इन्द्रियाणि प्राणा मनो बुद्धिराशयश्चित्तमात्माहङ्कारश्च, अयमेव हि सङ्घातः, एतद्रूपाय, जीवरूपश्चेत्याह, **त्रिगुणेनाभिमानेन गूढा स्वात्मानुभूतिर्यस्य,** इयमेव हि भगवतः पुष्टिर्यदमर्यादव्यवस्थया स्थितिः, स्वात्मानुभूतौ सत्यां जीवभावो विरुध्यत इति गुणैराच्छादनम् ॥ ४२ ॥

व्याख्यार्थ – संघात और जीव रूप दोनों में से, प्रथम संघात रूप का वर्णन करती हैं, भूत (महाभूत) मात्रा (तन्मात्रा) इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और आत्मा (अहंकार) ये संघात रूप हैं। ऐसे आप संघात रूप, को, तथा जीव के रूप भी आप हैं, किन्तु त्रिगुण रूप अभिमान से अपनी आत्मा की अनुभूति गूढ़ (गुप्त) की है, वैसे आपको, हम नमस्कार करती हैं ।

यह ही आपका (भगवान् का) पुष्टि रूप है, जिसकी आपने मर्यादा के विरुद्ध स्थिति की है । कैसे ? वहाँ कहती हैं कि, आप संघात रूप तथा उसी समय जीव रूप भी होकर दोनों रूपों का अनुभव करते हैं, साथ में अपने आत्मरूप का भी आनन्द लेते हैं, यह मर्यादा के विरुद्ध है । इसलिए यह ही आपका पुष्टि रूप है, केवल इसको, अन्य समझ न सके अतः अपनी आत्मा की अनुभूति को, गुणों के द्वारा गुप्त रखते हैं ॥ ४२ ॥

आभास – एवं भगवतोऽर्थसृष्टिरूपत्वमुक्त्वा शब्दसृष्टिरूपत्वमाह नमोऽनन्तायेति,

आभासार्थ – इस प्रकार उपर्युक्त ४ श्लोकों में, प्रमेय रूप, 'अर्थ' सृष्टि का वर्णन किया, कारिकाओं के अनुसार, ५ श्लोकों में प्रमेय रूप का वर्णन होना चाहिए अतः इस श्लोक में प्रमेय रूप 'शब्द' सृष्टि का वर्णन करती है जिससे ५ श्लोक की संख्या जो कारिकाओं में कही हुई है वह कहना योग्य सिद्ध हो गया है ।

श्लोकः — **नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ।**
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ — अनन्त, सूक्ष्म, कूटस्थ, सर्वज्ञ, अनेक वादों के अनुरोधवाले[१] वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) दोनों में जिन की शक्ति है वैसे आपको हम प्रणाम करती हैं ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी — रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टिर्विलक्षणा, अन्तवती रूपसृष्टिर**नन्ता** नामसृष्टिः, स्थूला रूपसृष्टिः **सूक्ष्मा** नामसृष्टिः, विकृता रूपसृष्टिः **कूटस्था**विकृता नामसृष्टिः, जडरूपा रूपसृष्टि**र्विपश्चिद्** बोधरूपा नामसृष्टिः, एवं चतुर्धा वैलक्षण्यमुक्तं नन्वेवं नामसृष्टौ जगद्विलयप्रसङ्गस्तत्राह **नानावादानुरोधाये**ति, सिद्धान्ततदाभासतत्पाषण्डरूपा **नानावादा**स्तेषा**मनुरोधो** यस्य, सर्वैरेव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवतीति, तत्रोपपत्तिमाह **वाच्यवाचकशक्तय** इति, **वाच्योऽर्थो वाचकः** शब्दः, उभयत्रापि **शक्तयो** यस्य, यथैवार्थं वक्तुमिच्छति तथैवार्थो भवति तं प्रति सर्वस्यापि शब्दस्य, यथैवार्थं वक्तुमिच्छति तथैवास्मिञ् छब्दे तदर्थं शक्तयो भवन्ति, ऊतिरत्र स्पष्टैव ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ — नाम (शब्द)सृष्टि और रूप सृष्टि में चार प्रकार के भेद हैं, १-रूपसृष्टि अन्तवाली है और नाम सृष्टि अनन्त है । २-रूप सृष्टि स्थूल है और नाम सृष्टि सूक्षम है । ३-रूप सृष्टि विकार वाली है और नामसृष्टि विकार रहित है । ४-रूप सृष्टि जड़ रूप है । और नामसृष्टि ज्ञान रूप है यों रूप और नाम सृष्टि की विलक्षणता[२] बताई ।

यदि नामसृष्टि इस प्रकार ही होगी तो जगत् के विलय[३] हो जाने की आपत्ति आ जाएगी अर्थात् जगत् का अस्तित्व ही नहीं रहेगा । इस शंका को मिटाने के लिए कहती हैं कि आपके अनेक प्रकार के जो जो वाद प्रचलित हैं उनका अनुसरण करने वाले हैं ।

जगत् में (१)-शास्त्रों के अनुसार सिद्धान्त है (२)-शास्त्रीय सिद्धान्त से, मिलता जुलता, सिद्धान्ताभास है, जैसे ब्राह्मण में, ब्राह्मण के धर्म पूर्ण न होवे तो, उसको ब्राह्मणाभास कहा जाता है । वैसे ही मायावादादि सिद्धान्त, पूर्ण शास्त्रीय सिद्धान्त, न होने से सिद्धान्ताभास हैं । ३-'पाषण्ड रूप' सिद्धान्त, जो वेद विरुद्ध सिद्धान्त हैं । इस प्रकार अनेक वाद हैं, किन्तु आपके जो सिद्धान्त जिस प्रकार आपका वर्णन करते हैं, आप उनके लिए वैसे ही बन जाते हैं, कारण कि, 'शब्द' और 'अर्थ' दोनों में आपकी शक्तियां विद्यमान हैं । अतः 'शब्द' का अर्थ जो जैसे करना चाहते हैं वैसा ही हो सकता है । क्योंकि शब्द का अर्थ जैसा करना चाहो वैसी शक्ति उसमें विद्यमान् है । यह भगवान् की ऊति लीला है, ऊति कहते हैं कर्म वासना को अतः जिस अधिकारी की जैसी वासना होती है वह उसके अनुकूल अर्थ करता है ॥ ४३ ॥

आभास – एवं सामान्यतो नामसृष्टिलीलामुक्त्वा विशेषमाह ।

आभासार्थ – इस प्रकार सामान्य रूप से नाम सृष्टि की लीला को कह कर अब विशेष प्रकार से नाम (शब्द) सृष्टि लीला का वर्णन इस श्लोक में करती हैं ।

श्लोकः – **नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये ।**
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ – प्रमाण के आदि कारण, कवि, शास्त्र (वेद) के कारण प्रवृत्ति तथा निवृति कराने वाले, निगम (वेद) रूप आपको हम नमस्कार करती हैं ॥ ४४ ॥

सुबोधिनी – **नमः प्रमाण**मूलायेति, वेदादयो हि प्रमाणं, तेषां यत् प्रामाण्यमादरणीयत्वं वा तद् भगवत्प्रतिपाद्यत्वेन भगवत्प्रतिपादितत्वेन च, अन्यथा तत्प्रामाण्यं न स्यात्, नित्यत्वेऽपि भगवद्व्यतिरिक्तत्वेऽप्रामाण्यं च स्यात्, नित्यता च न स्यात्, अतः **प्रमाण**मूलभूतो भवानेव, कवये तद्रसाभिज्ञाय, अनेन शब्दवक्ता शब्दरसाभिज्ञः शब्दरूपश्चोक्तः, शब्दोपादानकारणरूपश्चेत्याह **शास्त्रयोनय** इति, शास्त्रस्य वेदस्य **योनिः** कारणं, एवं निदानरूपत्व-मुक्त्वावान्तररूपत्वमाह **प्रवृत्ताय निवृत्ताये**ति, वेदो हि द्वयं सम्पादयति प्रवृत्तिं निवृत्तिं च कुतश्चिन्निवर्तयति क्वचित् प्रवर्तयति, **निगम** आज्ञारूपो भवति, एवम्प्रकारेण **निगम**रूपो वेदरूपो वा, अनेन सद्धर्मा उक्ताः ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ – वेद आदि शास्त्रों को हम प्रमाण इसीलिए मानते हैं और इसीलिए उनका आदर करते हैं कि वेदादि के प्रतिपाद्य विषय आप ही हैं और वेद आदि शास्त्रों का प्रतिपादन आपने ही किया है, यदि यों न होवे तो उनको कोई प्रमाण[१] न मानें, यदि नित्य हो तो भी, भगवान् से पृथक् होने के कारण, उसका प्रमाण्य कोई न माने तथा उसकी नित्यता भी न रहे, अतः प्रमाण मूल भूत कारण आप ही हैं और उस में जो रस है, उसके स्वरूप को जानने के कारण तथा वक्ता एवं शब्द रूप होने से आप कवि हैं । आप 'शब्द' के उपादान कारण रूप हो अतः आपको 'शास्त्रयोनिः' (वेद का कारण) कहा गया है । वेद के अवान्तर रूप (मध्य में रहा हुआ रूप) का वर्णन करती हैं कि, वेद आज्ञा रूप है, वह (निगम-वेद) दो कार्यों का सम्पादन कराता है (१) – प्रवृत्ति (२) निवृत्ति कराता है । किन्हीं कार्यो में प्रवृत्ति की आज्ञा देकर प्रवृत्ति कराता है किन्हीं कार्यों के करने का निषेध कर उनसे निवृत्ति कराता है । इस प्रकार आप निगम रूप वा वेद रूप हैं इससे सद्धर्म कहे है – जिससे सिद्ध है, कि यह सद्धर्म मन्वन्तर लीला है ॥ ४४ ॥

---

१ - सच्चा, ज्ञान रूप ।

आभास – एवं वैदिकप्रमाणप्रमेयरूपतामुक्त्वा तदनाविर्भूतमित्याविर्भूतं भगवन्तं चतुर्मूर्ति तन्त्रप्रकारयुक्तं निरूपयति नमः कृष्णायेति,

आभासार्थ – इस तरह वैदिक प्रमाण वैदिक प्रमेय के रूप में भगवान् के वर्णन के पीछे अब तंत्र के प्रकार वाले चतुर्मूर्ति भगवान् का वर्णन करते हैं क्योंकि यह भगवान् का आविर्भूत रूप है जब कि वैदिक रूप आविर्भूत नहीं है ।

श्लोकः – **नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च ।**
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ – कृष्णरूप, रामरूप, वासुदेव पुत्र रूप प्रद्युम्न रूप और अनिरुद्धरूप सात्वतों के पति चतुर्मूर्ति आपको हम नमस्कार करती हैं ॥ ४५ ॥

सुबोधिनी – कृष्णाय सदानन्दायेतिस्वरूपमुक्तं, अवान्तररूपत्रयमाह ततो **रामाय सङ्कर्षणाय, वसुदेवसुताय** वासुदेवाय, चकारादस्य प्रद्युम्नरूपताप्युक्ता, वसुदेवशब्दस्य शुद्धसत्त्वे **वसुदेवे** च सङ्केतात्, **प्रद्युम्नायानिरुद्धायेतिचतु**र्मूर्तिर्भगवानुक्तः, सदानन्दो भगवांश्चतुर्मूर्त्या चावतीर्णो यदर्थं तदाह **सात्वतां पतये नम** इति, **शुद्धसत्त्वानां** परमवैष्णवानां **पतिः** भक्तिफलरूपो भक्तिप्रवर्तकश्च, अतोऽनेने**शानुकथा** विष्णुभक्तिर्निरूपिता ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थ – कृष्ण नाम कहने से नागपत्नियों ने यह बताया है कि आप (भगवान्) सदानन्द हैं अतः आपका प्रधान स्वरूप सदानन्द ही है । आपके दूसरे स्वरूप ये हैं-१-राम (संकर्षण) २-वसुदेवजी के पुत्र वासुदेव, (श्लोक में आए हुए 'च' 'ओर' शब्द से यह ध्वनि प्रकट की है कि वसुदेव† के पुत्र एवं प्रद्युम्न रूप भी हैं कारण कि वसुदेव शब्द से दो का संकेत है १-वसुदेव से शुद्ध सत्वरूप पर और दूसरा वसुदेव नाम पर तथा ३-प्रद्युम्न एवं ४-अनिरूद्ध इन चान व्यूहों के कारण आप चतुर्मूर्ति भगवान् कहे जाते हैं । सदानन्द श्रीकृष्ण भगवान् चतुर्मूर्ति स्वरूप से जिनके लिए प्रकट हुए उनका वर्णन 'सात्वतां पतये' पद से कहती हैं कि आप शुद्ध सत्व गुण वालों (परम वैष्णवों) के पति हैं । 'सात्वत' शब्द यहाँ दो अर्थों में दिया है १-सात्वत शब्द से **'वैष्णव'** । (२)-सात्वत शब्द से वह

---

† भगवान् को जब देवकी द्वारा प्रकट होना था, तब आप वासुदेव व्यूह रूप से वसुदेव के हृदय में पधारे अतः 'वसुदेव पुत्र' कहने से वासुदेव व्यूह समझना चाहिए । वंश वृद्धि करने के लिए भगवान् प्रद्युम्न 'व्यूह रूप से' वसुदेव के यहाँ प्रकटे हैं, इसलिए वह भी वसुदेव पुत्र होने से वासुदेव अर्थात् वसुदेवजी के पुत्र कहे जा सकते हैं ।
'अनुवादक'

ज्ञान, जो भक्ति का भी फल रूप है, अतः आप भक्ति के फल रूप ज्ञान का स्वरूप हैं जिस का भाव यह है कि आप भक्ति के द्वारा ही प्राप्त होते हैं और आप भक्ति के प्रवर्त्तक भी हो । अतः इससे ईशानु कथा (अर्थात् विष्णु की भक्ति) का निरूपण किया है ॥ ४५ ॥

आभास – एवं तन्त्रन्यायेन भगवन्तं निरूप्य साङ्ख्ययोगादिभिः स्मार्तनिरूपितं भगवन्तं निर्णयेन निरूपयति नमो गुणप्रदीपायेति,

आभासार्थ – इस प्रकार तन्त्र शास्त्रों में जिस भांति भगवान् के स्वरूपों का वर्णन किया गया है वह निरूपण कर अब इस निम्न श्लोक में स्मार्तमतवालों (स्मृति शास्त्रों को मुख्य प्रमाण मानने वालों) ने सांख्य तथा योगादि शास्त्रों से, जिस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वर्णन किया है उसी प्रकार के भगवान् के स्वरूप का वर्णन करती हैं –

श्लोकः – **नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च ।**
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ – गुणों के प्रकाशक, गुणों से अपने स्वरूप के आच्छादक[1] गुणों की वृत्तियों से बोध कराने वाले, गुणों के द्रष्टा, स्वतः स्वयं ज्ञान वाले, वैसे आपको हम नमन करती हैं ॥ ४६ ॥

सुबोधिनी – '**भगवान् सगुण**' **इत्यस्यायमर्थो गुणान् प्रकर्षेण दीपयति तत्प्रकाशनार्थमेव गुणान् स्वनिकटे स्थापयति, ततो गुणान् प्रकाशयन् गुणानां माहात्म्यख्यापनाय गुणैरात्मनश्छादनं येन गुणैरात्मानं छादितवान् गुणेषु स्वतेजो दत्वा स्वयं तिरोहितो जात** इत्यर्थः, ततः पुनः कौतुकार्थं गुणानां या **वृत्तयश्चाक्षुष**-ज्ञानादयस्तै**रुपलक्ष्यत** इति तथा, एवं सत्त्वरजस्तमोभावा उक्ताः, नन्वेतदपि किमिति करोति ? तत्राह **गुणद्रष्टृ** इति, **गुणानां द्रष्टा**, तान् दृष्ट्वा तेषामेवमुपकारं कृतवानित्यर्थः, तैः कृतस्तु स्वस्यापकारो नास्तीत्याह **स्वसंविद** इति, **स्वत** एव **संविद्** यस्य, न तस्य ज्ञानं केनचिदुत्पाद्यते केनचिन् नाश्यते वा, अतो **गुणानां सच्चिदानन्दधर्माणां स्वयमेव तद्रूपेणाविर्भूतस्वरूपाणामुपकारार्थं सगुण इत्युच्यत** इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् गुणों को प्रकाशित[2] करने के लिए अपने पास रखते हैं अतः आपको 'सगुण' कहते हैं । इस प्रकार गुणों को प्रकट करते हुए उनका माहात्म्य प्रसिद्ध करने के लिए उन गुणों से अपना आच्छादन कर देते हैं अर्थात् भगवान् अपना तेज गुणों को देकर आप तिरोहित[3] हो जाते हैं पश्चात् पुनः

---

१ - ढक देने या छिपादेनेवाले । २ - प्रकट ३ - छिप जाते हैं ।

!!

कौतुक[१] के लिए, गुणों की वृत्तियां (नेत्र आदि का ज्ञान, देखना आदि) से अपना बोध कराते हैं, इस प्रकार सत्व, रज और तमोगुण के भाव इस प्रकार (गुणों का प्रकाशन, उनसे अपना आच्छादन और पुनः गुणों की वृत्तियां से अपना ज्ञान कराना) भगवान् यों किस लिए करते हैं ? इस के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् गुणों को देखते हुए, उन पर इस प्रकार उपकार करते हैं ! उन पर इसी भांति उपकार करने से, भगवान् का कुछ भी अपकार नहीं हुआ है कारण कि आप 'स्वतः' स्वयं ज्ञान वाले हैं उनका अन्य कोई न ज्ञान दाता है और न उनके ज्ञान का कोई भी नाश कर सकता है, अतः जिन गुणों के 'सत्', 'चित्', और 'आनन्द' रूप धर्म हैं, उन उन गुणों के रूप से स्वयं भगवान् स्वतः प्रकट होते हैं, प्रकट हो कर उन पर उपकार करते हैं जिससे आप 'सगुण' कहे जाते हैं ॥ ४६ ॥

आभास — एवं सगुणरूपत्वमुक्त्वा ज्ञेयं रूपं भगवन्तमाहाव्याकृतेति,

आभासार्थ — इसी भांति भगवान् के सगुण रूप का वर्णन कर अब इस निम्न श्लोक में भगवान् के जिस रूप को जानना चाहिए उस रूप का निरूपण करती हैं -

श्लोकः — **अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये ।**
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ — हे हृषीकेश[२] ! जिस आपके विहार[३] को कोई नहीं जान सकता है, सर्व व्याकृत[४] की जिस आपसे सिद्धि[५] होती है, मुनि और मौन स्वभाव वाले भी आप हैं, वैसे आपको हमारा प्रणाम हो ॥ ४७ ॥

सुबोधिनी — अव्याकृते प्रकृतिपुरुषरूपे **विहारो** यस्य, **अव्याकृतो** वा केनाप्यज्ञातो **विहारो** यस्य, **अव्याकृतार्थं** वा **विहारो** यस्य, कपटमानुषभावं सम्पादयति **यथा न कोपि जानात्विति**, तस्याव्याकृतत्वे प्रमाणमाह **सर्वव्याकृतसिद्धय** इति, **सर्वे** ये **व्याकृ**तास्तत्त्वानि ब्रह्माण्डानि च तदन्तर्वर्तीनि च तेषां सिद्धिरुत्पत्तिर्ज्ञप्तिश्च यस्मात्, "अव्यक्तादीनि भूतानी" तिवाक्यात्, अन्यथा व्याकृतोत्पत्तिर्न स्यात् कार्यस्य पूर्वावस्थातो वैलक्षण्यस्यावश्यकत्वात्, एवमुत्पत्तिपक्षं निरूप्य ज्ञप्तिपक्षं निरूपयति **हृषीकेश नमस्ते स्त्विति, हृषीकाणीन्द्रियाणि** तेषा**मीशः** प्रवर्तकः, प्रकृते भगवानेवंज्ञापनार्थं स्वेन्द्रियाणि प्रवर्तयन्नुपस्थित इति साक्षात् तं नमस्यन्ति, तादृशीं वावस्थां प्रार्थयन्ति, तर्ह्यव्याकृतस्य ज्ञानं कथं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह **मुनय** इति, मननमेव तत्र हेतुः, मुनयश्च द्रष्टारः, तद्रूपो भगवान्, किञ्च साधनान्तरमप्यव्याकृतस्य भगवतो ज्ञाने निरूपयन्ति **मौनशीलिन** इति, **मौनमेव शीलं** सहजः स्वभावो यस्य, "उपरतायां वाचि किञ्ज्योति" रितिप्रश्ने "अत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योति" रिति "वचस्युपरते प्राप्ये" तिवाक्याच्च, तदेकं भगवत एवाव्याकृतं रूपं यत्रैव "यस्यामतं तस्य मत" मित्यादिवाक्यानि सम्बध्यन्ते ॥ ४७ ॥

---

१ - विनोद, तमाशे । २ - इन्द्रियों के स्वामी । ३ - लीला ४ - तत्व आदि ५ - उत्पत्ति ।

व्याख्यार्थ – इस श्लोक में दो सिद्धान्त कहे हैं। एक 'उत्पत्ति' सिद्धान्त, अर्थात् उत्पत्ति कैसे एवं किससे हुई ? और उत्पत्ति-कर्ता का स्वरूप कैसा है ? तथा दूसरा, 'ज्ञप्ति' सिद्धान्त अर्थात् भगवान् के मूल रूप का ज्ञान, हो जाए कि वह कैसे हैं ?

श्लोक के पूर्वार्ध में, उत्पत्ति पक्ष (सिद्धान्त) कहते हैं-(१)-उत्पत्ति कर्ता (कारण रूप) के स्वरूप का वर्णन करते हैं-'अव्याकृत विहाराय' वह कारण स्वरूप (१)-अव्याकृत[१] होने से उसके विहार[२] को कोई जान नहीं सकता है (२)-प्रकृति और पुरुष रूप में जो विहार करते हैं अर्थात् जिनका प्रकृति और पुरुष स्वरूप है उनमें वा उनके द्वारा, लीला कर रहे हैं (३)-कोई भी जान न सके इस लिए जिसका विहार है अत: आप आनन्दाकार होते हुए भी मनुष्य रूप का दिखावा करते हैं जिससे आपके आनन्दाकार को कोई नहीं जान सकता है। इस प्रकार आपका कारण रूप अव्याकृत है। यह कह कर उसकी दृढ सिद्धि के लिए कहती हैं कि 'सर्वव्याकृतसिद्धये' सब जो तत्व, ब्रह्माण्ड और उनके भीतर जो कुछ हैं उनकी उत्पत्ति और ज्ञान जिससे होता है वह आप हैं। गीता में इसी लिए कहा गया है कि इन भूतों की आदि अव्यक्त[३] है। यदि वह अव्याकृत न होवे तो उससे उत्पत्ति नहीं हो सके, कारण कि, व्याकृत से उत्पत्ति नहीं होती है। व्याकृत अर्थात् कार्य विकार वाला होता है। अत: कारण से कार्य का प्रकार पृथक् होता है, जब कार्य (व्याकृत) विकार वाला है तब कारण का अव्याकृत[४] होना निश्चित ही है।

इस प्रकार पूर्वार्ध्द में उत्पत्ति पक्ष का निरूपण कर, अब उत्तरार्द्ध में 'ज्ञप्ति' पक्ष का निरूपण करती हैं। नागपत्नियां भगवान् को प्रत्यक्ष सामने नमस्कार करती हुई कहती हैं कि आप को हमारी नमस्कार हो कारण कि आप इन्द्रियों के ईश[५] हो अत: उनके प्रेरक[६] हो, इस लीला में भी आप इस हृषीकेश नाम के भाव को सिद्ध करते हुए इन्द्रियों को प्रवृत्त करते हुए इस लीला में उपस्थित हो। अथवा आप इसी अवस्था में दर्शन दो। यदि इस प्रकार प्रकट दर्शन होंगे, तो अव्याकृत का ज्ञान फिर कैसे होगा ? इस आकांक्षा में कहते हैं, कि मनन करने से, उस अव्याकृत का ज्ञान हो जाएगा, क्योंकि, आप 'मुनि' हो। 'मुनि' द्रष्टा होते हैं। वही रूप आपका है। कुछ और कहती हैं कि, अव्याकृत, भगवान् का ज्ञान, प्राप्त करने के लिए दूसरा साधन है, वाणी का शान्त होना। इसलिए कहा है कि, 'मौनशालिने' मौन ही जिसका सहज स्वभाव है। अर्थात् जीव जब मौनावस्था सिद्ध करता है तब उसको पा सकता है। जब वाणी शान्त होती है तब कौन सी ज्योति है ? ऐसे प्रश्न के उत्तर में कहा है कि इस अवस्था में (जब वाणी शान्त हो जाती है) यह पुरुष स्वयं ज्योति स्वरूप है। वह एक भगवान् का ही अव्याकृत, रूप है ॥ जो कहता है कि मैंने नहीं जाना है उसने जान लिया है ॥ जैसे वचनों की संगति भी यहीं इस भगवान् के रूप में बैठ जाती है ॥ ४७ ॥

१-विकार रहित। २-लीला। ३-जिसको कोई जान न सकता है। ४-बिना विकार वाला।
५-स्वामी। ६-प्रेरणा करने वाले।

आभास – शास्त्रार्थरूपश्चैको भगवान् पण्डितव्यवहार्यः, तमाह

आभासार्थ – इस निम्न श्लोक में भगवान् का जो शास्त्रार्थ रूप (शास्त्रों में जिस रूप का वर्णन) है जिसको पण्डित व्यवहार में लाते हैं उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोकः – **परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः ।**
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रे तस्य हेतवे ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ – छोटे और बड़ों की गति को जानने वाले, सर्व के स्वामी, तथा विश्व से पृथक् और विश्वरूप उसके द्रष्टा एवं उसके कारणरूप आपको हम नमन करती हैं ॥ ४८ ॥

सुबोधिनी – परावरेति, परे ब्रह्मादयः, अवरेऽस्मदादयः, तेषां सर्वेषामेव **गतिं** व्यवस्थां जानातीति, शास्त्रेण ह्युत्पाद्यते यज् ज्ञानं तदेतादृशं भवतीति, एवं बहिर्ज्ञानमुक्त्वान्तर्ज्ञानमाह **सर्वाध्यक्षायेति**, सर्वेषामध्यक्षः साक्षी, अतस्तं प्रत्यक्षेण नमन्ति **ते नम** इति, तेषां प्रतिपाद्यरूपं सङ्ग्रहेणाहाविश्वायेति, **विश्वव्यतिरिक्तो विश्वरूपश्च**, विश्वरूप एव सन् विश्वव्यतिरिक्तश्च, यथा वृक्षः काण्डादिरूप एव सन् फलरूपोऽपि, **चकारादुभयमुभयत्र**, अनेन केचन विश्वरूपं प्रतिपादयन्ति केचन तद्व्यतिरिक्तं, केचनोभयं, केचित् पुनरेकदेशिन इति, किञ्च **तद्द्रष्ट्रे** तस्य रूपस्य **द्रष्टा** त्वमेव, अनेनाविश्वपक्षे प्रमाणमुक्तं, विश्वपक्षेऽपि प्रमाणमाह **तस्य हेतव** इति, तस्य विश्वस्य कारणरूपोऽपि, कारणात्मकतैव कार्यस्येति प्रमाणता, एवं **निरोधमुक्त्याश्रयाः** क्रमादेतैरेवोक्ताः ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ – शास्त्रों में से यह ज्ञान होता है कि बड़े (ब्रह्मादि देवता) तथा छोटे (हमारे जैसों) की गति को आप जानते हैं इस प्रकार शास्त्रों से होने वाले बाहिर के ज्ञान के रूप का वर्णन कर, भीतर के ज्ञान को कहती हैं कि आप सब के साक्षी रूप भी हो अतः ऐसे भगवान् के रूप को प्रत्यक्ष प्रणाम करती हैं ।

अब उत्तरार्ध में शास्त्रों में कहे हुए रूपों को, संक्षेप में कहती हैं, कि आप विश्व से पृथक् तथा विश्वरूप भी हो वैसे दो रूप आपके कैसे हैं ? इसको आचार्यश्री दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे वृक्ष का एक रूप शाखादि है और एक रूप फल है वे पृथक् भी कहे जाते हैं किन्तु वे दोनों ही रूप वृक्ष के ही हैं, वृक्ष उनसे अन्य नहीं और वे (शाखादि एवं फल) उससे (वृक्ष से) अन्य नहीं वैसे ही आप भी दोनों रूप होते हुए भी एक ही है । श्लोक में आए हुए 'च' शब्द का आशय यह है कि दोनों रूप, दोनों स्थानों पर (विश्व में और विश्व से बाहर भी) हैं ।

इस प्रकार का वर्णन शास्त्रों में होने से, कितने ही भगवान् को केवल 'विश्वरूप' कहते हैं और कितने ही कहते हैं, कि विश्व से बाहर (पृथक्) हैं और कितने ही कहते हैं कि भगवान् तो विश्वरूप भी हैं और विश्व से बाहर भी हैं अतः एक ही भगवान् दोनों रूप हैं एवं जो कहते हैं कि विश्व से बाहर का रूप और विश्व का भीतरी रूप दोनों अलग हैं वे एकदेशीय† हैं ।

किञ्च (कुछ और कहती हैं कि) भगवान् विश्व से बाहर हैं उसमें प्रमाण देती हैं कि आप विश्व के द्रष्टा हैं । द्रष्टा दृश्य से बाहर ही रहता है, आप विश्व रूप हैं, इसमें प्रमाण देती हैं कि आप विश्व के कारण रूप हैं कार्य, कारण का ही रूप है उस से (कारण से) कार्य अन्य वस्तु नहीं है । इस प्रकार इन ४६वें, ४७वें और ४८वें श्लोकों में क्रम से 'निरोध' 'मुक्ति' और 'आश्रय' के स्वरूप‡ कहे हैं ॥ ४८ ॥

आभास – एवं सर्वरूपेण नत्वा विज्ञापनार्थं प्रथमतोऽस्यापराधस्तथा नास्तीति वक्तुं त्वमेव सर्वस्वभावानां बोधक इत्युपपत्तिमाहुस्त्वं ह्यस्येति,

आभासार्थ – इस प्रकार भगवान् के दश लीला वाले सर्व स्वरूप को प्रणाम कर अब प्रार्थना करती हैं, जिसमें प्रथम कहती हैं, कि जैसे इसका अपराध कहा जाता है, वैसे इसका अपराध नहीं है । उसको इस श्लोक में युक्ति देकर सिद्ध करती हैं कि आप ही सर्व के स्वभावों को जगाते हो अर्थात् जिसका जैसा स्वभाव बताते हो वह उस स्वभाव के अनुसार कार्य करता है अतः जैसा इसका स्वभाव आपने बताया है उसके अनुसार यह कर्म करता है–

श्लोकः – **त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक् ।**
तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥४९॥

---

†इस मत का खण्डन ३-२-१२ वें ब्रह्मसूत्र में आचार्य श्री ने किया है । 'लेख'

‡४६ वें, ४७ वें और ४८ वें श्लोकों में 'निरोध', 'मुक्ति' और आश्रय कैसे कहे हैं उसको स्पष्ट कर समझाते हैं कि ४६ वें श्लोक में भगवान् ने गुणों के ऊपर अर्थात् सगुण जीवों पर उपकार कर, उनको प्रकाश दिया है, इससे उनका निरोध किया है, अतः इस श्लोक से 'निरोध' लीला कही है । ४७ वें श्लोक में भगवान् अव्याकृत विहार करते हैं यों कहा है, जिसका तात्पर्य है कि भगवान् जीव स्वरूप में स्थिति करते हैं । जीव भगवान् में स्थित हुआ, उसे मुक्ति कहते हैं, अतः यह मुक्तिलीला हुई । ४८ वें श्लोक में ज्ञान का तथा क्रिया का आश्रय भगवान् हैं वैसे कहा है, अतः इसमें आश्रय लीला कही गई है ।

इस कहने से यह सिद्ध हो जाता है, कि भगवान् की की हुई दशलीलाओं से भगवान् के जो दश स्वरूप हुए हैं उनको नागपत्नियां प्रणाम करती हैं ।

श्लोकार्थ — हे प्रभो ! काल शक्ति धारण करने वाले आप इच्छा रहित होते हुए भी गुणों से इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, तथा प्रलय करते हो। आपकी लीला अमोघ[१] है, अतः आप उन उन वस्तुओं के जैसे २ स्वभाव हैं, वैसे २ ही, उन स्वभावों को जागृत कर, सत्पुरुषों का पूर्ण ध्यान करते (रखते) हुए लीला करते हैं ॥ ४९ ॥

सुबोधिनी — त्वमेव **ह्यस्य** जगतो **जन्मस्थिति-संयमान्** **गुणैरकृत** कृतवान्, **स्वयमनीह** एव चेष्टामकुर्वन्नेव, तादृशस्य करणे हेतुमाह **कालशक्तिधृगिति**, **कालशक्तिं** बिभर्तीति, **यदैव भगवता कालशक्तिरधिष्ठिता तदैव गुणक्षोभं करोति सिंहासनस्थितपुत्रिका वायुमिव, ततः** सर्वाण्येव **कार्याणि भवन्ति, गुणा** उपादानं, कालो निमित्तं, स्वभावो नियामकः, तमाह **तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्निति, तस्य तस्य** वस्तुनः **स्वभावास्तत्तत्कार्यनियामकास्तेषां प्रतिबोधश्च** कालेनैव क्रियते, स्वभावान्तःस्थितस्वरूपेण वा, एवं कुर्वन् **सतः समीक्षयेहसे** लीलां करोषि **तव कार्यद्वयं, अनवतीर्णे नाक्षरे समारूढे कालशक्तिर्गुणाः स्वभावश्चोद्गता भवन्ति, ततः सर्वमेव जगद् भवति परमनेकविधं, तस्मिन्नपि च जगति सतः सर्वस्यैव सन्मार्गस्य सतां च समीक्षया परिपालन पूर्वकं सम्यगवेक्षया लीलां च करोषि, तेन च तेषां सर्व एव पुरुषार्थाः सिद्धा भवन्ति जगच्च रक्षितं भवति, न च पुनःपुनः कर्तव्यं** पतति, तत्र हेतुमाहामोघविहार इति, **न मोघो व्यर्थो विहारो** यस्य, अनेनोभयत्रापि हेतुरुक्तः ॥ ४९ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् 'निरीह' कहे जाते हैं अर्थात् निरीह होने से भगवान् को किसी प्रकार कुछ भी करने की इच्छा नहीं होती है, तो इस जगत् का जन्म, स्थिति और लय, भगवान् ने कैसे किया ? इस शंका का समाधान[२] करते हुए इस श्लोक में इस विषय को समझाते हैं कि भगवान् जब अपनी काल शक्ति को धारण कर उसका अधिष्ठान[३] बनते हैं, तब जैसे सिंहासन पर धरी हुई पुतलियां, हवा के लगने से, चलने लगती हैं वैसे ही काल शक्ति को धारण करने पर, गुणों में क्षोभ[४] होता है जिसके द्वारा जगत् के सृष्टि आदि सर्व कार्य होते हैं। इन कार्यों के होने में 'गुण' उपादान कारण है। 'काल' निमित्त कारण है और 'स्वभाव' नियामक है। उसको (तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्' पद से कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का जो स्वभाव है वह उसका नियामक[५] है और उनको (स्वभावों-नियामकों को जागृत करने वाला काल ही है) वह काल, किस स्वरूप से जागृत करता है ? जिस काल का स्वरूप स्वभावों के भीतर* स्थित है। इस प्रकार सत्पुरूषों की पालना करते हुए आप लीला करते हैं।

---

* स्वभाव के भीतर स्थित स्वरूप कालका आधि दैविक स्वरूप है।

१-व्यर्थ नहीं किन्तु सत्य। २-निवारण। ३-आधार। ४-हलचल।
५-नियम से चलाने वाले।

लीला के समय में आप के दो कार्य हैं। जब आप अवतार नहीं लेते हैं और 'अक्षर' पर आरूढ होते हैं तब अक्षर से, काल शक्ति, गुण और स्वभाव प्रकट हो जाते हैं। अनन्तर उनमें से जगत् की अनेक प्रकार (सदोष और निर्दोष) की उत्पत्ति होती है। उस अनेक प्रकार वाले जगत् में, आप सब प्रकार के सन्मार्ग तथा सत्पुरूषों की पूरी तरह देख रेख से पालन करते हुए लीला करते हैं। इसी भाँति लीला करने से उनके (सत्पुरुषों के) सर्व पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं तथा जगत् की भी रक्षा होती है जिससे शीघ्र बार बार जगत् बनाना नहीं पड़ता है, वैसा होने का कारण कहती हैं, कि आपकी, की हुई लीला सत्य होने से व्यर्थ नहीं जाती है। इससे स्वभाव को जाग्रत करने तथा सत् कार्य एवं सत्पुरुषों की रक्षा दोनों कार्यो का कारण कहा ॥ ४९ ॥

आभास – अस्य दुष्टस्वभावत्वे भगवतश्च शिक्षकत्वे हेतुमुक्त्वा कार्यमाह तस्यैव तेऽमूरिति,

आभासार्थ – सर्प का स्वभाव दुष्ट क्यों है ? और भगवान् शिक्षक कैसे हैं ? उन दोनों के कारण बतलाकर अब भगवान् ने जो कार्य किया (सर्प को शिक्षा दी) उसका वर्णन करते हैं-

श्लोकः – **तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।**
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुः सतां स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ – त्रिलोकी में शान्त, अशान्त तथा मूढ सात्विक, राजस और तामस, जितने शरीर हैं वे सब आपके क्रीडा के साधन रूप होने से आपके ही शरीर हैं। तो भी अब आपको शान्तरूप प्रिय है, क्योंकि, सत्पुरुषों के धर्म पालन की इच्छा से, प्रवृत्ति करते हुए आपने उन्हीं की रक्षा के लिए अवतार धारण किया है ॥ ५० ॥

सुबोधिनी – यदा भगवान् स्वार्थमेव सर्वं करोति तदा सर्वाण्येव शरीराणि भगवल्लीलौपयिकत्वाद् भगवत्तनवो भवन्ति, ते च त्रिविधाः शान्ताः सात्त्विका अशान्ता राजसा विक्षिप्ता मूढयोनयस्तामसास्तवैव तनवः, द्वितीयसर्ग प्रकारोऽत्रोपयुज्यते, दैत्यांशानां तत्रैवोपकार इति, मूढयोनिषु तथात्वमनुचितमित्याशङ्क्योत इत्युक्तं, तथा सति कथं भगवदवतारलीला ? तत्राह **शान्ताः प्रियास्त** इति, **अधुनावितुः** पालकस्य **धर्मपरीप्सया** धर्मरक्षेच्छया **स्थातुः** **स्थानेच्छोः**,**शान्ता** एव सात्त्विका एव **प्रिया** न त्वतिरिक्ता उभयविधाः, ते हि नाशका उत्पादकाश्च, उत्पादका अप्यनभिमताः, अधिकभारजनकत्वात्, नाशकास्तु विरोधिन एव, अनेनोभयमपि कार्यमुक्तम् ॥ ५० ॥

व्याख्यार्थ – जब भगवान् अपने लिए ही (क्रीड़ा करने के लिए ही) सब जगत् बनाते हैं, तब सब शरीर भगवान् की लीला में उपयोगी होने से, उनके ही शरीर होते हैं। वे शरीर तीन प्रकार के होते हैं १-शान्त अर्थात् सात्विक २-अशान्त अर्थात् राजस और ३-मूढ योनि वाले तामस, ये तीन प्रकार के

शरीर आपके ही शरीर हैं। यहाँ द्वितीय प्रकार की सृष्टि में यों होता है। उस द्वितीय प्रकार की सृष्टि में ही, दैत्यांशों का उपकार होता है।

मूढ योनि वाले तामसों में भी भगवान् के शरीरों को मानना अनुचित है (योग्य नहीं है) इस प्रकार की शंका होवे तो, उसको मिटाने के लिए श्लोक में 'ते' शब्द देकर कहा है कि वे मूढ योनि वाले भी आपके शरीर हैं मूल में आए हुए 'उत' का तात्पर्य भी यह है कि मूढ योनि वाले आपके शरीर हैं। यदि सब शरीर भगवान् के ही हैं तो अवतार की लीला कैसे बन सकेगी ? इस शंका का निवारण श्लोक के उत्तरार्ध से करते हैं कि, इस समय आपको शान्ति ही प्रिय है। कारण कि, आपने धर्म रक्षा की इच्छा से अवतार धारण किया है। इसी लिए आप सत्पुरुषों का पालन कर रहे हैं। शेष दो (राजस और तामस) प्रिय नहीं हैं, क्योंकि राजस सृष्टि बढ़ाकर पृथ्वी पर अधिक बोझ डालते हैं और तामस नाश करने वाले विरोधी हैं। इससे भगवान् के अवतार लेने के दोनों कार्य (दुष्टों का निग्रह करना और सत्पुरुषों का पालन करना) बता दिए ॥ ५० ॥

आभास – तथाप्यस्यापराधः सोढव्य इत्याहुरपराध इति

आभासार्थ – सर्प वैसा दुष्ट है, तो भी आपको इसका अपराध सहन करना चाहिए। इस प्रकार की प्रार्थना इस निम्न श्लोक में करती हैं-

श्लोकः – **अपराधः सकृद् भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः ।**
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः ॥ ५१ ॥

श्लोकार्थ – पालन कर्त्ता स्वामी को एक बार अपनी प्रजा का अपराध सहन करना चाहिए। हे शान्त स्वरूप ! आपके स्वरूप से, अनजान इस मूर्ख पर, आपको क्षमा करनी चाहिए ॥ ५१ ॥

सुबोधिनी – यद्यपि साम्प्रतमन्याभिनिवेशस्तथाप्यस्मदादीनामपि भवानेव पतिरतोऽनवसरे कार्यकरणादपराधः सोऽपि **सोढव्यः**, **स्वस्यैव प्रजाभिः** पालनीयाभिः **कृत** इति, अन्यथा पालकत्वं न स्यात्, कार्यनिर्वाहार्थं च सकृदेव सोढव्यो ज्ञापनार्थः, स्वस्य प्रजाभिः कृतः, पुनरपराधे ज्ञात्वा करणान् मारणमेवोचितं, विरोधित्वात् अत एव **क्षन्तुमर्हसि**, क्षमायामुपायान्तरमप्याह **शान्तात्मन्निति**, **शान्त आत्म यस्य**, सत्त्वनिधानत्वात् क्षोभाभावाद् दण्डेन कार्यस्य सिद्धत्वादग्रे प्रतिबन्धकत्वाभावाच्च **सोढव्यः** नन्वज्ञानात् कृतमिति कथमवगन्तव्यम् ? ज्ञातकरणपक्षे तु **सकृदपि** न सोढव्य इत्याशङ्क्याहु**र्मूढस्येति**, स्वभावादेवायं सर्पयोनिस्तामसः, अतो मौढ्यात् **त्वां न जानाति**, **अज्ञानात् कृतमकृतप्रायम्** ॥ ५१ ॥

व्याख्यार्थ – यद्यपि आपका इस समय अन्यों की (सात्विकों की) रक्षा पालने में आग्रह है, तो भी, हम लोगों के भी, इस समय आप ही पति हैं। इसको न समझ कर, समय का विचार भी न कर,

जो इसने, हमारे पति सर्प ने अपराध किया है वह आपको सहन करना चाहिए। क्यों सहन करें? इसके उत्तर में कहती हैं कि यह अपराध जिसने किया है, वह आपकी प्रजा है। प्रजा पालने के योग्य ही होती हैं, यदि उसका अपराध सहन न कर, उसका नाश करोगे, तो, आपका पालकपन चला जाएगा। अतः कार्य चलता रहे, इसलिए प्रजा का अपराध एक बार सहन करना चाहिए। यदि दूसरी बार करे, तो, उसको मारना चाहिए। क्योंकि एक बार, क्षमा मिलने पर यदि पुनः अपराध यह विरोधी करे तब वह दण्ड के योग्य है। अब तो आप क्षमा कर सहन करते हुए, आपने प्रजा पालन धर्म को सिद्ध करें।

आपको क्षमा इसलिए भी करनी चाहिए, कि आप शान्त आत्मा हो, जिससे आप सत्व के धाम हैं। इसी से, आप में क्षोभ नहीं होता है इसके अतिरिक्त आपने इसको दण्ड दिया है जिससे ही कार्य सिद्ध होगया है। अब आगे इससे किसी प्रकार विघ्न आदि नहीं होंगे, अतः अब एक बार अपराध सहन कीजिए।

इसने यह अपराध अनजान में किया है वैसा हम कैसे जाने? जान कर किया हो, तो एक बार भी सहन नहीं करना चाहिए, इस शंका को मिटाने के लिए उसको विशेषण 'मूढ' दिया है, अर्थात् वह अज्ञान है, सर्प योनि तामस होने से, 'मूढ' ही है, अतः आपके स्वरूप का उसको परिचय नहीं है इस लिए जो अज्ञान से किया गया अपराध है वह नहीं किए हुए के समान है ॥ ५१ ॥

आभास – क्षमायां यत् कर्तव्यं तदाहुरनुगृह्णीष्वेति ।

आभासार्थ – क्षमा करते हुए जो कुछ करना है उसको इस श्लोक में कहती हैं-

श्लोकः – **अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः ।**
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥ ५२ ॥

श्लोकार्थ – हे भगवान्! अनुग्रह कीजिए, यह सर्प मरता है, साधु पुरुषों के लिए शोचनीय हम स्त्रियों पर कृपा कर पति रूप प्राण दीजिए ॥ ५२ ॥

सुबोधिनी – **अनुग्रहः कर्त्तव्यः**, नन्वनुग्रहे को हेतुः? तत्राह **भगवन्निति**, तवैव गुणो हेतुभूतो न त्वस्य, तर्हि सर्वत्रैव प्रसादो भवेदित्याशङ्क्य निमित्तमाहुः **प्राणांस्त्यजतीति**, कृपावसरोऽयं, **यथा कृपायां भक्त्यादिर्हेतुः, एवं समयोऽपि**, अत एव **ग्रहणादिकाले सेवारहितायामपि यथा दीयते तथा कृपा विधेयेत्यर्थः**, **पन्नग** इति, जीवमात्रमित्यल्पता दयायां हेतुः, नन्वल्पत्वादेव किमनेन जीवितेनेत्याशङ्क्याहुः **स्त्रीणामिति**, **स्त्रीणामस्माकं पतिरूपोऽयं प्राणः प्रकर्षेण दीयतां, स्त्रीणां प्राणरक्षा सर्वथा कर्तव्येति**, ननु स्त्रियोऽपि दुष्टाः "शालावृकाणां हृदयान्येता" इतिश्रुतेरित्याशङ्क्याहुः **साधुशोच्यानामिति**, **सत्यं दुष्टाः स्त्रियः परं स योनिदोष एव न तु जीवदोषः अतः**

साधवस्तं जीवं शोचन्ति कथमयं स्त्रीशरीरे पतित इति यत्र सर्वदा भयं पराधीनत्ता मुक्त्यभावश्च, भवाँश्च **साधूनां** परिपालक:, **अतस्तेषां** शोकाभावायास्मत्प्राणा रक्षणीया इतिभाव: ॥ ५२ ॥

व्याख्यार्थ – आप इस सर्प पर अनुग्रह कीजिए, इस पर अनुग्रह करने में, इसका (सर्पका) गुण कारण नहीं है, किन्तु आप 'भगवान्' हो अत: आपका 'भगवत्त्व' ही दया करने में कारण है। यदि भगवत्व कारण है तो सर्वत्र सदा ही अनुग्रह करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहती हैं कि, अब अनुग्रह करने का समय है, क्योंकि यह मर रहा है। जैसे, कृपा करने में, भक्ति आदि, कारण हैं, वैसे ही 'समय' भी, एक प्रकार से हेतु है, इस कारण से ही ग्रहण आदि काल में, जो सेवा आदि नहीं करते हैं, उनको भी 'समय' के कारण, दान दिया जाता है वैसे ही अब भी कृपा करने का समय है, अत: कृपा कीजिए। इस पर दया करने में दूसरा कारण यह भी है कि यह पन्नग[1] अल्प[2] जीव है इस लिए भी अनुग्रह कीजिए। जब यह छोटा सा साधारण जीव है, तो इसके जीने से क्या लाभ है ? इस शंका के उत्तर में कहती हैं कि हम स्त्रियों का यह पति रूप प्राण है। स्त्रियां की रक्षा सर्व प्रकार से करनी चाहिए।

स्त्रियां भी दुष्ट होती हैं जैसा कि श्रुति कहती है कि 'शालावृकाणां हृदयान्येता' (स्त्रियां सियार के जैसे हृदय वाली होती हैं) अत: उनकी रक्षा कैसे की जाए, इस शंका को मिटाने के लिए कहती हैं, कि सत्य है स्त्रियां दुष्ट हैं किन्तु वह दोष देह का दोष है न कि जीव का दोष है जीव का दोष न होने के कारण ही, साधु पुरुष स्त्रियों पर दया कर, शोक करते हैं, कि ये जीव स्त्री शरीर में कैसे आ कर पड़े हैं ? जिस शरीर में सदा ही भय, पराधीनता और मुक्ति का अभाव है। आप साधुओं के पूर्ण रीति से पालन करने योग्य हैं अत: उनके (साधुओं के) शोक मिटाने के लिए हमारे प्राणों की रक्षा कीजिए ॥ ५२ ॥

आभास – ननु मुक्तिः सर्वेषामपेक्षितातः प्राणरक्षापेक्षया मुक्तिरेव कथं न प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याहुर्विधेहि ते किङ्करीणामिति ।

आभासार्थ – सर्व जीव मात्र मुक्ति चाहते हैं अत: आप भी प्राणों की रक्षा मांगने से मुक्ति क्यों नहीं माँगती हो ? इस का उत्तर निम्न श्लोक में देती है।

श्लोक: – **विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया ।**
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतोभयात् ॥ ५३ ॥

श्लोकार्थ – हम आपकी दासियां हैं, जो आज्ञा करनी हो वह करो, हम वैसे ही करेंगी आपकी आज्ञा के अनुसार जो श्रद्धा से वर्ताव करते हैं, वे सर्व प्रकार के भय से छूट जाते हैं ॥ ५३ ॥

सुबोधिनी – **वयं ह्यात्मनिवेदनेनैव तव दास्यो जाताः, तासां च स्वधर्मस्तवाज्ञापरिपालनं, यतस्ते किङ्करीभिस्तवाज्ञयैवानुष्ठेयं,** ततः किमत आह यत् तवोक्तं **श्रद्धयानुतिष्ठन्** सर्वत एव **भयान्मुच्यते, मुक्तिस्तु तवाज्ञाकरणेनापि भविष्यति, एवमेव मुक्तौ दास्यमात्मनिवेदनं व्यर्थं स्याद् भक्तिरसश्चाननुभूतः स्यात्, अतोऽयं देय इतिप्रार्थना** ॥ ५३ ॥

व्याख्यार्थ – हम आपको आत्म निवेदन करने से आपकी दासी बन चुकी हैं, इस लिए आपकी आज्ञा का पालन करना हमारा स्वधर्म हुआ है। जिससे आपकी दासियों को आपकी आज्ञा ही पालनी चाहिए। उसके पालने से क्या होगा ? वह स्पष्ट कर बताती हैं, कि जो आपकी आज्ञा का पालन श्रद्धा से करता है, वह सर्व प्रकार के भय से छूट जाता है। मुक्ति की प्राप्ति तो आपकी आज्ञा पालन करने से भी हो जाएगी। यदि यों ही (आपकी आज्ञा के बिना) अब हम मुक्ति माँग लेवें तो हमारे दास्य भाव तथा आत्म निवेदन हो तो, व्यर्थ हो जाएँगे। मुक्ति प्राप्त करने पर, भक्ति रस का जो अनन्त आनन्द है, उसका अनुभव भी नहीं मिलेगा। अतः अब यह (पति रूप प्राण) दीजिए यह ही प्रार्थना है ॥ ५३ ॥

आभास – ततो यत् कृतवांस्तदाहेत्थमिति,

आभासार्थ – इस प्रकार नाग पत्नियों की प्रार्थना करने के अनन्तर जो, भगवान् ने किया उसका वर्णन, श्री शुकदेवजी इस निम्न श्लोक में करते हैं-

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः – **इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान् समभिष्टुतः ।**
मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥ ५४ ॥

श्लोकार्थ – इस प्रकार नागपत्नियां से स्तुति किए हुए भगवान् ने भग्न शिर वाले तथा मूर्च्छित सर्प को अपने चरणों के प्रहार से दूर फेंक दिया ॥ ५४ ॥

सुबोधिनी – एवम्प्रकारेण **सम्यगभिष्टुतो मूर्च्छितमन्तः** खिन्नं **भग्नशिरसं** बहिःखिन्नमङ्घ्रि**कुट्टनैरेव विससर्ज**, स्वयं जले जलक्रीडामेव कुर्वन् पादप्रहारेणैव तं स्त्रीणां स्थाने प्रक्षिप्तवानित्यर्थः ॥ ५४ ॥

व्याख्यार्थ – इस प्रकार जब नाग पत्नियों ने भगवान् की, स्तुति की, तब भगवान् ने मूर्छा को प्राप्त (अन्तःकरण में खेद वाले) टूटे हुए शिर वाले (शिरों के टूटने से बाहिर भी खेद वाले) सर्प को, जहाँ उसकी स्त्रियां थीं, वहाँ पाद प्रहार से फेंक दिया। आपने जल में विहार करते हुए ही उसके फेंकने की यह क्रीड़ा की ॥ ५४ ॥

आभास – ततो यज् जातं तदाह प्रतिलब्धेति ।

आभासार्थ – इसी भाँति सर्प को फेंकने से जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – **प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालीयः शनकैर्हरिम् ।**
कृच्छ्रात् समुच्छ्वसन् देवः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥ ५५ ॥

श्लोकार्थ – जिसको इन्द्रियां और प्राण मिले हैं, वैसा कालीय, देव बन, धीरे धीरे कष्ट से स्वास लेता हुआ हाथ जोड़ भगवान् की प्रार्थना करने लगा ॥ ५५ ॥

सुबोधिनी – प्रतिलब्धानीन्द्रियाणि प्राणाश्च येन, प्राणग्रहणं बलार्थं, मूर्च्छितं 'स्वार्धसम्पत्त्या' इन्द्रियाणां प्राणानां च पुनरागमनं, अतः प्रतिलम्भः, **कालीय** इति प्रसिद्धिः सद्बुद्धिहेतुः, **शनकै**रिति शीघ्रता सूचिता **हरि**मिति निर्भयत्वं स्वस्य जीवनाशा **च**, अतो वाक्यनिस्सारणार्थं **कृच्छ्रात्** कष्टेन **सम्यगुच्छ्वसन्** यथाशास्त्रं देवरूपं गृहीत्वा **कृताञ्जलिः** सन्नाह ॥ ५५ ॥

व्याख्यार्थ – व्यासजी ने 'मुग्धे ऽ र्ध सम्पत्तिः परिशेषात्' ब्रह्म सूत्र ३-२-१० में कहा है कि जो मूर्छित हो जाता है उसमें आधी सम्पत्ति[१] होती है अतः यह सर्प मूर्छित होने से प्राण और इन्द्रियों की शक्ति का आधा भाग खोके बैठा था, किन्तु भगवान् के चरण स्पर्श कर फेंक देने से गई हुई इन्द्रियां और प्राणों की आधी शक्ति, पुनः उसमें लौट कर आ गई, जिससे वह बोलने की सामर्थ्य वाला हुआ। यों तो वह नाम से कालीय है, उसको अब सद्बुद्धि आई है जिससे उसकी प्रसिद्धि हो गई, इस लिए श्लोक में इसका विशेषण 'देव' शब्द दिया है। सद्बुद्धि होने से, हाथ जोड़ हरि (पाप भय आदि को हरण करने वाले) श्री कृष्ण की धीरे धीरे स्तुति करने लगा। धीरे धीरे का भाव है कि वह अब भगवान् हरि हैं दुःख हरने वाले हैं, यह जान गया था, अतः मैं अब मरूंगा नहीं उसको निश्चय हो गया था इस लिए स्तुति, प्रेम से धीरे धीरे निर्भय हो कर करने लगा। स्तुति के समय जब शब्द बोलता था तब उसके श्वासों को कष्ट होता था तो भी स्तुति करने से रुका नहीं ॥ ५५ ॥

१-शक्ति ।

आभास – स्वापराधं निवेदयति कृपार्थं,

आभासार्थ – अब निम्न श्लोक में कालीय भगवान् के आगे अपना किया हुआ अपराध स्वीकार कर तदर्थ क्षमा माँग कर कृपा की याचना करता है–

॥ **कालीय उवाच** ॥

श्लोकः – **वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः ।**
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः ॥ ५६ ॥

श्लोक – कालीय बोला - हे नाथ ! हम जन्म से ही खल, तमोगुणी, बहुत क्रोधी हैं, लोगों का जो मिथ्या आग्रह हो जाता है, जिससे स्वभाव का बदलना कठिन होता है ॥ ५६ ॥

सुबोधिनी – वयं स्वभावत एव **खलाः** परोपद्रवकारिणो दुष्टस्वभावाः, तदुत्पत्त्यैव **सह**, उत्पत्तिशिष्टोऽयं दोषो न त्वागन्तुकः, अतः शिक्षा व्यर्था, अनिवर्त्यदोषत्वात्, सर्वथा मारणपक्ष उत्पादनमेव व्यर्थं स्यात्, तथापि शिक्षया कश्चन गुणो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **तामसा** इति, **तामसास्तु** ज्ञानरहिताः, अनुसन्धाने विद्यमाने हि शिक्षणमुपकाराय **भवति, तामसानां तु नानुसन्धानं, किञ्च प्रत्युतापकार एव भवति** यतो वयं **दीर्घमन्यवः**, अनेनैवं ज्ञापितं मन्मारणेऽपि मदीयोऽन्योऽपकरिष्यति त्वत्सेवकेभ्यः पश्चाद्वा, तस्मादप्रतीकार्य-दुष्टा वयमिति ॥ ५६ ॥

व्याख्यार्थ – हम स्वभाव से ही अन्यों के लिए उपद्रव[1] करने वाले तथा दुष्ट स्वभाव वाले हैं यह दोष आगन्तुक[2] नहीं है किन्तु सहज[3] है । अतः इसके लिए शिक्षा[4] देनी व्यर्थ है । क्योंकि यह दोष मिटने का नहीं है । यदि सर्वदा के लिए नाश कर दिया जाए तो उत्पत्ति करनी व्यर्थ है । मारे नहीं, किन्तु शिक्षा से कुछ तो गुण होगा, यों कहा जाय तो वह भी नहीं होगा, कारण कि हम तामस प्रकृति के जीव हैं । जिन में कुछ समझ हो, विचार कर सकें, उनके लिए शिक्षा, उपकार कर सकती है । तामसों में विचार करने की कोई बुद्धि नहीं है, अतः उनको शिक्षा देने से उपकार के स्थान पर उलटी शिक्षा देने वाले की हानि होती है । क्योंकि हम बहुत क्रोधी हैं-कहने से यह बताया गया कि यदि हम को मारेंगे तो दूसरे मेरे सम्बन्धी आपके सेवकों का अपकार[5] करेंगे, अतः हम दुष्ट होने से, किसी भी उपाय से, सर्वथा दुष्टता नहीं छोड़ सकते हैं ॥ ५६ ॥

१-दुःख ।   २-पीछे आया हुआ ।   ३-स्वभाव से ही, देह से ही ।   ४-दण्ड ।
५-हानि पहुंचाएँगे ।

आभास – अस्माकमेवम्रूपत्वे भवानेव हेतुरित्याह

आभासार्थ – हम ऐसे दुष्ट क्यों हुए, उसका कारण भी आप ही हैं इसका निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोकः – **त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम् ।**
नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥५७॥

श्लोकार्थ – हे धाता ! गुणों से विविध प्रकार का यह विश्व आपने रचा है जिसके, स्वभाव, शक्ति, बल, योनि, बीज, आशय और आकृति ये सब पृथक् पृथक् हैं ॥ ५७ ॥

सुबोधिनी – त्वया सृष्टमिति समुदायजननान् न दोषः, ब्रह्मणा सृष्टमित्याशङ्क्याह **धातरि**ति, त्वमेव **विधाता,** ननु भगवत्कार्यं कथमेतादृशं ? तत्राह **गुणानां** विशेषेण **सर्जनं** यत्र, तत्त्रैविध्यं सर्वत्रैव सम्बध्यत इति भेदान् गणयति, नानाविधाः **स्वभावादयो** यस्मिन्निति, **स्वभावः**प्रकृतिधर्मो जीवगतः, **वीर्य**मिन्द्रियधर्मः, **ओजः** प्राणधर्मः, **योनि**र्मातृधर्मः, **बीजं** पितृधर्मः, **आशयो**ऽन्तःकरणस्य, एते सर्व एव **नानाविधाः**, प्रत्येकसमुदायाभ्यामनेकविधा भवन्ति, अत एव नानात्वं वैचित्र्यं च ॥ ५७ ॥

व्याख्यार्थ – यंह विविध विश्व आपने बनाया है, तो भी, इसके विविध प्रकार के होने में, आपका दोष नहीं है, कारण कि, आपने सकल विश्व गुणों के द्वारा एक साथ में ही बनाया है, पृथक् पृथक् बना कर उसमें कुछ फेर फार करते तो आपका दोष माना जाय । अब आप का कोई दोष नहीं है । जगत् का स्रष्टा[१] जो ब्रह्मा कहा जाता है वह भी आप ही हैं । गुणों के द्वारा सृजन करने से गुणों का त्रिविधपन सब में विद्यमान है जिससे उनमें स्वाभाविक भेद रहता है । जैसे कि जीव में, जो प्रकृति का धर्म रहता है, उसको स्वभाव कहते हैं । इसी प्रकार वीर्य, इन्द्रियों का धर्म है और बल प्राणों का धर्म है योनि (कारण) जीवों का वर्ग-उत्पत्ति स्थान माता का धर्म है, बीज पिता का धर्म है आशय (कर्म से उपजी हुई वासना रूप संस्कार) अन्तः करण का धर्म है । ये सब ही प्रत्येक के और समुदायों के भिन्न २ अनेक होते हैं । अतः इनमें नानाप्रकार और विचित्रपन देखने में आता है ॥ ५७ ॥

१-बनानेवाला ।

आभास – अस्याकं तु सर्वमेव तामसमित्याह वयमिति,

आभासार्थ – हम सर्पों का तो, ऊपर कहे हुए, स्वभाव आदि सब तमो गुण वाले हैं जिसका निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं-

श्लोकः – **वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरुमन्यवः ।**
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम् ॥ ५८ ॥

श्लोकार्थ – हे भगवन् ! उस (सृष्टि) में, हम तो जन्म ही से, बड़े क्रोधी सर्प हैं, स्वयं[१] मोह को प्राप्त हुए हैं, वह आपकी माया जो छोड़ी नहीं जा सकती है उसको कैसे छोड़ें ॥ ५८ ॥

सुबोधिनी – चस्त्वर्थे भौतिकाग्न्यादीनामपि सङ्ग्रहार्थं च, **तत्र सृष्टौ, भगवन्निति**सम्बोधनं ज्ञानार्थं, **सर्पा जात्यैव उरुमन्यवः**, जातिस्वभावौ दुष्टौ निरूपितौ, **गुणातीतावस्थया सात्त्विकावस्थया वा मायापरित्यागो भवति, सर्पाणां क्रोधवशानां च न तत् सम्भवति**, अतः **कथं त्वन्मायां त्यजामः** ? ननु दोषपरिज्ञाने कथं न त्यागः ? तत्राह **दुस्त्यजा**मिति, **त्वदीया मायास्मत्कृतैस्पायैः सर्वथा दुस्त्यजा**, तर्हि त्यागार्थं भगवानेव किं न प्रार्थ्यते ? तत्राह **मोहिताः स्वय**मिति **स्वयमेव मोहिताः**, **आत्मैव** विमोहितः, अतः स्वहितापरिज्ञानात् त्यागार्थमपि न प्रयत्न इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

व्याख्यार्थ – श्लोक में आए हुए 'च' शब्द का अर्थ १-'तो' है 'और' २-भौतिक अग्नि आदि का सङ्ग्रह करना है । सृष्टि में हम सर्प, जाति से, बहुत क्रोधी हैं जिसको आप जानते ही हैं, क्योंकि आप भगवान् हैं । हम क्रोधी हैं जिससे न केवल, जाति से दुष्ट हैं, किन्तु क्रोधी होने से स्वभाव से भी दुष्ट हैं । आपकी माया का त्याग हम कैसे करें ? माया का त्याग तो गुणातीत अवस्था में, जब गुणों का प्रभाव मिट जावे उस अवस्था में, वा सात्त्विक अवस्था में जब रजो गुण और तमो गुण दोनों नष्ट हो जावें, केवल अन्तःकरण में सतो गुण का प्रभाव रहे, उस अवस्था में हो सकता है, अन्यथा नहीं । हम तो क्रोध के अधीन हैं, वे तो छोड़ने में सर्वथा असमर्थ हैं । आपकी माया दुस्त्यज[२] है। यदि कहो कि मेरी माया छोड़नी कठिन है तो उसको छोड़ने के लिए भगवान् की प्रार्थना क्यों नहीं करते हो ? वह प्रयत्न भी हम नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अपने आप मोह में पड़े हुए हैं, तथा हमारी 'आत्मा' ही मोहित है । जिससे, हमारा कल्याण किस कार्य के करने में हैं, इसका परिज्ञान[३] नहीं है, अतः त्याग के लिए भी प्रयत्न नहीं करते हैं ॥ ५८ ॥

१-अपने आप । २-छोड़ने में कठिन । ३-समझ ।

आभास – तर्ह्यवश्यं भवद्भ्यो दोषोत्पत्तिसम्भवान् मारणीया एव भवन्त इति चेत् तत्राह भवान् हि कारणमिति,

आभासार्थ – यदि यों है, तो आप लोगों से दोषों की (जीव मात्र के दुःखों की) उत्पत्ति होगी ? इस लिए आपको नाश कर देना ही अच्छा है इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहता है-

श्लोकः – **भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।**
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद् विधेहि नः ॥ ५९ ॥

श्लोकार्थ – इस प्रकार (हम लोगों से दोषों की उत्पत्ति होगी) जिसमें भी कारण आप सर्वज्ञ जगदीश्वर हैं। फिर भी, हम पर अनुग्रह वा निग्रह जो आप योग्य समझते हैं वह करो ॥ ५९ ॥

सुबोधिनी – अस्माकमेवम्भावे **भवानेव कारणं** "बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह" इत्यादिवाक्यान्यत्र प्रमाणमिति हिशब्द आह, एवं सति तत्रानुग्रहं **निग्रहं वा** यदुचितं **तन्नोऽस्मभ्यं विधेहि, अपराधः कृत इति निग्रहः कर्तव्यस्त्वया कारित इत्यनुग्रहः कर्तव्यः**, ननु विरोधे शास्त्रार्थः को वा भवेत् ? **यद्यनेन दण्डः कृतः स्यात् त्वयानुग्रहः कर्तव्य इति तूचितं, अथ भवानेव सर्वरूपस्तदा निग्रहस्य कृतत्वादनुग्रहः कर्तव्यः**, अथ निग्रहोऽनुग्रहश्च कृतावाहोस्वित्र कृतावेतदुभयं **सर्वज्ञत्वाद्** भवानेव जानाति, अतो **यन् मन्यसे तद् विधेहि**, शक्त्यभावस्तु तव नास्तीत्याह **जगदीश्वर** इति ॥ ५९ ॥

व्याख्यार्थ – हम (हम लोगों से दोषों की उत्पत्ति होगी) वैसे जो हुए हैं उसका कारण भी आप ही हैं । मैं उसका कारण हूँ इसमें प्रमाण क्या है ? उसमें आपकी कही हुई गीता का वाक्य 'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह' प्रमाण है । वैसा होने पर भी, अब, आप चाहे 'अनुग्रह'[१] करो वा 'निग्रह'[२] करो। जैसे भी करना आपको योग्य ध्यान में आवे, वह करो । मैंने अपराध किया है यदि यों सत्य समझो तो निग्रह[२] करो, यदि वह अपराध आपने मुझे से कराया है तो अनुग्रह[१] करो ।

जो इस दोष के कारण से, दण्ड करना हो, तो भी आपको तो, अनुग्रह ही करना उचित है । कारण कि जब आप ही सर्व रूप हो, तब आप को निग्रह से अनुग्रह करना चाहिए । निग्रह वा अनुग्रह किया जाए इन को आप सर्वज्ञ होने से जानते ही हो, अन्य कोई नहीं जानता है, अतः आप जो कुछ करना उचित समझें वह कीजिए, आप जगदीश्वर हैं, अतः शक्ति का अभाव तो है ही नहीं, ज्यों चाहें, सो कर सकते हैं ॥ ५९ ॥

आभास — एवं श्रुत्वा यत् कृतं भगवता तदाहेत्याकर्ण्येति,

आभासार्थ — इस प्रकार कालीय ने जो कहा, वह सुनकर, भगवान् ने जो कुछ किया, उसका वर्णन श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक में करते हैं-

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — **इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान् कार्यमानुषः ।**
नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी ॥ ६० ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे - कि कार्य के लिए मनुष्याकृति धारण किए हुए भगवान् ने कालीय के ये वचन सुन कर, कहा कि - हे सर्प ! तुम यहाँ पर मत रहो, शीघ्र अपने साथ अपने परिवार को लेकर समुद्र को चले जाओ, इस (श्रीयमुनाजी) का सेवन गौ और मनुष्य करें ॥ ६० ॥

सुबोधिनी — वच एवं श्रुतमर्थस्तु पूर्वमेव परिज्ञातः, यद्यपि प्रसादः कर्तव्य स्वकृतत्वात् पूर्वभावस्य स्तुतत्वाच्च तथापि समयानुरोधेन प्रसादोऽन्यथा कर्तव्य इतिज्ञापनार्थमाह **कार्यमानुष** इति, यत्र **कार्यार्थ**मयुक्तं मानुषभावमपि प्रदर्शयति तत्रास्य भक्तस्यापि प्रसादान्यथाकरणं किं वक्तव्यं ? न च तस्य बाधकशङ्कयान्यथा करोतीति शङ्कनीयं, यतो भगवानाज्ञापयति, हे **सर्प** गमनसमर्थ, **अत्र त्वया न स्थेयं समुद्रं** गच्छ **चिरं मा**ज्ञात्रयं, गमने प्रकारमाह **स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्य** इति, **ज्ञातयो** ज्ञातीया **अपत्यानि दाराश्च तैराढ्य** इति, यत्र क्वापि तव स्थितौ न कोऽपि प्रयास इति सूचितं, इतो गमने हेतुमाह गोनृभिर्भुज्यतां नदीति, अनेन त्वया नदी दूषितेति तस्याधिको दोषो निरूपितः ॥ ६० ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् ने कालीय के वचन ही सुने उनका अर्थ तो पहले ही जानते थे । क्योंकि इस (सर्प) का पूर्व भाव अर्थात् क्रोध आदि दोष वाला स्वभाव आपने ही किया है तथा सर्प ने स्तुति भी की है अतः इस पर अनुग्रह करना चाहिए, तो भी, समय के अनुसार, अन्य प्रकार से अनुग्रह करना है, कारण कि, आपने जब कार्य करने के लिए, अपना ईश्वर भाव छिपाकर, अन्यथा भाव (मनुष्य भाव) किया है, तो इस भक्त सर्प पर, अन्य प्रकार से अनुग्रह करें तो क्या है ? अन्य प्रकार से अनुग्रह इसलिए नहीं करते हैं, कि यह दुःख देता है, किन्तु यह भक्त है अतः मेरी आज्ञा मानेगा । भगवान् तीन आज्ञा करते हैं कि हे सर्प ! यहाँ से दूसरे स्थान को जाने में समर्थ यहाँ तुम न रहो शीघ्र समुद्र को जाओ ।

किस प्रकार जाओ, वह प्रकार बताते हैं–अपनी ज्ञाति, पुत्र और स्त्रियां आदि को अपने साथ लेकर

(समुद्र में) जाओ। आप जहाँ कहीं भी निवास करोगे तो आपको श्रम नहीं होगा। यदि पूछो कि हम यहाँ से क्यों जाय ? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि आप के जाने पर, ये गौ और मनुष्य आदि श्री यमुनाजी का उपभोग करेंगे, तुम रहोगे तो वे उपभोग नहीं कर सकेंगे। यह कह कर सर्प को यह बताया कि तुमने श्री यमुनाजी के जल को दोष वाला बना दिया है, यह तुम्हारा अधिक दोष है॥ ६०॥

आभास – "सर्पजात्युरुमन्यव" इतिवाक्यात् कदाचिद् वैष्णवान् पीडयिष्यतीति भगवानाज्ञान्तरमाह य एतत् संस्मरेदिति,

आभासार्थ – 'सर्पजात्युरुमन्यवः' सर्प की जाति बहुत क्रोधी होती है। इस वाक्य के अनुसार कदाचित् (कभी) वैष्णवों को दुःख देगा, अतः भगवान् अन्य आज्ञा करते हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोक में है-

श्लोकः – **य एतत् संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम्।**
कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योर्न युष्मद्भयमाप्नुयात्॥ ६१॥

श्लोकार्थ – जो मनुष्य, इस मेरी आज्ञा को, जो मैंने तुझसे कही है, उनका दोनों सन्ध्या के समय स्मरण करेगा या कीर्तन करेगा उसको तुम्हारा भय नहीं होगा॥ ६१॥

सुबोधिनी – वैष्णवः सर्पेण न भक्षणीय एव यः पुनरेतावन्मात्रमपि स्मरेत् सोऽपि न युष्मत्तो भयमाप्नुयात्, एतत् तव निग्रहलक्षणं चरित्रमित्याह **तुभ्यं मदनुशासनमिति**, तुभ्यं त्वदर्थं, **मदीयं यदनुशासनमाज्ञा**, एतावन्मात्रं वा सम्यक् स्मरणं ध्यानपूर्वकं, अथवा **कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योः**, सायं प्रातरेतच्चरित्रं पठनीयं, उभयं वा कर्तव्यं, **न प्राप्नुयादिति**विध्यर्थोऽयम्॥ ६१॥

व्याख्यार्थ – सर्प वैष्णवों को तो डसेगा (काटेगा) ही नहीं किन्तु जो अन्य (अवैष्णव) भी यदि आपकी दी हुई, इस आज्ञा का अच्छी तरह स्मरण करेगा अथवा दोनों सन्ध्याओं में (प्रातः और सायं काल में) इसका ध्यान पूर्वक स्मरण तथा पाठ करेगा, वह आपसे कभी भी भयभीत नहीं होवेगा यह 'आप्नुयात्' क्रिया विधि लिङ्लकार होने से पूर्ण आज्ञा अर्थ में हैं जिसका तात्पर्य हैं कि इस प्रकार करने वाले को सर्प कुछ नहीं करेगा वैसी मेरी आज्ञा सर्प को है॥ ६१॥

आभास – ननु सर्पभक्षणनिमित्तपापे विद्यमाने कथं न सर्पो भक्षयेत् ? तत्राह, अस्मिन् स्नात्वेति,

आभासार्थ – किसी प्राणी ने पूर्व जन्म में वैसा पाप किया है, जिससे उसको सर्प से दंशित होना हो, तो उसको सर्प क्यों न भक्षण करे। इस शंका के निवारण के लिए निम्नश्लोक कहते हैं-

श्लोक: – **अस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः।**
उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६२ ॥

श्लोकार्थ – मेरे इस क्रीड़ा स्थान में स्नान कर, जो मनुष्य जलों से देवादिकों का तर्पण करेगा तथा उपवास कर मेरा स्मरण करता हुआ, पूजन करेगा वह सब पापों से छूट जाएगा ॥ ६२ ॥

सुबोधिनी – †योऽस्मिन्निति वा, **अस्मिन्** कालीयह्रदे, स्थानान्तरापेक्षया विशेषमाह **मदाक्रीड** इति, **ममाक्रीडा**, यत्र स्नानमात्रेणैव तस्य देहसम्बन्धि पापं गच्छति, **उपोष्य मां स्मरन्नर्चेदि**त्यत्रोपवासे प्राणसम्बन्धि पापं गच्छति मत्स्मरणेनान्तःकरणपापं, अर्चनेनेन्द्रियपापं, पापकरणदशायां यद् देवानां चक्षुष्यागो जातं तत्र देवा बहुविधा देशकाल-कर्मसाक्षिणोऽभिमानिनश्च पितरश्च वंश्याः क्रुद्धा भवन्त्यृषयश्च वेदोल्लङ्घनात्, अतो **देवादीन् जलैस्तर्पयेत्**, **मत्क्रीडया चरित्रामृतपूर्णं जलं पीत्वा तृप्ताः सन्तः प्रत्युताशिषमेव प्रदास्यन्ति न तु क्रोधं करिष्यन्ती**तिभावः, अनेन पूर्वदिवसेऽपि स्नानतर्पणं विहिते, द्वितीयदिवसेऽपि, काम्यं वैतत् स्नानं भिन्नमेव ॥ ६२ ॥

व्याख्यार्थ – यह कालीय देह, जिसमें मैंने क्रीड़ा की है, वह मेरे क्रीड़ा करने से, अन्य स्थानों से विशेष है, विशेषता बताते हुए कहते हैं कि, इसमें केवल स्नान करने से ही, उसके देह से सम्बन्ध वाले सब पाप नाश हो जाते हैं। उपवास करने से प्राण से सम्बन्ध रखने वाले पाप नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार मेरे स्मरण से, अन्तःकरण के पाप तथा अर्चन करने से, इन्द्रियों के पाप जाते हैं।

पाप करने के समय, देश, काल और कर्म के साक्षी तथा अभिमानी देव पितर, वंश के पितर और ऋषि उन पापों को देखते हैं, जिससे वे क्रोध युक्त हो जाते हैं कारण कि, पापी पाप करने से वेद की आज्ञा का उल्लङ्घन कर रहे हैं, जिसको वे सहन नहीं कर सकते हैं। अतः उन सब को प्रसन्न करने के लिए, इस कालीय देह के जल से उनका तर्पण करे, जिससे, वे प्रसन्न हो कर, आशीर्वाद देंगे और क्रोध नहीं करेंगे, क्योंकि मेरे क्रीड़ा करने से एवं चरित्रों से वह जल अमृत के समान हो गया है उसको [illegible] से वे तृप्त हो जाएँगे (तृप्ति से उनका) क्रोध शान्त हो जाएगा और हृदय प्रसन्न [illegible] जिससे आशीर्वाद ही देंगे।

---

† मूल श्लोक में 'अस्मिन्' छपा है किन्तु आचार्य श्री इसका दूसरा पाठ 'योऽस्मिन्' अन्य पुस्तकों में है, उसको भी विकल्प से स्वीकार करते हैं।

जिस दिन उपवास करे, उसी दिन स्नान तथा तर्पण दोनों करे, तथा दूसरे दिन अर्चन स्मरणादि करे, उस दिन भी स्नान तर्पण करे। अथवा यह स्नान पृथक् है क्योंकि काम्य है कामना से (सर्प के भय निवृत्ति के लिए), किया जाता है ॥ ६२ ॥

आभास – नन्वन्यत्र गते गरुडो भक्षयिष्यतीति ते चेत् तत्राह द्वीपमिति,

आभासार्थ – सर्प के मन में यह शंका (वा भय) उत्पन्न होवे कि मैं यदि दूसरे स्थान पर जाऊँगा तो मेरा गरुड़ भक्षण करेगा - इस भय के निवारणार्थ[1] निम्न श्लोक में कहते हैं -

श्लोकः –द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतदुपाश्रितः ।
यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम् ॥ ६३ ॥

श्लोकार्थ – जिस गरुड़ के भय से, रमणक द्वीप को छोड़ कर (तुमने) इस कालीय देह का आश्रय लिया है, वह गरुड़ अब तेरा भक्षण नहीं करेगा, कारण कि (अब) तूँ मेरे चरणों के चिह्न से चिह्नित हो गया है ॥ ६३ ॥

सुबोधिनी – **रमणके स** पूर्वं स्थितः, ततो गरुड़भयादत्रागतः, **यद्भयात् त्वमेतद्ध्रदमुपाश्रितः स सुपर्णस्त्वां नाद्यादि**त्याज्ञा, यद्यप्याज्ञयैव निर्धारो भवति तथापि तस्य विश्वासार्थं हेत्वन्तरमाह **मत्पादलाञ्छित**मिति ॥ ६३ ॥

व्याख्यार्थ – यह कालीय सर्प पहले रमणक द्वीप में रहता था, गरुड़ के भय से यहाँ आकर रहा है। भगवान् आज्ञा करते हैं कि, अब तूँ उसका भय मत कर, वह तुझे मारेगा नहीं, इस आज्ञा से ही निर्णय हो जाता है, तो भी, सर्प को दृढ़ निश्चय कराने के लिए कहते हैं कि, देख तेरे पीठ पर मेरे चरण चिन्ह हैं, जिनको देख, वह तेरा भक्षण नहीं करेगा ॥ ६३ ॥

आभास – एवमुक्तो भगवता स भयान् मुक्तो जातः,

आभासार्थ – भगवान् ने जब इस प्रकार कहा, तब सर्प का डर मिट गया। जिसका वर्णन निम्न श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं -

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः – **मुक्तो भगवता राजन् कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।**
तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् ॥ ६४ ॥

---

१. मिटाने के लिए।

श्लोकार्थ – श्री शुकदेवजी ने कहा हे राजन् ! अद्भुत कर्म करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने, इस प्रकार कह कर, जब सर्प को निर्भय किया, तब सर्प और उसकी पत्नियों ने आदर पूर्वक प्रसन्नता से भगवान् की पूजा की ॥ ६४ ॥

सुबोधिनी – भगवानद्भुतकर्मा निग्रहं कुर्वन्ननुग्रहं कृतवान् । अन्यथास्य सञ्चार एव क्वापि नास्ति, कदाचिद् वा गरुडो भक्षयेत्, अनेन **यथाकथञ्चिद् भगवत्सम्बन्धः सर्वथा मोचक** इत्युक्तं, राजन्निति सम्बोधनं सर्पभयाभावार्थं, ततो भगवन्तं **पूजयामास**, दिव्यानि पुष्पाणि वस्त्रचन्दनादीनि न जलेन क्लिन्नानि भवन्ति, गरुडभयं निवर्तितमिति महान् प्रमोदो जात इति **मुदे**त्युक्तं, **नागपत्न्यश्च सादरं** पूजयामासुः, रमणके तु न प्रेषितः पुनः पूर्वदोषसम्भवात् ॥ ६४ ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् अद्भुत कर्मा हैं । अतः निग्रह के साथ सर्प पर अनुग्रह भी किया है । भगवान् ने इस पर यह अनुग्रह किया है जो सर्प किसी भी स्थान पर जाने से डरता था, वह डर उसका निकल गया अब वह कहीं भी जा सकता है । कदाचित्[१] गरूड़ भक्षण करे, तो उस भक्षण का भय भी नहीं रहा । किसी प्रकार भी, भगवान् से सम्बन्ध होने पर, प्राणी भय से छूट जाता है, क्योंकि, भगवान् का सम्बन्ध सर्व प्रकार के भय से छुड़ाने वाला है ।

हे राजन् ! ये सम्बोधन देकर, परीक्षित को भी, यह संकेत किया कि, आपका भगवान् से सम्बन्ध हुआ है । अतः आप भी सर्प से डरो मत, दिव्य पुष्प वस्त्र चन्दन आदि से सर्प तथा उसकी स्त्रियों ने प्रसन्नता से एवं आदर से भगवान् का पूजन किया, गरुड़ का भय मिट गया इसलिए आनन्दमग्न हो गए थे । जल में पुष्प, वस्त्र, चन्दन से पूजन करने से वे तो भींज (गीले हो) जाएँगे और धुल जाएँगे । ऐसी किसी को शंका होवे उसको मिटाने के लिए इनका विशेषण 'दिव्य' दिया है । अर्थात् ये तीनों पदार्थ अलौकिक थे अतः ये न भींजे और न धुल गए । रमणक द्वीप में न भेजकर अन्य (दूसरे) स्थान पर भेजने का आशय यह है कि यदि रमणक में भेजते तो सर्प में पुनः वे पूर्व के दोष आ जाते, अतः नहीं भेजा ॥ ६४ ॥

आभास – पूजासाधनान्याह दिव्येति,

आभासार्थ – निम्न दो श्लोकों में जिस सामग्री (साधन वस्तुओं) से सर्प ने भगवान् को पूजन से प्रसन्न कर समुद्र के द्वीप में गया उसका वर्णन करते हैं –

श्लोकः – **दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः ।**
दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥ ६५ ॥

---

१ - अचानक ।

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम् ।
ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य च ॥
सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह ॥ ६६ ॥

श्लोकार्थ – दिव्य (अलौकिक) वस्त्र, माला, रत्न, अमूल्य आभरण, दिव्य चन्दन का लेपन और बड़ी कमलों की माला से गरुड़ध्वज, जगन्नाथ भगवान् की पूजा की, जिससे, उनको प्रसन्न कर और उनकी आज्ञा ले तथा परिक्रमा कर, एवं प्रणाम कर, स्त्री, पुत्र और बान्धवों को साथ लेकर समुद्र के द्वीप में गया ॥ ६६ ॥

सुबोधिनी – **दिव्यान्यम्बराणि स्त्रजो** माला मणयश्च सर्पशिरोरत्नानि **पराध्यार्ण्यमूल्यानि भूषणानि** मुकुटकटक केयूरादीनि, **दिव्यो गन्धो** येषां, एतादृशा **अनुलेपाश्च** चतुः समादयो **महती चोत्पलानां माला**, एवमलङ्कारचतुष्टयमपि कृतवान् ॥ ६५ ॥ ततः **पूजयित्वा प्रसाद्याब्धेर्द्वीपं** जगामेतिसम्बन्धः, ननु पीडितः कथं पूजां कृतवान् ? तत्राह जगन्नाथमिति, स हि सर्वस्वामी तत्रापि रक्षकः स एवेति युक्तमेव तदाज्ञाकरणं, ततः प्रार्थितवान् प्रसन्नो भवेति, तत्र हेतुमप्याह गरुडध्वजमिति, गरुडो ध्वजे यस्य, कोट्यंशेनापि **भगवान्** न प्रसन्न इति यदि गरुडो जानीयात् तं भक्षयेदेव, अतः प्रसादः करणीय एव, ततो भगवत्प्रसादानन्तरं **प्रीतः** सन्तुष्टो भगवता चाभ्यनुज्ञातः, प्रथमतस्तु क्रोधेनाज्ञातेन बुद्ध्वा ततोऽप्यनुज्ञातः **परिक्रम्य** प्रदक्षिणीकृत्याभिवन्द्य च सम्भृतिं कृत्वा सर्वसहायोऽब्धेर्द्वीपं सर्वेषामगम्यं **जगामे**ति हेत्याश्चर्यम् ॥ ६६ ॥

व्याख्यार्थ – अलौकिक वस्त्र, माला और सर्प के शिर के रत्न (मणि) और अमूल्य, मुकुट, कड़े तथा बाजूबन्द आदि आभूषण, दिव्य गन्ध वाले लेपन जिसमें केसर, कस्तूरी, चन्दन अरगजा चार समान डाले गए हैं तथा बड़ी कमलों की माला आदि से (इस प्रकार चार तरह से) अलंकृत कर अनन्तर भगवान् का पूजन किया । जिसने इतनी पीड़ा दी उसका पूजन कैसे किया ? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि वह जगत् का नाथ है और रक्षक भी वही है, अतः उसने जो आज्ञा की है, वह योग्य ही है । पश्चात् प्रार्थना करने लगा कि हे प्रभो ! प्रसन्न हो (कृपा करो) यों कहने का कारण कहते हैं कि आप की ध्वजा में गरुड़ बिराज रहा है, आप प्रसन्न होंगे तो गरुड़ नहीं खाएगा यदि गरुड़ को यह पता लगे कि भगवान् इस (सर्प) पर प्रसन्न नहीं है, तो वह खा जाएगा अतः आप कृपा कर प्रसन्न हो जाओ ।

पहले तो सर्प को, भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं था, जिससे भगवान् का अपराध किया, जब भगवान् के स्वरूप का ज्ञान हुआ, तब भगवान् का पूजन कर उनको प्रार्थना करने लगा, कि आप प्रसन्न हो जाओ, इस प्रकार पूजन तथा प्रार्थना करने से, भगवान् प्रसन्न हुए, जिससे सर्प को भी आनन्द हुआ पश्चात् भगवान् ने भी जाने की आज्ञा दी । आज्ञा पाने के अनन्तर भगवान् की परिक्रमा कर, उनको नमस्कार करने लगा, फिर जाने की तैयारी की, अर्थात्, अपने पुत्र स्त्री आदि बान्धवों को सहायता के लिए साथ में लिया, उनको लेकर समुद्र के द्वीप में ऐसे स्थान पर गया जहाँ कोई न

आ सके, मूल श्लोक में 'ह' आश्चर्य कहने का भाव यह है, कि जिसने भगवान् का अपराध किया, उस पर आपने अनुग्रह किया है ॥ ६६ ॥

आभास – तस्मिन्निर्गत एव तदैव भगवत्कृपया सा यमुना मिष्टोदकाभवत्,

आभासार्थ – जब वह (सर्प) निकल गया, उस समय ही भगवान् की कृपा से, श्री यमुनाजी का जल, मीठा तथा विष रहित हो गया । जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं -

श्लोकः – **तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत् ।**
अनुग्रहाद्भगवतः क्रीडामानुषरूपिणः ॥ ६७ ॥

श्लोकार्थ – क्रीड़ा के लिए मनुष्याकृति धारण करने वाले भगवान् के अनुग्रह से, उसी समय वह श्री यमुनाजी का जल विष रहित तथा अमृत के समान हो गया ॥ ६७ ॥

सुबोधिनी – **निर्विषा** च, न केवलमत्रामृतत्वं मिष्टतामात्रपरं किन्तु मरणनिवर्तकमपि, सहजोऽपि यमुनायां यो दोषो विषादिः स्थितः सोऽपि गतः, तत्र हेतुरनुग्रहाद् भगवत इति, न केवलं कालीयगमनेन निर्विषा जाता किन्त्वनुग्रहाद् भगवतः क्रीडायाः करिष्यमाणत्वात् तस्यामनुग्रहः, ज्ञानादिकं तु सूचयति **भगवत** इति, ननु किमिति क्रीडा तस्यां कर्तव्या ? तदाह क्रीडामानुषरूपिण इति, क्रीडार्थमेव मानुषरूपवान्, अतोऽवश्यं यमुनायां क्रीडा विधातव्यातः प्रसाद इति, अनेन यमुनायाः सर्वदोषनिवृत्तिः सूचिता ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे त्रयोदशाध्यायविवरणम् ॥

व्याख्यार्थ – श्री यमुनाजी का जल केवल मीठा ही नहीं हो गया, किन्तु मुक्ति दाता भी बन गया। श्री यमुनाजी में कालीय के कारण, जो सहज विष आदि दोष उत्पन्न हुआ था, वह भी निवृत्त हो गया । कारण कि, भगवान् ने उस पर (यमुनाजी पर) भी अनुग्रह किया है । केवल कालीय के चले जाने से वैसा जल नहीं हुआ, किञ्च, भगवान् ने क्रीड़ा करने के लिए जो अनुग्रह किया, जिससे वैसा जल हो गया ।

इस प्रकार यमुनाजी को निर्दोष करने का कारण यह है, कि भगवान को इसमें क्रीड़ा करनी है। इनको यह (क्रीड़ा करने का) ज्ञान तो था क्योंकि भगवान् है । यमुनाजी में किस लिए क्रीड़ा करनी है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि 'क्रीड़ा मानुष रूपिणः' क्रीड़ा के लिए ही मनुष्य रूप धारण किया है। अतः श्री यमुनाजी में अवश्य ही क्रीड़ा करनी है इसलिए पहले ही, 'प्रसाद' (अनुग्रह-कृपा) किया है इससे श्री यमुनाजी के निरोध होने से बाधक सर्व दोषों की निवृत्ति बताई ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध के १३ अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकृत
श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण का चौथे निरूपक
तेरहवां अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का भाव शिरोमणि सूरदासजी ने निम्न पदों में कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त किया हैं ।

राग : बिलावल

उरग लियो हरि को लपटाई । गर्व वचन कहि कहि मुख भाषत मोको नहीं जानत अहिराई ॥
लियो लपेट चरण ते सिखलों अति यह मोसों करी ठिठाई ।
चांपि पूंछि लुकावत अपनी युवतिन को नहि सकत दिखाई ॥
प्रभु अन्तर्यामी सब जानत अवगारों यह सकुचि मिटाई ।
सूरदास प्रभु तन विस्तारयो काली बिकल भयो तब जाई ॥

राग: कान्हरो

जब ही श्याम तन अति बिस्तारयो ।
चटपटात टूटत अंग जान्यो, शरण शरण अहिराज पुकार्यो ॥
यह वाणी सुनत ही करुणानिधि, तुरत गए सकुचाई ।
यही वचन सुन द्रुपद सुता के दीनो चीर बढाई ॥
यही वचन गजराज पुकार्यो गरुड़ त्याग तहां धाए ।
यही वचन सुन लक्षागृह में पांडव जरत बचाए ॥
यह वाणी प्रभु सह न सकत हैं ऐसे परम कृपाल ।
सूरदास प्रभु अंग सकोर्यो व्याकुल जान्यो व्याल ॥

बहुत कृपा यह करी गुसांई ।
इतनी कृपा करी नहिं काहू जिनतें लिये राखि शरणाई ॥
कृपा करी प्रह्लाद भक्त कों द्रुपद सुता पति राखी ।
ग्राह मुखहि गजराज छुड़ाये, वेद पुरान न भाखी ॥
जो कुछ कृपा करी काली सों सो काहू नहि कीनों ।
कोटि ब्रह्माण्ड अंग प्रति रोमनि ते पग फनि प्रति दीनों ॥
धरनी सिर धरि शेष गर्व करि यहि भरि अधिक संभारयो ।
पूरन कृपा करी सूरज प्रभु फन फन प्रति पगु धारयो ॥

सुनहु कृपा निधि जिती कृपा तुम या काली को कीनी ।
इती बड़ाई कबहूँ कैसो नहि काहू को दीनी ॥
जिन पद कमल सुकृत जल परस्यों अजहूँ धरयो सिर शीश ।
ते पद प्रगट धरे फन फन प्रति धन्य कृपा जगदीश ॥
एक अंड को भार बहुत है गर्व धरयो जिय शेष ।
यहि भर अधिक सह्यो अपने सिर अमित अंड मय भेष ॥
सुर नर असुर कीट पशु पक्षि सब सेवक प्रभु तेरे ।
सूर श्याम अपराध क्षमहु अब या अपने जन केरे ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

❈ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❈

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः (पूर्वार्धः)

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

'तृतीयोऽध्यायः'

श्री सुबोधिनी अनुसार १४वां अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार १७वां अध्याय

कारिका – **चतुर्दशे भगवतो दर्शनान्निर्वृतो वृजः ।**
अग्नेः संरक्षितः पश्चात् प्रासङ्गिकमिहोच्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ – चौहदवें अध्याय में भगवान् के दर्शन से आनन्द मग्न वृजवासियों का, अग्नि से संरक्षण[१] किया है तथा प्रसङ्ग वाली कथा भी कही है ॥ १ ॥

१- बचाव ।

व्याख्यार्थ – इस अध्याय में १-अग्नि से व्रजवासियों की रक्षा, २-कालीय की कथा, ३-गरुड़ को सौभरि ऋषि ने शाप देकर यमुनाजी से निकाल दिया है ये दो प्रासङ्गिक कथाएँ भी हैं ॥ १ ॥

कारिका – **इन्द्रियप्राणयोर्दोषो निवार्यस्तु सहैव हि ।**
अतः कालीयकथया दाहाभावो निरूप्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ – इस अध्याय में इन्द्रिय और प्राण के दोषों को साथ में मिटाते हैं इसलिए कालीय की कथा के साथ दाह के अभाव का निरूपण किया है ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ – कालीय इन्द्रिय रूप है। उसके (कालीय के) भय को मिटाने से, इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। अतः कालीय को, यहाँ से बाहर भेज दिया है। इसी प्रकार प्राण के दोष अग्नि को, (क्षुधा को) निवृत्त करने के लिए अग्नि के भय को मिटाया गया है। अतः भगवान् ने दावाग्नि का पान किया है।

इन्द्रिय तथा प्राण का परस्पर इसी प्रकार सम्बन्ध मिला जुला हुआ है, कि एक का दोष निवृत्त भी हो जाए तो दूसरे का दोष उसका (मिटे हुए का) कार्य कर देता है अतः दोनों के दोष साथ में मिटाए गए हैं।

गरुड़, प्राण के दोष (क्षुधा) के कारण, यमुनाजी में मत्स्यों को खाता था, इसलिए सौभरि ऋषि ने उसको शाप दिया, जिससे वह यमुनाजी छोड़ कर चला गया। इस कथा से, प्रत्येक को यह शिक्षा लेनी हैं, कि इस दोष को मिटाना आवश्यक है। यह ज्ञान कराने के लिए यह प्रासङ्गिक कथा यहाँ कही गई है।

जिह्वा इन्द्रिय का धर्म, रुचि[१] हैं, भोजन जब रुचि से किया जाता है, तो प्राणों के धर्म, बल की वृद्धि होती है। इस प्रकार इन्द्रिय और प्राण का परस्पर सम्बन्ध है। जिससे दोनों के दोषों की साथ निवृत्ति करना आवश्यक है।

कारिका – **प्रासङ्गिककथा त्वत्र हरेरद्भुतकर्मताम् ।**
वक्तुं युक्ता सर्वदोषा नान्यथा यान्ति हीति च ॥ ३ ॥

कारिकार्थ – यहाँ हरि के अद्भुत कर्म को कहने के लिए प्रासङ्गिक कथा कहनी योग्य है, यदि न कही जाती, तो सब के दोष निश्चय से मिटते नहीं ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ – कालीय यमुनाजी के जिस देह में आकर रहा था, वह उसके लिए निर्भय स्थान था, क्योंकि कालीय, जिस गरुड़ से डरकर, रमणक से भागा था, वह (गरुड़) सौभरि ऋषि के शाप से, यहाँ आ नहीं सकता था। सौभरि ऋषि ने मत्स्यों के भय मिटाने के लिए उनके काल, गरुड़ को शाप देकर यहाँ से निकाल दिया, किन्तु वहाँ पुनः मत्स्यों का अन्य काल, कालीय आकर रहा, जिससे जाना जाता है कि भगवान् अद्भुत कर्मा हैं, जिनके आगे, जीव की कृति कुछ नहीं कर सकती है।

भगवान् ने उस स्थान पर क्रीड़ा कर, उसको, सबके लिए शाप रहित (मत्स्य आदि सर्व प्राणी मात्र के लिए) निर्भय स्थान बना दिया, सौभरि ऋषि के शाप से, वह (स्थान) पूर्ण निर्भय न हो सका था, क्योंकि, वहाँ कालीय आकर रह गया, जिसका कारण सौभरि का शाप था, भगवान् ने उसको निकाल दिया। सौभरि ने भक्त गरुड़ को शाप देकर अपराध किया था।

भगवान् ने इस लीला से सब के दोष मिटाए, जैसे कि प्राणियों को, प्राण जाने का भय था वह मिट गया, सौभरि का अपराध नष्ट हुआ, और श्री यमुनाजी निर्विष हो अमृत जल वाली हुई। तथा भगवान् के क्रीड़ा की स्थली बनने के योग्य हुई। अतः इसको बताने के लिए ही यहाँ यह प्रासंगिकी कथा कही गई है ॥ ३ ॥

आभास – प्रथमं प्रासङ्गिकं पृच्छति नागालयमिति

आभासार्थ – इस अध्याय में प्रारम्भ से राजा प्रासंगिक[१] कथा पूछता है।

॥ **राजोवाच** ॥

श्लोकः – **नागालयं रमणकं कस्मात् तत्याज कालियः ।**
कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमञ्जसम् ॥ १ ॥

श्लोकार्थ – राजा परीक्षित ने कहा कि – कालीय ने अपना (नागों का) निवास स्थान रमणीक द्वीप क्यों छोड़ दिया ? इस अकेले नाग ने गरुड़ का क्या अपराध किया था ॥ १ ॥

---

१. प्रसंग से होने वाली।

सुबोधिनी – 'द्वीपं रमणकं हित्वे'ति यद् भगवतोक्तं तस्य परित्यागे हेतुर्वक्तव्यः, नापि तत् स्थानं गरुडस्येति शङ्कनीयं, यतः सहजं नागानामेव, तदाह **नागालयमिति**, **कस्माद्**धेतोरिति, यद्यपि भयं पूर्वमुक्तं तथापि तद् भयं साधारणं वाऽसाधारणं? साधारणं चेत् कथमन्यैर्न त्यक्तमनेन त्यक्तमिति भवति विशेषजिज्ञासा, विशेषभयं चेत् तत्र हेतुं पृच्छति कृतमिति, **तेनैवैकेन सुपर्णस्य किं वासमञ्जसं कृतम्** ? सुपर्णत्वादक्लिष्टकर्मा, एको वा कथमपराधी ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ – राजा पूछता है कि, यह जो भगवान् ने कहा है कि "रमणक द्वीप छोड़ कर कालीय यहाँ आकर रहा है" तो बताइए कि उसका क्या कारण है ? वह द्वीप तो नागों के रहने का सहज[१] स्थान है, गरुड़ का तो नहीं है । तो भी इसने उसको क्यों छोड़ा ? यदि भय से छोड़ा है तो क्या वह साधारण भय था, या असाधारण ? अर्थात् सर्व सर्पों के लिए भय उत्पन्न हुआ था वा इस अकेले को भय हुआ था इसलिए यह अकेला छोड़ आया, तो बताइए, कि इस एक ने ही गरुड़ का क्या अपराध किया था? जिससे इसको भय हुआ और भागना पड़ा । यहाँ गरुड़ को 'सुपर्ण' इसलिए कहा कि वह (गरुड़) जो कुछ कर्म करता है उसमें उसको परिश्रम नहीं होता है ॥ १ ॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः – उपहार्यैः सर्पजनैर्मासि मासीह यो बलिः ।
वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्राङ्निरूपितः ॥ २ ॥

श्लोकार्थ – श्रीशुकदेवजी ने कहा कि - भेट करने वाले सर्प जनों ने, पहले महीने में गरुड़ के निमित्त वृक्ष के मूल में बलि रख आने का ठहराव किया था ॥ २ ॥

सुबोधिनी – तत्रोपाख्यानमाह, उपहरन्तीत्युपहाराः, उपहाराः समर्प्यन्त यैस्त **उपहार्या** उपहारसमर्पका इत्यर्थः, ते सर्व एव **सर्प**जनाः साधारणसर्पाः **सर्पाणां** वा **जनाः** सेवका अतलादिवासिनस्तैः **सर्वैरेवेह** रमणके **मासि मासि बलिः** क्लृप्तः, य इति प्रसिद्धः, एवं **ह्याख्यायिका**, गरुडः सर्वानेव सर्पान् भक्षयति सर्वदा मारयति च कांश्चिद् वृथैव मातुर्वैरमनुस्मरन्, ततो वासुकिप्रमुखा गरुडाद् भीता ब्रह्माणं शरणं गताः, ततो **ब्रह्मा** गरुडं समाहूय सन्धिं कृत्वा दण्डरूपं बलिं कल्पितवान्, अमावास्यायां वृक्षमूले 'नागलोकेषु यद् भवेद् एकस्मिन् दिवसे तावदेकत्र स्थापयन्तु हि ततो हि गरुडस्तस्मिंस्तद् भुक्त्वा नैव पीडये' दितिव्यवस्थयानया सर्पा मासि मासि बलिं ददुः," तदाह **मासि मासीह यो बलिरिति, वानस्पत्यो** वनस्पतेर्मूले देयः, **महाबाहो** इति सम्बोधनं यथा त्वया सर्वेभ्यः करो गृह्यत एवं गरुडोऽपि गृह्णातीतिसूचनार्थं, **अरयो न केवलं वध्याः** किन्तु दण्ड्या **अपि**, ततः किम् ? अत आह **नागानां** सम्बन्धी प्राग् दण्ड एवंविधो निरूपितः ॥ २ ॥

---

१. - जन्म से, जन्म सिद्ध ।

व्याख्यार्थ – भेट करने वाले अतल आदि लोकों में रहने वाले, साधारण सर्प अथवा उनके सेवक आदि ने यह ठहराव किया था कि हम हर मास में गरुड़ के लिए रमणक द्वीप में बलिदान करेंगे ।

यह आख्यायिका[१] इस प्रकार है । गरुड़ माता के वैर को स्मरण करता हुआ, नित्य जो भी सर्प हाथ लगता था उसका भक्षण करता था किसी को तो वृथा[२] ‡ही मारता था ।

इस प्रकार अपने कुटुम्ब का क्षय देखने के अनन्तर वासुकि आदि प्रमुख सर्प गरुड़ से डर कर, ब्रह्मा की शरण गए । ब्रह्मा ने गरुड़ को बुलाकर दोनों की सन्धि[३] कराई, जिसमें यह निश्चय हुआ कि 'अमावस्या' के दिन नागों में से एक की बलि वृक्ष के मूल में रखी जाए, गरुड़ वहाँ जाकर उसका भक्षण करे उसके अतिरिक्त किसी भी सर्प को नहीं पीड़ित करेगा । इस ठहराव के अनुसार सर्प हर महिने वृक्ष के मूल में बलि छोड़ आते थे ।

राजा को 'महाबाहो' यह विशेषण देकर समझाया कि आप भी राजा हो, सब से 'कर' लेते हो वैसे ही गरुड़ भी लेता है, इससे यह भी बताया है कि राजा शत्रुओं का केवल वध नहीं करे किन्तु उनको दण्ड भी देवे । अत: कहा है कि नागों को इस प्रकार दण्ड दिया गया जिसका वर्णन पहले किया है ॥ २ ॥

श्लोक: – **स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागा: पर्वणि पर्वणि ।**
गोपीथायात्मन: सर्वे सुपर्णाय महात्मने ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ – सर्व सर्प अपनी रक्षा के लिए हर एक अमावस्या को अपना अपना भाग महात्मा सुपर्ण (गरुड़जी) को देते थे ॥ ३ ॥

सुबोधिनी – तत: **स्वं स्वं भागं सर्व एव नागा** अष्टकुलपरिमिता **सर्व** एव काद्रवेया: **पर्वण्यमावास्यायां,** वीप्सा नित्यार्थं, **आत्मनो गोपीथाय** रक्षार्थं, ननु वैरी कथं दण्डे दत्तेऽपि विमुञ्चतीत्याशङ्क्याह **सुपर्णाय महात्मन** इति ॥ ३ ॥

‡पेट भर जाने के बाद भी जो सर्प सामने मिल जाता तो उसको मार देता था । **'अनुवादक'**

१- प्रसिद्ध कहानी । २- व्यर्थ । ३- मेल ।

व्याख्यार्थ – नागों के आठ कुल हैं, वे सर्व कद्रू की सन्तान हैं। वे अपना अपना भाग अमावस्या को गरुड़ के नित्य आहारार्थ वृक्ष के मूल में रख आते थे। वे समझते थे यों करने से हमारी रक्षा होगी। गरुड़ हमको खाएगा नहीं। यद्यपि वैरी, दण्ड देने पर भी मार देता है, किन्तु गरुड़ महान् आत्मा है अत: वह ऐसा कार्य नहीं करेगा ऐसा उनको निश्चय था ॥ ३ ॥

श्लोक: – **विषवीर्यमदाविष्ट: काद्रवेयस्तु कालिय: ।**
कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं तं बुभुजे बली ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ – कद्रू का पुत्र कालिय विष रूप वीर्य से अभिमान में आ गया, जिससे गरुड़ को तुच्छ समझ कर उसकी बलि स्वयं खाने लगा ॥ ४ ॥

सुबोधिनी – तत्रायं कालिय: स्वदेवोपासको जात:, ततो **विषवीर्यं** जातं, तस्य **मदेनाविष्ट: काद्रवेय:** कद्रूदोषोऽप्यस्मिल्लग्न: कालाधिभौतिकरूपोऽपि **कालिय:** **कदर्थीकृत्य** दूषयित्वा गरुडसेवकान् मारयित्वा तं **बलिं स्वयं बुभुजे,** यतोऽयं महाबली **बलिष्ठ:** ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ – कालीय का देवता विष है अत: उसने उसकी (विष रूप देवता की) उपासना की, जिससे वह विष रूप देवता के प्रभाव से विष वीर्यवाला हो गया। उस (विषवीर्य) के मद से अभिमान में आ गया और माता कद्रू के दोष ने भी, इसमें प्रवेश किया तथा कालिय काल का आधिभौतिक रूप भी है, गरुड़ को तुच्छ जानकर वहाँ बलि की रक्षा के लिए जो गरुड़ के सेवक थे उनको मारकर, स्वयं उस बलि को खा जाता था, कारण कि, यह कालिय महान् बलवान था ॥ ३ ॥

श्लोक: – **तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन् भगवान् भगवत्प्रिय: ।**
विजिघांसुर्महावेग: कालियं समुपाद्रवत् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ – हे राजन् ! यह बात सुनकर, भगवान् के प्यारे, गरुड़ भगवान् क्रोधित हुए, अत: कालीय को मारने की इच्छा से बड़े वेग से उसके (कालीय के) समीप आए ॥ ५ ॥

सुबोधिनी – तत् संवर्कैर्निवेदितो गरुड: **श्रुत्वा कुपितो** जात:, **राजन्निति** राज्यस्थितिरेतादृशीति ज्ञापयति, **असामर्थ्यं** तु तस्य नास्तीत्याह **भगवानिति,** भगवत्कृपया भगवान्, यतो **भगवतोऽयं प्रियो** वाहनरूप:, अतस्तस्य दण्डमप्यस्वीकृत्य विशेषेण **जिघांसुरेव कालियं** प्रति सम्यङ् महाघोषपूर्वकमुप समीप एव शीघ्रमाद्रवत् ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ – गरुड़ के सेवकों ने जाकर अपने स्वामी को ये सारे समाचार सुनाए जिनको सुनकर वे क्रुद्ध हुए। राजन्! यह संम्बोधन देकर यह बताया है कि राज्य की स्थिति ऐसी ही होती है। गरुड़ शक्ति में कम नहीं हैं इसको जताने के लिए गरुड़ को 'भगवान्' कहा है। पक्षी होकर भगवान् कैसे? इसका स्पष्टीकरण आचार्य श्री करते हैं, कि भगवान् की कृपा से गरुड़ में ऐश्वर्य आदि छः गुण उद्भव हो गए थे अतः उनको श्लोक में भगवान् कहा है। भगवान् ने कृपा इसलिए की है, कि वह भगवान् का प्यारा वाहन[१] है। गरुड़ कालिय को दण्ड देना भी स्वीकार न कर, उसको नाश ही करना है, ऐसी इच्छा से कालीय के पास ही बड़े वेग से ध्वनि करते हुए शीघ्र आकर पहुँचे ॥ ५ ॥

आभास – आराधितो विषात्मा हृदये प्रविष्ट इति तस्यापि सम्मुखो जात इत्याह तमापतन्तमिति,

आभासार्थ – कालीय ने अपने देवता विष की आराधना की थी, जिससे वह विषात्मा उसके (कालीय के) हृदय में प्रविष्ट हुआ, अतः गरुड़ के सामने युद्ध के लिए तैयार हुआ जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **तमापतन्तं तरसा नखायुधं प्रत्यभ्ययादुत्थितनैकमस्तकः ।**
दद्भिः सुपर्णं व्यदशद् रदायुधः करालजिह्वोच्छ्वसितोऽग्रलोचनः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ – वेग से उड़कर आते हुए उस नखायुध (गरुड़) के सामने, अनेक मस्तकों को ऊँचा कर यह (कालिय) आया। भयंकर जीभ तथा उग्र नेत्र वाले एवं दान्त रूप शस्त्र वाले कालिय ने गरुड़ को दान्तों से डसा ॥ ६ ॥

सुबोधिनी – नन्वशस्त्रं कथं योधयतीत्याशङ्क्याह **नखायुधमिति, तं प्रतिकूलतयाभ्ययात्** सम्मुखं गतः, **उत्थितान्यनेकानि मस्तकानि** यस्य, अयमेकोऽहं बहुरूप इति ज्ञापयितुं, ततः **सुपर्णं दद्भिर्दन्तैराशीरूपैर्यतोऽयं रदायुधो** रदा दन्ता आयुधानि यस्य, न केवलं दंशमात्रेण तं त्यक्तुमिच्छति किन्तु भक्षयिष्यतीत्याह **करालजिह्व** इति, **कराला जिह्वा** यस्य, **कराला** ग्रसनसमर्था क्रूरा, **उच्छ्वसितान्युग्राणि लोचनानि** यस्य, अनेन तस्य ज्ञानशक्तिः कुण्ठितेति सूचितं, **उच्छ्** वसितत्वान्मर्यादाभङ्गः, उग्रत्वाद् विपरीतत्वम् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ – कालीय, बिना शस्त्र वाले गरुड़ से लड़ने के लिए कैसे गया? इस शङ्का को

---

१ – सवारी।

मिटाने के लिए कहा है, कि गरुड़ शस्त्र से हीन नहीं था किन्तु गरुड़ के पास उसके नख ही आयुध[१] थे। इसको जान कर कालीय लड़ने के वास्ते सामने गया। कालीय ने अपने अनेक मस्तकों को ऊँचा उठाकर गरुड़ को यह बताया कि तूँ एक रूपवाला है मेरे बहुत रूप हैं। पश्चात्[२] अपने विष से भरे हुए दान्तों से उसको (गरुड़ को) डँसा। डँस कर उसको छोड़ दूँ ऐसी कालीय की इच्छा नहीं थी, किन्तु उग्र जिह्वा के कारण खा भी जावे, क्योंकि उसके लोचन स्तम्भित[३] हो गए थे। जिससे उसकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो गई थी। इन दोषों से उसने (कालिय ने) मर्यादा† का भङ्ग किया, विपरीत* कर्म किया ॥ ६ ॥

आभास – एतादृशमपि गरुडो मारितवानित्याह तमिति, तं प्रसिद्धं, तुल्यतायामवश्यमारकत्वे च हेतुमाह तार्क्ष्यपुत्र इति,

आभासार्थ – वैसे को भी गरुड़ ने तोड़ना की - जिसका वर्णन इस श्लोक में है।

श्लोकः – **तं तार्क्ष्यपुत्रः स निरस्य मन्युना प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः।**
पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रमः ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ – (जब कालिय ने यों डँसने आदि, क्रिया की तब तो) भगवान् के आसन, उग्र पराक्रम उस गरुड़ ने बहुत क्रोध में आकर इस (कालीय) को दूर फेंक कर बड़े वेग से सुवर्ण के सदृश चमकते हुए अपने सव्य पांख से कद्रू के पुत्र पर प्रहार किया ॥ ७ ॥

सुबोधिनी – **तार्क्ष्यः कश्यपो** भावान्तरमापन्नः, रूपान्तरेण चतसृणां विवाहः कृत इत्ययमपि काद्रवेय इति तुल्यता, **स** इति पूर्वशत्रुः कोपितश्च, **निरस्य** नितरां**'असु** क्षेपणे,' दूरादेव क्षिप्त्वा तिरस्कृत्येत्यर्थः, नन्वाधिदैविकबलेन समागच्छन्तं कथं तिरस्कृतवान् ? **तत्राह मन्युनेति**, क्रोधेन तिरस्कारं कृतवान्, **प्रचण्डो वेगो** यस्य, तदपेक्षयाप्यस्य क्रियाशक्तिरधिकोक्ता, तत्र हेतु**र्मधुसूदनस्यासनभूत** इति, गमने भगवत आसनं तदर्थं भगवद्दत्ता क्रियाशक्ति**रस्मिन्** वर्तत इति, अतः **सव्येन पक्षेण** बृहद्रूपेण, तद् **ब्रह्मा**त्मकं भवति तेन, स निरस्तः, तस्य पक्षस्य ब्रह्मत्वाभिव्यक्तिर्जातेत्याह **हिरण्यरोचिषेति, हिरण्य**रूपत्वं भगवद्धर्मः, ननु सोऽपि कश्यपपुत्रः कथं तं मारितवानित्याशङ्क्याह **कद्रूसुत**मिति, मातृदोषेण दुष्टं, मातृप्राधान्यान्नात्र बीजमुख्यता, ननु दंशापेक्षया प्रहारोऽल्पीयानिति कथमस्य जयः ? तत्राहोग्रो **विक्रमो** यस्येति, बाह्योऽप्ययं विक्रम उग्रो मरणपर्यवसायी ॥ ७ ॥

---

† गरुड़ से किया हुआ बलिदान का नियम तोड़कर मर्यादा भङ्ग किया। **'योजना'**

* जो गरुड़ कालिय को मारने में शक्तिमान हैं उसको मारने की चेष्टा[४] करना विपरीत कर्म है वह किया। **'योजना'**

१- शस्त्र। २- पीछे। ३- स्थिर (जड़) ४- इच्छा।

व्याख्यार्थ – 'तार्क्ष्य'(कश्यप)ने चार रूप धारण कर चार से विवाह किया था। कालिय 'कद्रू' नाम वाली स्त्री से उत्पन्न हुआ था उसके दोष इस (कालीय) में आगए थे, पिता के बीज की मुख्यता इस कालीय में नहीं थी किन्तु विनता के पुत्र गरुड़ में पिता के बीज की मुख्यता थी। अत: कश्यप के पुत्र होने से, दोनों यद्यपि समान थे, तो भी उपर्युक्त कारण से दोनों की शक्ति में अन्तर था।

सर्प ने बलि खाकर गरुड़ को अपना शत्रु बना लिया था। जिससे गरुड़ को क्रोध उत्पन्न हुआ। अत: उसको दूर फेंक दिया अर्थात् उसका अपमान किया। यद्यपि सर्प आधिदैविक बल से, सामने लड़ने के लिए आ रहा था, तो भी क्रोध के आने पर शक्ति की वृद्धि हो जाती है। अत: उसने क्रोध के द्वारा इसका (कालीय का) तिरस्कार किया।

कालीय से गरुड़ में क्रियाशक्ति विशेष थी क्योंकि भगवान् का आसन था। कहीं भी भगवान् को शीघ्र जाना हो तो गरुड़ को आसन[१] बनाते थे, अत: भगवान् ने उसको क्रियाशक्ति दी थी इसलिए इसमें (गरुड़ में) दैवी क्रिया शक्ति थी जिससे कालीय से बलवान् था। इस बल के कारण अक्षर रूप सव्य पाँख के प्रहार से वह (सर्प) निरस्त हो गया। वह सव्य पंख सुवर्ण जैसी कांति[२] वाला था। अर्थात् भगवद्धर्म वाला था क्योंकि यह सुवर्ण जैसी कांति भगवान् का धर्म है।

यद्यपि सर्प भी कश्यप का पुत्र था तो भी उसको गरुड़ इसलिए मार सका, क्योंकि उसमें कद्रू के दोष आ गए थे।

दँश से प्रहार का बल अल्प है, तो प्रहार से इस (गरुड़) की जीत कैसे हुई ? इस शङ्का के मिटाने के लिए कहा है कि साधारण रीति से, प्रहार दँश से अल्प है किन्तु गरुड़ उग्र विक्रम हैं, अत: उसका प्रहार अत्यन्त बलवान् हैं, जिस प्रहार से मरण भी हो सकता है ॥ ७ ॥

आभास – ततो यज् जातं तदाह सुपर्णपक्षाभिहत इति,

आभासार्थ – उसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं –

श्लोक: – **सुपर्णपक्षाभिहत: कालियोऽतीव विह्वल: ।**
ह्रदं विवेश कालिन्द्यास्तदगम्यं दुरासदम् ॥ ८ ॥

१- सवारी। २- तेज, चमक।

श्लोकार्थ— गरुड़ के पंख के प्रहार से, बहुत घबराए हुए कालीय ने कालिन्दी के ह्रद में प्रवेश किया, जहाँ गरुड़ आ नहीं सकता था और अगाध जल के कारण वहाँ जाना भी कठिन था ॥ ८ ॥

सुबोधिनी — सुपर्णस्य गरुडस्य **पक्षेणाभिहतस्ता**डितः **कालियो विह्वलो** जातस्ततः **कालिन्द्या ह्रदं विवेश, तत् त्वगम्यं** गरुडस्य ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ — सुपर्ण के पंख से ताड़ित होने से, घबराया हुआ कालिय, कालिन्दी के ह्रद में चला गया, क्योंकि गरुड़ वहाँ नहीं जा सकते थे ॥ ८ ॥

आभास — तत्र हेतुं वक्तुमुपाख्यानमाह तत्रैकदेति,

आभासार्थ — गरुड़ क्यों नहीं जा सकता था वह बताने के लिए उपाख्यान कहते हैं —

श्लोकः — **तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम् ।**
निवारितः सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहरत् ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ — किसी समय वहाँ गरुड़ आया, उसने सौभरि ऋषि के निषेध करने पर भी क्षुधित होने से अपने प्रिय भक्ष्य मत्स्य को बलात्कार से खाया ॥ ९ ॥

सुबोधिनी — यदास्य न भगवद्भावः, **सौभर्युपाख्याने** सर्वत्र मीनसङ्गः प्रसिद्धः स हि मीनहितकारी भवति, पुनर्गरुडो दैवगत्या तस्यैव समीप **ईप्सितं भक्ष्यं जलचर**विशेषं रोहितादिरूपं निवारितोऽपि **सौभरिणा क्षुद्**वशाद् बहिर्मुखावस्थां ग्रासस्तं गृहीत्वान्यत्र गतः, तत्र भक्षण आज्ञोल्लङ्घनाद् विशेषतः खेदजननाच्च मरणमेव भवेत्, जीवन्तमेवान्यत्र हृतवानिति तत्र तस्याप्रवेश एवोच्यते ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ — सौभरि ऋषि के उपाख्यान से जाना जाता है कि उसको मत्स्यों का सङ्ग था, इसलिए वह उनका हित चाहता था । मीन सङ्ग के कारण उस समय, उसमें† (सौभरि में) भगवद्भाव भी नहीं था । ऐसे समय गरुड़ दैव गति से उसके (सौभरि के) समीप गया और उसके सामने अपने प्रिय भक्ष्य रोहित आदि मत्स्य को खाने के लिए पकड़ने लगा, तब ऋषि ने गरुड़ को यों करने से

---

† गो० पुरूषोत्तमजी प्रकाश में - **सुबोधिनीजी के** अ. १४, श्लोक ९ की 'अस्य न भगवद्भावः' का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि- 'सौभरि में भगवद्भाव नहीं था ।'

निषेध किया[१] किन्तु क्षुधा से व्याकुल, गरुड़ की वृत्ति बहिर्मुख हो गई थी, जिससे वह जलचर को पकड़ के दूसरे स्थान पर ले गया और वहाँ उसका भक्षण किया। वहाँ ही खाता तो सामने आज्ञा के उल्लङ्घन से ऋषि को विशेष खेद होता जिससे मरण ही होता। जीवित मत्स्य अन्य स्थान पर ले जाने से समझा जाता है कि कालिन्दी के ह्रद में वह नहीं जा सकता था ॥ ९ ॥

आभास – ननु भगवन्निर्मितेऽर्थे कथं मुनेराग्रहः ? तत्राह मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वेति,

आभासार्थ – भगवान् ने गरुड़ के लिए जो खाद्य पदार्थ बनाया है उसके लिए सौभरि ने इस प्रकार निषेध का आग्रह कैसे किया ? उसका कारण बताने के लिए निम्न श्लोक कहते हैं –

श्लोकः – **मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वा दीनान् मीनपतौ हृते ।**
कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन् ॥ १० ॥

श्लोकार्थ – मत्स्यपति को गरुड़ ले गया जिससे अन्य दीन मत्स्य अत्यन्त दुःखी हुए, उनको दुःखी देखकर उनके कल्याण की इच्छा से दयार्द्र हृदय हो सौभरि ने जो कहा वह निम्न श्लोक में है ॥ १० ॥

सुबोधिनी – **यथा** भगवता मर्यादाशास्त्रं **कृतं लौकिकमेवं वैदिकमपि, ततः परदुःखं दृष्ट्वा दुःखितः कारुणिकस्तदुपायं कुर्यादिति दीनोपेक्षायां दोषस्य श्रवणात् 'स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथे'**त्यादिवाक्यात्, **अतो** दयया **लोकमर्यादोल्लङ्घनं कृतवान्, तदाह सुदुःखितान्** दृष्ट्वेति, नन्वज्ञानादेव तेषां दुःखं कथं प्रतीकारार्थं यत्नः ? तत्राह दीनानिति, विचार्यमाणेऽपि ते **दीना** रक्षकाभावात्, अत एव तत्र हेतुर्मीनपतौ **हृत** इति, स हि **मीनानां पतिः**, अन्यथा गोत्रघातिनस्ते स्वात्मीयानपि भक्षयेयुः, अतः केवलं **कृपया सौभरिर्वक्ष्यमाणं** प्राह **तत्रत्य**-मीनानां **क्षेममाचरन्** वस्तुतस्त्वनर्थ एव कृतः, मीनाः सर्व एव तत्रत्या विषेण दग्धाः, तत्प्रसङ्गादन्येऽपि जीवाः, अतोऽन्येन यत् **क्रियते तेनानर्थ** एव सम्पद्यत इति फलितम् ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् ने वैदिक और लौकिक दो प्रकार की मर्यादाएँ बनाई हैं। वैदिक मर्यादा के अनुसार सर्व प्राणियों पर दया करनी चाहिए। जो दया नहीं करता है, दीनों की उपेक्षा करता है, उसके हृदय से ब्रह्म चला जाता है, जैसे फूटे हुए बर्तन में से दूध निकल जाता है। गरुड़जी ने लौकिक मर्यादा के अनुसार अपने भक्ष्य मत्स्य का भक्षण किया था, जिससे मत्स्य पति के जाने से, दीन मत्स्य दुःखी होने लगे क्योंकि उनका रक्षक तथा उनको नियम से चलाने वाला कोई नहीं रहा। इससे मत्स्य अपने कुल के भक्षक होने से, परस्पर मित्र बान्धवों को खाने लग गए। ऐसी दशा देख कर सौभरि

---

१. [illegible]

ने उन पर दया करने के लिए मर्यादा का उल्लङ्घन किया। यद्यपि, मत्स्यों को दुःख अज्ञान के कारण था तो भी दीन थे, जिससे उनकी रक्षा करने का यत्न सौभरि ने निम्न प्रकार से किया। किन्तु वह परमार्थ भी अनर्थ हो गया क्योंकि, गरुड़ के न आने से वहाँ कालीय आकर रहा जिसके विष से, सर्व मत्स्यों का नाश हो गया। उस प्रसङ्ग से अन्य जीव भी नष्ट हुए। इससे यह सिद्धान्त निश्चय हुआ कि भगवान् की मर्यादा (इच्छा) के विरुद्ध जो कुछ करता है वह अनर्थ ही है, उससे लाभ के स्थान पर हानि ही होती है ॥ १० ॥

आभास – शापवाक्यमाहात्र प्रविश्येति,

आभासार्थ – सौभरि ने जो शाप दिया वह इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः – **अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान् स खादति।**
सद्यः प्राणैर्वियुज्येत सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ – यहाँ गरुड़ आवेगा और जो वह मत्स्यों का भक्षण करेगा तो, उसके उसी समय प्राण चले जाएँगे, मैं यह सत्य कहता हूँ ॥ ११ ॥

सुबोधिनी – **अत्र ह्रदे प्रविश्य**, जलं तथा भवेदित्येकः शापः, तत्रापि **यदि मत्स्यान्**, तत्रापि **स** एव **गरुडो** न त्वन्यः पक्षी, ततः **सद्य** एव **प्राणैर्वियुज्येते**त्यपरः, तेनान्याहृत-स्याप्यत्रत्यमत्स्यस्य भक्षणं निषिद्धं, तथा च न विशिष्टशापः, अत एव कालीयस्य रक्षा, अन्यथा मत्स्यखादने शापाभावान्न सास्यादितिभावः, अत एव स इति पुनरुक्तं, ब्रह्मवाक्य-माज्ञारूपं, इदमनुवादकं वाक्यमित्याशङ्क्याह **सत्यमेतद् ब्रवीम्यह**मितिप्रमाणं न हि **ब्रह्मवादो** मृषा भवति ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ – सौभरि ने गरुड़ को दो प्रकार से शाप दिया, एक यमुना के ह्रद में प्रवेश करेगा तो, उसी समय प्राण से रहित हो जाएगा। दूसरा मत्स्यों को खाएगा तो भी तेरे प्राण शीघ्र निकल जाएँगे। इस शाप से यह भी दिखाया है कि गरुड़ के अतिरिक्त अन्य पक्षी के लिए यह शाप नहीं है। इस शाप के कारण कालिय की भी रक्षा हो गई क्यों कि यदि यह शाप विशिष्ट (ह्रद में प्रवेश तथा मत्स्य भक्षण दोनों का मिलित) शाप न होता तो गरुड़ ह्रद में प्रवेश कर, कालिय को दुःख देता। इस प्रकार शाप न होता तो उसकी (कालीय की) रक्षा न होती। इसीलिए ही मूल श्लोक में 'स' 'वह' गरुड़ शब्द फिर दिया है। ब्राह्मण का वचन आज्ञा रूप है। यह सौभरि का कहना

केवल अनुवाद[1] ※ नहीं है, किन्तु यह सत्य है, ब्रह्म वाक्य होने से प्रमाण है। ब्राह्मण के वाक्य कभी भी झूठे नहीं होते हैं ॥ ११ ॥

श्लोकः – **तं कालियः परं वेद नान्यः कश्चन लेलिहः ।**
अवात्सीद् गरुडाद् भीतः कृष्णेन च विवासितः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ – इस बात को केवल कालिय ही जानता था दूसरा कोई सर्प नहीं जानता था, इसलिए गरुड़ से भयभीत हो यहाँ आकर रहा, और श्रीकृष्ण ने उसे निकाल दिया ॥ १२ ॥

सुबोधिनी – तमर्थं **कालिय** एव **परं वेद**, गरुडेन सह विरोधं चिकीर्षुस्तस्यागम्यं स्थानं विचारितवान्, अन्येषां त्वेवमध्यवसायाभावात् **नान्यो लेलिहः** सर्पो जानाति, अतो **गरुडाद्** भीतस्तत्रावात्सीत् **कृष्णेन च विवासित**स्ततो दूरीकृतः ॥ १२ ॥

व्याखार्थ – उस अर्थ अर्थात् गरुड़ सौभरि के शाप से इस ह्रद में नहीं आ सकेगा इस को केवल कालिय ही पूरी तरह जानता था। गरुड़ के साथ विरोध करने की इच्छा वाले कालीय ने यह विचार किया कि यदि इससे विरोध करूंगा तो यहाँ से भागना तो पड़ेगा क्योंकि यह बलवान् है, फिर कहाँ जाकर रहूँगा, वह स्थान ऐसा हो जहाँ गरुड़ नहीं आ सके। वह यमुनाजी का ह्रद ही है जहाँ वह जा नहीं सकता है वहाँ जाकर रहूँगा, दूसरे सर्पों को तो गरुड़ से वैर करने की इच्छा ही नहीं थी और उनको इसका पता भी नहीं था। अतः गरुड़ से डरा हुआ (कालिय) वहाँ जाकर रहा और भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे वहाँ से दूर किया ॥ १२ ॥

आभास – एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतमाह कृष्णं ह्रदादिति,

आभासार्थ – इस प्रकार प्रासङ्गिक विषयों को छोड़ अब चालू विषय को कहते हैं।

※ यदि सौभरि इस प्रकार शाप नहीं देता तो कालीय इस ह्रद में प्रविष्ट न होता। **'टिप्पणी'**

गरुड़ ह्रद में आते तो सर्प के विष से उसका मरण नहीं होता, किन्तु शाप के कारण मृत्यु हो सकता अतः सौभरि का वचन प्रमाण है जिससे गरुड़ ह्रद में नहीं आता था। **'प्रकाश'**

---

१ - सिद्ध बात को दोहराना।

श्लोक: – **कृष्णं ह्रदाद् विष्क्रान्तं दिव्यस्त्रग्गन्धवाससम् ।**
महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥ १३ ॥
उपलभ्योत्थिता: सर्वे लब्धप्राणा इव प्रजा: ।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपा: प्रीत्याभिरेभिरे ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ– दिव्यमाला, चन्दन, वस्त्र पहिरे, अमूल्य मणि–मालाओं से व्याप्त, सुवर्ण से अलंकृत श्रीकृष्णचन्द्र ह्रद से बाहर निकले, तब भगवान् को पाकर सब गोप, जैसे इन्द्रियाँ प्राण आने पर सचेत हो जाती हैं वैसे ही आनन्द से पूर्ण चित्त वाले होकर प्रेम से उनके (श्रीकृष्ण के) साथ मिले ॥ १३-१४ ॥

सुबोधिनी – विशेषेण निष्क्रान्तं भगवन्तं दृष्ट्वोत्थिता: **सर्वेभिरेभिर** इति द्वयो: सम्बन्ध:, ह्रदाद् ध्रदमध्यात्, विशेषेण निष्क्रमणमकस्मादाविर्भाव:, पूर्वस्माद् वैलक्षण्यार्थं रूपं वर्णयन्ति, **दिव्यानि स्त्रग्गन्धवासांसि** यस्येति, अनेन सामान्यत: पूजा निरूपिता, **महामणिगणैराकीर्णमिति** विशेषपूजा, **जाम्बूनदेन** च **परिष्कृतं**, अनेन लोकत्रयपदार्थै: पूजित उक्त:, तत्र **दिव्यानि** स्वार्गानि, **मणय:** पातालस्था:, सुवर्णं भूमिष्ठं, अकस्मादु**पलभ्य** भगवत्सन्निधिमात्रेणैव **लब्धप्राणा** जाता: **प्रजा** बालका **इवोत्थिता:**, यथा बालका उत्तिष्ठन्त्येवं **लब्धप्राणा** एते महान्तोऽप्युत्थिता:, परस्परज्ञान-रहिता: **प्रजा** लौकिका वा यथा प्राणेष्वागतेषूत्तिष्ठन्त्येवमेते कृष्णे समागत **उत्थिता:**, ततोऽपि भगवत्सान्निध्ये प्रमोदेन निभृत: पूर्ण आत्मान्त:करणं येषां, आदौ पुरुषास्तरुणा: पुरुषोत्तममपि प्रीत्यालिङ्गतवन्त: ॥ १३-१४ ॥

व्याख्यार्थ – यहाँ दो श्लोकों का परस्पर सम्बन्ध है अन्तत: उनका तात्पर्य साथ में ही समझाया गया है ।

ह्रद के बीच से अचानक प्रकट हुए भगवान् को देखकर सब उनसे मिले । भगवान् पहले से (जब यमुनाजी में कूदे थे तब से) अब विलक्षण दर्शन दे रहे थे, अत: उस विलक्षण रूप का वर्णन करते हैं ।

स्वर्ग के दिव्य चन्दन माला वस्त्र आदि से, भगवान् की वहाँ सामान्य पूजा हुई है ऐसा प्रतीत होता था, पाताल के पदार्थ महान् मणिओं की मालायों से व्याप्त देखने से समझा गया कि इनकी विशेष पूजा हुई है, और पृथ्वी के उत्तम पदार्थ सुवर्ण के आभूषणों से सुशोभित हुआ देखकर, सब ने निश्चय किया, कि भगवान् की तीन लोकों के पदार्थों से सब प्रकार पूजा हुई है ।

पूजा से सुशोभित विलक्षण रूप वाले वैसे भगवान् को अचानक आविर्भूत हुए देखकर, उनके

सन्निधि[1] मात्र से उनमें (गोपादि में) प्राण आ गए। बालकों की तरह वे उठ कर खड़े हो गए। जैसे बालक खड़े होते हैं वैसे ही प्राण मिलने से वृद्ध भी उठ कर खड़े हो गए। प्रजा (बालक) अथवा लौकिक मनुष्य की परस्पर पहचान न होते हुए भी जैसे प्राणों के (प्रेमी सुन्दर पुरुषों के) आने पर उठते हैं, उसी प्रकार, ये गोपादि भी श्री कृष्णचन्द्रजी के आने पर, उठ कर खड़े हुए। पश्चात् समीप होने पर, आनन्द से पूर्ण, अन्तःकरण वाले, पहले, उन तरुण पुरुषों ने पुरुषोत्तम को भी प्रेम से आलिङ्गन किया ॥ १३- १४ ॥

श्लोकः — **यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गावश्च कौरव ।**
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसँल्लब्धमनोरथाः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ — हे कौरव ! यशोदा, रोहिणी, नन्दरायजी, गोपियाँ, और गोप ये सब श्रीकृष्ण को पाकर चेष्टा वाले हुए और इनका मनोरथ पूर्ण हुआ ॥ १५ ॥

सुबोधिनी — ततो **यशोदा रोहिणी, स्त्रियो** ह्यत्युत्सुकाः, ततो नन्दो रोहिणीस्पर्शभयात्, ततो गोप्यो नन्दभयात्, ततो गावोऽपि. हे **कौरवे**तिसम्बोधनं विश्वासार्थं, सर्व एक **कृष्णं समेत्य लब्ध**चेष्टा जाताः, **लब्धो मनोरथो यैस्तादृशा अप्यासन्**, क्रियाज्ञानशक्त्योः सम्बन्ध उक्तः ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ — स्त्रियों में उत्सुकता (प्रिय के मिलने की चाह) विशेष होती है इसलिए पहले यशोदा और रोहिणी भगवान् से मिली, रोहिणी से स्पर्श न हो जाए, इस भय से, नन्दजी पश्चात् मिले, नन्दजी के भय से गोपियाँ पीछे मिली, उसके अनन्तर गाएँ भी मिली। परीक्षित को यह जताने के लिए कि यह प्रसङ्ग यों ही हुआ है इस पर तूँ विश्वास कर, संशय न कर, क्योंकि तूँ कुरु के कुल में उत्पन्न हुआ है अतः परीक्षित को ''कौरव'' विशेषण देकर सावधान किया है। सब कृष्ण को प्राप्त कर चेष्टा वाले हुए अर्थात् उनमें क्रिया शक्ति आ गई और उनका मनोरथ भी पूर्ण हुआ जिससे ज्ञान शक्ति भी उनमें प्रकट हो गई। इस प्रकार क्रिया और ज्ञान शक्ति का परस्पर सम्बन्ध दिखाया है कि जहाँ क्रिया शक्ति आती है वहाँ ज्ञान शक्ति अवश्य उत्पन्न होती है ॥ १५ ॥

श्लोकः — **रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित् ।**
नरा नार्यो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम् ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ — बलरामजी ने अच्युत (श्री कृष्णजी) का आलिङ्गन किया उनके

१ - समीप ।

प्रभाव को जानने से हँसने लगे । पुरुष, स्त्रियाँ, वृष और बछड़े अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १६ ॥

सुबोधिनी – रामश्चाप्येवंविधो जातः, विशेषमप्याह, अच्युतमालिङ्ग्य जहासेति, **पूर्वं भगवदंशो भगवत्येव स्थितस्तदा सर्वसमानमेव कृतवान्, ततो भगवत्यालिङ्गिते तदीयोऽत्र समागत इति पश्चाज् जहास**, तुल्यता सम्पादिता, परीक्षा सम्यक् कृतेति, कालीयनिष्कासनं तु नाश्चर्याय. **यतोऽयमस्यानुभाववित्** विश्वमेवान्यथा क्षणेन करोति तस्य किमिदमाश्चर्यमिति, दुःखसुखयोर्मिश्रणप्रतिषेधार्थमाह **नरा नार्य** इति, चतुर्विधा अप्येते **परमामेव मुदमापुः** ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ – राम ने भी अन्यों के समान भगवान् का आलिङ्गन किया । राम ने जब आलिङ्गन किया, तब हँसे नहीं, आलिङ्गन के अनन्तर हँसे, जिसका कारण यह है, कि बलरामजी में पहले, भगवान् का अंश[1] नहीं था, भगवान् से आलिङ्गन करने से वह भगवदंश बलरामजी में आ गया तब समानता होने से हँसने लगे । हँस कर, श्रीकृष्ण को जताने लगे कि आपने इनकी (गोपादिकों की) पूर्ण परीक्षा की है । कालीय को निकाला इसमें कोई कुछ भी आश्चर्य नहीं है, कारण कि भगवान् के प्रभाव को जानते थे, जो विश्व को क्षण में उलट सकते हैं उनका यह कार्य आश्चर्यजनक नहीं है ।

पुरुष, स्त्रियों, वृष और बछड़े इन चारों को सुख के साथ दुःख भी हुआ होगा ? इसके उत्तर में स्पष्ट कहते हैं कि नहीं, वे बहुत आनन्द को प्राप्त हुए (दुःख लेशमात्र भी न था) ॥ १६ ॥

आभास – नन्वेतावत् कालं ब्राह्मणैः कथमेते नोपदिष्टा इदानीं ब्राह्मणाः कथं तत्सान्त्वनं कृतवन्त इत्याशङ्क्याह नन्दमिति,

आभासार्थ – ब्राह्मण इतने समय तक तो शान्त रहे, किसी प्रकार उपदेश द्वारा सान्त्वना नहीं दी, अब नन्दरायजी को सान्त्वना कराने के लिए कैसे आए ? इस शङ्का को मिटाने के लिए निम्न श्लोक कहते हैं -

श्लोकः – **नन्दं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः ।**
ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ – पत्नियों समेत कर्म कराने, वा गुरु ब्राह्मण नन्दजी के पास आकर

१- आवेश ।

कहने लगे, कि 'बधाई है' प्रसन्नता की बात है कि कालीय का पकड़ा हुआ आपका पुत्र सकुशल छूटकर आ गया ॥ १७ ॥

सुबोधिनी – विप्रास्त्वत्यन्तमेव महापुरुषाः न केवलं कर्मजडा वैश्यगुरवो जीवनार्थं **स्थितास्तसम्बन्धिनोऽपि तथा,** अतः **सकलत्रा** एते समागत्य नन्दमूचुः **कालियेन** सम्बद्धो भगवांस्तवात्मजो **दिष्ट्या**ऽस्मदादिभाग्यै**र्मुक्त**:, एतावतोत्सवे **देयमिति** सूचितं भवति ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ – 'विप्र' तो बहुत ही महान् पुरुष होते हैं। वैश्यों के गुरु, जो उनको कर्म मात्र कराते हैं, वे कर्मजड़ होते हैं। वे वहाँ आजीविका[१] के लिए खड़े हुए उनके (कर्मजड़ ब्राह्मणों के) सम्बन्धी (स्त्री पुत्र आदि भी) वैसे ही होते हैं इसी कारण से, स्त्रियों समेत, वे कर्मजड़ गुरु ब्राह्मण नन्दजी के पास आकर कहने लगे कि, कालीय का पकड़ा हुआ तुम्हारा पुत्र, आनन्द पूर्वक छूट आया है, वह हमारे भाग्य से ही छूटा है। अतः बधाई है। (यों कहने का तात्पर्य यह कि आप हम ब्राह्मणों को बधाई के रूप में कुछ भी दीजिए) ॥ १६ ॥

श्लोकः – देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे ।
नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत् ॥ १७ अ॥

श्लोकार्थ – हे राजन् ! कृष्ण सकुशल छूट आए अतः उनके निमित्त ब्राह्मणों को दान दीजिए। नन्दजी ने प्रसन्न चित्त से ब्राह्मणों को गौ और सुवर्ण दान में दिए ॥ १७ अ ॥

सुबोधिनी – अतो द्विजातिभ्यो दानं देहीति **कृष्णा**गमननिमित्तं, ततो **नन्दो** गाः **सुवर्णं** च दत्तवान् ॥ १७अ॥

व्याख्यार्थ – इस आशय को समझकर नन्दजी ने प्रसन्नता से ब्राह्मणों को गौ और सुवर्ण बधाई के रूप में दिया ॥ १७ अ ॥

---

*यह १७ वाँ श्लोक और इसकी टीका प्रायः बहुत पुस्तकों में देखने में नहीं आती है। किन्तु दोनों का सम्बन्ध होने से कहीं कहीं लिखा है।

---

१ - याचना।

आभास – यशोदाया विशेषमाह यशोदा च तैरुक्ता,

आभासार्थ – यशोदा ने जो विशेष किया उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः –यशोदा च महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती ।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ – सती यशोदा, महा भाग्यवाली है, क्योंकि, अदृश्य (जो गुम होने से देखने में नहीं आता है वैसा) पुत्र पीछे (बादमें) मिल गया है, उसने पहले पुत्र का आलिङ्गन किया पश्चात् गोद में बिठाया उस समय उसके (यशोदा के) नेत्रों से (प्रेम के कारण) आँसू बहने लगे ॥ १८ ॥

सुबोधिनी – **महाभागेति**, तेभ्यो दित्सितवतीति, विशेषकरणाद् वा तस्या भाग्यमभिनन्दति, **नष्टादृष्टा पुनर्लब्धा** प्राप्ता **प्रजा** यया, तथात्वे हेतुर्धर्मः **सतीति**, अतो भाग्योदये जाते **परिष्वज्य** पश्चा**दङ्कमारोप्याश्रुकलां मुमोच** ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ – ब्राह्मणों ने यशोदा को महाभाग्य वाली कही है, उसके दो कारण हैं । एक ब्राह्मणों को बहुत दान मिला था और दूसरा यशोदा ने कृष्ण के लिए सब से विशेष प्रेम दिखाया है । जैसे कि, सब से प्रथम, कृष्ण के आने पर, उसका आलिङ्गन कर गोद में बिठाया, जिससे प्रेम बढ़ कर आँखों से अश्रु बह निकले ॥ १८ ॥

आभास – एतावतार्धरात्रिर्जाता, तस्मिन् दिवसे न केनापि भुक्तं, गावः पूर्वं शुष्कस्तना एवाधुना तु स्तन्यसहिता अपि दोहसाधनाभावान्न दुग्धदा जाताः, भगवदागमनप्रमोदेनैव च निर्वृतास्तत्रैव स्थिता इत्याह तां रात्रिमिति,

आभासार्थ – निम्न श्लोक में कहते हैं कि, इस समस्त कार्य में आधी रात्रि बीत गई, उस दिन किसी ने भी खाया नहीं था, जिससे गौओं के स्तन सूख गए थे। अर्थात् उनमें दूध नहीं था, किन्तु भगवान् के पधारने की प्रसन्नता में वे ही स्तन दूध से पूर्ण हो गए[१] किन्तु दोहने के पात्र न होने से, गौओं से दूध दुहा नहीं गया । वे सर्व आनन्द मग्न होने से वहाँ ही रात्रि भर रहे ।

---

१ - भर गए ।

श्लोकः – **तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः ।**
ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ – हे राजेन्द्र ! व्रजवासी और गौ, भूख तथा प्यास एवं श्रम से कम शक्ति वाले हो गए थे, अतः वहाँ ही कालिन्दी के किनारे के निकट ही सो गए ॥ १९ ॥

सुबोधिनी – **श्रम** आगमन**श्रम**श्चित्तश्रमो वा मध्ये वा मरणार्थं **श्रमः**, तेनापि **कर्शिताः**, **क्षुत्तृड्भ्यां** सहिताः, श्रमस्य कार्यं कृत्वा गतत्वात् कार्यमेव निरूपितं **क्षुत्तृषोः** स्वरूपं च, **व्रजौकस** इत्यव्युत्पन्नाः, **कालिन्द्याः** कूलसमीपे कियद्दूरे **कूलं** विहाय वनमध्ये शयनं कृतवन्तः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ – गोप गौ आदि सब को, गोकुल से यहाँ आने से दैहिक श्रम, भगवान् का कालिय के साथ युद्ध देखने से चित्त का श्रम और उससे मरण के विचार करने का श्रम इत्यादि श्रम से दुर्बल तो हो गए थे, फिर क्षुधा तथा तृषा (प्यास) से विशेष रूप से निर्बल हो गए । श्रम तो निर्बलता देकर चले गए, किन्तु क्षुधा और तृषा तो शरीर के साथ ही रही इसलिए उनके स्वरूप को बताया । ये 'गोवाड़ों' में रहने वाले होने से, अनपढ़ थे, इस कारण से कालिन्दी के किनारे से थोड़ा दूर अर्थात् किनारे को छोड़ कर निकट ही वन के मध्य में सो गए ॥ १९ ॥

आभास – तदा कालीयाविष्टो दैत्यो दोषाभिमानी सर्वभक्षणार्थं स्थितो मृत्युश्चैकीभूय वह्निर्भूत्वा गोकुलवासिनां दाहार्थमुद्गत इत्याह तदेति,

आभासार्थ – कालीय में जो अहङ्कार दोष रूप दैत्य था, वह और क्षुधा तथा तृषा रूप जो मृत्यु था, उन दोनों ने मिलकर अग्नि का रूप धारण किया, अनन्तर वह अग्नि दावाग्नि रूप से गोकुलवासियों को जलाने के लिए प्रकट हुई जिसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं-

श्लोकः – **तदाशु विपिनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो व्रजम् ।**
सुप्तं निशीथ आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे ॥ २० ॥

श्लोकार्थ – वन में उत्पन्न दावाग्नि ने, सोते हुए व्रज को शीघ्र ही चारों ओर से, घेर कर आधी रात को जलाना प्रारम्भ किया ॥ २० ॥

सुबोधिनी – **आशु** प्रतिक्रियायाः करणार्थं **विपिने** स्वयमेवोद्भूतो दारुघर्षणजन्यो वा **दावानल**शब्दवाच्यो जातः, सर्वपदार्थानेकीकृत्य ज्वालनात्, **सर्वत** एव **व्रजं सुप्तमा**वृत्यार्धरात्रसमये **प्रदग्धुमुपक्रान्तवान्**, पूर्वं हि ते **स्नेहे** परीक्षितास्तं **स्नेहं स्थापयंस्तद्देहसम्बन्धित्वं** दूरीकरिष्यन् **माहात्म्यं प्रदर्शयति, अन्यथा, लौकिक** एव स **स्नेहः**

स्यात्, भगवदर्थं च क्लिष्टा एते न तु गतदेहाभिमाना इति च ज्ञापयितुमिदमुच्यते, अन्यथा ज्ञानाधिकारिण एव स्युः शरीराभिमानस्य गतत्वात् ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ – श्लोक के 'आशु' पद का भावार्थ बताते हैं कि वैर लेने के लिए अग्नि शीघ्र ही वन में अपने आप ही उत्पन्न हुई। अग्नि तथा पेड़ की लकड़ियों के आपस में घर्षण[१] से उद्भूत[२] हुई अग्नि जिसको दावाग्नि[३] कहते हैं, उसके सब पदार्थों को इकट्ठा कर जलाने से, सोए हुए ब्रज को चारों तरफ घेर कर, आधी रात में जलाने लगीं।

भगवान् ने कालीय दह में कूदकर तथा कालीय से युद्ध लीला दृश्य दिखाकर, व्रजवासियों के प्रेम की परीक्षा की। अब उस स्नेह का स्थापन करते हुए, उनमें जो देह सम्बन्ध[४] रहा हुआ है, उसको दूर करने के साथ, अपना माहात्म्य ज्ञान भी, विशेष प्रकार से कराते हैं। यदि इस प्रकार, देह सम्बन्ध दूर न करावें तो स्नेह लौकिक हो जाएगा। अभी तक, ये स्नेह के कारण, भगवान् के लिए दुःखी तो हुए, किन्तु, इनका देहाभिमान नहीं गया था। वह बताने के लिए यह कहा जाता है। यदि इनमें देहाभिमान नहीं होता तो, ये ज्ञान के अधिकारी हो जाते, स्नेह के अधिकारी नहीं होते ॥ २० ॥

आभास – अतस्तेषां व्याकुलतां प्रार्थनां चाह तत उत्थायेति,

आभासार्थ – दावाग्नि से, जब जलने लगे, तब देहाभिमान होने के कारण व्याकुल हुए और भगवान् की प्रार्थना करने लगे जिसका वर्णन निम्न तीन श्लोकों में करते हैं। इस श्लोक में उनकी व्याकुलता और प्रार्थना का वर्णन करते हैं-

श्लोकः – **तत उत्थाय सम्भ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः ।**
कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामानुषमीश्वरम् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ – तब व्रजवासी जलते हुए उठे और घबराकर, माया से मनुष्य देखने में आने वाले, परमेश्वर श्रीकृष्ण की शरण में गए ॥ २१ ॥

सुबोधिनी – सम्यग् **भ्रान्ता** जाता अतिनिद्रया दिग्देशकालज्ञानरहिता अपि स्वभावतोऽपि **व्रजौकसः** कालियेन पूजितं भगवन्तं दृष्ट्वा कृष्णमेव ते **शरणं ययुः** ॥ २१ ॥

१- रगड़ने या घिसने। २- पैदा। ३- वन की अग्नि। ४- देह की ममता।

व्याख्यार्थ — बहुत घबराए और विशेष निद्रा आ जाने से तथा घबराहट के कारण, देश, दिशा और समय का भी ज्ञान उनको नहीं रहा। और स्वभाव से भी, वे व्रजवासी थे जिससे अनपढ़ तथा ज्ञान शून्य थे। कालीय ने भगवान् का पूजन किया है यह देख कर वे भी श्रीकृष्ण की शरण गए॥ २१ ॥

आभास — न तु कृष्णरक्षार्थं यत्नं कृतवन्तः प्रत्युत स्वरक्षामेव कृष्णं प्रार्थितवन्त इत्याह कृष्ण कृष्णेति,

आभासार्थ — श्रीकृष्ण की रक्षा के लिए तो उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया किन्तु अपनी रक्षा के लिए ही श्रीकृष्ण की प्रार्थना करने लगे।

श्लोकः — **कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामितविक्रम ।**
एष घोरतमो वह्निस्तावकान् ग्रसते हि नः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ — हे कृष्ण ! हे महान् भाग्य वाले कृष्ण ! हे असीम पराक्रम वाले राम ! यह महा घोर अग्नि आपके सेवक जो हम हैं उनको खा जाती है (भस्म कर रही है)॥ २२ ॥

सुबोधिनी — भयाद् वीप्सा, **महाभागेति** तव शरण्यत्वेऽस्माकं शरणगमने च हेतुः, **साधारणाः सर्व इति** राममप्याहुर्हे **रामेति**, अमितः पराक्रमो यस्येति, तालवने ज्ञातं, एकवदेवाहुरेष **घोरतमः** शीघ्रभक्षक**स्तावकान्** वैष्णवान् नोऽस्मान् **ग्रसते**, ग्रासे सन्देहाभावाद् हिशब्दः, नातःपरमाशा जीवनस्येति ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ — कृष्ण ! कृष्ण ! दो बार नाम भय से घबराने के कारण कहे हैं। हम आपके शरण आए हैं, क्योंकि आप उनकी अवश्य रक्षा करते हो, जो आप की शरण लेते हैं; इसलिए आप शरण्य होने से, महाभाग कहे जाते हैं। प्रार्थना करने वाले, सर्व साधारण थे, अतः राम को भी प्रार्थना करते हुए कहते हैं, कि आप का पराक्रम तालवन में हमने देखा है, अतः आपका पराक्रम असीम है। राम और कृष्ण में भेदभाव न रखकर, प्रार्थना करते हैं कि, यह अग्नि बहुत भयानक है, अतः शीघ्र ही भक्षण करने वाली है। आपके जो हम हैं, उनको निगल रही है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। इसलिए मूल श्लोक में (हि)[१] शब्द दिया है। इस दशा में जीने की आशा नहीं रही है॥ २२ ॥

१-निश्चय से।

आभास – तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः सुदुस्तरादिति,

आभासार्थ – ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर में, निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोकः – **सुदुस्तरान् नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो ।**
न शक्नुमस्त्वच्चरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयम् ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ – हे प्रभु ! इस महादुस्तर, काल रूप अग्नि से, आपके भक्त और मित्रों की रक्षा कीजिए, किसी प्रकार का भी जिन को भय नहीं है, वैसे आपके चरणों का त्याग करने में हम सर्वथा अशक्त हैं ॥ २३ ॥

सुबोधिनी – अयं **कालाग्निः** प्रलयाग्निरिव, अत एव **सुदुस्तरः**, अतः **स्वान्** भक्तान् **सुहृदो** हृदयशुद्धान् सम्बन्धिनो वा भगवच्छास्त्रं लौकिकं वा विचार्य पाहि, यतस्त्वं प्रभुः, ननु भगवद्भक्तानां किं देहरक्षणेन ? प्रत्युत भगवत्समीपे मरणमेव समीचीनमित्याशङ्क्याहुर्न **शक्नुमस्त्वच्चरणमिति, न हि मरणेऽस्माकं चिन्ता किन्तु** तव **चरणवियोगो भविष्यतीति, दाहस्तु सोढुं शक्यो न** तु चरणवियोगः, ननु विरोधि कथमङ्गीक्रियते ? दाहो बलिष्ठश्चरणान् दूरीकरिष्य- त्येवेति तत्राहाकुतोभयमिति, न विद्यते कुतश्चिद् **भयं** यस्मात्, **अनेनेदानीमपि नास्माकं भयं निश्चितं किन्तु शङ्कामात्रेण प्रार्थ्यत** इतिभाव : ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ – यह अग्नि काल रूप है, अतः प्रलय करने वाली (अग्नि) है जिससे बचना कठिन है अथवा सहन करना भी अशक्य है। इसलिए अपने भक्त और शुद्ध हृदय वाले सम्बन्धियों की रक्षा करो। कारण कि, भगवच्छास्त्र के विचार से, भक्तों की रक्षा करना और लौकिक शास्त्र के विचार से, सम्बन्धियों की रक्षा करना आपका कर्तव्य है, अतः भगवच्छास्त्र का और लौकिक शास्त्र का विचार कर रक्षा करो, कारण कि, आप सर्व समर्थ हैं।

भक्तों का भगवान् के सन्मुख मरना अच्छा है, उनके देह की रक्षा करने का कोई प्रयोजन नहीं है, यदि आप यों कहो, तो हमारा उत्तर यह है, कि हमको देह में ममता नहीं है, अतः हम मरने से भी नहीं डरते हैं, किन्तु मरने से आपके श्री चरणों का वियोग होगा, जिसको हम सहन नहीं कर सकते हैं, दाह को तो सहन कर सकते हैं।

आप जिन चरणों को चाहते हो, उनकी अग्नि, विरोधिनी है, वह चरणों को यों ही दूर कर देगी क्योंकि बलिष्ठ है, अर्थात् जिन (चरणों) से रक्षा चाहते हो अथवा जिन चरणों के वियोग से डर कर अपनी रक्षा चाहते हो उनको तो यह नाश कर देगी। इसके उत्तर में 'अकुतो भयम्' पद दिया है जिसका आशय है कि यह अग्नि क्या है ? किन्तु उनको किसी से भी (मृत्यु आदि का) भय नहीं है वे निर्भय हैं अतः हम उनको ही चाहते हैं, न कि देह को चाहते हैं। देह की रक्षा उन चरणारविन्द के मकरन्द रस पान करने के लिए

चाहते हैं। हम आप को प्रार्थना केवल शङ्का[1] के कारण कर रहे हैं। शेष हमको तो अभी भी निश्चय रूप से कोई भय नहीं है॥ २३॥

आभास — एवं प्रार्थनायां यत् कर्तव्यं तत् कृतवानित्याहेत्थमिति,

आभासार्थ — इस प्रकार प्रार्थना करने पर जो कुछ योग्य कर्तव्य करना था वह भगवान् ने किया है जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — **इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः ।**
तमग्निमपिबच्छीघ्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ — अपने भक्तों की इस प्रकार घबराहट देख, अनन्त शक्ति वाले, अनन्त जगदीश्वर ने उस अग्नि का शीघ्र पान किया॥ २४॥

सुबोधिनी — समागतस्य वह्नेर्निर्वापण एतेषां वान्यत्र नयने तावदपि विलम्बं न सहत इत्यन्तःकालीयसम्बन्धकृत-दुष्टानां दाहार्थं **तमग्निमपिबत्**, मुखमप्यग्निरिति "नाग्नेर्हि तापः," ननु किमित्येवं कृतवान्? तत्राह **स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्येति**, स हि सर्वनियन्ता दुष्टश्चाग्निर्बहिर्न स्थापनीयोऽन्यथा कालान्तरेऽप्युपद्रवं कुर्यात्, कालकूटभक्षणेन जातगर्वस्य महादेवस्य गर्वनिवारणार्थं दहनधारणजनितगर्वनिवारणार्थं च दहनं **तमपिबत्**, **शीघ्रमिति**, तेषां प्रतीतिजनितभयाभावाय, स्वतस्तु भयाभावः, **अनन्त** इति प्रकारविशेषेऽप्यप्रश्नः, उत्तरमाहानन्त**शक्ति**धृगिति, **अनन्ता** एव **शक्ती**र्बिभर्ति, यदि वायुरूपो भवेत् तथापि पिबेद् यदि जलरूपो भवेत् तथापि शामयेद् यदि मुखं वा मुद्रयेत् तथापि पिबेत् सर्वमग्रतस्तत्रैव वा मुखं प्रसारयेत् तथापि पिबेदिति नात्र किमप्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे चतुर्दशाध्यायविवरणम् ॥

व्याख्यार्थ — दाह के लिए आ रही अग्नि को बुझा दें, अथवा इन व्रजवासियों को दूसरे स्थान पर ले जावें तो विलम्ब होगा इतना विलम्ब भी ये सहन नहीं कर सकेंगे इसलिए और कालीय के सम्बन्ध से हुए दुष्ट पदार्थ, जो आपके भीतर रहे हैं, उनको जला कर नष्ट करने के लिए भी, उस अग्नि का भगवान् ने पान किया। अग्नि के पान करने में अन्य भी कारण थे, भगवान् एक ही लीला से अनेक कार्य सिद्ध करते हैं जैसे कि (१) व्रजवासियों की घबराहट दूर की, (२) दुष्ट पदार्थों का नाश किया, (३) कालकूट विष के भक्षण करने से महादेव को गर्व हुआ था उसके गर्व को भी दावाग्नि पान कर नाश किया, (४) यह सिद्ध कर दिखा दिया कि मेरा मुख अग्निरूप है इसी कारण से अग्नि पान से मेरा मुख जला नहीं हैं।

१- सन्देह।

भगवान् स्वयं अभय रूप हैं ही, किन्तु अग्नि पान करते देख कर, व्रजजनों को भय की प्रतीति भी नहीं हो, इसलिए मूल में 'शीघ्रं' शब्द दिया है, अर्थात् शीघ्र ही पी गए जैसे उन्होंने देखा ही नहीं।

भगवान् अनन्त हैं, अत: अनन्त शक्तिमान भी हैं। जिससे अग्नि का पान एक प्रकार से नहीं, बहुत प्रकार से कर सकते हैं–जैसे कि वायु रूप होकर भी पान कर सकते हैं, यदि जल रूप धारण करें तो उस रूप से बुझा सकते हैं, सर्वत्र मुख होने से मुख बन्द कर लेवें तो भी उसका पान कर सकते हैं वहाँ ही मुख खोल दें तो भी पान कर सकते हैं, अत: भगवान् की इस लीला करने में कोई आश्चर्य नहीं है ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध १४ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण का यश निरूपक तीसरा अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की वर्णित लीला के आधार पर भक्त शिरोमणि श्रीसूरदासजी द्वारा रचित निम्न पद का पाठ कर आनन्दमय हूजिए।

राग : कल्याण

जै जै धुनि अमरनि नभ कीनो।
धन्य धन्य जगदीश गुसाईं अपनों करि अहि लीनों ॥
अभय कियो फन चिन्ह चरण धरि जानि आपनों दास।
जलतें काढ़ि कृपा करि पठयो मेटि गरुड को त्रास।
अस्तुति करि अहि पति कुटुंब ले चल्यो आपने ओक।
सूर श्याम मिलि मात पिता को दूरि कियो तन शोक ॥

राग : बिहागरो

चकृत देखि यह कहि नर नारि।
धरनि अकाश बराबर ज्वाला झपटी लपटि करारि ॥
नहिं बरष्यो नहि छिरक्यो काहू कहाँ धों गयो बिलाई।
अति अघात करत बन भीतर कैसे गयो बुझाई ॥
तृण की आगि बरत नहिं बुझिगई हंसि हंसि कहत गोपाल।
सुनहु सूर वह करनि कहनि यह ऐसे प्रभु के ख्याल ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः (पूर्वार्धः)

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणे

'चतुर्थोऽध्यायः'

श्री सुबोधिनी अनुसार १५वां अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार १८वां अध्याय

कारिका – **उक्तः पञ्चदशेऽध्याये प्रलम्बस्य वधो महान् ।**
आवेशिचरितं वाच्यं बलभद्रकृतं ततः ॥ १ ॥

कारिकार्थ – पंन्द्रहवें अध्याय में प्रलम्ब के वध का महान् चरित्र कहा है। भगवान् के आवेश युक्त बलभद्र का किया हुआ यह चरित्र भी भगवान् का किया हुआ ही समझना चाहिए।

व्याख्यार्थ – जब राजा परीक्षित ने दशम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के १०वें श्लोक में श्रीकृष्ण चरित्र का प्रश्न किया है तो यहाँ श्री शुकदेवजी ने बलदेवजी का चरित्र क्यों कहा ? इस शङ्का को

मिटाने के लिए उपर्युक्त कारिका में आचार्य श्री ने स्पष्टीकरण किया है कि प्रलम्ब का वध भगवान् ने बलदेवजी में प्रवेश कर किया है अतः यह भी भगवान् का ही चरित्र है ।

भगवान् ने स्वतः प्रलम्ब वध न कर, बलदेव में प्रवेश कर क्यों किया ? इस प्रकार की लीला करने का कारण यह है कि भगवान् को शिक्षा देनी थी, कि जिसमें (भक्त में अंश रूप में) मेरा आवेश होता है उस भगवदीय के संग से अन्तःकरण का दोष निवृत्त[१] हो जाता है ।

कारिका — **व्रजे गतस्य क्रीडा च सर्वथा वनगोष्ठयोः ।**
अन्तःकरणदोषश्च महानत्र निवर्त्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ — व्रज में पधारे हुए भगवान् का वन और गोष्ठ की जो लीला कही गई है, उनसे महान् अन्तःकरण दोष नाश किया गया है ।

व्याख्यार्थ — १५ वें अध्याय में वन लीला का वर्णन है और गोष्ठलीला का वर्णन १६ वें अध्याय में है, तो भी, कारिका में दोनों लीलाएँ, एक ही दिन भगवान् ने की हैं, इसलिए कारिका में दोनों लीलाएँ साथ में दी हैं ।

लोक में, लौकिक पुरुष भी क्रीड़ा में यदि अपने से बड़ों पर सवारी करनी पड़ती हो तो, वे नहीं करते हैं क्योंकि ऐसा शिष्टाचार है, किन्तु गोपों का भगवान् में स्नेह था तो भी, खेल में, सवारी करने का अवसर आया, तो भगवान् के ऊपर सवारी करने में, अन्तःकरण की प्रवृत्ति हुई, इस प्रकार, शिष्टाचार के त्याग का कारण, अवश्य कोई होना चाहिए, वह कारण था, अन्तःकरण का दोष, जिसको भगवान् ने प्रलम्ब (अन्तःकरण का दोष रूप) का वध कर निवृत्त किया है प्रलम्ब के वध से उनके अन्तःकरण का दोष निवृत्त हुआ, जिससे, उनमें भगवान् के लिए विशेष प्रेम बढा, इससे भगवान् को आशीर्वाद दिए ॥

आभास — एवं पूर्वाध्यायान्ते दावाग्नेर्मोचिता इत्युक्तं, ततः स्वस्थाने कृत्यमाहार्थेति भिन्नक्रमेण,

आभासार्थ — इस प्रकार १५ वें अध्याय के अन्त में की हुई लीला से व्रजवासियों की रक्षा की। उसके अनन्तर अपने स्थान में की हुई लीला का वर्णन, पृथक् क्रम से करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — **अथ कृष्णः परिवृतो बन्धुभिर्मुदितात्मभिः ।**
अनुगीयमानो न्यविशद् व्रजं गोकुलमण्डितम् ॥ १ ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी ने कहा कि प्रसन्न अन्तःकरण वाले, बान्धवों से घिरे हुए और स्तुति किये हुए श्री कृष्णचन्द्रजी ने गौओं के समूह से सुशोभित व्रज में प्रवेश किया ।

सुबोधिनी — प्रातःकाले जाते सर्वैः सह भगवान् क्रीडार्थमेवाविर्भूतः सर्वैरेव **बन्धुभिश्च** वेष्टितः सन्तुष्टैस्तैरेवोपगीयमानश्च **गोकुलेन मण्डितं व्रजमाविशत्**, तस्मिन् दिवसे गावोऽपि गोकुल एव समानीता न तु कश्चिच् चारणार्थं गतः, एतेन पूर्वं गाः स्वस्थानस्थिताः कारयित्वा पश्चात् स्वयं प्रविष्ट इति ज्ञायते, एवमेकेन **प्रत्यापत्तिरुक्ता**, अन्यथा दोषाभावे दोषाणां नियतधर्मत्वाद् धर्म्यपि गच्छेत् ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ — प्रातःकाल होते ही, सर्व व्रजवासियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए ही, भगवान् प्रकट हुए, सब बान्धवों से घिरे हुए थे और अत्यन्त प्रसन्न उन से स्तुति किये हुए थे, वैसे भगवान् गौओं के समूह से सुशोभित व्रज में प्रविष्ट हुए । उस दिन गौओं को चराने के लिए कोई भी ले नहीं गया था । सब गौ भी गोकुल में लाई गई थीं, इससे प्रथम, सकल गौओं को अपने-अपने स्थान पर खड़ी करवाने के पश्चात् आपने प्रवेश किया ।

इस प्रकार, एक ही श्लोक से, यह कह दिया कि सब लोग व्रज में लौट कर आ गए । यदि लौट कर न आते तो नियत[1] धर्म वाले दोषों का अभाव[2] होने से उनके धर्मों (शरीर) के भी† नाश हो जाने की शङ्का होती ॥ १ ॥

† पिछले अध्याय में कालीय दमन और दावाग्नि पान से, इन्द्रिय तथा प्राण के दोष निवृत्त किए, उससे इन्द्रिय और प्राण भी नाश होने चाहिए, क्योंकि उनके धर्मो का नाश हो गया है, धर्मनाश से धर्मी नाश हो जाता है, किन्तु यहाँ इस प्रकार नहीं हुआ है यह दिखाने के लिए वे व्रजवासी भगवान् के साथ व्रज में लौट कर आ गए हैं । धर्मी का नाश क्यों न हुआ उसका कारण यह है कि शरीर नाश तब होता है जब अध्यास की निवृत्ति होती है व्रजवासियों के लौकिक दोष रूप अध्यास निवृत्त हो गया, किन्तु अलौकिक भगवत्सम्बन्धी अध्यास निवृत्त नहीं हुआ था, अतः धर्मों का नाश नहीं हुआ उससे तो व्रजवासियों को भगवान् के साथ क्रीड़ा कर रस पान करना था ।

१-निश्चित - पक्के । २-नाश ।

आभास — अयं सर्वोऽपि दोषः कालकृत इति ज्ञापयितुं ग्रीष्मोपद्रवं वर्णयति भूमिगुणेन च स्वसान्निध्यकृतेन तद्दोषपरिहार इति कालकृतोऽन्तःकरणदोषः स्वसन्निधिसहितपदार्थैस्तन्निवृत्तिर्भविष्यतीति सूचयति व्रजे विक्रीडितोरेवमिति,

आभासार्थ — पूर्व अध्याय में कहे हुए दोष, काल के कारण उत्पन्न हुए हैं यह जताने के लिए ग्रीष्म ऋतु के उपद्रवों का वर्णन करते हैं।

भगवान् की सन्निधि से, जो गुण, भूमि में आ गए उन गुणों से उन दोषों का नाश हुआ। इस प्रकार, काल ने जो अन्तःकरण दोष उत्पन्न किए, उनका भी भगवान् के सान्निध्य वाले पदार्थों से नाश होगा। जिसका वर्णन दो निम्न श्लोकों से करते हैं।

श्लोकः — **व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्मरूपिणोः ।**
ग्रीष्मो नामर्तुरभवन् नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ — जिस समय छल से, गोप रूप धारी (श्रीकृष्ण और बलराम) व्रज में क्रीड़ा कर रहे थे उस समय शरीरधारियों को विशेष रुचिकर नहीं, ऐसी ग्रीष्म नाम वाली ऋतु उत्पन्न हुई ॥ २ ॥

सुबोधिनी — व्रजे गोपगवादीनां निवेशस्थाने प्रसिद्धेऽपि **क्रीडतोः** सतोः **ग्रीष्मो नामर्तुरभवदितिसम्बन्धः** ननु भगवति विद्यमाने कथमनभिप्रेतो ग्रीष्मस्तत्रागत इत्यत आह **गोपालेति, गोपाल** इतिच्छद्म कपटभूतं **रूपं** ययोः, अन्यतरज्ञानेऽपि नागच्छेदितिद्विवचनं, **छद्मरूपमनयोर्वर्तत** इति**च्छद्मरूपिणौ**, भगवतो गुप्तत्वाद् ग्रीष्मप्रवृत्तिः, ग्रीष्मस्य दुष्टत्वमाह **नातिप्रेयाञ्छरीरिणामिति** शरीरमात्रपरिग्रहवतां नातिप्रेयान्केषांचिच्छीतभीतानां प्रिय इत्यतिपदम् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ — जहाँ गोप और गौओं का प्रसिद्ध निवास स्थान है, जो व्रज कहलाता है उसमें दोनों (श्रीकृष्णजी और बलरामजी) खेल रहे थे उस समय ग्रीष्म ऋतु आ गई, साक्षात् भगवान् के विराजमान होते हुए अरुचिकर ग्रीष्म ऋतु आई है, यदि एक को भी पहचान जाती, तो न आती। ग्रीष्म ऋतु दोष वाली है, इसको बताने के लिए ही कहा है कि शरीरधारियों को यह बहुत प्रिय नहीं है। बहुतों को तो प्रिय नहीं है, किन्तु शीत[1] से जो डरते हैं केवल उनको प्रिय है ॥ २ ॥

आभास — तर्हि तन्निवृत्त्यर्थं भगवानाविर्भावं कुर्यादित्याशङ्क्य तस्य दोषस्यान्य-

---

१-सरदी - ठंड।

-थैव निवृत्तिमाह स चेति,

आभासार्थ — इस प्रकार दोष वाली ऋतु की निवृत्ति करने के लिए भगवान् को प्रकट होना चाहिए, इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उस ऋतु के दोष की निवृत्ति, अन्य प्रकार से हुई है- जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक: — **स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः ।**
यत्रास्ते भगवान् साक्षाद् रामेण सह केशवः ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ — वह (ग्रीष्म ऋतु) वृन्दावन के गुणों के कारण वसन्त के समान देखने में आई, जिस (वृन्दावन) में बलरामजी के साथ भगवान् केशव साक्षात् विराजते थे।

सुबोधिनी — चकारादन्येऽपि दोषा वातादयो **वृन्दावनस्य ये गुणा** वक्ष्यमाणास्तैः कृत्वा **वसन्त इव** तत्रत्यैर्लक्षितो ज्ञातः, **वसन्ते शीतोष्णयोः समता, मीनादिषु शीताधिक्यं ग्रीष्मादिषु तापाधिक्यं च, सरसो देशः शीतजनकः सवातश्च,** तदुष्णकाले शीतजनको देशः समतामापादयति, अतो वसन्तत्वं, स्वाभाविका एव वृन्दावनगुणा आधिभौतिकवसन्तत्वं सम्पादयन्ति रामसहिता आध्यात्मिकवसन्तत्वं भगवत्सहिता आधिदैविकवसन्तत्वमिति, अतः सर्वथैव वसन्तत्वं वृत्तं, तदाह **वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षित इति,** देशापेक्षया कालस्य प्रबलत्वादिवेत्युक्तं, अन्यथा पृथग् ग्रीष्मप्रवृत्तिर्वक्तव्या स्यात् कालबाधो वा तदा ग्रीष्मर्तुगुणा न भवेयुर्वातादयश्च, **यत्र** वृन्दावने ग्रीष्मर्तौ वा **साक्षाद् भगवानास्ते,** षड्गुणान् प्रकटीकुर्वन्, ईश्वरस्थितावेव सर्वकालीना गुणा लोके भवन्ति, वीर्ये सत्यन्यदीया अन्यस्य सम्भवन्तीति स्पष्टं, यशसि सर्वेषामाग-मनात् तथा श्रियां च, ज्ञाने सर्वात्मकतायां सर्वं स्पष्टं वैराग्ये च निरपेक्षत्वात् तुल्यता, यत्र **साक्षादेव** सर्वैर्गुणैः सह भगवांस्तत्र कः सन्देहः ? **केशव** इति ग्रीष्माधिपतेर्महादेवस्य ग्रीष्मवरदातुर्ब्रह्मणश्च भगवानुपजीव्य इति तयोः पक्षपातः परिहृतः ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ — मूल श्लोक में 'च' शब्द देने का आशय यह है कि ग्रीष्म के ताप आदि दोषों के अतिरिक्त अन्य वायु आदि के दोष भी निवृत्त हो गए।

वृन्दावन के गुणों का वर्णन जो आगे किया जाएगा, उन गुणों के कारण, व्रजवासियों ने इस (ग्रीष्म) ऋतु को वसन्त ऋतु के समान समझा। वसन्त ऋतु में शीत[१] व ग्रीष्म[२] दोनों समान होते हैं। हेम ऋतु में ठंड विशेष होती है और ग्रीष्म में ताप अधिक होता है।

१-ठंड। २-ताप या गरमी।

जल समीप वाला देश, शीत को पैदा करने वाला होता है और वहाँ वायु भी विशेष होती है। इसलिए वैसे प्रदेश में, ग्रीष्म ऋतु में भी शीत तथा ताप समान होते हैं जिससे वहाँ ग्रीष्म में भी वसन्त होता है। वृन्दावन के स्वाभाविक गुणों के कारण ग्रीष्म में आधिभौतिक वसन्त, का आविर्भाव हो गया उस समय न केवल आधिभौतिक वसन्त का आविर्भाव हुआ, किन्तु बलरामजी के सामीप्य से, आध्यात्मिक वसंन्त तथा भगवान् के सान्निध्य से, आधिदैविक वसन्त का भी, प्राकट्य हो गया। अत: सर्व प्रकार से वसन्त ही हो गया। इसलिए मूल में कहा है कि वृन्दावन के गुणों के कारण वह ग्रीष्म ऋतु भी वास्तव में पूर्ण वसन्त बन गई।

मूल श्लोक में 'इव' शब्द कहने का तात्पर्य यह है, कि देश की अपेक्षा काल बलवान* है, जो इस प्रकार न होता अर्थात् (ग्रीष्म वसन्त न बन जाती तो) ग्रीष्म का होना और काल का बाध, पृथक् कहना पड़ता। यदि यों होता अर्थात् काल का बाध होता तो ग्रीष्म ऋतु के गुण जो वर्षा उत्पन्न करने के हैं वे व्यर्थ जाते, तात्पर्य वर्षा नहीं पड़ती जिससे वहाँ धान्यादि न होकर केवल यव उत्पन्न हो जाते।

वहाँ (वृन्दावन तथा ग्रीष्म ऋतु में) साक्षात् भगवान् के विराजने से षड्गुण प्रकट होने लगे। लोक में ईश्वर की स्थिति होने से ही, सर्व काल के गुण एक ही समय में उत्पन्न हो जाते हैं। अत: ग्रीष्म में वसन्त होना कोई आश्चर्य नहीं है। भगवान् के एक-एक गुण से क्या होता है उसका स्पष्टीकरण करके कहते हैं कि, जहाँ भगवान् का वीर्य गुण, कार्य करता है, वहाँ एक का गुण दूसरे में आ सकता है। (जैसे यहाँ ग्रीष्म में वसन्त आया है) यश और श्री गुण जहाँ होते हैं वहाँ सर्व गुण आ जाते हैं, ज्ञान गुण जहाँ पकट होता है वहाँ सर्वात्म भाव उत्पन्न हो जाता है, जहाँ वैराग्य गुण कार्य करता है वहाँ किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती है। जब एक गुण होने से इस प्रकार होता है तो जहाँ सर्व गुणों सहित साक्षात् स्वयं भगवान् विराजते हैं वहाँ यों होए उसमें कौन-सा संदेह है ? कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

भगवान् केशव हैं इसलिए ग्रीष्म के अधिपति महादेव और ग्रीष्म को वर देने वाला ब्रह्मा भी ग्रीष्म का पक्षपात नहीं कर सकते हैं, कारण कि भगवान् दोनों (महादेव और ब्रह्मा) के उपजीव्य[1] है॥ ३॥

आभास – वृन्दावनगुणानाह यत्रेति त्रिभिः।

---

*काल व्यापक (सर्व स्थल में रहने वाला) होने से बलवान है। 'प्रकाश'

---

१ -आधार।

आभासार्थ — निम्न तीन श्लोकों से वृन्दावन के गुणों का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — **यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम् ।**
शश्वत्तच्छीकरर्जीषद्रुममण्डलमण्डितम् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ — जहाँ झरनों के शब्द से, झिल्ली[१] का शब्द सुनने में नहीं आता है और निरन्तर झरनों की बूँदों से युक्त सार रहित छाल वाले वृक्षों का समूह शोभा दे रहा था ॥ ४ ॥

कारिका — **राजसः सात्विकश्चैव तामसश्चापि कीर्त्यते ॥**

कारिकार्थ — वृन्दावन के राजस, सात्विक और तामस गुणों का वर्णन (क्रमशः निम्न तीन श्लोक में) किया जाता है ।

सुबोधिनी — तत्र राजस गुणानाह, यत्र वृन्दावने **निर्झरनिर्ह्रादै**र्झरणा-शब्दै**र्निवृत्तस्वना** गतशब्दा **झिल्लीका** यत्र तादृशवनं **शश्वत्** सर्वदा **तच्छीकरै**र्झरणाकणै**र्ऋजीष**युक्ता ये द्रुमास्तेषां **मण्डलैर्मण्डितं** च, ग्रीष्मर्तौ सर्वे वृक्षा ऋजीषप्राया भवन्ति, ऋजीषं त्वङ्मात्रं निःसारं, **शश्वत् तच्छीकरैः** सहित**मृजीषं** तद्युक्ता **द्रुमा** भवन्ति तेषां **मण्डलानि** च भवन्ति, सजातीय-विजातीयप्रचययुक्तानि **मण्डलानि**, **तैर्मण्डितं**, अनिष्टशब्दस्य सुशब्दो बाधको रसहारकस्य रसदायक इति ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ — इस श्लोक में राजस गुण का वर्णन करते हैं-यहाँ वृन्दावन में, झरनों के शब्द से झिल्ली[१] का शब्द सुनने में नहीं आता है, वैसा ही वह वन सदा ही झरनों के बिन्दुओं से युक्त, सार रहित छाल वाले सजातीय[२] और विजातीय[३] वृक्षों से मिलकर एक ही मण्डल होकर शोभा दे रहा था।

जैसे झरनों के सुन्दर शब्दों ने झिल्ली के कुत्सित[४] शब्द को कम कर दिया अर्थात् वह (बुरा शब्द) सुनने में नहीं आया, वैसे ही रस हरण करने वाली ग्रीष्म ऋतु ने तथा झिल्ली ने वृक्षों का रस शुष्क कर अथवा चूँस कर, वृक्षों को जो निःसार छाल जैसा बना दिया था, उनको झरनों की बूँदों ने रस प्रदान कर, पूर्व जैसा, वा वसन्त जैसा, हरा-भरा बना दिया । अतः कहा है कि अनिष्ट[५] शब्द का सु शब्द[६] बाधक है और रस हरण करने वाले का रस दाता बाधक है । ॥ ४ ॥

आभास — तापनिवारकं वायुमाह सरिदिति,

आभासार्थ — ताप को मिटाने वाले वायु का वर्णन करते हैं।

श्लोकः — **सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा ।**
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाड्वले ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ — जहाँ नदी, तलाबों तथा झरने की लहरों से मिश्रित, कल्हार, कमल और उत्पल की रज को हरने वाला वायु चल रहा है, जिससे वह भूमि, हरित तृण वाली ठंडी हो गई थी, अतः उस वन में रहने वालों पर ग्रीष्म, अग्नि और सूर्य से होने वाले ताप का प्रभाव कुछ नहीं हुआ ॥ ५ ॥

सुबोधिनी — सरितो नद्यः सरांसि सरोवराणि **प्रस्रवा** झरणा राजससात्त्विकतामसास्त्रिविधानामप्यूर्मिभिर्य उत्पाद्यते वायुः, अनेन मान्द्यं शैत्यं चोक्तं, सौरभ्यमाह, **कह्लारपुष्पाणि** सन्ध्याविकासीनि कञ्जानि कमलानि दिनविकासयुक्ता-न्युत्पलानि रात्रिविकासीनि, त्रिविधैरप्येतैः सर्वदा वायुः सुगन्ध एव भवति, तदाह तेषां **रेणुहारिणेति**, अत एव **वनौकसां** दवोऽरण्याग्निजनितस्तापः दावस्यारण्यार्थता दवतापयोगादेव, दवदावशब्दावरण्यवाचकाविति कोशः, तापवाचकोऽत्र प्रयुक्तः, क्वचिद् दावोऽग्निवाचकः प्रयुक्तोऽतोनेकार्थौ दवदावशब्दौ, तापस्त्वन्तः पित्तादिनापि भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह **निदाघवह्न्यर्कभव** इति निदाघे यौ वह्न्यर्कौ ताभ्यां भवो यस्य, ननु भूमिकृतस्तापो भवेत् तत्राह**अतिशाड्वल** इति, शाड्वलं हरिततृणभूखण्डो दूर्वायुक्तः, अत्यन्तं शाड्वलं यत्र ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ — राजस नदी, सात्विक तलाव और तामस झरने इन तीनों की लहरों से उत्पन्न हुआ पवन, शीत तथा मन्द था, और वह पवन, सन्ध्या में विकसित होने वाले कल्हार के पुष्प, दिन में विकसित होने वाले कमल तथा रात्रि को प्रफुल्लित होने वाले उत्पल, इन तीनों की रेणु को हरण करने से सर्वदा सुगन्धि वाला रहता था, जिससे वन में रहने वालों को जो गर्मी के कारण अग्नि और सूर्य से होने वाला ताप था वह कुछ भी दुःखदायी न हो सका अर्थात् शीत, मन्द और सुगन्धि युक्त वायु से ताप लगा ही नहीं। इस कहने से यह भी बताया कि पित्तादि से भी ताप होता है। वह भी नहीं हुआ। तथा भूमि हरित घास वाली शीत होने से भूमि कृत ताप भी न हुआ। तात्पर्य यह है कि ग्रीष्म, वसन्त समान हो जाने से उसका कोई प्रभाव किसी पर भी न हुआ ॥ ५ ॥

आभास — शिष्टानपि गुणानाहागाधं तोयं यत्र,

आभासार्थ — ग्रीष्म को वसन्त बनाने वाले गुणों से अन्य जो गुण वृन्दावन में हैं, जिन गुणों से रस जागृत होता है उन गुणों का वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **अगाधतोया ह्रदिनीतटोर्मिभिर्द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः ।**
न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा भुवो रसं शाड्वलितं च गृह्णते ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ – जहाँ अगाध जलवाले सरोवरों के तट की उर्मियों[1] से तीर की मिट्टी चारों तरफ द्रवीभूत[2] हो रही है, वैसी भूमि के रस[3] तथा हरियाली को, सूर्य की विष से भी तेज़ किरणें चूँसने में समर्थ नहीं ॥ ६ ॥

सुबोधिनी – एतादृशीनां **ह्रदिनीनां** तटसम्बन्धिनीनां य ऊर्मयस्तीरे जायमानास्तैः कृत्वा **द्रवत् पुरीषं** मृत्तिका यस्याः सा **द्रवत्पुरीषी**, गौरादित्वान् ङीप्, तादृश्या **भुवः समन्ततोऽपि रसं शाड्वलितं** च **यत्र** वृन्दावने विषादप्युल्बणाश्चण्डांशुकरा न गृह्णते, **वृन्दावनभूमिः सर्वदा सरसैव तिष्ठति सर्वतश्च पुलिनानि** भवन्ति, तानि च पुलिनान्यगा**धह्रदिनीतटोर्मियुक्तानि भवन्ति**, भुव एव वा स्थानविशेषास्तेषां **शीतलत्वायोर्मिभिर्द्रवत्पुरीषत्वं निरूप्यते**, मध्ये शीतलतानिरूपणाय **द्रवत्पुरीषता** निरूपिता, बहिःशीतलतायै **पुलिनानि**, अतो मूलादुपरिभागाच्च रसाधिक्याच्छोषाभावेन भूरसशाड्वलितयोर्नाभावः, एवं सरसता निरूपिता ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ – अगाध जलवाले सरोवरों के समीप होने वाली लहरों से, चारों ओर गली हुई मृत्तिका वाली, रस भरित तथा हरित भूमि के रस को एवं हरियाली को विष से भी प्रचण्ड सूर्य की किरण ग्रहण नहीं कर सकते हैं, अतः वृन्दावन की भूमि सदैव रस वाली रहती है। इसको स्पष्ट कर समझाते हैं कि, वृन्दावन के चारों ओर सरोवरों के किनारों की लहरों से पुलिन[4] भीगे हुए रहते हैं जिससे वहाँ सदा ही मध्य में तथा बाहर शीतलता रहती है। मूल में तथा ऊपर के भाग में, अधिक रस होने से, शुष्कता का अभाव रहता है जिससे पृथ्वी पर रस तथा हरियाली का, कभी भी अभाव न होने से, वृन्दावन की सरसता का निरूपण किया है ॥ ६ ॥

आभास – अन्यान् वनधर्मानाह वनमिति,

आभासार्थ – इस निम्न श्लोक में वन के अन्य धर्मों का वर्णन करते हैं-

श्लोकः – **वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम् ।**
गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ – पुष्पों से समृद्ध[5] तथा सुन्दर, सुशोभित वन, जिसमें विचित्र पशु तथा

१-लहरें। २-गीली। ३-आर्द्रता, गीलापन। ४-तट या किनारे।
५-भरपूर।

पक्षी नाद कर रहे हैं, मयूर और भौंरे गा रहे हैं एवं कोयल तथा सारसें कूजन[१] कर रही हैं ॥ ७ ॥

सुबोधिनी – आदौ कुसुमितं, ग्रीष्मे हि प्रायेण कुसुमानि न भवन्ति, शोभायुक्तं च, कुसुमानि राजसानि नदन्तश्चित्रा मृगा द्विजाः पक्षिणश्च यत्र, सात्त्विका एते गायन्तो मयूरा भ्रमराश्च यत्र, कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च यत्र, आदौ नादस्तदनु गानं तत उद्रिक्ते रसे कूजितानीति त्रयमुक्तं, मिथुनत्वाय द्वौ द्वौ, नादे हि श्रुतिपूरकोऽपेक्ष्यत इति मृगाःसह निरूपिताः, गाने नृत्यमपेक्ष्यत इति मयूराः, कूजिते परपुष्टेपेक्षित इति कोकिलाः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ – ग्रीष्म ऋतु में प्रायःपुष्प उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु यहाँ पुष्पों की समृद्धि थी, जिससे वन सुशोभित था रजोगुण शोभा बढ़ाता है, पुष्प राजस हैं, अतः उन के कारण, वन सुशोभित था। वन का राजस भाव बताकर अब सात्विक भाव बताते हैं, मृग और पक्षी सात्विक होते हैं, वे वहाँ नाद कर रहे थे एवं कोयल तथा सारस कूजन करते थे। इस प्रकार नाद तथा गान से, जब रस प्रकट होता, तब कूजन प्रारम्भ होने लगता। अतःतीनों का वर्णन किया है। सब में दो-दो कहने का तात्पर्य यह है कि एक से कार्य की पूर्णता नहीं होती है। ध्वनि हो तब उसकी पूर्णता के लिए अन्य की अपेक्षा होती है इसलिए नाद कर्ता मृगों[२] के साथ पक्षी कहे हैं। इस प्रकार गान में नृत्य चाहिए, नहीं तो गान पूर्ण न होए अतः गान करने वाले भ्रमरों के साथ मयूर शामिल किए गए हैं। कूजन[३] में पर पुष्ट[४] की अपेक्षा है अतः सारसों के साथ कोयल कही है। तात्पर्य यह है कि वन में भगवान् को क्रीड़ा करनी है अतः वन के गुणों का वर्णन किया है ॥ ७ ॥

आभास – एवं वनगुणानुक्त्वा तत्र भगवतः क्रीडां वक्तुमादौ भगवतः प्रवेशमाह क्रीडिष्यमाण इति,

आभासार्थ – इस प्रकार वन के गुणों का वर्णन कर, अब भगवान् को जो क्रीड़ा करनी है, उसको कहने से पहले, क्रीड़ा कर्ता भगवान् का, निम्न श्लोक में, प्रवेश का वर्णन करते हैं।

श्लोकः – **क्रीडिष्यमाणस्तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः ।**
वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत् ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ – क्रीड़ा करने की इच्छा वाले गोप और गोधन से घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने बलदेवजी के साथ वैसे सुन्दर वन में प्रवेश किया ॥ ८ ॥

---

१ मधुर ध्वनि। २-पशुओं। ३-अस्पष्ट मधुर ध्वनि। ४-दूसरे से पुष्ट होने।

सुबोधिनी – क्रीडार्थमेव भगवता तत्र गुणाः सम्पादिताः, **तत्** तस्मात्कारणात् **कृष्णः** क्रीडार्थमाविर्भूतो **भगवान् बलसंयुतो** जातः, षड्गुणाः स्वस्य बलं च तस्य, अतः सप्तभिः क्रीडां वक्ष्यति पूर्ववत् तत्रत्यानां देवानामुद्बोधनार्थं **वेणुं विरणयन्, गोपा गोधनानि** सेवार्थं धर्मार्थमर्थार्थं, **संवृतो** जातः, एतादृशोऽ**विशदि**ति तद्रसप्रारम्भ उक्तः ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ – वन में, जो इतने गुणों का प्रादुर्भाव किया, जिसका कारण, भगवान् को यहाँ क्रीड़ा करने की इच्छा थी । वन में, इस प्रकार, गुणों को प्रकट कर, श्रीकृष्ण क्रीड़ा के लिए भगवान् बल[1] को साथ ले कर वहाँ आविर्भूत[2] हुए । इस प्रकार छः अपने धर्म[3] एवं सातवाँ बल, इन सात स्वरूपों से क्रीड़ा करेंगे, अतः उसका वर्णन सात श्लोकों से कहेंगे । वन में प्रवेश करने के समय, वेणु बजाने का आशय यह था कि वहाँ के देव जागृत हो जाएँ । गोपों को सेवा के लिए और गोधन, धर्म तथा अर्थ के लिए साथ में लेकर पधारे हैं । इस प्रकार पधारने से रस का प्रारम्भ हुआ, यह कहा ॥ ८ ॥

आभास – सामान्यतः प्रथमतः क्रीडामाह सर्वेषां प्रवालेति,

आभासार्थ – इस निम्न श्लोक में सब की सामान्य क्रीड़ा का वर्णन करते हैं-

श्लोकः – **प्रवालबर्हस्तबकस्रग्धातुकृतभूषणाः ।**
कृष्णरामादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण, राम आदि सर्व गोपों ने प्रवाल, मोरपिच्छ, पुष्पों के गुच्छे माला और धातु इनके आभूषण धारण कर, परस्पर सामान्य क्रीड़ा की, जैसे कि कभी नृत्य करते थे, कभी युद्ध करते थे और कभी गाते थे ॥ ९ ॥

सुबोधिनी – प्रवालानि पल्लवानि **बर्हस्तबकानि** पुष्पगुच्छानि **स्रजः** पुष्पमाला **धातवो** गैरिकादयस्तैः कृतानि भूषणानि यैः, **पञ्चधा हि** वन**भूषणानीति** गणितानि, साधारणक्रीडात्वात् **कृष्णरामौ** रामकृष्णौ वादिर्येषां ते सर्वे **गोपा ननृतुर्मनो**विलासं कृतवन्तः, **युयुधुर्दे**हविलासं जगुर्वाग्विलासम् ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ – कृष्ण राम आदि सब गोपों ने पाँच प्रकार के आभूषण धारण किए, १–पल्लवों के, २–मयूर पिच्छों के, ३–पुष्पों के गुच्छों से, ४–पुष्पों की मालाओं से, ५–गैरिक धातुओं से । इस प्रकार

१-क्रिया शक्ति । २-प्रकट । ३-गुण ।

पाँच तरह के आभूषणों से भूषित हो, गोप† क्रीड़ा करने लगे । १–नाच करते हुए मनोविलास[1] करने लगे, २–युद्ध करते हुए देह का विलास[2] लेने लगे, ३–गान करते हुए वाणी का विलास[3] प्राप्त करने लगे ।

आभास – भगवतो लीलामाह कृष्णस्येति,

आभासार्थ – ९ वें श्लोक में गोपों की लीला कही अब इस निम्न श्लोक में भगवान् की लीला कहते हैं ।

श्लोकः – **कृष्णस्य नृत्यतः केचिज् जगुः केचिदवादयन् ।**
वेणुपाणिदलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे ॥ १० ॥

श्लोकार्थ – श्रीकृष्णचन्द्रजी के नृत्य करने पर, कई गाते थे, कतिपय बंशी करताल और सींग बजाते थे और अन्य प्रशंसा करते थे ॥ १० ॥

सुबोधिनी – शिक्षार्थं लोके नृत्यप्रसिद्ध्यर्थं च **भगवतो नृत्यतः** सतो नृत्याङ्गभूते गीतवाद्ये अन्ये कृतवन्तः, **केचिज् जगुः केचिदवादयन्निति, वेणुः** श्रुतिपूरकः **पाणिः** शङ्खवन्नादं करोति, दलान्यश्वत्थपत्रदीनि गोमुखवच्छब्दं कुर्वन्ति, **शृङ्गाणि** चावादयन्, **अथापरे** प्रशशंसुर्भिन्नप्रकारेण, नृत्यसम्बन्धप्रशंसातः स्वतन्त्रप्रशंसा भिन्ना ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् नृत्य विद्या की शिक्षा के लिए तथा लोक में नृत्य की प्रसिद्धि के हेतु नृत्य करते थे, तब अन्य नृत्य में रस को उत्पन्न करने के लिए उसके अङ्गभूत गायन तथा वादन करने लगे, वेणु 'श्रुति पूरक[4]' है हाथ से शङ्ख के समान ध्वनि हो रही थी, पीपल के पत्ते गौ के मुख के शब्द के समान शब्द करते थे और सींग बजाए गए, तथा अन्य नृत्य सम्बन्धी स्वतंत्र प्रशंसा पृथक् प्रकार से कर रहे थे‡ ॥ १० ॥

---

† इस ९ वें श्लोक में कही हुई क्रीड़ा केवल गोपों ने की है, भगवान् की क्रीड़ा का वर्णन १० वें श्लोक में हैं । **'लेख'**

‡ इस श्लोक का तात्पर्य श्रीकृष्ण का नृत्य ही है, गान और वादन का वर्णन नृत्य के अङ्ग के रूप में कहे गए हैं । **'लेख'**

१–मन को प्रसन्न । २–व्यायाम का आनन्द । ३–वाणी के रस का आनन्द ।

४–शब्द को पूर्ण करने वाली ।

आभास — नन्वेते कथं प्रशंसादिकं कृतवन्तोऽज्ञाने प्रशंसासम्भवाज् ज्ञाने महतो लीलायां प्रशंसानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह गोपजातिप्रतिच्छन्ना इति,

आभासार्थ — गोपों को यह ज्ञान था कि, श्रीकृष्ण भगवान् हैं, महापुरुष सब कुछ कर सकते हैं तब प्रशंसा करनी योग्य नहीं, इस शङ्का के उत्तर में यह निम्न श्लोक कहते हैं ।

श्लोक: — **गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिण: ।**
ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ — महाराज ! देवगण गोप जाति से अपने को गुप्त बना कर, कृष्ण और राम की वैसे स्तुति करने लगे, जैसे नट, नट की बड़ाई करते हैं ॥ ११ ॥

सुबोधिनी — यथा भगवान् प्रतिच्छन्न एवं भगवत्सेवका अपि गोपजात्या प्रतिच्छन्ना जाता:, इदानीमेव गोपवेषं कृत्वा समागता इत्याशङ्कां व्यावर्तयति **गोपालरूपिण** इति, गोपरूपयुक्तास्तथैवोत्पन्नास्तेष्वाविष्टाश्चात: **कृष्णरामावीडिरे,** तथापि सेवकानां कथमेवं धाष्ट्र्यमत **आह नटा इव नटं नृपेति, नटा** हि **स्वामिसेवकभावं परित्यज्यान्योन्यं प्रशंसन्ति** तद्वदित्यर्थ: ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ — जिस प्रकार भगवान् ने अपने को मनुष्य रूप से छिपा रक्खा है, वैसे ही उनके सेवकों ने भी अपने को गोप जाति में छिपा रक्खा है ।

सेवक, नटों के समान, अब गोप वेश धारण कर, गोप बन कर नहीं आये हैं, किन्तु गोप जाति में उत्पन्न हुए हैं, उस गोप रूप देहों में ही, देव स्वरूप का आवेश,[१] जन्म समय में किया था; अत: कृष्ण और राम की स्तुति करने लगे । यह भी शङ्का नहीं करनी कि, सेवक होकर वैसी धृष्टता कैसे की ? क्योंकि जैसे नट, नट की प्रशंसा करते हैं वैसी उन्होंने प्रशंसा की है । कारण कि इस समय दोनों का रूप वेश नट के समान था, स्वामि, सेवक भाव नहीं था अत: किसी प्रकार धार्ष्ट्य नहीं है ॥ ११ ॥

आभास — पुनर्भगवतो नानाविधक्रीडामाह भ्रामणैरिति,

आभासार्थ — इस निम्न श्लोक में पुन: भगवान् की अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं का वर्णन करते हैं ।

१-प्रवेश ।

श्लोक: – **भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः ।**
चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित् ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ – कभी, कभी, काक पक्ष धारण किए हुए, ये दोनों भाई, चकरी खाना, कूदना, फेंकना, ताल ठोकना, खैंचना, बाहु युद्ध करना आदि अनेक खेल खेलने लगे ॥१२॥

सुबोधिनी – मल्लयुद्धे ह्येते प्रकाराः, अन्योन्यहस्तस्पर्शनेन भ्रमन्ति हस्तद्वयं धृत्वा वा भ्रामयन्ति, एतद् बालानामपि भवति, तथोल्लङ्घनानि, उच्चैर्भूमौ गर्तादिषु च मल्लानां वोल्लङ्घनं, **क्षेपः** प्रक्षेपः, तिरस्कारादिर्वा, **आस्फोटनं** बाहुस्फोटनं, **विकर्षणं** नियमस्थाने बलान्नयनं, एवंपञ्चविधा लीला, **चिक्रीडतुः**क्रीडां कृतवन्तौ बाहुयुद्धेन, **क्वचित्** काकपक्षधरौ कृतचूडाकरणौ, कियत्कालमेव हि चूडाकरणानन्तरं केशाँस्तत्तद्देशेषु क्वचित्क्वचित् स्थापयन्ति ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ – एक दूसरे का हाथ पकड़ कर घूमना, दोनों हाथ मिलाकर घुमाना, मल्ल युद्ध में इस प्रकार भ्रमण[१] और भ्रामण[२] की क्रियाएँ होती हैं । यह खेल बच्चें भी करते हैं । इसी प्रकार उच्च भूमि से कूदना, गढ़े में कूदना, अथवा मल्लों से कूद जाना तिरस्कार करना वा दूर फेंक देना, बाहुओं को ठोकना, बल पूर्वक नियमित[३] स्थान पर ले जाना । इस प्रकार पाँच तरह की लीला, बाहु युद्ध से करने लगे । क्रीड़ा करने के समय कृष्ण और राम के, काक पक्ष के समान बाल, कानों के समीप थे । वे बाल चूड़ाकरण संस्कार के समय रखे जाते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि कृष्ण राम का चूड़ाकरण संस्कार हो गया है ॥ १२ ॥

आभास – एवं भगवतो नृत्यमुक्त्वा भगवत्सन्निधानेऽन्येषां नृत्यमाह क्वचिन्नृत्यत्स्विति,

आभासार्थ – भगवान् की नृत्य आदि लीला वर्णन करने के अनन्तर अब भगवान् की उपस्थिति में अन्यों के नृत्य का वर्णन करते हैं–

श्लोक: -- **क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम् ।**
शशंसतुर्महाराज साधुसाध्विति वादिनौ ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ – महाराज ! कभी अन्य नाच करते तब आप दोनों भाई गाते हैं और बजाते हैं, वाह वाह कहते हैं और प्रशंसा करते हैं ॥ १३ ॥

सुबोधिनी – अन्येषु नृत्यत्सु सत्सु स्वयं गायकौ वादकौ च, चकारादन्येषु गायकेषु स्वयं वादकावन्येषु वादकेषु स्वयं गायकाविति. किञ्च स्वयमेव **शशंसतुर्यदान्यप्रेरणयापि साधुसाध्विवितिवादिनौ** क्वचिद् भवतः **क्वचिद्** विशेषेण **शंसतः**स्तोत्रं कुरुतः **क्वचिद्** विशेषेणानुशासनं वा ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ – अन्य (गोप) नाचते थे तब आप गाते और बजाते थे, मूल श्लोक में आए हुए 'च'[१] शब्द का आशय कहते हैं कि, अन्य गाते थे, तो आप बजाते थे तथा अन्य बजाते थे, तो आप गान करते थे और अपनी इच्छा से ही, उनकी बड़ाई करते, कभी दूसरों की प्रेरणा से भी, वाह वाह कहते थे । कभी तो, विशेष स्तुति करते थे और कभी विशेष प्रकार से नृत्य की शिक्षा देते थे ॥ १३ ॥

आभास – एवं शास्त्रानुसारिलीलामुक्त्वा केवलबालकसम्प्रदायप्रसिद्धां लीलामाह क्वचिद् बिल्वैरिति,

आभासार्थ – इस प्रकार शास्त्र के अनुसार, जो लीलाएँ की, उनका वर्णन कर, अब लोक में, जिस प्रकार बालक खेल खेलते हैं, उस प्रकार के खेल कहते हैं ।

श्लोकः – **क्वचिद् बिल्वैः क्वचित् कुम्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः ।**
अस्पृश्य नेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ – कभी बिल्व फलों (बेलों) से, कभी कुंभी के फलों से, कभी आमलों से, कभी मुट्ठियों से, कभी छूने न देने से, कभी आँख मिचोनी से, तथा कभी हरिणों व पक्षियों के अनुकरण करने से (खेलते थे) ॥ १४ ॥

सुबोधिनी – बिल्वफलानां क्रीडा कन्दुकवत् क्षेपणरूपा, **कुम्भ**फलानि सूक्ष्माणि, ततस्तैः क्रीडा लाक्षासूक्ष्मपिण्डवत् सूक्ष्माण्याम**लकानि**, **मुष्टि**भ्रामणक्रीडया क्रीडनं, **अस्पृश्य** क्रीडा, कपर्दिकेति प्रसिद्धा वरवर्तिकेति च, **नेत्रबन्ध**क्रीडाक्षिमुद्रिकेति प्रसिद्धा, **आदिशब्देन** निलायनक्रीडामग्रे वक्ष्यति, आरोहक्रीडैकपदक्रीडा च, तथा काष्ठखण्डैस्तथाकपालैर्जलस्थलयोः **क्वचिद्धरिणक्रीडा** हरिणाकृतिं विधाय नृत्यं कुर्वन्ति, खगवन् मयूरादिकव-दिहानेकविधा ॥ १४ ॥

१–और ।

व्याख्यार्थ – जैसे गेंद फेंकने का खेल बालक खेलते हैं, कभी, उसी प्रकार, बिल्व फलों से खेलने लगे, कुंभीफल तथा आमल छोटे होते हैं, लाख के सूक्ष्म पिंड[१] से जैसे खेला जाता है, वैसे उनसे खेलने लगे, कभी मुट्ठियों को घुमाने की क्रीड़ा करने लगे तथा कभी एक अपने को छूने नहीं दे और अन्य उसको किसी प्रकार भी छू लें, इस प्रकार की क्रीड़ा करते थे (जिस क्रीड़ा को कपर्दिका अथवा वरवर्तिका उस देश‡ में कहते हैं) कभी आँख मिचोनी खेल खेलते थे, श्लोक में आदि शब्द से अन्य लोक प्रसिद्ध क्रीड़ाएँ जैसे कि छिप जाने की क्रीड़ा जिसका आगे वर्णन होगा, तथा एक दूसरे के पृष्ठ पर चढ़ना, एक पैर से चलना, जल तथा थल[२] पर कपाल[३] से खेलना और कभी हरिण तथा मयूर बनकर नाचना, इस प्रकार की अनेक क्रीड़ाएँ करने लगे ॥ १४ ॥

आभास – एवं स्थललीलामुक्त्वा जले प्रकारविशेषलीलामाह क्वचिच्चेति,

आभासार्थ – इस प्रकार साधारण रीति से स्थल की क्रीड़ा का वर्णन कर अब विशेष प्रकार की जल क्रीड़ा का वर्णन करते हैं ।

श्लोक: – **क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः ।**
कदाचित् स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ – कभी मेंढकों के समान कूदने से, कभी अनेक प्रकार के हास्य[४] करने से, कभी झूलों से, कभी राजा के वेशों को धारण कर राज्य क्रीड़ा करने से (खेलते थे) ॥ १४ ॥

सुबोधिनी – **क्वचिद् दर्दुरवद्** भेकवत् प्लवनं कुर्वन्ति मध्ये ह्रदस्य प्लवस्य, ''निगृह्य चतुरःपद'' इतिश्रुतेः निरन्तरमुत्प्लुत्य गमनं, तच्चातिकठिनं नेदानीं बालकेषु प्रसिद्धं, उत्प्लवाश्चाङ्गस्वनानि च, अतो **विविधै**रित्युभयत्र सम्बध्यते, **उपहासका**न्युपहासवचनानि चेष्टाश्च, **कदाचिद् भगवान्** राजा भवति तदा दोलामारुह्य गच्छति केचन वाहकाः केचन दोलारूपा एव भवन्ति, **स्पन्दोलिका** दोला स्पन्दनरूपा **दोलिका** वा, वृषभाविवाग्रे द्वौ भवतः प्रसारितबाहुरपरो मध्ये बद्धहस्ताश्चत्वारः पश्चात् सर्वे सम्बद्धा भगवन्तं नयन्ति सा **स्पन्दोलिका, कदाचित् पुनर्नृपचेष्टया** क्रीडति, क्वचिदुपविश्य सिंहासनेऽक्षादिभिश्च क्रीडत्याज्ञापयति बध्नाति दण्डयति वा ॥ १५ ॥

---

‡जहाँ आचार्य श्री का निवास स्थान था ।

१- गोले । २- भूमि । ३- खप्पर तथा ठीकरे । ४-हँसी, ठट्ठा

व्याख्यार्थ – कभी तड़ाग वा अल्प जल वाले स्थलों में, मेंढक के समान पादों की ऊपर कूदने की कठिन क्रीड़ा भी करते थे, कठिन होने के कारण, अब वह क्रीड़ा बालकों में प्रसिद्ध नहीं है अर्थात् अब के बालक वह क्रीड़ा नहीं करते हैं। इस क्रीड़ा में कूदना, किसी पदार्थ को भी उल्लङ्घन कर जाना आदि विविध प्रकार के थे और हास्य भी अनेक प्रकार से करते थे।

कभी भगवान् राजा बनते तब गोप कहार बन राजा को पालकी में विराजमान कर अपने कंधे पर पालकी को उठा के चलते थे, कभी गोप स्वयं पालकी बनते। वह पालकी झूलती पालकी होती थी जिसको संस्कृत में 'स्पन्दोलिका' कहते हैं। जिसमें दो गोप बैलों के समान आगे के भाग को लेकर चलते हैं, एक गोप बीच में एक बाहू को लम्बी कर उसको पकड़ कर चलता है, परस्पर हाथ मिलाकर चार गोप मिलकर भगवान् को लेकर चलते रहते हैं। कभी किसी स्थल पर भगवान् सिंहासन पर विराजमान होकर पासों से खेलते थे, अन्यों को आज्ञा देते अथवा बाँधते तथा दण्ड करते ॥ १५ ॥

आभास – एवं क्रीडामुक्त्वोपसंहरत्येवं ताविति,

आभासार्थ – इस प्रकार क्रीड़ाओं का वर्णन कर, अब इस श्लोक में उपसंहार करते हैं।

श्लोकः – **एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने ।**
नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु सरित्सु च ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ – इस प्रकार वे दोनों (राम-कृष्ण) भ्राता, लोक प्रसिद्ध अनेक प्रकार की क्रीड़ा करते हुए वन, नदी, पर्वत, द्रोणी, कुंज, कानन[1] और सरोवरों में फिरते थे ॥ १६ ॥

सुबोधिनी – अत्र प्रमाणं **लोक** एव, एताः क्रीडा **वन** एव काश्चन क्रीडा नद्यामद्रावद्रिद्रोणीषु, उभयतः पर्वता मध्ये निम्ना भूमिर्द्रोणी, तथा नद्यामपि भवति, **कुञ्जानि** तृणसहितानि गह्वरस्थानानि काननानि निबिडवनानि, सरितः क्षुद्रनद्यः, **चकारात्** सरस्सु च, एवं सर्वलौकिकभावान् बालकानां निवारयन्नन्तःकरणदोषान् निवारितवान्, यावत् तासु स्वयं न प्रविशति तावत् ताः केवला एव स्मृता भवन्ति न भगवद्विशिष्टा भगवत्स्मारिका वा, अतो **बालकानां** प्रपञ्च-विस्मरणार्थं सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टः ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ – ये क्रीड़ाएँ लोकों ने ही प्रारम्भ की हैं अर्थात् इन क्रीड़ाओं का शास्त्रों में वर्णन नहीं है अतः इनका प्रमाण लोक ही है। ये क्रीड़ाएँ बन में ही हुई हैं। कुछ क्रीड़ाएँ नदी में, पर्वत

---

१ - गहन वन।

पर, पर्वतों के बीच की निम्न[1] भूमि में, कुञ्जों[2] में, काननों में, छोटी नदियों में और सरोवरों में करते थे। इस प्रकार सर्वत्र बाल क्रीड़ा करने का आशय यह है कि, जब तक किसी भी कार्य में, भगवान् प्रवेश नहीं करते हैं, तब तक क्रीड़ा आदि कार्य करने वालों में लौकिक भाव रहता है, जिससे भगवान् की स्मृति नहीं रहती है, अतः भगवान् ने स्वयं क्रीड़ा में प्रवेश कर, बालकों को प्रपञ्च की विस्मृति करा दी ॥ १६ ॥

आभास – एवं क्रियामयान् संस्काररूपांश्च दोषान् निवर्त्यान्तःकरणदोषाभिमानिनीं दैत्यभूतां निवारयितुमुपाख्यानमारभते पशूंश्चारयतोरिति

आभासार्थ – गोप बालकों में भगवद्भाव रहित कर्म क्रिया रूप था और इसी प्रकार भगवत्स्मृति न करा के, केवल कर्म की क्रिया का ही स्मरण था। इन दोषों को बालक्रीड़ा से निवृत्त कर, अब अन्तःकरण के दोष रूप अभिमानी देवता, जो दैत्य बन गए हैं उसके निवारणार्थ[3] श्री शुकदेवजी वह उपाख्यान (जिस लीला से अन्तःकरण दोष दूर हुआ वह कथा) कहते हैं।

श्लोकः – **पशूंश्चारयतोर्गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः ।**
गोपरूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिघांसया ॥ १७ ॥
तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः ।
अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन् ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ – गोपों के साथ उस वन में, पशु चराते हुए राम कृष्ण को हर ले जाने की इच्छा से, प्रलम्ब नाम वाला असुर, गोप का रूप धारण कर, वहाँ आया। सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण उसको जानते थे तो भी, उसके वध का विचार कर, आपने उसके साथ मित्रता करनी स्वीकार की ॥ १७-१८ ॥

सुबोधिनी – गोपैः सह **पशूंश्चारयतोः** सतोः **प्रलम्बोऽगात्**, अन्तःकरणमेव रूपसमर्पकमिति **गोपरूपी** स प्रकर्षेण **लम्बो** मुक्तिपर्यन्तमनुवर्तमानस्**तज्जिघांसया भगवांस्तं विद्वानपि तत्सख्यमन्वमोदतेतिसम्बन्धः**, गत्वा मारणीयः स तत्र स्वयमागते कः सन्देहः ? अतः प्रथमत एव **जिघांसयेत्युक्तं**, सम्भवत्यविरोध**व्याख्याने विरुध्दं** न **व्याख्येयं**, तं प्रलम्बं दुष्टं भगवाञ्ज्ञात्वा तत्र **प्रवेशेनैव** तद्वध इति सञ्चिन्त्य तथैव लीलायाः प्रारब्धत्वाद् भगवतः सर्वसखस्य सर्वात्मकस्य दोषत्वेन दैत्यहननावश्यकत्वात् **सख्यं** कृतवान्, अत एव भगवता न मारितः, **देहोत्पन्नाश्च** स्वतो **न मार्यन्ते**, यथौषधं तथा बलभद्रो व्यवहारे च स कृष्णसम्बन्धी गोपालानां मध्ये कृष्णस्यार्थे तस्य प्रवेशात्, अनेनैव प्रकारेणाक्लिष्टतया वधो भवतीति विचारयंस्तथा कृतवान् ॥ १७-१८ ॥

१-नीचे की। २-लताओं से बने हुए घरों में। ३-दूर करने के लिए।

व्याख्यार्थ – जिस समय, गोपों के साथ, जहाँ पशुओं को दोनों भाई चराते थे, वहाँ प्रलम्ब गया। अन्त:करण के अनुसार रूप बनता है। प्रलम्ब गोपों के अन्त:करण के दोषों का अभिमानी दैत्य था और वह अन्त:करण दोषाभिमानी, दोषों द्वारा गोपों का अपहरण करना चाहता था अत: गोप रूप होकर आया। भगवान् सर्वज्ञ होने से उसको पहचानते थे कि यह गोप नहीं है अन्त:करण का दोष रूप प्रलम्ब असुर है जो मुक्ति पर्यन्त अन्त:करण में रहने वाला है अत: इसको बालकों से दूर करना है, जब यह दूर होगा तब वे शुद्ध होकर मुझ में निरुद्ध होंगे। इस अन्त:करण के दोषों के अभिमानी दैत्य को तो जाकर भी मारना ही था किन्तु जब वह स्वयं आ गया तो फिर उसकी मृत्यु में सन्देह ही कैसा ? भगवान् सब के सखा और आत्मा है अत: भगवान् ने उसको मारा नहीं। देह से उत्पन्न होने वाले को वह आप नहीं मारते हैं इसलिए भगवान् ने स्वयं इसको मारा नहीं, किन्तु उसके नाश के लिए लीला प्रारम्भ की; प्रलम्ब ने मित्रता करनी चाही तो उसका अनुमोदन कर उससे मित्रता कर ली।

देह में, रोग उत्पन्न होता है तो, उसको मिटाने के लिए, औषध का उपयोग किया जाता है, जिससे वह मिट जाए देह निरोग हो जाए। इसी प्रकार यह असुर, देह से उत्पन्न होते हुए भी दोष रूप रोग है। उस रोग को नाश करना भी आवश्यक है। इस रोग की औषध बलभद्र है। बलरामजी व्यवहार में कृष्ण के सम्बन्धी हैं, गोपों के बीच में उनका भी प्रवेश कृष्ण के समान है। मैत्री करने का कारण भी यह था कि बिना क्लेश के लीला करते हुए इसका वध हो जाय ॥ १७-१८ ॥

आभास – तत: सख्यकरणानन्तरं वधप्रकारं कृतवानित्याह तत्रोपाहूयेति,

आभासार्थ – मित्रता करने के अनन्तर, भगवान् ने उसका वध कैसे किया जाय ? उसका विचार करने लगे। यद्यपि भगवान् होने के कारण, श्रीकृष्ण को विचार करने की आवश्यकता नहीं थी तो भी, उनको लीला लोकवत् करनी है, इसलिए करने लगे, जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं-

श्लोक: – **तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्ण: प्राह विहारवित् ।**
हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम् ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ – सब प्रकार के खेलों को जानने वाले श्रीकृष्ण ने गोपों को वहाँ बुलाकर कहा कि, हे गोपों ! हम लोग जैसे कोई प्रतिबन्ध न पड़े वैसे सुखपूर्वक, दो टोले बनाकर खेलेंगे ॥ १९ ॥

सुबोधिनी – सर्वानेव **गोपालानुपाहूय** नानाविधक्रीडायां प्रवृत्तान् क्रीडाविशेषमुपदेष्टुं **प्राह,** **तत्रोपाहूयेति** यत्र संभूमौ तादृशलीला भवति **तत्र** **सर्वानुपाहूयाग्रे** वक्ष्यमाणं **प्राहेतिसम्बन्ध:,** यतो भगवान्

क्लिष्टकर्मा प्रकर्षेण स्पष्टमेवाह, गोपालानां विश्वासार्थे स्वज्ञातक्रीडापरित्यागार्थं च विशेषणं **विहारविदिति**, सर्वानेव विहारान् वेत्ति, भगवद्वाक्यमेवाह **हे गोपा विहरिष्याम** इति, अद्वन्द्वभूता अपि **द्वन्द्वीभूय** यथा येन सह यो **सहयोद्वन्द्वं** प्राप्तस्तथा तेनैव सह स जयं पराजयं वा प्राप्नोतीति यथा तथा **यथायथं** वा यथासुखमित्यर्थः, **यथातथ**मितिपाठेऽपि क्रियाविशेषणमात्रत्वं विशेषः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ – अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं में प्रवृत हुए सब गोपालों को, विशेष क्रीड़ा का उपदेश करने के लिए, जो भूमि समतल क्रीड़ा करने के योग्य थी, वहाँ बुलाकर, जो आगे कहा जाएगा वह कहने लगे । भगवान् को किसी प्रकार कार्य करने में परिश्रम नहीं होता है । अत: गोपों को स्पष्ट कहने लगे । (मूल श्लोक में भगवान् को 'विहारवित्' कहा है जिसका भावार्थ है कि, भगवान् को सब प्रकार की विशेष क्रीड़ाएँ आती हैं) ये देखकर गोप, वे (क्रीड़ाएँ) सीखने के लिए और हमारा आप में विश्वास है इसको सिद्ध करने के लिए अपनी प्रवृत्त की हुई क्रीड़ाओं को छोड़कर, भगवान् के निकट आ गए ।

समीप आए हुए गोपों को भगवान् कहने लगे कि हे गोपों ! हम लोग एक साथ हो मिले हुए हैं तो भी क्रीड़ा करने के लिए दो टोले बनाकर सुख पूर्वक खेलेंगे । किसी भी टोले के किसी एक की जीत या हार हुई तो, वह, उस समग्र टोले की जय व पराजय मानी जाएगी ॥ १९ ॥

आभास – भगवदुक्तास्तथैव कृतवन्त इत्याह तत्र चक्रुरिति,

आभासार्थ – गोपों ने भगवान् की आज्ञानुसार कार्य किया जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक: – **तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ ।**
कृष्णसङ्घट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापरे ॥ २० ॥

श्लोकार्थ – वहाँ गोपों ने राम तथा कृष्ण को मुखिया बनाया, उनमें से कितने ही कृष्ण के साथी[१] और कितने ही राम के साथी बने ॥ २० ॥

सुबोधिनी – उभौ तत्र क्रीडायां मुख्यौ क्रियेते पश्चाद् द्वौ द्वौ समागच्छत: कृत्रिमसङ्केतं कृत्वा तत्र य एव यमर्थं वृणीते तेन सङ्केतितस्तदीयो भवति, एवं सर्वे गोपाला: प्रकारद्वयेन द्विविधा भवन्ति, तदाह **कृष्णसङ्घटिनःकेचिदासन् रामस्य चापर** इति ॥ २० ॥

१-पक्ष वाले ।

व्याख्यार्थ – उस प्रकार की क्रीड़ा में दो मुखिया बनाए जाते हैं, पश्चात् दो दो (गोप) कृत्रिम[1] नाम धारण कर मुखियों के समीप आते हैं। प्रत्येक मुखिया जिस कृत्रिम नाम को स्वीकार करता है उस नाम वाला वह गोप उसका साथी बन जाता है। इस प्रकार कितने ही कृष्ण के साथी हुए और कई राम के साथी बन गए ॥ २० ॥

श्लोक: – **आचेरुर्विविधा: क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणा: ।**
यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिता: ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ – चढ़ने और चढ़ाने आदि अनेक प्रकार के खेल खेलने लगे, जिसमें जो हारे वे चढ़ा कर ले जाए और जो जीतें वे चढ़ें।

सुबोधिनी – तत्रापि प्रथममागतौ मुख्यकार्यं कुरुत: श्रीदामा प्रलम्बश्चोभौ समागतौ द्वन्द्वीभूय, तत्रापि **श्रीदामा** बलभद्रेण गृहीतो बलकार्यं करोति प्रलम्बो भगवत्कार्यं, एतौ मन्त्रिणाविव, अन्यथा जयपराजययो: कृष्णरामावेवान्योन्यं वाहकौ स्यातां तुल्यत्वात्,नाप्यव्यवस्थिततया वहनं, तथा सत्यतिप्रसङ्गात् कलहसम्भवाच्च, नाप्यत्र मुख्यो वाहकत्वपक्ष:, अन्यथा भगवतोऽपि वाहकत्वं न स्यात्, मुख्ययोरेक: क्रीडत्येको वहति, **अथवा क्रीडाविशेषे** सर्व एव सर्वान् वहन्तीति, तत्रैकपादगमने क्रीडान्तरे वा मध्ये द्वितीयपादस्य भूस्पर्शे पराजितो भवति, तत्र प्रतियोगिनस्तान् भ्रामयन्ति यथा स्खलनं भवति, येन प्रतियोगिना भ्रामित: स्पृशति भूमिं तं वहति, तदाह**चेरुर्विविधा: क्रीडा** इति, **वाह्यवाहकत्वे** निमित्तमाह **यत्रारोहन्तीति**, **जेतार आरोहन्ति पराजिता वहन्ति** ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ – इस प्रकार की क्रीड़ा में यह नियम है कि जो जोड़ी प्रथम आ पहुंचे, वह जोड़ी मुख्य कार्य कर्ता बने।

यहाँ श्रीदामा तथा प्रलम्ब, दोनों मिलकर प्रथम आए थे। उनमें से श्रीदामा को बलरामजी ने अपना साथी बनाया जिससे वह बलरामजी का कार्य कर्ता हो गया और प्रलम्ब को कृष्ण ने साथी किया, अत: वह कृष्ण का कार्य करने वाला हुआ। तात्पर्य यह है कि ये दोनों, बलराम तथा कृष्ण के मन्त्री जैसे हुए। यदि इस प्रकार मन्त्री न बनाए जाते तो, कृष्ण तथा राम भी, जय या पराजय के समय कृष्ण तथा राम को भी परस्पर बाहक बनना पड़ता, क्योंकि, वे दोनों एक जैसे हैं। वहाँ सर्व कार्य, नियम अनुसार होते हैं, कोई किसी को स्व इच्छा से ले जाए यों नहीं था, वैसा न करने से, किसी का अपमान हो सकने का अवसर आ जाने से कलह हो जाए अत: नियम पूर्वक कार्य होता है। यों भी नहीं था कि, चढ़ने वाला पक्ष मुख्य[2] है। यदि वैसा किया जाता तो चढाने वाला पक्ष ही अयोग्य माना जाता, इसका तात्पर्य यह है कि चढने वाला और चढानेवाला, दोनों पक्ष समान गिने जाते हैं। जिससे कोई भी (भगवान् भी) वाहक बन जावे तो किसी प्रकार की अशिष्टता नहीं हो।

१-बनावटी। २-बड़ा।

मुख्यों में से एक क्रीड़ा करता है और एक वहन करता है, अथवा विशेष क्रीड़ा में, यों भी होता है कि, एक पक्ष के सब गोप अन्य पक्ष के सब गोपों को चढा कर ले जावें ।

एक पाद से चलने की अथवा एक पाद से कूदने की क्रीड़ा में यदि खेलने वाले के पाद ने पृथ्वी का स्पर्श किया तो वह पराजित[1] माना जाता है । इस क्रीड़ा में विरुद्ध पक्ष वाला क्रीड़ा करने वाले को इसी प्रकार भ्रमण कराता है जैसे उसका पाद भूमि का स्पर्श करे । जो जो प्रतिपक्षी[2] खेलने वाले के पाद का भूमि को स्पर्श कराता है उसको खिलाड़ी चढाकर ले जाता है । इसी भांति चढना चढाना आदि क्रीडाएँ करने लगे ॥ २१ ॥

आभास – नापि निसर्गतः पराजितः पराजित एव भवति, अतः कदाचित् कश्चिद् वहति वाह्यते च, तदाह वहन्तो वाह्यमानाश्चेति,

आभासार्थ – इस क्रीड़ा में यों भी नियम नहीं है कि एक बार हारा वह सदा के लिए वाहक बना रहे, किन्तु इसमें कभी कोई पक्ष जीतता है, और कभी कोई हार जाता है । जब जीतता है, तब चढने वाला होता है और जब हारता है तब चढाने वाला बनता है जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – वहन्तो वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम् ।
भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ – वैसे चढते चढाते और गायों को चराते हुए श्रीकृष्ण को अपना मुखिया बनाकर सब गोप भांडीर नाम वाले बट के पास जाने लगें (गए) ॥ २२ ॥

सुबोधिनी – मध्ये सर्वेषामेव क्रीडायां प्रविष्टत्वाद् गवां चारणाभावे चतुर्विधपुरुषार्थहानिः स्यादित्याशङ्क्याह **चारयन्तश्च गोधन**मिति, गाव एव धनं, चकाराद् रक्षामपि कुर्वन्तो **भाण्डीरके** वने मुख्यो वटोऽस्ति तदाख्यातिकरस्तत्र समा च भूमिः प्रलम्बस्य सहायान्तरस्यापि पश्चादागतस्यानागमनं भवत्यतो **भाण्डीरकं नाम वटं** सर्व एव **जग्मुः**, इममर्थं भगवानेव जानातीति **कृष्णपुरोगमाः**, कृष्ण एव **पुरोगमो** येषां, तत्र मध्येऽपि क्रीडां कुर्वाणा एव गताः ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ – श्लोक में 'चारयन्तश्च जग्मुः' कहा है (गौओं को चराते हुए तथा उनकी रक्षा करते हुए जाने लगे) जिसके कहने का भाव यह है कि किसी को यह शङ्का मन में नहीं लानी चाहिए कि सब खेलने में आसक्त हो गए होंगे, तो गोधन का चराना और रक्षा करनी भूल गए होंगे जिससे

१-हारा हुआ । २-सामने पक्ष वाला ।

चतुर्विध पुरुषार्थ की हानि होती है। जाते समय वे खेलते थे और गोधन को चराते तथा उसकी रक्षा भी करते थे।

इस वन का नाम 'भाण्डीरक' इसलिए पड़ा है कि वहाँ एक बड़ा बट का प्रसिद्ध वृक्ष है, जिसका नाम भाण्डीरक है, जिससे इस वन को भाण्डीरक वन कहते हैं। उस वन की भूमि सम[१] है। सब साथ में मिलकर (किसी को पीछे न छोड़कर) भाण्डीरक बट के पास जाने लगे। कारण कि, प्रलम्ब के साथ अन्य गोप भी था जिसको वह चढाकर ले चलता था यदि वह पीछे रह जाए तो, अन्य गोप को भी, लेकर अन्यत्र चला जाए इसलिए सब साथ चलते थे। इस सत्य बात को[२] भगवान् जानते थे इसलिए श्रीकृष्ण को नेता बनाया है। वहाँ बीच में (रास्ते में जाते समय) भी क्रीड़ा करते जाते थे ॥ २२ ॥

आभास – ततो यदा पराजयस्तदा वहनं तदाह रामसङ्घट्टिनो ये हीति,

आभासार्थ – पश्चात् जब हार होवे तब हारे हुए जीतने वाले को उठाते[३] थे जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **रामसङ्घट्टिनो ये हि श्रीदामवृषभादयः ।**
क्रीडायां जयिनस्तांस्तानूहुः कृष्णादयो नृप ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ – हे नृप ! जब बलरामजी के पक्ष के श्रीदामा, वृषभ आदि गोप जीत गए तब कृष्ण आदिक ने उनको चढाया था ॥ २३ ॥

सुबोधिनी – त्रयोऽत्र निरूपिता अन्तःकरणगुणानां त्रैविध्यज्ञापनाय, रामो यथा तथा **श्रीदामा वृषभश्च**, रामो राजसः श्रीदामा **सात्त्विको वृषभस्तामसः**, तत्र यदा ते **क्रीडायां जयिनस्तांस्तान् कृष्णादय ऊहुः** ॥२३॥

सुबोधिनी – अन्य गोपों के जीतने का न कहकर केवल तीन के जीतने का भाव बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि–अन्तःकरण के तीन प्रकार के गुण होते हैं अतः राम राजस, श्रीदामा सात्विक और वृषभ तामस इन तीनों से जीतने का वर्णन किया (तात्पर्य लौकिक में तीन गुण ही जीत रहे हैं) वे जब क्रीड़ा में जीते तब उनको कृष्ण आदि ने वहन किया[४] ॥ २३ ॥

१-एक सी - समान। २-प्रलम्ब के आशय को। ३-ऊपर लेते।

४-उठाया, अपने ऊपर लिया।

कारिका — अक्लिष्टकर्मतासिद्ध्यै हीनत्वं कुरुते क्वचित् ।
धर्मप्रधानो भगवानिति ज्ञापयितुं तथा ॥ १ ॥

कारिकार्थ — भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं अतः कभी ऐसा कार्य भी करते हैं जो भगवान् के महत्व के अनुरूप न हो—जैसे यहाँ श्रीदामा का अपने पर आरोहन[1] भगवान् ऐसा कार्य इसलिए करते हैं कि यह जाना जा सके कि भगवान् धर्म प्रधान है ।

श्लोकः — उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः ।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ — हारे हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को उठाया, भद्रसेन ने वृषभ को और प्रलम्बासुर ने बलरामजी को उठाया ॥ २४ ॥

सुबोधिनी — यथा बलभद्रः प्रलम्बारूढो भवेत् तदर्थं भगवाञ् **श्रीदामानमुवाह** नाम्ना लक्ष्मीवनमालारूपत्वं तस्यानोऽलङ्कारार्थं वहनमुचितं, **पराजित** इतिनिमित्तमन्यस्यापि वहनार्थं, तदाह **वृषभं भद्रसेनस्त्विति**, तुशब्दस्तृतीयस्य तत्पूर्ववद् वहनमिति ज्ञापयति, **प्रलम्बस्तु रोहिणीसुतं**, मातृनाम्ना व्यपदेशस्तदज्ञानज्ञापनाय ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ — यद्यपि, श्रीकृष्ण को नियमानुसार, बलभद्र को उठाना चाहिए था, किन्तु भगवान् को जो प्रलम्ब वध बलरामजी द्वारा कराना था, अतः आपने बलरामजी के स्थान पर उसके मन्त्री तथा साथी श्रीदामा को उठाया, इस तत्त्व को भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं जानता था । श्रीदामा को उठाने का और यह कारण था कि, श्रीदामा नाम से उसके स्वरूप का भाव, समझ में आ जाता है कि, वह लक्ष्मी की बनाई हुई वनमाला का रूप था अतः भगवान् को उसके आधिदैविक रूप को धारण करना था, इसलिए उसको उठाया था, जो योग्य था । श्रीकृष्ण खेल में पराजित हुए, यह उठाने का कारण था, यदि भगवान् स्वयं नियमानुसार न उठावें, तो अन्य भी न उठावें, जो योग्य नहीं था । भगवान् ने श्रीदामा को उठा लिया, यह देख कर भद्रसेन ने वृषभ को और प्रलम्ब ने रोहिणी पुत्र को उठाया । यहाँ बलरामजी का नाम न देकर रोहिणी का पुत्र इसलिए कहा कि उनको (बलरामजी को) यह गोप प्रलम्बासुर है इसका अज्ञान है ॥ २४ ॥

आभास — ततो यज् जातं तदाहाविषह्यमिति,

आभासार्थ — पश्चात्[2] जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

---

१ अपने पर चढ़ाना ।   २-पीछे ।

श्लोक: — **अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः ।**
वहन् द्रुततरं प्रागादवरोहणतः परम् ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ — वह दानव श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण को बलवत्तम[१] समझ, बलरामजी को लेकर शीघ्रता से चलता हुआ नियत स्थान से दूर चला गया ॥ २५ ॥

सुबोधिनी — प्रलम्बेन हि ज्ञातं भगवता सख्यकरणाद् भगवान**विषह्यो** न केनापि सोढुं शक्यः अतोऽन्यतरस्याप्युपद्रवः स्वकार्यफलसाधक इति **दानवपुङ्गवो** दानवानां मध्ये श्रेष्ठो दानवारिं भगवन्तं **कृष्णं** परित्यज्य रोहिणीसुतं **वहन्नवरोहणतः** परमपि **द्रुततरं प्रागात्**, शनैर्गमने सर्वैः सह गमनसम्भवात् पश्चान्नयनं न सम्भवेत्, **अवरोह**णपर्यन्तं मर्यादैवेति ततः **परं** गतः ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् से मित्रता करने से प्रलम्ब को यह ज्ञान हो गया कि श्रीकृष्ण का भार कोई भी सहन नहीं कर सकेगा अतः राम और कृष्ण इन दोनों में से एक का भी यदि उपद्रव[२] किया जाए तो वह (उत्पात) मेरे कार्य के फल को सिद्ध कर देगा, अर्थात्, मैं जिस कार्य के लिए आया हूँ वह पूर्ण हो जायगा । इसलिए दानव श्रेष्ठ प्रलम्ब, कृष्ण को न ले कर, रोहिणी के पुत्र को उठाकर, उतारने के लिए निश्चित किए हुए स्थान से शीघ्रता पूर्वक चलकर दूर ले गया । यदि, धीरे धीरे, सब के साथ जाता तो, रोहिणी पुत्र को दूर ले जा नहीं सकता था । उतारने के स्थान पर, उतारना यह मर्यादा[३] थी, किन्तु यह असुर मर्यादा का उल्लङ्घन कर, उस स्थान से दूर चला गया ॥ २५ ॥

आभास — स्वार्थसिद्धिं मत्वोपास्यां मायां परित्यज्य तत्कृतं भगवति सख्यं चाहङ्कारदेवतायामपहृतायां दोषो दृढो भवतीति विचिन्त्य दैत्यरूपेणैव हृतवानित्याह तमुद्वहन्निति,

आभासार्थ — प्रलम्ब ने अपना स्वार्थ सिद्ध हुआ समझ कर, माया से जो गोप रूप धारण किया था, उसको छोड़ असुर रूप धारण कर लिया और भगवान् से जो मित्रता की थी वह भी छोड़ दी, क्योंकि उसने अहङ्कार के देवता (सङ्कर्षण) को साथ में ले लिया था, जिससे समझा कि, अब मेरा असुरपन दृढ[४] हुआ है, इससे असुर रूप से ही, बलरामजी को उठा के आगे जाने लगा । जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक: — **तमुद्वहन् धरणिधरेन्द्रगौरवं महासुरो विगतरयो निजं वपुः ।**
स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ तडिद्द्युमानुडुपतिमानिवाम्बुदः ॥ २६ ॥

१-अत्यन्त भारवाला होने से सर्वथा असहन योग । २-गड़बड़, उत्पात ।३-रीति-नियम ।
४-बलवान ।

श्लोकार्थ – जब पर्वत के समान अधिक बोझ वाले बलदेवजी का भार उठाने से उसका वेग बन्द हो गया, तब शीघ्र उसने अपना दैत्य शरीर धारण किया, उस समय वह सुवर्ण के आभूषण धारण किये हुए ऐसे शोभा दे रहा था, जैसे चन्द्रमा को धारण किए दामिनी[1] की दमक से बादल शोभायमान हो ॥ २६ ॥

सुबोधिनी – **बलभद्रोऽपि मर्यादातिक्रमे भगवदाविष्टो जातस्ततो धरणिधरेन्द्रवन्** मेर्वादिपर्वतवद् **गौरवं** यस्य तस्य वहने सामर्थ्यं **महासुर** इति, प्रलम्बो हि मुख्यस्तथापि **विगतरयो** जातस्ततः कृत्रिमवपुषा नयनमशक्यमिति मत्वा **निजं वपुरासुरं** वपुरास्थितः, तस्य वपुर्वर्णयति **पुरटपरिच्छदो बभाविति.** पुरटं सुवर्णं तदेव **परिच्छदो** भूषणादिकं यस्य तादृशः सन् **बभौ,** स्कन्धे बलभद्रः, बलभद्रस्यापि मुकुटादिकं, शीघ्रगमने स्वमुकुटं तडिद्वद् भाति बलभद्रमुकुटं **द्युमानिव, द्युमान्** सूर्यः, तडिद् द्युमांश्च यस्य, उडुपश्चन्द्रः बलभद्रोऽपि श्वेतश्चन्द्रतुल्यः, **तद्वानुडुपतिमानम्बुद इव** स्वयं श्यामो वेगवांश्च, अभूतोपमेयं तडित्सूर्यचन्द्रा एकदैकत्र सम्बन्धिनो न भवन्तीति ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ – जब प्रलम्ब ने मर्यादा को (नियमानुसार उतारने का स्थान) छोड़ दिया तब भगवान् ने बलभद्रजी में अपना आवेश डाला । उससे बलरामजी मेरु आदि पर्वत के समान गौरव[2] वाले हो गए । ऐसे महान् भार को उठाने में महान् असुर होने से इसलिए समर्थ हुआ, जो प्रलम्ब ने समझा कि, इस कृत्रिम (गोप) रूप से यह भार नहीं उठा सकूँगा, अब मुझे वही असुर रूप धारण करना चाहिए, इस विचार से, उस असुरों में मुख्य, प्रलम्ब ने अपना निजी रूप धारण कर लिया । उस समय वह सुवर्ण के आभूषण धारण किए हुए शोभा देने लगा । शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रलम्ब के कंधे पर बैठे हुए बलभद्रजी का मुकट सूर्य के समान चमकता था और प्रलम्ब का मुकट शीघ्र गति के कारण बिजली की भांति भासमान हो रहा था, तथा बलभद्रजी श्वेत वर्ण होने से, चन्द्र के समान दीखते थे और प्रलम्ब श्याम होने से, मेघ के समान दीखता था । आचार्य श्री कहते हैं कि, यह उपमा अभूत है । (होने वाली नहीं है किन्तु यहाँ हुई है) बिजली, सूर्य और चन्द्रमा एक ही काल में परस्पर इस प्रकार मिलते नहीं है । असुर श्रेष्ठ प्रलम्ब ने अपना महान् असुर रूप धारण कर लिया तो भी बलभद्रजी के भारी भार से उसका बल नष्ट हो गया अर्थात् बलभद्रजी के भार उठाने में वह असमर्थ हो गया ॥ २६ ॥

आभास – ततो बलभद्रकृत्यमाह निरीक्ष्येति,

आभासार्थ – पश्चात् बलभद्रजी ने जो कार्य किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — **निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरन् प्रदीप्तदृग्भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम् ।**
ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डलत्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत् ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ — आकाश में घूमते हुए, बलभद्रजी उसका (प्रलम्ब का) शरीर अन्य प्रकार का देखकर कुछ डरे, उसका शरीर अतिशय दीप्त दृष्टिवाला, भौंह तक जिसकी उग्र दाढें पहुंच रही हैं और केश जिसके मानो जल रहे हैं ऐसे किरीट, कुंडल तथा कड़ों की कांति से अद्भुत था ॥ २७ ॥

सुबोधिनी — तस्य **वपु**रत्यर्थ **निरीक्ष्य** स्वयमाकाशे **चरन्** गच्छन्नीषदत्रसदितिसम्बन्धः तस्य रूपं वर्णयति **प्रदीप्ता दृग्** यस्य, **भ्रुकुटितट उग्रा दंष्ट्रा** यस्य आविष्ट-क्रोधमुखविकारयुक्त इत्यर्थः, **ज्वलन्ती शिखा** यस्येत्यारक्त-दीप्तशिखायुक्तं, **कटककिरीटकुण्ड**लानां **त्विषाद्भु**-तमेतादृशमपूर्वं दृष्ट्वा **हलधरो**ऽपि गृहीतहलायुधोऽप्य**त्रसत्**, त्रासे वा हेतुश्छलादि, अत्र कल्पान्तरे भगवता ज्ञापित इति ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थ — बलभद्रजी आकाश में जा रहे थे उस समय उसके (प्रलम्ब के) विचित्र नवीन प्रकार के रूप को देखकर कुछ डर गए। उसके रूप का वर्णन करते हैं अतिशय तेज दृष्टि वाला, भौंह तक जिसकी उग्र दाढें पहुँच रही हैं जिससे उसका मुख क्रोध से विकार वाला हो रहा है, जिसकी अग्नि के समान लाल तथा चमकती हुई शिखाएँ हैं, किरीट, कुंडल तथा कड़ों की कान्ति वाला है, ऐसे अद्भुत अपूर्व रूप को देख कर हल को धारण करते हुए भी बलभद्रजी कुछ डर गए। बलरामजी का डर जाना जो कहा है उसके दो आशय हैं १-वह (प्रलंब) छल से ले जाता था, २-अन्य कल्प में, इस लीला के समय, भगवान् ने बलरामजी को प्रलम्ब का परिचय कराया था। परिचय न होने से और अब छल से ले जाना, अतः कुछ डरे ऐसा कहा है ॥ २७ ॥

आभास — प्रकृते तु भगवदाविष्टो यत् कृतवांस्तदाह,

आभासार्थ — इस समय तो, भगवान् के आवेश युक्त होने से, बलरामजी ने जो किया, उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — **अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो विहायसार्थमिव हरन्तमात्मनः ।**
स्याहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ — फिर स्मृति आते ही निर्भय हो, बलदेवजी ने किसी पदार्थ के समान अपने को आकाश में ले जाते हुए शत्रु को देखकर, क्रोधित होके, इन्द्र ने जैसे वज्र के वेग से पर्वत पर प्रहार किया था वैसे ही उसके सिर पर दृढ मुष्टि से प्रहार किया ॥ २८ ॥

सुबोधिनी – आगता **स्मृतिर्यस्येति**, **अथेति** केवलव्युदासार्थः, अत एवा**भयो** भयरहितो जातो **विहायसा**काशमार्गेण **हरन्तं रिपुमात्मनो रिपुत्वात् स्वभावतो वध्यं शिरसि दृढेन मुष्टिना स्माहनन्** मुष्टिप्रहारं कृतवान्, ननु नयनमात्रेण कथं हननं ? तत्राह **सुराधिपो गिरिमिवेति**, सर्वलोकापकारित्वाद् **वज्र**वेगेन यथेन्द्रेण गिरिर्हतस्तथायमपि लोकापकारित्वादेव हतः, **रंहसेति** प्रतीकाराकरणार्थः तावन्मात्रेण तस्याहननशङ्कापि निवारिता ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ – मूल श्लोक में 'अथ' शब्द कहने का आशय यह है कि 'अनन्तर' अर्थात् बलरामजी ने निर्भय होकर प्रलम्ब के वध का कार्य भगवान् के आवेश आ जाने के पीछे किया, अकेले नहीं कर सकते थे। आवेश के प्रवेश से (उनको) स्मृति आ गई जिससे निर्भय हुए। आकाश मार्ग से, अपने को हर ले जाने वाला, स्वाभाविक शत्रु वध के ही योग्य है, ऐसा विचार कर, क्रोधित हो के दृढ मुष्टि से उसके शिर पर ऐसे प्रहार किया, जैसे इन्द्र ने वज्र के वेग से, पर्वत पर प्रहार किया था, केवल ले जाने के अपराध से क्यों मारा ? अर्थात् स्वल्प दोष के लिए इतना भारी दण्ड क्यों दिया ? इस शङ्का के मिटाने के लिए इन्द्र का दृष्टान्त दिया है, कि इन्द्र ने पर्वतों को सकल लोकों का अपकार[1] करने वाला जान कर, जैसे दुःख देने वाले, उनके, उड़ने के पांख काट दिए थे वैसे (ही) यह लोकों को दुःख देने वाला था इसलिए इसको मारा गया हैं। वेग से[2] मारने का कारण यह है कि, यह उपद्रवी है, किसी प्रकार प्रतीकार[3] न कर सके। वेग से मुक्का मारने से यह बच नहीं सका, अर्थात्, वेग के कारण केवल मुक्के से ही मर गया ॥ २८ ॥

आभासा – ततो यज् जातं तदाह स आहत इति,

आभासार्थ – मुक्के लगने के अनन्तर जो हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः – **स आहतः सपदि विशीर्णमस्तको मुखाद् वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः ।**
महारवं व्यसुरपतत् समीरयन् गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ – प्रहार होते ही, शीघ्र उसका शिर बिखर गया, मुंह से रक्त बहने लगा, और वह दैत्य बड़ा शब्द करता हुआ अचेत हो, बिना प्राण होकर गिर गया, जैसे इन्द्र के शस्त्र के प्रहार से पर्वत गिर गया था ॥ २९ ॥

सुबोधिनी – आ समन्ताद् **हतः सपद्येव शीर्णमस्तको** जातः ततो **मुखाद् रुधिरं वमन्न**न्तर्गतमपि दूरीकुर्वन् **स्मृति**रहितोऽपि जातः, एवं देहेन्द्रियमनसां वैकल्यं निरूपितं, तथाप्यसुरत्वात् स्वस्य राजसं भावं कृतवान्, तदाह **महारवं समीरयन् व्यसुः** सन्नपतदिति, प्राणास्त्वन्तरिक्ष एव गताः, पश्चाद् भूमौ पतितः, पुनरुत्थानं पतितस्य नाभूदित्येतदर्थं दृष्टान्तमाह **गिरिर्यथेति**, **मघवत आयुधेन** वज्रेण **हतो गिरिर्यथेति**, न कदाचिदप्युद्‌गतो नापि प्रवृद्धः, तथैवास्थिसमूहो जात इत्यर्थः ॥ २९ ॥

१-हानि। २-जल्दी। ३-बदला। ४-जोर से शीघ्र।

व्याख्यार्थ – चारों तरफ से मारा हुआ, उसका मस्तक सहसा[१] खण्डित[२] हो गया पश्चात् मुख से लोहू बहने लगा जिसके साथ वह अपने भीतर के दोष भी निकालने लगा, तब उसकी स्मृति भी चली गई। इस प्रकार देह, इन्द्रिय और मन की विकलता[३] का निरूपण किया। ऐसी दशा होने पर भी असुर था इसलिए अपना राजस भाव प्रदर्शित करने लगा। राजसभाव कैसे दिखाया ? इस पर कहते हैं कि बड़े जोर से शब्द करता हुआ निष्प्राण हो के भूमि पर गिरा। प्राण तो आकाश में होते हुए ही निकल गए थे, पृथ्वी पर उसका शव[४] ही गिरा। यह असुर भी गिरने के अनन्तर, वज्र से गिरे हुए पर्वत के समान न उठा और न बढा, अस्थिओं का ढेर हो गया ॥ २९ ॥

आभास – ततो यज् जातं तदाह दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतमिति,

आभासार्थ – उसके पीछे जो हुआ, उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक: – **दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना ।**
गोपाः सुविस्मिता आसन् साधुसाध्वितिवादिनः ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ – बलवान बलभद्रजी से प्रलम्ब (को) मरा हुआ देख, गोप अचंभे में पड़ गए और अच्छा हुआ, अच्छा हुआ यों कहने लगे ॥ ३० ॥

सुबोधिनी – **बलभद्रः** प्रलम्बं मारयतीति नाश्चर्यं यतो बलशाली, तथापि कथं ज्ञातवान् कथं वा शीघ्रमुपायस्फूर्तिः कथं वा सकृत्प्रहारेणैव मृत इति गोपालत्वाद् वा सुष्ठु **विस्मिता** आश्चर्ययुक्ता **आसन्**, **आदौ** चिन्ताकुला जाता इति हननमात्रेणैव **साधुसाध्वितिवादिनो** जाताः ॥ ३० ॥

व्याख्यार्थ – गोपों को आश्चर्य इसलिए नहीं हुआ था कि बलभद्रजी ने प्रलम्ब को मारा है, क्योंकि बलभद्रजी की शक्ति को (वे) जानते थे। किन्तु आश्चर्य इससे हुआ कि, बलभद्रजी ने कैसे पहिचाना कि यह गोप नहीं है और असुर है ? और इसको शीघ्र मारने के ढंग की स्फूर्ति कैसे हुई ? तथा एक ही प्रहार से मर गया इत्यादि कारणों से गोप जाति होने के कारण, विशेष विस्मित हुए। प्रथम, जब वह असुर बलभद्रजी को आकाश में ले जाता था उस समय गोप चिन्तित थे अतः उसके (असुर के) मरने से प्रसन्न हुए, जिससे साधु[५] साधु शब्द का उच्चारण करने लगे ॥ ३० ॥

आभास – ततो देवास्त एव देवभावं प्राप्ता आशिषोऽभिगृणन्तश्च जाताश्चिरञ्जीवास्मान् पालयेत्यादि,

---

१-यकायक। २-बिखर। ३-बेचैनी। ४-लोथ, मरी हुई देह।
५-उचित, मनोहर अथवा अच्छा।

आभासार्थ – वे गोप अन्तः के दोषों के निवृत्त होने से देव भाव को प्राप्त हुए जिससे बलरामजी को आशीर्वाद देने लगे उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – **आशिषोऽभिगृणन्तश्च प्रशशंसुस्तदर्हणम् ।**
प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ – गोप देव भाव को प्राप्त कर बलरामजी को आशीर्वाद देते हुए कहने लगे कि बहुत समय तक जीवन धारण करो और हम लोगों का पालन करो ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी – तस्यार्हणं यथा भवति तथा प्रशशंसुश्च एवं कृत्वा स्तोत्रमपि कृतवन्तः, उत्तमानां हीनानामुत्तमाधमभावौ वा निरूपितौ, समभावकृत्यमाह **प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य** प्रेम्णा **विह्वलचेतसो**ऽपि जाता इति ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ – उनका (बलभद्रजी का) पूजन जिस प्रकार हो वैसे (ही) उनकी स्तुति करने लगे, अर्थात् पूजा करने के अनन्तर स्वयं स्तुति करने लगे । इस प्रकार उत्तम गोपों के उत्तम भाव तथा हीन गोपों के हीन भाव का वर्णन कर शेष आधे श्लोक में कहते हैं कि सम भाव वाले गोपों ने बलभद्रजी का इस प्रकार प्रेम से विह्वल होकर आलिङ्गन किया जैसे मर कर जीता हुआ लौटकर आया हो उसका आलिङ्गन किया जाता है ॥ ३१ ॥

आभास – न केवलं प्रलम्बवधो भूमिष्ठानामेव हितार्थः किन्तु देवानामपीत्याह पाप इति,

आभासार्थ – प्रलम्ब का वध केवल भूमि पर रहने वालों के लिए हितकारी नहीं था, किन्तु देवों के लिए भी लाभकारी था, इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – **पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः ।**
अभ्यवर्षन् बलं माल्यैःशशंसुः साधुसाध्विति ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ – पापी प्रलम्ब के मरने से, देव गण परम प्रसन्न हुए जिससे बलदेवजी के ऊपर पुष्प बरसाने लगे और वाह वाह कह कर प्रशंसा करने लगे ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी – पापरूपेऽस्मिन् निहते देवाः शुद्धसत्त्वात्मकाः **परमनिर्वृता** जाताः कंसादेरपि निर्भयाश्च जाताः अतो **माल्यैर्बलमभ्यवर्षन्** पुष्पवृष्टिं कृतवन्तः, शशंसुः स्तोत्रं च कृतवन्तः **साधुसाध्विति**प्रशंसां कृतवन्तः अन्यथाकाशे गच्छतस्तदारूढेन मारणं स्वरक्षां भावयताशक्यमन्यश्च न तत्र प्रकारोऽतो महासाहसेन कृतमिति **साधुसाध्विति**कथनं, प्रशंसा

देवत्वज्ञापिका पुष्पवृष्टिर्हर्षज्ञापिका दोषापगतिस्तद-भिमानिनामपि सुखदायिनीति ज्ञापितं, एवमन्त:करणदोष: परिहृत:, तैश्चानुमोदितो देवैश्च ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे पञ्चदशाध्यायविवरणम्

व्याख्यार्थ – पापी प्रलम्ब के मरने से शुद्ध सत्व गुण रूप देवगण, कंस आदि दैत्यों के भय से छूटे, अत: परम आनन्द को प्राप्त हुए। उस आनन्द को प्रकट करने के लिए बलरामजी के ऊपर फूल बरसाने लगे तथा उनकी स्तुति करने लगे एवं वाह वाह करते हुए प्रशंसा करने लगे प्रशंसा करने से उनके देवता का ज्ञान होता है, पुष्पों की वर्षा हर्ष बताती है। इससे यह बताया कि दोष दूर होने से उनके (दोषों के) अभिमानी भी सुखी होते हैं। इस लीला से अन्त:करण के दोषों की निवृत्ति की, जिससे गोप (जिनके अन्त:करण के दोष निवृत्त हो गए) तथा देव दोनों ने उसका अनुमोदन किया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध १५ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण का 'श्री' धर्म निरूपक चौथा अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की लीलाओं का अवगाहन निम्नलिखित भक्त शिरोमणि सूरदासजी के पदों से कीजिएगा ।

राग बिलावल

चले सब वृन्दावन समुहाई ।
नन्द भवन सब ग्वालनि टेरत, लावहु गाय फिराई ॥
अति आतुरह्वै फिरे सखा सब, जहँ तहँ आई धाई ।
बूझत ग्वाल बात केहि कारण, बोले कुँवर कन्हाई ॥
सुरभी वृन्द इतही को हांकी, औरनि लेहु बुलाई ।
सूर श्याम यह कही सबनि सों, आपु चले अतुराई ॥

राग धनाश्री

गैयनि घेर सखा सब त्याये ।
देखो कान्ह जात वृन्दावन, यातें मन अति हर्ष बढ़ाये ॥
आपुस में सब करत कुलाहल, धौरी धूमरी धेनु बुलाए ।
सुरभी हांक देत सब जहँ तहँ, टेरि टेरि हेरी सुर गाए ॥
पहुंचे आय विपिन घन वृन्दा, देखत द्रुम दु:ख सबनि गँवाए ।
सूर श्याम गए अघा मारि जब, तादिन ते यहि वन अब आए ॥

राग सारङ्ग

चरावत वृन्दावन हरि धेनु ।
ग्वाल सखा सब संग लगाए, खेलत हैं करि चेनु ॥
कोउ गावत कोउ मुरलि बजावत, कोउ विषान कोउ बेनु ।
कोउ निर्तत कोउ उघटि तारि दै, जुरि व्रज बालक सेनु ॥
त्रिविध पवन जहँ तहँ बहे निश दिन, सुभग कुंज घन ऐनु ।
सूरश्याम निजु धाम बिसारत, आवत यह सुख लेनु ॥

राग धनाश्री

वृन्दावन मोकों अति भावत ।
सुनहु सखा तुब्र सुबला सुदामा वृज तें बन गोचारन आवत ॥
कामधेनु सुर तरु सुख जितने, रमा सहित वैकुण्ठ भुलावत ।
यह वृन्दावन यह जमुना तट, ये सुरभी अति सुखद चरावत ॥
पुनि पुनि कहत श्याम श्री मुख सों, तुम मेरे मन अतिहि सुहावत ।
सूरदास सुनि ग्वाल चकृत भए, यह लीला हरि प्रकट दिखावत ॥

राग बिलावल

ग्वाल सखा कर जोरि कहत हैं, हमहि कान तुम जिनि बिसरावहु ।
जहाँ जहाँ तुम देह धरत हो, तहाँ तहाँ जिन चरण छिड़ावहु ॥
व्रज ते तुमहि कहूँ नहीं प्यारे यहँ पाय मैं हूँ व्रज आवत ।
यह सुख नहि कहुँ भुवन चतुर्दश, यह व्रज में अवतार बतावत ॥
और गोप जे बहुरि चले घर, तिन सो कहि व्रज छाक मंगावत ।
सूरदास प्रभु गुप्त बात सब, ग्वालन सों कहि कहि सुख पावत ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः (पूर्वार्धः)

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

'पञ्चमो ऽध्यायः'

श्री सुबोधिनी अनुसार १६वां अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार १९वां अध्याय

कारिका – **अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दवाग्निस्तन्निवारणम् ।**
षोडशे प्रोच्यते सम्यङ्निरोधः सेत्स्यते ततः ॥ १ ॥

कारिकार्थ – आत्मा का अज्ञान है, वह दोषरूप है, उस आत्म अज्ञान रूप दोष का दावाग्नि प्रकट रूप है, अतः इसको नाश करना चाहिए, जिसका वर्णन १६ वें अध्याय में करते हैं जिससे निरोध सिद्ध होगा ॥ १ ॥

व्याख्या – पञ्च पर्व रूप अविद्या का एक पर्व, स्वरूप का अज्ञान है, जिसका प्रकट रूप दावाग्नि है, उसके नाश के अनन्तर ही, निरोध सिद्ध हुआ । निरोध सिद्धि से, व्रज भक्तों को यह ज्ञान हो गया, कि भगवान् की लीला में उपयोगी श्रवण तथा आचरण करना चाहिए तथा विपरीत का त्याग

करना चाहिए एवं दोष दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। दावाग्नि के† (स्वरूप विस्मृति रूप अज्ञान के) नाश के अनन्तर ही, गोपों को भगवान् तथा बलदेवजी के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हुआ।

अविद्या के पंच पर्व रूप दोषों के स्वरूप धेनुकादि दैत्यों का नाश, भगवान् ने इस दशम स्कन्ध में किया है, जिससे निरोध सिद्ध हुवा है, अत: यह लीला निरोध का अंग होने से दशम स्कन्ध में कही गई है इसलिए इस कारिका द्वारा स्कन्धार्थ की संगति कही गई है ॥ १ ॥

कारिका – **ततो दासैर्मुदा लीला स्वच्छन्दाग्रे भविष्यति ।**
स्त्रीणां चैव मन:प्रीतिस्तदासक्ति: फलिष्यति ॥ २ ॥

कारिकार्थ – पश्चात् (निरोध होने के अनन्तर) जब दासों के साथ स्वच्छन्द लीला होगी, तथा स्त्रियों के मन की प्रीति भी होगी, तब भगवान् में हुई आसक्ति फलीभूत होगी ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ – साधारणत: सिद्ध निरोध का भी, मुख्य लीला में जो उपयोग होगा, उसका निरूपण इस उपरोक्त कारिका से किया है। यह (निरोध) आसक्ति रूप निरोध होने से, दास (गोप) भी स्वच्छन्दलीला भगवान् के साथ करेंगे तथा स्त्रियों की भी प्रेमपूर्वक आसक्ति होगी। १७ वें व १८ वें अध्यायों की लीला निरोध सिद्ध होने के पीछे हुई है जिसमें गोपों के साथ की हुई लीला का वर्णन १७ वें अध्याय में और स्त्री जनों में वेणुनाद द्वारा उत्पन्न प्रेम से जो लीला हुई, जिसका वर्णन १८ वें अध्याय में है। इस प्रकार गोप तथा स्त्री भक्तों से की हुई लीला का वर्णन किया है ॥ २ ॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक: – **क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणी: ।**
स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम् ॥ १ ॥

श्लोकार्थ – श्री शुकदेवजी ने कहा कि जब गोप खेलने में आसक्त हो गए तब

---

† 'स्वरूप विस्मृति' दोष ने, जीव को अपने स्वरूप (मैं भगवान् का अंश हूँ जिससे भगवान् से अन्य वस्तु (देहादि) नहीं हूँ) और भगवान् अंशी होने से, पूर्ण सर्वज्ञ, सर्व शक्ति युक्त है, इस प्रकार के भगवत्स्वरूप का तथा वह कृष्ण भगवान् है, इस प्रकार का ज्ञान, गोपों को अविद्या के कारण नहीं रहा, यह जीव दोष है, उस स्वरूप विस्मृति रूप अज्ञान (दोष) का स्वरूप दावाग्नि है, जिसका नाश जब भगवान् ने किया, तब गोपादिकों को, यह ज्ञान हुवा, कि हम भगवान् के अंश हैं और वह अंशी भगवान् श्रीकृष्ण ही है। बलरामजी भी उनकी क्रियाशक्ति रूप है, अत: दोनों हमारे देव हैं।

उनकी गौ, स्वेच्छापूर्वक चरती चरती तृण के लोभ से गह्वर (सघन) बन में चली गई ॥ १ ॥

सुबोधिनी — एवं प्रलम्ववधप्रसङ्गेन क्रीडासक्तानां गोपानां विस्मृतपशुधनानां सम्बन्धिन्यो गावो यत:कुतश्चिद् गता:, अन्त:करणदोषे परिह्रियमाणे जीवस्यासदवस्था भवतीत्यज्ञानं बलिष्ठमिव भवति, उपाधेर्देहस्यासदर्थनिवेशात् तत्प्रसङ्ग आत्मापि तद्दोषसहितो भवति तदा गवां दाहे गोपाला अपि दग्धा उच्यन्ते, एवं **सर्वनाशे समुपस्थिते हरिरेव रक्षक:, तदुपेक्षायां तु सर्वनाश एव भवेत्, शरणागतौ च रक्षा,** अत: **सर्वोपाधिविनिर्मुक्तोऽपि हरिं शरणमाव्रजे**दिति, **क्रीडायामासक्तेषु गोपेषु** सत्सु तत्सम्बन्धिन्यो **गावो** रक्षकाभावाद् **दूरचारिण्यो** जाता:, तत: **स्वैरं चरन्त्य-स्तृणलोभेन** गह्वरमत्यगम्यस्थानं **विविशु:, एवमेव देह उपेक्षितोऽत्यशक्यस्थाने विशेत्** ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ — प्रलम्ब के वध से निर्भय गोप क्रीड़ा में आसक्त हो गए, जिससे, उनका गौधन, जहाँ तहां चला गया जिसका इनको ज्ञान भी नहीं रहा । इसलिए नहीं रहा, कि जब अन्त:करण का दोष नाश हो जाता है, तब लौकिक विषय का अज्ञान सा रहता है, क्योंकि दोष निवृत्ति से उस जीव की मुक्त सम अवस्था हो जाती है, अत: पशुधन का ध्यान गोपों को नहीं रहा किन्तु जब तक पूर्ण निरोध, वा मुक्त अवस्था नहीं होती है तथा देह की उपाधि लगी हुई है, जिससे असत् अर्थ में प्रवेश होता है, असत् अर्थ में प्रवेश होने से, आत्मा, जीव भी उस दोष वाला (असत् में प्रवेश वाला) होता है । तब गौओं† के दाह होने पर गोप (जीव) भी दग्ध हुए कहे जाते हैं । तात्पर्य यह है, कि जीव भी देह की उपाधि के दोषों से, स्वयं दोषी कहा जाता है अथवा स्वयं यों मानता है । इस प्रकार, जब सर्व नाश होने लगता है, तब हरि ही रक्षक हैं । यदि हरि की उपेक्षा[1] की जावे तो सर्व नाश हो जाय । भगवान् की शरण लेने से ही सर्व की रक्षा हो जाती है । अत: जो सर्व उपाधि से छूट गया है उसको भी भगवान् की शरण लेनी चाहिए ।

गोप क्रीड़ा में आसक्त हो गए जिससे गौओं का पालक कोई भी न रहने से गौ दूर चली गई। स्वच्छन्द होने से तृणों के लोभ के लिए जाने के योग्य नहीं वैसे स्थान में पहुँच गई । इस प्रकार देह की भी यदि उपेक्षा की जाय तो वह भी अशक्य स्थान में प्रवेश करे ॥ १ ॥

श्लोक: — **अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद् वनम् ।**
इषीकाटवीं विविशु:क्रन्दन्त्यो दावतर्षिता: ॥ २ ॥

श्लोकार्थ — अजा,[2] गौ, महिषी[3] ये सब बन की जाती हुई दाव[4] से प्यासी हो

†गौ का तात्पर्य यहाँ देह है । 'प्रकाश'

१-त्याग । २-बकरियें । ३-भैंस । ४-ताप ।

गई, जिससे रंभाती हुई मुञ्जारण्य में चली गई ॥ २ ॥

सुबोधिनी — देहानां त्रैविध्यमिव वक्तुं तस्मिन् दिवसे **अजा राजस्यो गावः** सात्त्विक्यो **महिष्यस्तामस्यश्च** पूर्व धर्मरक्षायां निरूपितत्वान् नः राजसतामसानां निरूपणं, **च**कारादन्ये हरिणादयश्च लीलार्थं गृहीताः श्वानो वा, एकं **वनं** परित्यज्य वनान्तरं नितरां **विविशुः**, पूर्वोक्तवने हि देवतासान्निध्यं निरुपद्रवंश्च, अतस्तद् **वनं** परित्यज्य **वनान्तरं** गताः, तत्रापि रक्षकाभावादिषीका**टवीं विविशुर्**यत्र प्रवेशनिर्गमौ कठिनौ, ते हि वर्षवृद्धा आसन्नमरणाःस्वयमेव म्रियमाणाः कथमन्यरक्षां कुर्युः ? तत्र प्रविष्टाः **क्रन्दन्त्यो** जाता औष्ण्येन च कृत्वा **तर्षितास्**तृषायुक्ताश्च जाताः, एवं गवां स्वतः स्वसम्बन्धाभावोऽनिष्टसम्बन्धश्च कथितः ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ — जैसे देह सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की है, वैसे ही, ये गौ भी तीन प्रकार की थीं, इसलिए श्लोक में, राजस गौओं को 'अजा', सात्विक गौओं को 'गावः' और तामस गौओं को 'महिष्य' कहा गया है। पूर्व प्रकरण में, केवल गोपों का धर्म, गौ रक्षा है, इतना ही वर्णन करना था, अतः गौ कितने प्रकार की थीं, उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं थी। इसलिए वहाँ तीन प्रकार की गौ हैं यह वर्णन नहीं किया गया। मूल श्लोक में 'च' शब्द इसीलिए दिया है, कि उस समय लीला के लिए हरिण वा श्वान आदि पशु भी साथ में लिए थे। जिस वन में देवता का सान्निध्य था और किसी प्रकार का उपद्रव नहीं था, उस वन का त्याग कर वैसे (मुंजारण्य) में जा पहुँचे, जहाँ कोई रक्षक नहीं था और जिससे आना जाना भी कठिन है वहाँ जाने के अनन्तर देखा कि वर्ष की वृद्ध (एक साल की सूखी हुई) मूंज जो स्वयं मरणासन्न[1] हो गई वह हमारी रक्षा कैसे कर सकेगी, अतः वे रोती हुई पुकारने लगी,[2] तथा धूप के कारण प्यास से व्याकुल होने लगी। इस प्रकार गायों ने आप ही अपने पालक गोपों का सम्बन्ध गँवाया और अनिष्ट से सम्बन्ध किया ॥ २ ॥

आभास — तादृशीषु निवृत्तान्तःकरणदोषाणां स्मृतिमाह तेऽपश्यन्त इति,

आभासार्थ — जिनके अन्तःकरण का दोष नाश हो गया है उनको (गोपों को) गौओं की स्मृति हुई, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

श्लोकः — **तेऽपश्यन्तः पशून् गोपाः कृष्णरामादयस्तदा ।**
जातानुतापा न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम् ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ — वे, कृष्ण, राम आदि गोप पशुओं को न देखकर पछताते हुए दुःखी हो गए, गायों को बहुत कुछ ढूँढा परन्तु पता न लगा ॥ ३ ॥

सुबोधिनी – ते गोपालाः पशूनपश्यन्तः कृष्णरामादयो गतस्थानपरिज्ञानार्थं भगवत्प्रधानाः सन्तो मार्गमन्वगमन्नित्यग्रेण **सम्बन्धः**, प्रथमं तदा क्रीडाव्यवहित- दशायां स्मरणानन्तरं **जातानुतापा** जाताः, कृतापि लीलाऽकृता भाविता, अत एव **न विदुर्गवां गतिं विचिन्वन्तोऽपि, धर्मपरिपालने तु गाव एव मुख्याः** ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ – जब गोपों ने गोधन को नहीं देखा, तब जहाँ वे चली गई हैं, उस स्थान का ज्ञान करने के[1] लिए राम कृष्ण को अपना मुख्य नायक बनाकर, उस रास्ते से जाने लगे। (रास्ते से जाने लगे यह ४थे श्लोक में है उससे इसका सम्बन्ध है।) पहले जब क्रीड़ा से विरक्त हुए[2] तब पशुओं का स्मरण÷ हुआ उनको न देखकर पछताने लगे, कि यह जो लीला (क्रीड़ा) की, वह न करने के बराबर है, कारण कि, इससे उत्पन्न आनन्द नष्ट हो गया। अतः गौओं के जाने के स्थान की गति[3] न हुई। गौओं के स्थान जानने का प्रयत्न इसीलिए किया कि धर्म की पालना करने में गौ ज़ाति मुख्य है ॥ ३ ॥

आभास – ततोऽनुमानेन ज्ञातवन्त इत्याह तृणैरिति,

आभासार्थ – इसके अनन्तर, अनुमान से स्थान को जान लिया। जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम् ।**
मार्गमन्वगमन् सर्वे नष्टाजीव्या विचेतसः ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ – आजीविका के साधन नष्ट हो जाने, से चेतन[4] रहित हो गए। परन्तु गायों के खुरों से तथा दाँतों से कटी हुई घास देखते हुए गायों के खुरों के चिन्ह वाले मार्ग पर जाने लगे ॥ ४ ॥

सुबोधिनी – तासां गवां **खुरैः** दद्भिश्च **छिन्नैस्तृणैः**कृत्वा मार्गमन्वगमन्, आरण्यवैलक्षण्यं खुरैर्ज्ञातं रदच्छेदेन सामान्यतो ज्ञातं, अतः सामान्यविशेषज्ञापकै**स्तृणैर्गवां** सम्बन्धिभि**र्गोष्प**-दैश्चा**ङ्कितै**श्चिह्नितैस्तृणैरेव, त्रिविधानि तृणानि जातानि

÷अन्तःकरण का स्वरूप विस्मृति दोष पूर्ण रीति से जब तक नष्ट नहीं होता है, तब तक अल्प दोष भी पुनः उद्भूत[5] हो जाते हैं। गोपों को इसीलिए पुनः गौओं की स्मृति आदि लौकिक ज्ञान उदय हो गया।

१-जानने के। २-छूटे। ३-जिस स्थान पर वे गई थी उसका ज्ञान। ४-विवेक, समझ। ५-प्रकट।

मूलतश्छिन्नानि मध्यतश्छिन्नानि पीडितानि च गोमयखुरघातैः, अतस्त्रिविधानामपि ज्ञापकत्वान् नात्र भ्रमशङ्का, ततः **सर्व एव मार्गमन्वगमन्** गवां मार्गेण गताः, यतः सर्व एव **नष्टाजीव्याः**, ननु चेतना अचेतनप्रायाणां मार्गे कथं गताः ? तत्राह **विचेतस** इति, विवेकरहिता व्याकुला वा ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ – उस मार्ग से जाने लगे, जिसमें देखा, कि यहाँ का यह घास गौओं ने अपने खुरों से और दान्तों से काटा है, अतः इस मार्ग से गौ गई हैं आगे जाने से मिल जाएगी । गौओं के खुरों से यह जान लिया, कि इस वन को छोड़कर दूसरे वन में, इस मार्ग से गई हैं और दान्तों से कटी हुई घास से, सामान्य रीति से, यह पहचान लिया, कि गौ इस रास्ते से किस प्रकार कहां कहां गई हैं । गौओं के जाने से, उस मार्ग के तृण तीन प्रकार के हो गए थे । १-जड़ से कटे हुए तृण, २-बीच से टूटे हुए और ३-गोबर तथा खुरों के घात[1] से पीड़ित तृण । इन तीन प्रकार के तृणों से यह निश्चय हो गया कि, गौ यहाँ से ही गई हैं इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं है । ऐसा निश्चय होने से, सब उसी मार्ग से जाने लगे । सब इसी एक ही मार्ग से, इसलिए जाने लगे कि, जो सबों की आजीविका का आश्रय गौ थीं, उनके जाने से, सब आजीविका विहीन हो गए थे ।

गोप चेतन थे, वे अचेतन[2] पशुओं के मार्ग पर कैसे गए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि, आजीविका जाने से व्याकुल तथा विवेक रहित हो गए थे ॥ ४ ॥

आभास – ततः प्राप्य न्यवर्तन्तेत्याह,

आभासार्थ – वहाँ पहुंच कर गोधन लेकर पीछे लौटकर आए जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – **मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं च गोधनम् ।**
सम्प्राप्य तृषिताः श्रान्तास्ततस्ते सन्न्यवर्तयन् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ – मूंज के वन में भूले हुए, पुकारते हुए, अपने गोधन को प्राप्त कर, प्यासे तथा थंके हुए गोपों ने उसको चारों ओर से घेर कर पीछे लौटाया ॥ ५ ॥

सुबोधिनी – **मुञ्जाटव्यामिति**, यदि मध्ये मुञ्जाटवी न स्यादग्रेऽपि गच्छेयुः, अतो **मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गा** अत एव **क्रन्दमाना** इति कर्तव्यतामौढ्यात् सुतरां मुञ्जस्पर्शेण सुदुःखिता गावो जाताः, ततस्तादृशं **गोधनं सम्प्राप्य** स्वयमपि **तृषिताः श्रान्ताः** गोभिः समानधर्माः क्षणं विश्रम्य तृषां दूरीकृत्य **ततस्तदनन्तरं सम्यङ् न्यवर्तयन्** निवर्तितवन्तः ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ – वह गौधन, यदि मध्य में मूँज का वन न आता तो, इससे भी आगे जाता, किन्तु मूँज के बन में ही भूल जाने से, कर्तव्य विमूढ[1] हो गए। मूँज के स्पर्श से, दुःखित होने के कारण, पुकारने लगे। गोप इसी प्रकार के गोधन को प्राप्त कर स्वयं भी प्यासे और श्रमित हो गए[2]। इनकी दशा भी गौओं के समान हो गई। प्यास मिटा के थोड़ा समय विश्राम कर (थकावट दूर कर) पीछे भली भांति उनको लेकर लौटे ॥ ५ ॥

आभास – सर्वे निवर्तिता न निवर्तिता इति सन्देहे भगवता सामान्यतो विशेषतश्च वनमध्यं प्रविष्टास्ता आहूताः,

आभासार्थ – सर्व गौ लौटकर आईं अथवा कोई रह गई, इस सन्देह को दूर करने के लिए, भगवान् ने सामान्य तथा विशेष रीति से ध्वनिकर[3] उनको बुलाया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा ।**
स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ – मेघ जैसी गम्भीर वाणी से, जब भगवान् ने उनको बुलाया, तब वे गौ, अपने नाम की ध्वनि सुनकर, प्रसन्न होकर, पीछे आप भी नाद करने लगीं ॥ ६ ॥

सुबोधिनी – शब्दैनैव तासामन्तस्तापबहिस्तापौ गताविति ज्ञापयति **मेघगम्भीरयेति**, ततो गततापाः **स्वानाम्नां निनदं** शब्दं **श्रुत्वा प्रतिनेदुः**, तत्रैव स्थित्वा प्रतिशब्दं कृतवत्यः **प्रहर्षिताश्च** जाताः, निकटे समागताश्चेति ज्ञातव्यं, असमागताश्च काश्चन ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ – बन से सब आ गईं हैं अथवा कोई रह गई हैं इसलिए भगवान् ने मेघ के समान ध्वनि से प्रत्येक का नाम लेकर उनको बुलाया। भगवान् के उस शब्द सुनने से, उनके बाहर और भीतर के दोनों ताप मिट गए। ताप मिट जाने से, अपने नाम सुनकर, वहाँ ही खड़ी रहकर, आप भी ध्वनि करने लगीं और बहुत प्रसन्न हुई और भगवान् के पास आ गई, कोई नहीं भी आई ॥ ६ ॥

आभास – एतस्मिन्नवसरे दैत्याभिमानिनी देवतोपासिता लौकिक्यश्चान्तःकरणदेवताः क्रुद्धा एकीभूय दवानलरूपा जाताः स दवानलस्तस्मिन्नवसरे पलायनासमर्थे समन्तात् प्रादुर्भूतो जात इत्याह तत इति,

---

१–अब हम क्या करें यह विचार न कर सके। २–थक गए। ३–नाम लेकर।

आभासार्थ – उसी, समय, प्रलम्ब दैत्य के अभिमान रूप देवता, तथा उससे (प्रलम्ब से) उपासना किए हुए देवता, एवं अन्तःकरण के अभिमान रूप तथा दोष रूप देवता, इन चार प्रकार के देवताओं ने मिल कर, दावाग्नि का रूप धारण किया । उस दावाग्नि ने मूँज से पीड़ित होने के कारण, भाग जाने में असमर्थ गौ आदि को, चारों ओर से घेर लिया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं–

श्लोकः – **ततः समन्ताद् वनधूमकेतुर्यदृच्छयाभूत् क्षयकृद् वनौकसाम् ।**
समीरितः सारथिनोल्बणोन्मुकैर्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान् महान् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ – पश्चात्, यदृच्छा[१] से चारों ओर बनवासियों का नाश करने वाली बड़ी दावानल उत्पन्न हो गई, उसके सहायक मित्र सारथी ने (वायु ने) उस (अग्नि) को विशेष बढाया जिससे वह महती अग्नि तेज ज्वालाओं से स्थावर तथा जंगम पदार्थों को चाटने लगी अर्थात् भस्म करने लगी ॥ ७ ॥

सुबोधिनी – वनसम्बन्धी **धूमकेतुरग्निरनिष्टहेतुरिति धूमकेतुपदेनोक्तस्तेषां** माहात्म्यज्ञापनार्थं **यदृच्छयैवाभूदकस्मात्** कालकर्मस्वभावभगवदिच्छाभिर्वा, उद्भवे हेतुमाह **क्षयकृद् वनौकसामिति**, वनसम्बन्धमात्रेणैव सोऽग्निः पीडयति, सुतरामेव वने स्थानं येषां, तादृशस्य सहायोऽप्यन्यो जात इत्याह, **समीरितः** सारथिनेति, **वायुरग्नेः सारथी रथप्रवर्तकः, रथो** ज्वाला, अत एवोल्**बणोन्मुकैर्विलेलिहानो** जातः, सर्प इव ग्रसन्नागतस्ततो बहुभक्षणेन पुष्टःसन् महाञ् जातः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ – मूल श्लोक में अग्नि के लिए 'धूमकेतु' नाम देने से यह बताया है, कि यह अग्नि अनिष्ट[२] का कारण है तथा इस अग्नि का माहात्म्य दिखाने के लिए कहा, कि यह अग्नि किसी की उत्पन्न की हुई नहीं है, किन्तु यह अपनी इच्छा से अचानक स्वयं प्रकट हुई है, अथवा काल, कर्म, स्वभाव वा भगवदिच्छा से उद्भूत[३] हुई है । उत्पन्न होने के कारण बताने के लिए कहते हैं, कि वन में रहने वालों का क्षय करने के लिए प्रकट हुई है । यह अग्नि वन की सदा सम्बन्धिनी है, अतः जो अन्य, वन से सम्बन्ध करते हैं, उनको पीड़ा करती है, अर्थात् अन्य का वन से सम्बन्ध हो वह मानो इसको सहन नहीं कर सकती है । उस अग्नि को, तेज करने वाला अन्य भी सहायक मिल गया । वह है वायु । वायु को शास्त्रों में अग्नि का सारथी[४] कहा गया है । अग्नि का रथ अग्नि की ज्वालाएं हैं, उनको वह (वायु) तेज कर, आगे बढाता[५] है, इसलिए मूल में, तेज ज्वालाओं से काटने लगी जैसे सर्प

१-अपनी इच्छा अचानक । २-दुःख । ३-पैदा । ४-रथ चलाने वाला साथी ।
५-चलाता ।

समीप में आए हुए को ग्रसता[१] है, जिससे वह पुष्ट होता है वैसे ही वह अग्नि भी इस प्रकार करने से महान् हुई ॥ ७ ॥

आभास — तादृशो भगवदीयानामपि स्थाने समागत इत्याह तमापतन्तमिति,

आभासार्थ — इस प्रकार की वह दावाग्नि, जहाँ भगवदीय (गोप, गौ) बैठे थे, वहाँ भी आई। जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — **तमापतन्तं परितो दवाग्निं गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य भीताः ।**
ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ — चारों ओर से आती हुई, उस दावाग्नि को देख गौ और गोप भयभीत हो गए, जिससे बलराम तथा श्रीकृष्ण की शरण जाकर उनको कहने लगे ॥ ८ ॥

सुबोधिनी — परित **आपतन्तम्**उपर्यागच्छन्तं **दवाग्नि**मपरिहार्यं सहजदोषरूपं **गोपाः** प्रतिक्रियानभिज्ञा **गावश्च**मूढाःप्रकर्षेण **समीक्ष्य भीता** जाताः, ततो ज्ञातभगवन्माहात्म्या भगवन्तं प्रार्थितवन्त इत्याहो**चुश्चे**ति, **बल**भद्रसहितमिति प्रकृतोपयोगात् क्रियाशक्तिसाहित्यमुक्तं, **कृष्णं** सदानन्दं प्रकृते लीलाकर्तारं शरणा**पन्नाः** सन्त **ऊचुः**, तत्र दैन्यार्थं दृष्टान्तमाह **यथा हरि**मिति, **मृत्युभये**नाप्रतीकार्येणा**र्दितो यथा** कश्चित् कृतपुण्यपुञ्जो जनो गजेन्द्र इव **हरिं** शरणं गच्छति तथात्यन्तं दीनाः सर्व एव शरणं गताः ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ — अपरिहार्य[२] अग्नि को अपने ऊपर आती हुई देख गोप (उस अग्नि के मिटाने के उपाय को न जानने वाले थे) और गौ (पशु-मूढ थीं) इसलिए उस (अग्नि) को देख डर गए। पश्चात् भगवान् के माहात्म्य को जानते थे अतः उनके शरण गए तथा प्रार्थना करने लगे। क्रियाशक्ति रूप बलभद्र एवं सदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण हैं, अतः इस कार्य में वे हमारी अवश्य सहायता करेंगे, यों समझ प्रार्थना की। क्योंकि, श्रीकृष्ण सदानन्द स्वरूप होते हुए भी अब लीला करने के लिए प्रकट हुए हैं। इस प्रकार, बलरामजी भी क्रियार्थ प्रकट हुए हैं, इसलिए शरण जा कर प्रार्थना करने से, हमारा यह सङ्कट वैसे ही मिटाएँगे, जैसे गजेन्द्र का मिटाया था अतः गजेन्द्र की तरह अत्यन्त दीन होकर शरण गए ॥ ८ ॥

१-नाश करता। २-जिसको रोक न सके।

कारिका — **प्रार्थनामुपपत्तिं च क्रमेणाह निराकृतौ ॥ १/२ ॥**

कारिकार्थ — निवारण* के लिए प्रार्थना तथा उपपत्ति† को क्रम पूर्वक कहते हैं।

आभास — तेषां विज्ञापनामाह कृष्णकृष्णेतिद्वाभ्यां,

आभासार्थ — निम्न दो श्लोकों से प्रार्थना करते हैं।

श्लोकः — **कृष्ण कृष्ण महावीर्य हे रामामितविक्रम ।**
दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ — महान् पराक्रम वाले हे कृष्ण, हे कृष्ण ! अनन्त पराक्रम वाले हे राम ! दावानल से जलते हुए हम, जो आपके शरणागत हुए हैं उनकी रक्षा कीजिए ॥ ९ ॥

सुबोधिनी — कृष्णकृष्णेतिसम्बोधनमादरेण वैकल्याच्च **महावीर्ये**ति प्रकृतोपयोगिसामर्थ्यं, द्विविधा हि त इति राममप्याहुः परं न द्विरुक्तिः, प्रलम्बादिवधात् प्रकृतोपयोगि सामर्थ्यममितविक्रमेतिसम्बोधनेनोक्तं, विज्ञापनामाहुर्**दावाग्निना दह्यमाना**निति, रक्षायां हेतुः **प्रपन्ना**निति, **समर्थ एव प्रपन्नरक्षायामधिकारी अतस्त्रातुमर्हथः** ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् को कृष्ण ! कृष्ण ! यह सम्बोधन देने का अर्थात् दो वार कहने का भाव यह है कि एक तो श्रीकृष्ण के लिए आदर प्रकट किया है और दूसरा अपनी विकलता[१] बताई है तथा महान् पराक्रम वाले हो इस विशेषण देने से प्रकृत कार्य (दावानल से बचाने) में आप समर्थ हो यह बताया है। इसी प्रकार गोपों ने राम को अनन्त पराक्रम वाला कह कर दावाग्नि से बचाने की प्रार्थना की है किन्तु गोप दो प्रकार‡ के थे इसलिए 'राम' यह सम्बोधन दो वार नहीं कहा। विशेष

---

*दावाग्नि से प्राप्त भय के निवारण (मिटाने) के लिए।

†हेतु देकर कार्य सिद्ध का उपाय बताना।

‡साधारण गोप श्रीकृष्ण व बलराम को समान मानते थे, असाधारण श्रीकृष्ण को विशेष मानते थे, वा उनको पूर्णरूप से मानते थे। 'प्रकाश'

१-घबराहट।

से, यह बता दिया कि आपने अभी प्रलम्ब को मारा है अतः इस दावाग्नि से भी रक्षा करने में शक्तिमान हो। हम आपकी शरण आए हैं जो समर्थ होता है, वह शरणागत की रक्षा करता है, क्योंकि उसको वैसा करने का अधिकार है। इसलिए आप दोनों हमारी रक्षा करने के लिए योग्य हैं ॥ ९ ॥

आभास – एवं मर्यादाविचारेणापि स्वरक्षाया आवश्यकत्वं निरूप्य पुष्टिमार्गेणापि स्वरक्षायास्तथात्वमाहुर्नूनमिति,

आभासार्थ – उपर्युक्त श्लोक में, मर्यादा के विचार से, अपनी रक्षा की आवश्यकता निरूपण कर, अब पुष्टि मार्ग से, अपनी रक्षा करानी आवश्यक है अथवा आपकी स्थिति (पद) से, तथा हमारी स्थिति (दशा) से भी हमारी रक्षा आवश्यक है जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम् ।**
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः ॥ १० ॥

श्लोकार्थ – हे कृष्ण ! निश्चय से हम आपके बान्धव हैं, अतः हम दुःखी होवें, यह योग्य नहीं है। हे सर्व धर्मों को जानने वाले ! हम सब के आप नाथ हैं और आप ही शरण्य हैं ॥ १० ॥

सुबोधिनी – भगवद्विचारेणोक्त्वा स्वविचारेणाहुर्वा **कृष्णेति. सदानन्दसम्बोधनं सेवकानां दुःखित्वा-नौचित्याय, त्वद्बान्धवास्त्वमेव बन्धुर्येषां** बन्धुत्वसम्बन्ध-ज्ञानवन्तस्तेऽवसीदितुमवसादं प्राप्तुं **नार्हन्ति,** चकारादल्पमपि खेदं प्राप्तुं **नार्हन्त्येव. अवसादितुमिति वा पाठः,** एवकारेण कादाचित्कोऽप्यवसादो निषिद्धः, भगवद्बान्धवत्वं समर्थयन्ति **वयं** हीति. **धर्मा अनेकविधा लौकिकवैदिकानन्त-प्रकारभिन्नाः** सर्वे त्वयैव ज्ञायन्ते तेषां बाध्यबाधकता च, अतो येनकेनापि प्रकारेणास्मत्प्रपत्तिः क्वचिद्धर्मे प्रवेशमर्हति, अन्यथा **वयं** कथं **त्वन्नाथास्त्वमेव** नाथो येषां तादृशा भवेम ? **न हि धर्मव्यतिरेकेण विशेषाकारेण त्वं नाथो भवसि,** किञ्च वयं **त्वत्परायणास्त्वमेव** परमयनं स्थानं येषां, **नाथत्वेऽपि तदेकनिष्ठतातिदुर्लभा** यथा गावस्त्वन्नाथास्त्वन्निष्ठाः, वयं तूभयविधाः, गवां वा वचनमाद्यं गोपानामग्रिमम् ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् को कृष्ण नाम कह कर, यह बताया है कि सदानन्द स्वरूप है अतः आप (सदानन्द स्वरूप) के सेवक (हम) दुःखी, यह उचित नहीं है तथा हम आपके बान्धव हैं, इससे भी हम दुःखी होने योग्य नहीं हैं। 'च' शब्द से यह बताया है कि थोड़ा सा भी दुःख हम (आपके सेवक तथा बान्धव होने से) सहन करने योग्य नहीं हैं। **'एवं'** शब्द से यह भी कह दिया कि, किसी भी समय, हमको दुःख नहीं होना चाहिए। आप हमारे बान्धव हैं, इसको हेतु देकर सिद्ध करते हैं। लौकिक, वैदिक अनन्त प्रकार के जो धर्म हैं, वे भिन्न भिन्न हैं, उनको आप ही जानते हैं। तथा कौन सा धर्म किस धर्म को बाध करता है और कौनसे धर्मों का अन्य धर्म से बाध होता है इसको भी आप

जानते हैं । अत: चाहे किसी भी प्रकार से हम आपके शरण आए हैं, उस शरणागति की किसी भी धर्म में गणना होनी चाहिए यदि नहीं गणना होती है तो आप ही हमारे नाथ हैं यह कैसे सिद्ध होगा ? धर्म के अतिरिक्त विशेष प्रकार से आप नाथ नहीं हो सकते हैं और वह विशेष यह है कि हमारे परम स्थान आप ही हैं । नाथ मानने पर भी एक निष्ठता[१] अतीव दुर्लभ[२] है । ‡जैसे आप गायों के नाथ हो और हमारे तो नाथ और आधार भी आप ही हो क्योंकि हम 'त्वन्नाथ' भी हैं और 'त्वत्परायण:' भी । अथवा गाएं भगवान् को अपने नाथ के रूप में प्रार्थना कर रही है और गोप अपने आधार-स्थान के रूप में ॥ १० ॥

आभास – भगवांस्तु तेषां प्रार्थितं कृतवानित्याह वचो निशम्येति,

आभासार्थ – गोपों ने, जो अपनी रक्षा के लिए बलरामजी तथा श्रीकृष्ण को प्रार्थना की है, उसको सुन कर, भगवान् (श्रीकृष्ण) ने तो उनकी प्रार्थना के अनुसार उनका भय मिटाते हुए उनकी रक्षा की- बलरामजी शान्त रहे जिसका वर्णन इन निम्न दो श्लोकों से करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक: – **वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः ।**
निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ – श्री शुकदेवजी कहने लगे कि-भगवान् हरि बान्धवों के वैसे दीन वचन सुनकर, बोले कि हे गोपों ! बान्धवों ! मत डरो ! आँखें बन्द करो ॥ ११ ॥

सुबोधिनी – **कृपणं** दीनतरं **बन्धूनामु**भयविधानां **भगवानु**पायाभिज्ञ: समर्थश्च हरि: सर्वदु:खहर्ता स्वाभाविकोऽयं धर्मो **देवगुह्यं भगवत्कर्माज्ञानां भयजनकं** च, रात्रौ तु सम्यग्दर्शनाभावात्र चक्षुर्निमीलनोपदेशो ज्ञानशक्तिप्राकट्या- देवैतज् जातं, अज्ञाने तु हितमेवैतद् भवेद् यथाग्नौ पतङ्गा: पतन्ति, अन्यत्र वैते नेया:, तथाप्येतेषां भयं स्यात्, अत: सर्वप्रकारेण भयाभावायाह **निमीलयते**ति, चक्षुर्निमीलनं कुरुत, न च शङ्कनीयमग्निर्धक्ष्यतीत्यत आह **मा** भैष्टेति, अग्निभयं न कर्तव्यम् ॥ ११ ॥

‡यहाँ मूल में 'यथागावस्त्वन्नाथास्त्वन्निष्ठा' कहकर 'वयं तु भयविद्या' कहा है अत: स्पष्ट नहीं होता है कि आशय क्या है । अनुवाद 'यथागावस्त्वन्नाथा:' और 'त्वन्निष्ठा: वयं तूभयविद्या:' यों 'तु' के स्वारस्यानुरोध से किया है। **'अनुवादक'**

१-अनन्य भक्ति । २-महा कठिन ।

व्याख्यार्थ – भगवान् जिनके नाथ और आधार हैं, उन गोप बान्धवों का तथा जिन गौओं के आप नाथ हैं उनका इस प्रकार दोनों प्रकार के बन्दुओं के दीन वचन सुनकर, सब के दुःखों को मिटाना, जिनका स्वाभाविक धर्म है तथा दुःख हरण के उपाय जानने वाला और सर्व समर्थ हरि भगवान् ने दुःख मिटाना आवश्यक समझा, आप अपना कर्म (लीला) देवताओं से गुप्त रखते हैं और आपके कर्म से अज्ञ डर जाते हैं, अतः भगवान् ने इन दोनों (देव रूप गोप जाने नहीं और अज्ञ डरे नहीं) कार्यों की सिद्धि, के लिए गोपों को आज्ञा दी कि अपने नेत्र मूँदलो । पहली दावाग्नि हुई, तब नेत्र बंद नहीं करवाये, जिसका कारण यह था, कि उस समय रात्रि थी जिससे वे पूरी तरह देख नहीं सकते थे । अब गोपों में ज्ञान शक्ति प्रकट हो गई है, जिससे वे डर गए थे, यदि ज्ञान शक्ति प्रकट न हुई होती तो अज्ञान की अवस्था में, अग्नि को मित्र समझ, पतङ्ग की तरह अग्नि में पड़ जाते, इनको अन्य स्थान पर ले जाने से भी भय तो बना रहता, अतः सर्व प्रकार से, भय का अभाव हो इसलिए आज्ञा दी, कि नेत्र मूँद लो । नेत्र मूँदने पर अन्तःकरण में यह भय रह जाता कि अग्नि हमको जला देगी, अतः भगवान् ने इस भय को मिटाने के लिए विश्वास दिला दिया कि डरो नहीं, अर्थात् अग्नि जला देगी यह भय मत करो ॥११॥

आभास – ईश्वरवाक्यादुपायत्वेनाज्ञातमपि कृतवन्त इत्याह तथेति,

आभासार्थ – यद्यपि गोपों को यह ज्ञान नहीं था कि नेत्र बंद भगवान् ने इसलिए कराए हैं, कि हमारे दुःख निवृत्ति का उपाय भगवान् करते हैं, तो भी, आपकी आज्ञा से नेत्र बंद किए, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं –

श्लोकः – **तथा निमीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम् ।**
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत् ॥१२॥

श्लोकार्थ – वैसे ही आँखें बन्द करने पर, योगेश्वर भगवान् ने मुख से उन अग्नि का पान कर, उन (शरणागतों) को दुःख से छुड़ाया ॥१२॥

सुबोधिनी – **निमीलिताक्षेषु** सत्सूल्बणमप्यग्निं भगवान् **मुखेनैव पीत्वा** पूर्ववत् **तान् व्यमोचयत्, उल्बणत्वं** दुष्टावेशात्, सख्यसम्बन्धेन प्राप्तदोषदाहार्थं पानं तेषामग्निरूप-दोषाणां दाहार्थं वा ते ह्याधिदैविका एव दग्धा भवन्तीति, ननु कथं स्वान्तर्गतानामग्निगतानां वा धर्माणां प्रकटीकरणं ? तदाह योगाधीश इति, **योगानामधीशः** स्वामी, अतो **विशेषेणामोचयद्** यथा तत्संस्कारोऽपि न तिष्ठतीति ॥१२॥

व्याख्यार्थ – भगवान् ने देखा कि गोपों ने नेत्र मूंद लिए हैं, तब दुष्ट के आवेश होने से, तेज हुई दावाग्नि को, मुख से ही उसका पान कर शरणागतों को पहले की तरह दुःख से छुड़ा दिया ।

अग्नि को जल से न बुझाकर मुख से इसलिए पान किया, कि उसमें (दावाग्नि में) जो सख्य† सम्बन्ध के कारण से दोष आए थे वे जल से नष्ट नहीं होते, अतः उनका पान कर, अर्थात् अपने भीतर स्थित आधिदैविक अग्नि में स्थित कर, उन दोषों को तथा अग्नि रूप दोषों को भी नाश किया। वे दोष भगवान् में अन्दर स्थित आधिदैविक अग्नि से मिलने पर ही समूल नष्ट हो सकते थे। अपने सेवकों में तथा अग्नि में, भीतर रहे हुए दोष भगवान् ने कैसे प्रकट किए। इस शङ्का के उतर में कहते हैं, कि योगाधीश (कर्म करने में चतुरों के स्वामी) हैं, अतः भक्तों के तथा अग्नि के दोषों (असुरत्व) को, उनमें से पृथक् कर, दावाग्नि में धरा, आपने उस दावाग्नि को पान कर, दोष समूल नष्ट कर दिए। वे गोप निर्दोष होने के साथ दुःख से छूट गए ॥ १२ ॥

आभास – ततो भीताः पीतेऽप्यग्नौ निमीलिताक्षा एव स्थितास्ततो

आभासार्थ – भगवान् ने अग्नि का पान कर लिया, तो भी भय के कारण उन्होंने नेत्र खोले नहीं, जब आपने आज्ञा की, कि नेत्र खोलो, तब आँखें खोल दी, जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः ।**
निशम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ – फिर, जो उन्होंने नेत्र खोले, तो देखा कि हम भाण्डीर वन में हैं, अपने को और गौओं को छूटे हुए की कहानी सुनकर अचम्भे में पड़ गए ॥ १३ ॥

सुबोधिनी – भगवतैवोन्मीलयतेत्युक्तास्तेऽक्षीण्युन्मील्य **पुनरलौकिकेनैव प्रकारेण भाण्डीरवनमापिताः** पुनर्गमनं तेषां ज्ञानाभावादागतमार्गस्य विस्मृतत्वाज् ज्ञापकानां नृतनैर्नाशनादर्तिजिज्ञासायां विलम्बाच्च, अतो भगवतैव **भाण्डीरमापिताः**, निर्मीलिताक्षा एव समागता इतिविमर्शः, यतो भगवान् हरिः, अतो **निशम्य** ज्ञात्वा श्रुत्वा वा **विस्मिता आसन्, आत्मानं गाश्च मोचिता निशम्य, आत्मानं गा** इत्यवयुज्यानुवादः, चक्षुर्निमीलनेन पूर्वसर्वविस्मरणं, पश्चाद् भगवन्मुखाद् बलभद्रमुखाद् वा श्रवणं, तदाह **निशम्येति** ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् ने दावाग्नि का पान कर, नेत्र मूंदे हुए गोपों को भाण्डीर वन (में) ले आए, वहाँ उनके नेत्र खुलवाये आँखें खोलकर देखा कि हम तो भाण्डीर वन में बैठे हैं। मन में विचारा, कि यह सब भगवान् की कृपा है, उन्होंने ही यहाँ पहुंचा दिया है। यदि हम स्वतः आते

† गोप भगवान् के सखा थे, अतः सखा भाव में समानता होने से, भगवान् को अपने समान समझने लगे, अपना अंश स्वरूप भूल गए यह दोष जो गोपों में आ गया था वह दोष 'दावाग्नि' रूप है अतः उसको पान कर, मित्रों के दोषों को समूल नाश कर दिया। 'योजना'

तो एक तो वह मार्ग याद नहीं और नवीन घास उत्पन्न होने से, खुरों के चिन्ह भी मिटजाने से मार्ग ढूँढने में विलम्ब होता । हमारी आँखें बंद ही थीं तब भगवान् ने यहाँ पहुंचाया है, उस (पहुँचाने) का कारण यह है, कि भगवान् 'हरि' (दुःख हरण कर्ता) हैं । अनन्तर भगवान् के मुख से अथवा बलरामजी के मुख से, दावाग्नि पान कर, हमको तथा गौओं को भगवान् दुःख से छुड़ाकर यहाँ लाए हैं यह सुनकर तथा समझकर अचम्भे में पड़ गए । नेत्र बन्द करने से पहले का सब वृतान्त भूल गए थे, पीछे सुनने से समझा और स्मरण हुआ ॥ १३ ॥

आभास – ततस्तेषां गताविद्यानां या बुद्धिर्जाता तामाह कृष्णस्य योगवीर्यं तदिति,

आभासार्थ – पञ्च पर्वा अविद्या नष्ट होने के अनन्तर, उन (गोपों) की जैसी बुद्धि हुई, वैसी का वर्णन इस श्लोक में करते हैं–

श्लोकः – **कृष्णस्य योगवीर्यं तद् योगमायानुभावितम् ।**
दवाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य तं मेनिरेऽमरम् ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ – योगमाया से जिस (दावाग्नि से रक्षा) का अनुभव हुआ है, वैसा श्रीकृष्णचन्द्रजी के योग का प्रभाव, देखकर गोपों ने श्रीकृष्ण को अमर माना ॥ १४ ॥

सुबोधिनी – **योगमाययानुभावितं**, विस्मारणपुनः-स्मारणाभ्यां सहितं, **तद्** भगवद्वीर्यमलौकिकमा**त्मनो दवाग्नेः** सकाशात् **क्षेमं वीक्ष्य तं** भगवन्तम**मरं** मरणनिवर्तकं कालातीतं वा पुरुषोत्तमं **मेनिरे**, तेषां देवा एवोत्तमा इत्यनौपचारिकं देवत्वं वा **मेनिरे**, दावाग्निर्हि लब्धनाशकः, ततः परिपालनं **क्षेमो** भवत्येव ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ – योगमाया से विस्मरण कराना २ फिर स्मरण कराने का अनुभव हो रहा है, वैसे अलौकिक भगवान् के वीर्य[१] को, (अपनी दावाग्नि से रक्षा होना एवं अपना कुशल होते) देख उन भगवान् को अमर तथा कालातीत[२] अथवा पुरुषोत्तम मानने लगे, अथवा गोप देवों को ही, सबसे उत्तम मानते थे, अतः श्रीकृष्ण को उन देवों में उत्तम देव समझने लगे । दावाग्नि के लपेटें, में, जो भी आवे, उसका वह नाश करने वाली है वैसी दावग्नि से हमारी रक्षा ये (श्रीकृष्ण) ही कर सके हैं ॥ १४ ॥

आभास – एवं तान् सर्वथा निर्दुष्टान् कृत्वाग्रे निवर्त्यदोषाभावादत्रैव प्रत्यापत्तिः क्रियते गाः सन्निवर्त्येति,

---

१-पराक्रम । २-काल का जिस पर प्रभाव नहीं ।

आभासार्थ – इस प्रकार सर्व को निर्दोष बनाया, अर्थात् सब की पञ्चपर्वा अविद्या नाश कर दी और वे दोष फिर आने के नहीं, अतः यहाँ से ही अपने स्थान व्रज में लौट आए – जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – **गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः ।**
वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद् गोपैरभिष्टुतः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ – सांझ के समय, बलदेवजी के संग श्रीकृष्णचन्द्र गौओं को अच्छे प्रकार से लौटाकर, गोपों से स्तुति कराते और बंसी बजाते हुए गोकुल में पधारे ॥ १५ ॥

सुबोधिनी – न हि भीतानामेव गमनं किन्तु यथासुखं **सायाह्न** एव, जनाविद्या नाशितेति **जनार्दनः**, न केवलं दोषं दूरीकृतवान् किन्त्विष्टमपि कृतवानित्याह **सहराम** इति, **वेणुं विरणयन्निति** सर्वसद्गुणोद्बोधनं, **गोष्ठमगादिति** स्थानस्य पवित्रता निरूपिता, **गोपैरभिष्टुत** इति गोष्ठसमागमनेऽपि तेषां माहात्म्यज्ञानं दृढमिति ज्ञापितम् ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ – गोपों को उसी समय, गोष्ठ में न ले आने का कारण यह था, कि गोप भयभीत थे, जब उनका भय मिट गया और वे समझ गए कि अब कोई भय नही है, तब तक सायंकाल हो गया था, अतः सायंकाल में सुख पूर्वक गोकुल आए । गोपों की अविद्या नाश हुई, क्योंकि भगवान् जर्नादन हैं अविद्या को नाश करने वाले हैं । न केवल अविद्या नाश हुई, किन्तु ईष्ट की भी प्राप्ति हुई, कारण कि भगवान् के साथ बलरामजी भी थे इस प्रकार दोनों की प्राप्ति कर, प्रसन्न होते हुए, लौटने लगे । भगवान् ने बंसी बजा कर सबों के सद्गुणों को जगाया गोष्ठ शब्द से स्थान की पवित्रता दिखाई अर्थात् जहाँ गौओं का निवास है वह स्थान पवित्र है । गोप भगवान् की स्तुति करते थे । यहाँ गोष्ठ में आने पर भी गोपों को भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान दृढ था ॥ १५ ॥

आभास – एवं वनगमने गोपानां सौख्यमुक्त्वा गोष्ठगमने गोपीनां सौख्यमाह गोपीनामिति ।

आभासार्थ – इस प्रकार, भगवान् वन में पधारे, जिससे गोपों को आनन्द हुवा उसका वर्णन कर अब गोष्ठ में आने से गोपीजन को आनन्द हुआ जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – **गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने ।**
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ – भगवान् के दर्शन होते ही, गोपीजन को परमानन्द हुआ, जिन

गोपीजन के भगवान् के बिना एक क्षण भी सौ युग के बराबर बीतता था ॥ १६ ॥

सुबोधिनी — सौख्यमाह गोपीनामिति गोविन्ददर्शने तेषामानन्दाविर्भावादज्ञाननिवृत्तिरर्थादेवोक्ता, प्रपञ्चविस्मृतिमाह क्षणं युगशतमिवेति, यासां गोपिकानां येन भगवता बिना क्षणं युगशतमिवाभवदेकस्मिन् क्षणेऽनन्तवारमुत्पद्यन्ते म्रियन्ते चेति, एवमनिर्वृत्या संसाराभावो ज्ञापितः ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे षोडशाध्यायः ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ — गोपीजन ने गोविन्द का दर्शन किया जिससे उनको परमानन्द हुआ और उससे अज्ञान की भी निवृत्ति हो गई, तथा गोपीजन को भगवान् के बिना एक क्षण भी सौ युगों के समान भासता था, जिसका तात्पर्य हैं, कि गोपियां उसी एक क्षण में, मनुष्यों के नौ युग में, जितने जन्म मरण होते हैं, उतने जन्म मरण भोगती अर्थात् उनको वह क्षण भी दुःख रूप संसार था, अतः जब भगवान् के दर्शन हुए तो आनन्द प्राप्त होने से, जन्म मरण का चक्कर नष्ट हो गया अर्थात् संसार की विस्मृति हो गई ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवत महा पुराण दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के १७वें अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण के 'ज्ञान' निरूपण पाँचवें अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की लीलाओं का अवगाहन निम्नलिखित भक्त शिरोमणि सूरदासजी के पदों से कीजिएगा ।

राग कान्हरो

अब की राख लेहु गोपाल ।
दसहुं दिसाते दुसह दावाग्नि उपजी है यहि काल ॥
पटकत बांस कांस कुश चटकत लटकत ताल तमाल ।
उचटत अति अंगार फुटत फर झपटत लपट कराल ॥
धूम धूंषि बाढी धुर अंबर चमकत बिच बिच ज्वाल ।
हरिन बराह मोर चातिक पिक जरत जीव बेहाल ॥
जिन जिय डरहुं नयन मूंदहु सब हंसि बोले नन्दलाल ।
सूर अनल सब बदन समानी अभै करे ब्रजबाल ॥

राग गोड

दावानल अचै व्रज जन बचायो ।
धरनि अकासलों ज्वाल माला प्रबल धेरि चहुं पास वृज वास आयो ॥
भये बेहाल सब देख नन्दलाल तब हंसत ही ख्याल ततकाल कीनों ।
सबनि मूंदे नयनि नाहि चितये सैन तृषा ज्यों नीर दव अचै लीनों ॥
देखो अब नयन भरि बुझि गई अगनि झार चितै नर नारि आनन्द भारी ।
सूर प्रभु सुख दियो दावानल पीलियो कहत सब ग्वाल धनि धनि मुरारी ॥

राग बिहागरो

चकृत देखि यह कहि नर नारि ।
धरनि अकाश बराबर ज्वाला झपटी लपटि करारि ॥
नहिं वरष्यो नहिं छिरक्यो काहू कहां धों गयो बिलाई ।
अति अघात करत बन भातर कैसे गयो बुझाई ।
तृण की आगि बरत नहिं बुझिगई हंसि हंसि कहत गोपाल ।
सुनहु सूर वह करनि कहनि यह ऐसे प्रभु के ख्याल ॥

राग बिलावल

जाको सदा सहाइ कन्हाई । ताहि कहौ काको डर माई ॥
वनचर जहाँ संगही डोलैं । खेलत खात सबनिसों बोलैं ॥
जाको ध्यान न पावै जोगी । सो वृज में माखन को भोगी ॥
जाकी माया त्रिभुवन छावै । जो जसूमति के प्रेम बँधावै ॥
मुनि जन जाको ध्यान न पावै । वृजजन लै लै नाम बुलावै ॥
सूर ताहि सुर अंबर देखो । जीवन जन्म वृज ही को लेखो ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः (पूर्वार्धः)

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

'षष्ठोऽध्यायः'

श्री सुबोधिनी अनुसार १७वां अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २०वां अध्याय

कारिका – **लीला सप्तदशेऽध्याये निरुद्धैः सहितोच्यते ।**
वर्षाशरत्कालयोगात् सर्वतत्त्वं निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ – जिन भक्तों का निरोध हो गया है, उनके साथ की हुई लीला का वर्णन सत्रहवें अध्याय में किया जाता है, तथा वर्षा और शरद् ऋतु के योग से सर्व प्रकार के तत्त्व निरूपण किये जाते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या – इस अध्याय में निरुद्ध भक्तों के साथ, जो लीला भगवान् ने की है, उसका वर्णन है, जिसका कारण यह है कि भगवान् के मित्र गोप तथा ब्रजवासियों की भगवान् में पहले से अब विशेष आसक्ति हुई है, क्योंकि भगवान् ने अन्तःकरण के दोष रूप दावाग्नि तथा प्रलम्ब दैत्य का नाश किया

है। इन दैत्यों के नाश से, गोपों की भगवान् में विशेष आसक्ति हुई है अत: निरुद्ध भक्तों के साथ की हुई लीला का वर्णन सत्रहवें अध्याय में है।

इस कारिका में यों नहीं कहा है, कि निरुद्ध[1] भक्त प्रभु के साथ थे किन्तु उनके साथ प्रभु की लीला का वर्णन है जिसका भावार्थ यह है कि जैसे स्वामिनियां (गोपीजन) जब प्रभु गौ चारणार्थ वन में पधारते तब आपस में मिलकर परस्पर प्रभु की लीलाओं का गुणगान करती थीं, जिससे लीलाओं में तन्मय हो जाती थीं, वैसे ही गोप रात्रि को, परस्पर तथा अन्य ब्रजवासियों के साथ भगवान् की लीलाओं का गुणगान करते थे, जिससे वे लीलाऐं, उनके हृदय में स्थिर हो जाती थीं।

वर्षा और शरद् ऋतु के योग से उनमें (लीलाओं में) आने वाले सर्व पदार्थों के तत्वों का निरूपण किया है।

कारिका – **दोषापगमन एव सर्वतत्त्वस्य बोधनम् ।**
ज्ञाते च तत्त्वे सत्क्रीडा प्राजापत्ये निरूप्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ – सब तत्त्वों का ज्ञान तब होता है जब सर्व दोष पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं, तत्त्वों का जब ज्ञान हो गया तब सत्क्रीड़ा हुई जिसका वर्णन सत्रहवें* अध्याय में किया गया है ॥ २ ॥

व्याख्या – पहले भी, ये (वर्षा और शरद्) ऋतुएं आई हैं, तब वर्णन न कर, इस अध्याय में, इनका वर्णन इसलिए किया गया है, कि अब ये गोप, देहाध्यास आदि दोषों के नाश होने से, शुद्ध हो गए हैं। दोष को मिटाने वाली, इन लीलाओं के श्रवण मात्र से, जब सर्व दोषों की निवृत्ति होती है, तो गोपों ने तो, इन लीलाओं का साक्षात् अनुभव किया है, जिससे वे दोष रहित हो गए, यह स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है। दोष वालों को लीला के स्वरूप के तत्त्वों का ज्ञान नहीं हो सकता था। अब निर्दोष होने से गोपों को लीला के सर्व तत्त्व (पदार्थों) का ज्ञान हो गया, जिससे इस अध्याय में सत्क्रीड़ा[2] का वर्णन है, जिस क्रीड़ा में दैत्यों का संहार करते हुए भी, उनका (दैत्यों का) सम्बन्ध न रहे वह सत्क्रीड़ा है ॥ २ ॥

कारिका – **माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु स्नेहः कृष्णे हि युज्यते ।**
तादृशैश्च मुदा क्रीडा तच्चाप्यत्र निरूप्यते ॥ ३ ॥

*यज्ञ में, यज्ञात्मक प्रजापति को श्रुति के अनुसार १७वां कहा है। अत: यहाँ १७ के अर्थ में प्रजापत्य है।

१-जिनका प्रभु ने अपने में निरोध सिद्ध किया है वे। २-आनन्द रूप क्रीड़ा।

कारिकार्थ – श्रीकृष्ण में पूर्ण स्नेह तब होता है जब श्रीकृष्ण के माहात्म्य का पहले ज्ञान किया जाए। ऐसे माहात्म्य ज्ञान वाले पूर्ण स्नेहियों से ही भगवान् आनन्द से क्रीड़ा करते हैं, उस क्रीड़ा का भी यहाँ वर्णन है ॥ ३ ॥

व्याख्या – कारिका में 'तु' (तो) शब्द देकर यह बताया है, कि भगवान् में लौकिक विषय वाला स्नेह नहीं होना चाहिए। वह (निष्काम स्नेह) तब होता है, जब भगवान् के माहात्म्य द्वारा, भगवान् के आनन्द स्वरूप आदि का ज्ञान होता है। इसलिए ये भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होने से, उनका (गोपों का) भगवान् में शुद्ध स्नेह हुआ था, जिससे आनन्द रूप भगवान् ने उनसे आनन्दमय क्रीड़ाएँ की हैं ॥ ३ ॥

आभास – पूर्वाध्याये गोष्ठे समागता इत्युक्तं, ततः पूर्वापेक्षया यो विशेषः स वक्तव्यः तमाह द्वाभ्यां,

आभासार्थ – १६ वें अध्याय के अन्त में कहा, कि भगवान्, बलराम तथा गोप गोकुल में आए, उस समय उनमें (गोप आदि में) विशेषता क्या थी, उसका वर्णन, निम्न दो श्लोकों से करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः – **तयोस्तदद्भुतं कर्म दवाग्नेर्मोक्षमात्मनः ।**
गोपाः स्त्रीभ्यःसमाचक्षुः प्रलम्बवधमेव च ॥ १ ॥

श्लोकार्थ – श्री शुकदेवजी ने कहा कि गोपों ने इन दोनों भ्राताओं के यह अद्भुत चरित्र अर्थात् अपने को (गोपों को) दावानल से बचाना और प्रलम्बासुर का वध, स्त्रियों से कहे ॥ १ ॥

सुबोधिनी – **तयोरिति** रामकृष्णयोः प्रलम्बवधाग्नि-विमोचनलक्षणम**द्भुतं** सर्वलोकोत्तममश्रुतमदृष्टं **च कर्म स्त्रीभ्यः समाचक्षुः**, तत् कर्म निर्दिशति, **दवाग्नेरात्ममोक्षः प्रलम्बस्य च वधः**, यथा यथा माहात्म्यं भगवतो ज्ञायते तथा तथा शान्ततया कथ्यत इति **गोपालाः** शनैः स्वगृहे समागत्य **स्त्रीभ्य** एवोक्तवन्तः, तासामपि सर्वथा भगवत्परत्वाय, तथा सति तत्सङ्गदोषो न भवेदिति तेषां विमर्शः, प्रसङ्गाद् वृद्धानामपि श्रवणम् ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् का किया हुआ उत्तम कर्म, जो पहले किसी ने न सुना तथा न देखा वैसा अद्भुत (दावाग्नि से अपनी (गोपों की) रक्षा करने का और प्रलम्ब के वध का) चरित्र गोप अपने अपने घर में आकर स्त्रियों (घर की सब स्त्रियों माता आदि) को सुनाने लगे। ज्यों ज्यों

चरित्र वर्णन किया जाता, त्यों त्यों, भगवान् का माहात्म्य हृदय में स्थिर होने लगा, जिससे, शान्त चित्त होकर धीरे धीरे कहते थे, इसके श्रवण से, स्त्रियां भी भगवत्परायण होंगी तो, हमको भगवद्गुणगान में प्रतिबन्धक नहीं होगी। अन्यथा रात्रि को, जागरण होने से, क्षुब्ध हो, गुण वर्णन में, प्रतिबन्ध करेंगी। जो वृद्धत्व के कारण घर में ही बैठे रहते हैं, उन्होंने भी वह गुणगान श्रवण किया ॥ १ ॥

आभास — ततः सर्व एव गोकुलवासिनो भगवन्माहात्म्यं ज्ञातवन्त इत्याह,

आभासार्थ — गोपों ने गोकुल में आकर जो भगवान् के चरित्र कहे उनको सुनकर सर्व व्रजवासियों को भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान हुआ जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

श्लोकः — **गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः ।**
मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ ॥ २ ॥

श्लोकार्थ — गोपों में वृद्ध गोप तथा गोपियां यह बात सुन, विस्मय करने लगे, और व्रज में आए हुए कृष्ण तथा राम को देवों में, उत्तम देव समझने (मानने) लगे ॥ २ ॥

सुबोधिनी — गोपवृद्धाश्चेति चकारादतिमूढा बालाश्च **गोप्यश्च**कारादन्याः सर्वास्त**दुपाकर्ण्य** भगवन्माहात्म्यं श्रुत्वा **विस्मिता** जाताः, तस्मिन् कर्मणि श्रुते भगवति यज् ज्ञानं जातं तदाह **मेनिरे देवप्रवरा**विति, **देवानामपि प्रकृष्टा वरा** वरणीया **देवानां** मध्ये **प्रकृष्टा** इन्द्रादयस्तेषामपि वरणीयौ पुरुषोत्तमरूपावनुपचारादित्येतदर्थं **कृष्णरामा**वितिनामग्रहणं, दृष्टानुपपत्तिं परिहरति **व्रजं गता**विति, **व्रजं** समागतौ यथा महाराजः कदाचित् क्वचिद् गच्छत्येवं भगवानपि **व्रज**मागत इति ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ — बूढे गोप तथा गोपियां वह चरित्र सुनकर आश्चर्य में मग्न हो गईं। श्लोक में दो बार दिये हुए 'च' का तात्पर्य है कि मूढ, बालक तथा गोपियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियां भी सुनकर अचंभे में आ गईं। पहले श्लोक में, कहे हुए, चरित्र के श्रवण से, विस्मित हो गए किन्तु उससे सब को यह ज्ञान हुआ, कि ये दोनों भाई (राम-कृष्ण) सर्व इन्द्रादि देवों से उत्तम हैं, अर्थात् दोनों पुरुषोत्तम स्वरूप हैं। किसी को यह शङ्का होवे, कि ये पुरुषोत्तम स्वरूप नहीं हैं, केवल उपचार (पूजार्थ) के लिए यों कहा गया है। इसके उत्तर में गोप कहते हैं, कि यह शङ्का ही नहीं करनी चाहिए : हम इनको, वास्तविक पुरुषोत्तम रूप समझते हैं-क्योंकि, शङ्काशीलों

की शङ्का मिटाने के लिए उनके नाम 'कृष्ण-रामौ' श्लोक में दिये गए हैं अर्थात् ये कृष्ण और राम ही, देवोत्तम (पुरुषोत्तम) स्वरूप हैं। श्लोक में 'प्र'† अक्षर से उनकी विशेषता (उत्तमता) बताकर यह सिद्ध किया है, कि ये अन्य गोपों के समान गोप नहीं है, किन्तु देवों में, भी उत्तम देव होने से, सर्वथा पूज्य हैं। जैसे भूपति, सदैव प्रकट रूप से, अपनी राजधानी में रहता है, किन्तु कभी[२] अपनी प्रजा की दशा देखने तथा उनके हित करने के लिए भेष बदल कर गरीबों के घरों में जाता है, वैसे ही भगवान् भी व्रज में आए हैं ॥ २ ॥

आभास — एवं तेषां ज्ञानानन्तरं भगवत्क्रीडार्थं प्रावृट् समागतेत्याह तत इति द्वाविंशत्या,

आभासार्थ — इस प्रकार जब उनको कृष्ण तथा राम के स्वरूपों का ज्ञान हो गया, तब वर्षा ऋतु, भगवान्, भक्तों के साथ सानन्द क्रीड़ा करें, इसलिए आई, जिसका वर्णन २२ श्लोकों में करते हैं।

श्लोकः — **ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा ।**
विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ — उसके अनन्तर सब जीवों को उत्पन्न करने वाली, सर्व दिशाओं को प्रकाशित करने वाली, वर्षा ऋतु आई, जिससे सूर्य और चन्द्रमा के समीप में आए हुए मेघों से मण्डल बन गए तथा आकाश में गड़गड़ाहट शब्द होने लगे ॥ ३ ॥

सुबोधिनी — आदौ स्वयं **प्रावृट्** समागता, ननु प्रावृष्यागतायां का भगवल्लीला भविष्यतीत्याशङ्क्याह **सर्वसत्त्वसमुद्भवेति**, **सर्वे**षामेव **सत्त्वानां** सम्यगुद्भ**वो** यत्रेति, सर्वजीवेष्वेव हि भगवत्क्रीडा तदर्थं वा सर्वसत्त्वगुणोद्बोधाद् वा, तदा भगवान् सत्त्वेन सात्त्विकैः सह क्रीडिष्यतीति कार्यतस्तस्या भगवत्क्रीडौपयिकत्वमुक्त्वा स्वरूपतोऽपि क्रीडौपयिकत्वमाह **विद्योतमानाः परिधयो** यत्रेति, **परिधयः** परितोवेष्टनदिशस्ताः सर्वा एवान्यदाप्रकाशमाना अपि वर्षास्वागतास्वेव **विद्योतमाना विशे**षेण प्रकाशमाना भवन्ति, **विस्फूर्जितं नभस्तलं** च भवति, अनेन भगवत इयं सम्भृतिरूपा निरूपिता यस्यामागतायामुपर्यधः सर्वतश्च सर्वे गुणा उद्बुद्धा भवन्तीति यथा महाराजसम्भृतौ समागतायां सर्वो ग्राम उद्बुद्धो भवति, भूमेर्गुणाः सर्वे जीवा दिशो विद्युद् गर्जितान्याकाशस्य, एतान्येव तम सत्त्वरजांस्यपि ॥ ३ ॥

---

†शास्त्रों में यह नियम है कि एक अक्षर से समग्र शब्द के अर्थ का तात्पर्य समझा जा सकता है जैसे कि 'भारत' में 'भा' 'र' 'त' ये तीन अक्षर हैं जिनका अर्थ यों किया गया है, 'भा' अक्षर से 'भाति सर्वेषु वेदेषु' लिया है अर्थात् इसमें जो कहा गया है वह ही सर्व वेदों में है 'र' रति सर्वेषु जन्तुषु' इस शास्त्र का उपदेश है सकल जीवों से प्रेम करना। 'त' तरणं सर्व भूतानां' इसके श्रवण से सर्व प्राणी संसार से पार हो जाते हैं। अतः इस शास्त्र को 'भारत' कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ 'प्र' शब्द से विशेषता बताई है। **'योजना'**

व्याख्यार्थ — भगवान् के क्रीड़ा करणार्थ स्वयं वर्षा ऋतु आई, यद्यपि वर्षा ऋतु में, मार्ग में कीचड़ आदि होने से, भगवान् की क्रीड़ा कैसे वा कौनसी हो सकेगी ? यह शङ्का हो, तो उस (शङ्का) के निवारण के लिए कहते हैं, कि वर्षा ऋतु कार्य तथा स्वरूप दोनों से लीला में, उपयोगिनी हुई है, क्योंकि भगवान् को सर्व जीवों में रमण करना है तथा सर्व सत्त्वगुण प्रकट हों, तब लीला हो, ये दोनों कार्य प्रावृट्[१] ऋतु ने किए हैं, इस प्रकार कार्य से, प्रावृट् ऋतु, लीलोपयोगिनी हुई है । स्वरूप से भी लीलोपयोगिनी हुई है, जैसे प्रावृट् ऋतु ने आकर चारों तरफ, सर्व दिशाएँ आगे से विशेष प्रकाशमान कर दीं, तथा आकाश में बिजली के गड़गड़ाहट शब्द के साथ प्रकाश होने लगा । इससे यह बताया है, कि इस (वर्षा ऋतु) ने आकर, लीला के लिए सर्व प्रकार की पहले ही सजावट कर रखी है, जिससे लीला में, किसी प्रकार विलम्ब वा रुकावट न हो, पूर्ण आनन्द से रसात्मक लीला हो । वर्षा ऋतु के आने से ही, पृथ्वी के गुण, सब जीव, दिशाओं का गुण, बिजली की गर्जना, आकाश का गुण (गड़गड़ाहट) आदि होते हैं । जैसे महाराजा के आने पर समग्र ग्राम जागृत होता है । ये गुण* तम,‡ सत्त्व और रजो रूप हैं ॥ ३ ॥

आभास — तस्यामागतायां सर्वा भगवच्छक्तयः क्रीडौपयिक्यः समागता इति ज्ञापयितुं दिव्यानेकविंशतिधर्मानाह सान्द्रेत्यादितावद्भिः श्लोकैः,

आभासार्थ — वर्षा ऋतु के आने से भगवान् की लीला के उपयोग में आने वाली सर्व भगवान् की शक्तियां भी आ गई । जिसको बताने के लिए अलौकिक† इक्कीस धर्मों का वर्णन इक्कीस श्लोकों से करते हैं ।

---

*ये गुण (धर्म) अप्राकृत अलौकिक हैं अतः भगवद् धर्म रूप हैं । **'प्रकाश'**

‡उस काल (वर्षा ऋतु) में जीवों में आनन्द का आविर्भाव होता है यह 'आनन्द धर्म' है । विद्युत का होना यह अस्तित्व दिखाता है जिससे यह 'सत्' धर्म है, आकाश की 'गड़गड़ाहट' चेतन धर्म है अतः यह चित् धर्म है । इस प्रकार इन्होंमें परस्पर एक दूसरे के धर्म भी रहते है । अतः ये तम, सत्व और रज रूप है । **'लेख'**

†१ यह वर्षा ऋतु भगवान् के क्रीड़ा के लिए तैयारी करने के लिये आई है अतः यह वर्षा ऋतु, इस लोक से पृथक् आनन्द रूप (सच्चिदानन्द रूप) वेद से प्राप्त होने योग्य स्वर्ग लोक के समान अलौकिक है, जिसको बताने के लिए कहते हैं कि जितने (२१) प्रकार के स्वर्ग है उतने ही २१ श्लोकों से इस ऋतु का वर्णन करते हैं । **'टिप्पणी'**

२ स्वर्ग लोक २१ प्रकार के हैं, इसलिए २१ श्लोकों से व्रज की वर्षा ऋतु का वर्णन कर यह सिद्ध किया है कि व्रज की वर्षा ऋतु भगवदीय स्वर्ग (सच्चिदानन्द स्वरूप) है । जिस प्रकार पुण्यात्मा स्वर्ग में भोग भोगते हैं उसी प्रकार पुष्टि भक्त व्रज की वर्षा ऋतु में अलौकिक आनन्द रूप भोग भोगते हैं । **'योजना'**

१-वर्षा ऋतु ।

श्लोकः – **सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।**
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ – दामिनी[1] और गर्जनावाले प्रकाशमान काले बादलों से आच्छादित[2] आकाश, सगुण ब्रह्म की भांति अस्पष्ट तेज वाला हुआ ॥ ४ ॥

सुबोधिनी – "एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोक" इतिश्रुते "रेकविंशतिर्वै देवलोका" इति च, एतेष्वेव सर्वप्रतिष्ठा "द्वादश मासा पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश" इति च, तत्र प्रथममादित्यवत् प्रकाशमानं सगुणं **ब्रह्म** दृष्टान्तेन प्रावृट् स्पष्टयतीति प्रावृट्कृतं ब्रह्मदृष्टान्तमाह सान्द्रेति, "आकाशशरीरं ब्रह्मे" तिश्रुतावाकाशस्य शरीरत्वं श्रूयते, तत् प्रसिद्धकृष्णस्वरूपतुल्यं न भवतीति श्रुतिबाधायां प्रावृट्कालेन तत्समर्थनं क्रियते, सत्यमियं श्रुतिराकाशो भगवद्रूपतुल्य इति, तल् **लोकाः प्रत्यक्षविरुद्धं, नाङ्गीकुर्वन्तीति** विद्यमानानेव गुणान् समयान्तरे गुणान् प्रकटीकरोति, तान् गुणानाह **सान्द्राश्चिक्कणाः** किर्मीरिता ये **नीलाम्बुदाः** सजलजलदा अवयवप्रायास्तैः सहितं **व्योम,** तथापि न शरीरतुल्यत्वं वर्णमात्रेणैव साम्यादिति विशेषमाह **सविद्युत्स्तनयित्नुभिरिति, विद्युत्** पीताम्बरस्थानीया आभरणस्थानीया च, नानाभूषणगीतवेणुनादादिरूप-शब्दसिद्ध्यर्थं **स्तनयित्नु**सहिताः, गर्जितानि नानाविधानि भवन्ति तेना "काशशरीरं ब्रह्म" भवति, ननु शरीरं ह्यन्तस्तेजोमयं बहिराच्छन्नतेजो भवति यथा भगवाँल्लोकव्यामोहनार्थं जात इव दृश्यते तदभावात् कथमाकाशस्य भगवद्रूप-तुल्यतेत्याशङ्क्याहा**स्पष्टज्योति**रिति, न **स्पष्टानि ज्योतींषि** सूर्यादीनि यत्र, तथाप्यनेकविधवस्त्रगृहगोपिकाभिर्वेष्टितो भगवान् भवति तदभावात् कथं तुल्यतेत्याशङ्क्याहा**च्छन्न**मिति, तदप्यवान्तरमेघै**राच्छन्नं** भवति, अतः सगुणमनन्तगुणपरिपूर्णं **ब्रह्म** भगवद्रूपं यथा तथा **व्योम बभौ,** अतः श्रुतिः प्रमाणमितिभावः, सत्त्वरजस्तमोगुणपक्षेऽप्याकाशेऽप्यभ्रतमः प्रकाशा भवन्ति भगवत्यपि लोकव्यामोहनं गोपिकालीला प्रबोधनञ्चेति ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ – एक श्रुति कहती है, कि यहाँ से स्वर्गलोक* इक्कीसवाँ है, दूसरी श्रुति कहती है, कि 'देवलोक इक्कीस हैं† तीसरी श्रुति कहती है कि '१२ मास, ५ ऋतु, ३ लोक और १ यह सूर्य ये मिलकर इक्कीस‡ हैं । इस प्रकार इनमें ही (२१ धर्मों में ही) सत्त्व धर्म वा भगवद् धर्म की प्रतिष्ठा (आश्रय) है । पहले सूर्य की भांति प्रकाशित, सगुण ब्रह्म को, वर्षा ऋतु के दृष्टान्त से स्पष्ट रीति से समझाते हैं, ब्रह्म के सम दिए हुए वर्षा ऋतु दृष्टान्त को समझाने के लिए इस श्लोक में वर्णन करते हुए कहते हैं, कि 'श्रुति कहती है, कि 'ब्रह्म का शरीर (स्वरूप) आकाश है' भगवान् कृष्ण के स्वरूप को देखते हुए 'आकाश' कृष्ण के स्वरूप के समान न होने से प्रत्यक्ष विरुद्ध, श्रुति का कहना, लोक प्रमाणित (प्रमाण रूप) नहीं मानते हैं, अतः उसको प्रमाणित

---

*'एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोकः'

†'एकविंशतिर्वै देव लोका'

‡'द्वादश मासा पञ्चर्तवस्त्रय इसे लोका असावादित्य एकविंश'

१-बिजली । २-ढका हुआ ।

करने के लिए ही प्रावृट् (वर्षा) ऋतु आकर उसका समर्थन कर रही है कि 'आकाश में जो गुण गुप्त विद्यमान है, उन गुणों को वर्षा ऋतु अन्य समय में प्रकट कर दिखाती है, कि जैसे आकाश सजल मेघों वाला, घनश्याम स्वरूप है, वैसा ही, कृष्ण भी घनश्याम है, अत: आकाश ब्रह्म का शरीर है। ऐसा सिद्ध होने पर भी, शङ्का उठती है, कि केवल बादलों के कारण 'आकाश' ब्रह्म का शरीर है यह मान लेना पूर्ण नहीं है, इस पर कहते है, कि केवल वर्ण की समता से 'आकाश' ब्रह्म का शरीर नहीं है किन्तु अन्य भी समानताएँ हैं, जैसे कि आकाश विद्युत[१] रूप आभूषणों से विभूषित है, वैसे ही श्रीकृष्ण पीताम्बर से विभूषित है, तथा जैसे आकाश गर्जनादि शब्द से शब्दायमान है वैसे ही श्रीकृष्ण वेणुनाद करते हुए शब्दायमान (शब्द करने वाले) है। इससे भी सिद्ध होता है कि 'आकाश है शरीर जिसका' वैसा ब्रह्म है।

शरीर में तेज भीतर रहता है और बाहर तेज आच्छन्न[२] रहता है, जैसे भगवान् अपने तेज को भीतर छिपाकर बाहर लोक को व्यामोह कराने के लिए ऐसा दिखाव करते हैं कि मैंने जन्म लिया है। आकाश में वैसा न होने से उससे भगवान् के रूप की बराबरी कैसे होगी ? इस शङ्का का निवारण[३] कराने के लिए कहते हैं कि वर्षा ऋतु सिद्ध कर दिखाती है कि आकाश भी वैसा ही है, उसमें भी सूर्य आदि ग्रह स्पष्ट दिखाई नहीं देते हैं।

इस प्रकार होने पर भी, भगवान् का शरीर आकाश है यह सिद्ध नहीं होता है, कारण कि भगवान् अनेक वस्त्र, गृह तथा गोपिओं से घिरे हुए रहते हैं आकाश तो वैसा नहीं है, इस पर कहते हैं कि आकाश भी मेघों से घिरा हुआ रहने के कारण ब्रह्म का शरीर है, अर्थात् आकाश अनन्त गुण परिपूर्ण सगुण ब्रह्म के समान होने से ब्रह्म का शरीर है अत: श्रुति का यह कहना है कि 'आकाश ब्रह्म का शरीर है' यह यथार्थ[४] है।

ब्रह्म में, सत्त्व, रज तथा तम ये तीन गुण हैं इस प्रकार से भी दोनों (आकाश तथा ब्रह्म) में समानता है, जैसे कि आकाश में मेघ, तम, तथा प्रकाश तीन गुण हैं और ब्रह्म (श्रीकृष्ण) में भी तीन† गुण १-व्यामोह, २-गोपिओं से लीला, ३-ज्ञान हैं ॥ ४ ॥

आभास — एवं वर्षाकृतमाकाशं निरूप्य तत्सम्बन्धिनं सूर्यं निरूपयत्यष्टौ मासानिति,

---

†इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि, लोकों को व्यामोह कराना तमोगुण का कार्य है, गोपिओं से लीला रजोगुण का कार्य है और ज्ञान सतोगुण का कार्य है। इस प्रकार भगवान् सगुण ब्रह्म जैसे हुए।

'योजना'

*ये गुण प्राकृत गुण नहीं समझने चाहिए किन्तु अलौकिक हैं ऐसा समझना चाहिए। **'अनुवादक'**

१-बिजली। २-ढका हुआ-छिपा हुआ। ३-मिटाने। ४-सत्य।

आभासार्थ – इस प्रकार, वर्षा ऋतु के कारण जो आकाश का स्वरूप प्रकट हुआ, उसका निरूपण कर, अब इस निम्न श्लोक में उसके (वर्षा के) सम्बन्ध वाले सूर्य का वर्णन करते हैं।

श्लोक: – **अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु ।**
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्य: काल आगते ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ – सूर्य ने जो पृथ्वी के जल रूप धन का आठ महिने तक पान किया, उस (जल रूप धन) को समय आने पर (वर्षा ऋतु आने पर) पर्जन्य रूप हो के अपनी किरणों से छोड़ने लगे ॥ ५ ॥

सुबोधिनी – अयमेव सूर्य: पर्जन्यो "याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभि: पर्जन्यो वर्षती" तिश्रुते: सूर्यस्याध्यात्मिकं रूपं पर्जन्य आधिभौतिक आदित्य आधिदैविक: संवत्सर: स प्रजापति:, अतोऽयं सूर्य एव **पर्जन्य:स्वरश्मिभिरेवाष्टौ मासान्** निरन्तरं मासाष्टकपर्यन्तं नितरां पीतं यदुदमयं जलमयं **वसु** धनं **सार्द्रा हि भूमि: सर्वमन्नादिकमुत्पादयति**, अतो जलं **वस्वेव वसुप्रधानं** वा, **जलेनैव सस्यादिना धनोत्पत्ति:**, अतो **दत्तं** ग्राह्यमिति पक्वं कृत्वा तदेव प्रयच्छति, तस्य किरणा एव मेघा अतो **मोक्तुमारेभे** प्रावृष्यागतायां, अन्यथा स कालस्तस्याप्युपद्रवहेतु: स्यादत आह **काले समागत** इति, अतो यथा ब्रह्मशरीरत्वं सम्पादयति तथा सूर्यस्यापि जगत्कर्तृत्वरूपं सवितृत्वं सम्पादयति ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ – यह सूर्य ही पर्जन्य है, जैसा कि भगवती श्रुति कहती है 'जिन किरणों से आदित्य तपता है, उन किरणों से ही पर्जन्य रूप रस सूर्य वर्षा करता है, अत: कहा गया है कि सूर्य के तीन रूप हैं-१-आध्यात्मिक रूप, जिसको पर्जन्य कहते हैं, २-आधिभौतिक रूप, जिसको आदित्य कहते हैं, ३-आधिदैविक स्वरूप है, जिसको संवत्सर कहते हैं। वह (संवत्सर) प्रजापति है अत: इस सूर्य रूप पर्जन्य ने ही अपनी किरणों से निरन्तर[1] आठ मास पर्यन्त जो जल रूप धन का पान किया उसको वापस लौटाकर भूमि को आर्द्र करते हैं, जिससे वह जल अन्नादि द्रव्यों को पैदाकर सकती है। अत: जल ही धन हैं क्योंकि जल के द्वारा ही सस्यादि उत्पन्न होते हैं जिनसे धन की प्राप्ति[2] होती है। सूर्य ने जल रूप धन इसलिए ग्रहण किया, कि उसे पकाकर (उसमें सस्य की उत्पत्ति की शक्ति डालकर) लौटा दूँ। उसकी किरणें ही मेघ हैं अर्थात् मेघ पर्जन्य रूप सूर्य की किरणें हैं, जिनके द्वारा लिया हुआ जल वर्षा ऋतु आने पर लौटाता है। यदि लौटा कर न देवे तो वह ऋतु, काल रूप भगवान् उसके (पर्जन्य के) लिए भी उपद्रव का कारण हो जाए। वर्षा ऋतु, जिस प्रकार, आकाश को ब्रह्म का शरीर (स्वरूप) सिद्ध करती है, वैसे ही, सूर्य को भी, जगत् का कर्ता तथा उत्पन्न कर्ता सिद्ध करती है ॥ ५ ॥

१-बिना रुकावट के। २-उत्पत्ति।

आभास — एवमाकाशसूर्ययोः स्वरूपसम्पादकत्वमुक्त्वा सूर्योपरिलोकयोर्मध्यमलोकस्याप्यन्तरिक्षस्य स्वरूपसम्पादिका प्रावृड् जातेत्याह तडित्त्वन्त इति,

आभासार्थ — इस प्रकार वर्षा ऋतु को आकाश तथा सूर्य के स्वरूप का प्रकट करने वाला कहकर, अब अन्तरिक्ष लोक के स्वरूप का प्रकाशक भी यही है उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — **तडित्त्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः ।**
प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — जिस प्रकार दयावान, दुःखी प्राणी को देखकर उसके दुःख को मिटाने के लिए, अपना सर्वस्व जीवन भी त्याग देता है, वैसे ही प्रबल वायु वेग से कम्पित बिजली वाले बड़े बड़े मेघ, इस जगत् को तप्त देखकर, उसको प्रसन्न करने वाला तथा प्राण देने वाला जल देने लगे ॥ ६ ॥

सुबोधिनी — अन्तरिक्षदैवत्या मेघा वाय्वधीनाः, बलकार्यं स एव तद्भेदा एव सर्व इन्द्रादय इति त्रिदेवतापक्षे निर्णयः, अतो मेघानां वाय्वधीनत्वमिन्द्राधीनत्वमिति न विरुध्यते, इन्द्रो देवता वायुरात्मा मेघा भूतानीति त्रयाणामेकरूपत्वं वा, यथा पुरुषप्रयत्नेन शरीरचेष्टा तथा वायुप्रेरणया मेघानां कार्ये स्थितिः, ते हि मेघाः सर्वस्वं लोकेभ्यो जलरूपं प्रयच्छन्तोऽपि नावैदिकन्यायेन प्रयच्छन्ति, तथा सति फलं न स्यात्, न हि वृष्टिमात्रं फलं किन्तु ततोऽन्नोत्पत्तिस्तदग्नौ होमव्यतिरेकेण फलजनकं न भवतीत्यग्निर्होमार्थं विद्युद्रूपो गृहीत इत्याह **तडित्त्वन्त** इति, "विद्युदग्निर्वर्षं हविः स्तनयित्नुर्वषट्कारो यदवस्फूर्जति सोनुऽवषट्कार" इतिश्रुतेः, **महामेघा** इति, सम्यक्-शास्त्रार्थकर्तारः, **चण्डश्वसनेन** च **वेपिताः** कम्पिताः, **प्रचण्डो हि पवनो देहमर्यादां न मन्यते**, अतस्तेन **कम्पिताः**, **प्रीणन**माप्यायनजनकं तापनिवर्तकं च **जीवन**मग्रेऽन्नाद्युत्पत्त्या प्राणधारकं, तदपगमे तेपि रिक्ता **भवन्ती**ति कथमात्मविरोधि दानमित्याशङ्क्याह **करुणा इवे**ति, दध्यङ्शिबिप्रभृतयः परार्थं स्वप्राणानपि ददुः, न चैते करुणया प्रयच्छन्ति किन्तु कालवायुप्रेरिता इति **करुणा** इवेत्युक्तम् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ — अन्तरिक्ष तथा वायु एक ही है अतः मेघों के देवता अन्तरिक्ष होने से मेघ वायु के आधीन होते हैं। मेघों में जो बल (इधर उधर आने और जाने की शक्ति) है वह अकेली वायु का ही है, उसके (अन्तरिक्ष वा वायु के) ही इन्द्रादिक भेद हैं। तीन देवता हैं, इस प्रकार का निर्णय, वृहदारण्य के शाण्डिल्य ब्राह्मण में किया गया है, कि जहाँ अग्नि, वायु और आदित्य रहते हैं वे तीन लोक के देवता हैं, उनमें सर्व देवों का समावेश हो जाता है। अतः मेघ वायु के आधीन हैं वा इन्द्र के आधीन है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इन्द्र देवता, वायु आत्मा और मेघ भूत है इस प्रकार तीनों

की एक रूपता है। जिस प्रकार, पुरुष के प्रयत्न से, शरीर में चेष्टा[१] उत्पन्न होती है, उसी प्रकार, वायु की प्रेरणा से, मेघ अपने कार्य करने में स्थिति करते हैं अर्थात् कार्य करते हैं।

मेघ अपना सर्वस्व जल, अवैदिक रीति से नहीं देते हैं, किन्तु वैदिकानुसार अर्पण करते हैं, जिससे उस जल से अन्नादिकों की उत्पत्ति होती है, अवैदिक रीति से यदि दिया हो, तो अन्नादिकों की उत्पत्ति न होवे।

मेघ जो जलदान करते हैं, उसका फल केवल 'वर्षा' नहीं है, किन्तु उससे उत्पन्न अन्न, अग्नि में जब अर्पण किया जाता है तब वह (जलदान) फल रूप होता है। इसलिए अग्नि ने वर्षा में विद्युत[२] का रूप धारण किया है जिसका वर्णन श्रुति ने इस प्रकार किया है 'विद्युत'[२] अग्नि है, 'वर्षा' हवि[३] है, मेघ 'वषट्' बोलने वाले हैं तथा उन मेघों की 'गड़गड़ाहट्' अनुवषट्कार है। ये मेघ 'महामेघ' हैं कारण कि शास्त्र के अर्थ का अनुसरण करते हैं अर्थात् शास्त्र की आज्ञा अनुसार कार्य करते हैं। तेज वायु, देह की मर्यादा का, विचार नहीं करती है अतः वे मेघ, प्रचण्ड वायु से कम्पित होते हैं। उन्होंने बलदायक, ताप[४] निवृत्त करने वाला, अन्नादि उत्पत्ति से आगे प्राण देने वाला जल दान किया।

मेघ जलदान करने से स्वयं[५] तो रिक्त[६] हो जाएँगे तब ऐसा अपने को हानि करने वाला दान क्यों किया ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जैसे दयालु पुरुष करते हैं उनकी तरह इन्होंने भी किया है। दधीचि तथा शिबि आदिकों ने तो दयाकर प्राण भी दे दिए हैं, इन्होंने दया से जलदान नहीं किया है किन्तु काल वायु से प्रेरित होकर किया है अतः श्लोक में 'इव' शब्द दिया है ॥ ६ ॥

आभास — क्रमप्राप्तां प्रावृट्कृतां भूमिं वर्णयति तपःकृशेति,

आभासार्थ — वर्षा ऋतु ने प्रथम आकाश, सूर्य और अन्तरिक्ष के स्वरूप को जिस प्रकार बनाया उसी प्रकार अब पृथ्वी को भी बनाया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — **तपःकृशा देवमीढा आसीद् वर्षीयसी मही ।**
यथैव काम्यतपसस्तनूः सम्प्राप्य तत्फलम् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ — जैसे सकाम पुरुष का शरीर तप करने से प्रथम दुर्बल हो जाता है

१-कार्य करने में चाह। २-बिजली। ३-होम का पदार्थ।४-तेज।
५-आप। ६-शून्य, खाली।

अनन्तर तपस्या का फल मिलने पर पुष्ट होता है, वैसे ही पृथिवी जो ग्रीष्म के तप से, जल चुँसे जाने के कारण दुर्बल[१] हो गई थी वह इन्द्र के वर्षा करने से फिर पुष्ट हो गई ॥ ७ ॥

सुबोधिनी — पूर्वं **तपसा** सन्तापेन सर्वजलहरणाच्छुष्का **कृशा** जाता **देवेनेन्द्रेण मीढा** 'मिह सेचने' सिक्ता, **वर्षीयसी** स्थूलोच्छूना वर्षाकालसम्बन्धिनी **च** क्षुद्, **भोजने हि पुष्टो भवति**, नन्वस्य देवस्य किं प्रयोजनं ? ग्रहणत्यागाभ्यां भूम्यर्थमिति चेद् भूम्या अपि न किञ्चित् फलं पश्याम इत्याशङ्क्याह **यथैवे**ति, तपसा शोषिते देहे तत्तपसा या विशेषसम्पत्तिः फलत्वेनायाति तेन सुखं पुष्टिश्च भवति **प्रथमपुष्टिस्तु न सुखं जनयति**, अतस्तस्या दूरीकरणं पुनःकरणमिति युक्तमेव भूमेस्तथात्वं, तदाह, **काम्यतपसः** सम्बन्धिन्य**स्तनूस्तत्फलं सम्प्राप्य यथा वर्षीय**स्यो भवन्ति, **तनु**रिति वा पाठः, प्रथमार्थे द्वितीया वा, अथवा तपस्वी तपसः सम्बन्धिनीस्तनूः स्वर्गादिदेहान् **प्राप्य तत्फलं प्राप्नोति** तद्वत् पृथिवी फलमपि सस्यादिकं प्रासवतीत्यर्थः, ननु 'न यत्र चण्डांशुकरां विषोल्बणा भुवो रसं गृह्णन्त'' इति पूर्वमुक्तमिति **तपःकृश**त्वोक्तिस्तद्विरुद्धेति चेन्न, दृष्टान्तेनैव तन्निरासात्, तथा हि यथा**ग्रिमफलार्थमसहजमपि तप करोति कामी** तेन विना तदसम्भवात् तथाग्रिमसस्यार्थं तदुत्पत्तिस्थले रसं गृह्णन्ति नान्यत्र, पूर्वं सारस्यवति देश उप्तस्य बीजस्यापि नाशात् तत्र रसग्रहणस्यावश्यकत्वात्, अत एव जलादिपदं हित्वा रसपदमुक्तं, सस्योत्पादनाशक्ते रसपदार्थत्वादत्र विषादप्युल्बणत्वेन तामपि ज्वालयितुं सामर्थ्यमप्यस्तीति ज्ञापितं, जीवितविरोधित्वाद् विषस्य तादृशैरपि रसाग्रहणं यत् तद् वृन्दावनमाहात्म्यं, एतेन **कालादयोपि व्रजवासिविरुद्धं कर्तुं न शक्नुवन्ती**ति ज्ञापितं, अत्र काम्यतपःफलस्य दृष्टान्तीकरणेनात्रत्यसस्यादेस्तद्भिन्नत्वं ज्ञाप्यते, तदेतत्पूर्वमेवोक्तं ''तत आरभ्ये'' तिश्लोके ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ — प्रथम तेज ताप (ग्रीष्म ऋतु के तीक्ष्ण ताप) से जल चूँसे जाने के कारण पृथ्वी निर्बल[२] हो गई थी, इन्द्र (मेघ) के जलदान देने से फिर पुष्ट हो गई। जैसे क्षुधा से पीड़ित और निर्बल पुरुष भोजन की इच्छा रखता है, उस इच्छा की पूर्ति से अर्थात् भोजन मिलने से पुष्ट होता है वैसे ही जल चूँस जाने से, पृथ्वी क्षुधित तथा निर्बल हो गई थी इसलिए वर्षा के जल (भोजन) की इच्छा कर रही थी उस इच्छा की पूर्ति (जल रूप भोजन की प्राप्ति) से अर्थात् देव के (मेघ के) वर्षा करने से पुनः पुष्ट हो गई।

इन्द्र (मेघ) रूप देव को पृथ्वी से ग्रीष्म ऋतु में जल लेने और उसको वर्षा ऋतु में जल देने की क्या आवश्यकता वा प्रयोजन था ? जिससे भूमि को भी कोई लाभ नहीं। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जैसे पुरुष प्रथम तपस्या द्वारा कृश[३] होकर फिर फल मिलने से पुष्ट होता है अथवा स्वर्गादि में सुख भोगता है। तपस्या करने के अनन्तर जो आनन्द मिलता है और शरीर पुष्ट होता है, तपस्या करने से पहले होने वाला आनन्द अथवा पुष्टि वैसी नहीं होती है। इसी प्रकार, पृथ्वी भी जलदान और जल प्राप्त करने से प्रथम वैसी प्रसन्न अथवा पुष्ट नहीं हो सकती थी जैसे यों करने से (ग्रीष्म ऋतु में जलदान

१-शुष्क। २-शुष्क। ३-दुर्बल।

कर शुष्क हो, अनन्तर वर्षा ऋतु द्वारा) वह परिपक्व, शुद्ध अमृतमय बना हुवा जल, प्राप्त कर प्रसन्न और पुष्ट होती है तथा सस्यादि उत्पन्न करने की सामर्थ्य वाली होती है। देव का जल लेने और देने का यही प्रयोजन है जिससे पृथ्वी धान्य आदि उत्पन्न कर, समग्र प्राणी मात्र की क्षुधा की निवृत्ति कर सके। सकाम की जाने वाली तपस्या से सम्बन्ध रखने वाले शरीर, उसका फल प्राप्त कर, पुष्ट हो जाते हैं। मूल श्लोक में 'तनू:' शब्द दिया है, आचार्य श्री कहते हैं कि यदि 'तनू:' के स्थान पर 'तनु' पद लिया जाय तो, उसका अर्थ इस प्रकार होगा 'सकाम तपस्या करने वाले का शरीर तपस्या का फल प्राप्त कर पुष्ट होता है'। अथवा 'तनू:' पद को द्वितीया का बहुवचन लिया जाय, तो उसका अर्थ हो सकता है 'सकाम तपस्या करने वाला तपस्वी तपस्या से सम्बन्ध रखने वाले शरीरों (स्वर्गादि लोकों) को प्राप्त कर तपस्या का फल (स्वर्गीय सुख) प्राप्त करता है वैसे (ही) पृथ्वी भी तपस्या कर सस्यादि फल प्राप्त करती है।

अ. १५ श्लोक ६ में कहा है कि जिस वृन्दावन में सूर्य की किरणें पृथ्वी के जल को चूँस नहीं सकती हैं, पुन: यहाँ उसके विपरीत उसी पृथ्वी के ताप से कृश कैसे कहा ? इस शङ्का का निवारण इसमें दिए हुए दृष्टान्त से ही हो जाता है। जो पुरुष सर्व प्रकार से सुखी है, तो भी आगामी जन्म में सुख की प्राप्ति होवे, इस इच्छा से वह (अस्वभाविक भी) तपस्या करता है यदि तपस्या न करे तो, आगामी सुख की प्राप्ति उसको नहीं होवे, इसी प्रकार वृन्दावन में आगे होने वाले सस्यों के लिए उस भूमि से (जिससे व्रजवासियों की इच्छा थी) रस ग्रहण करते हैं, जहाँ विशेष जल (अन्न को उत्पन्न करने वाला जल-रस) है, उसके रहने से बोए हुए बीज भी, नष्ट हो जाएँगे। अत: जल न कहकर रस कहा है उसको किरणों ने वहां ही चूँसा है, अन्यत्र नहीं जिसका भाव यह है कि तीक्ष्ण किरण जल को ग्रहण कर पृथ्वी को जला देती है, किन्तु वृन्दावन की भूमि से, वे जल भी ग्रहण करने में असमर्थ हैं, तो पृथ्वी को कैसे जला सकेंगे ? यह वृन्दावन का माहात्म्य है। इससे यह बताया है कि कालादिक भी व्रजवासियों के विरुद्ध कुछ भी करने में, असमर्थ हैं।

इस श्लोक में काम्य तपस्या का दृष्टान्त देकर, यह बताया है, कि इस प्रकार के तप से, हुई वर्षा से, जो अन्न उत्पन्न होता है, वह वृन्दावन में स्वत: उत्पन्न अन्न से पृथक् प्रकार का है। यह लौकिक अन्न केवल वीर्य उत्पन्न करता है, किन्तु वृन्दावन का अन्न भक्ति उत्पन्न करता है। इसका वर्णन प्रथम ही १०-५-१८ श्लोक में किया गया है ॥ ७ ॥

आभास — एवं लोकत्रयस्यादित्यसहितस्य स्वरूपमुक्त्वा शिष्टानां स्वरूपं वक्तुमृतवो धर्मे प्रतिष्ठिता मासा धर्मिष्विति प्रथममृतुवर्णनायां धर्मप्रतिष्ठामाह निशामुखेष्वित्यादिपञ्चभि:,

आभासार्थ — इस प्रकार उपरोक्त श्लोकों में सूर्य सहित, आकाश, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी लोकों

का स्वरूप कहकर, अब शेष ऋतु आदि का स्वरूप वर्णन करते हैं। ऋतु धर्म में† प्रतिष्ठित है और मास‡ धर्मिओं में प्रतिष्ठित है। पहले ऋतुओं का वर्णन करते हुए धर्म की प्रतिष्ठा पांच श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक: – **निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः ।**
यथा पापेन पाषण्डा न हि वेदाः कलौ युगे ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ – जिस प्रकार पाप की वृद्धि से कलियुग में वेदों का प्रकाश नहीं होता है वैसे ही रात्रि के आरम्भ में (प्रदोष समय में) अन्धकार से जुगनू चमकते हैं ग्रह (तारे) नहीं चमकते हैं ॥ ८ ॥

कारिका – **अर्थः शब्दः फलं चापि त्रिविधं परिकीर्तितम् ।**
अन्तर्बहिस्तथा चाङ्गमान्तरञ्चेतिभेदतः ॥ १ ॥

---

†आचार्य श्री ने इस अध्याय के ४थे श्लोक की सुबोधिनी में, श्रुति द्वारा यह बताया है, कि १२ मास, ५ ऋतु, ३ लोक और १ आदित्य इस प्रकार ये २१ हैं। जिनमें से चारों (तीन लोक और सूर्य) का वर्णन पूर्व में कर, अब पांच ऋतुओं का वर्णन करते हुए, ८ वें श्लोक के आभास में, कहते हैं, कि ५ ऋतुओं की प्रतिष्ठा धर्म में हैं और मासों की 'धर्मिओं' में प्रतिष्ठा है। जिसका स्पष्टीकरण श्री प्रभुचरण यहाँ करते हैं कि वर्ष में १२ मास होते हैं, एक एक ऋतु दो मासों की होती है इसी गणना से ऋतु ६ होनी चाहिए तो श्रुति ने पांच क्यों कही ? इस शङ्का को मिटाने के लिए ही आचार्य श्री ने कहा है, कि ऋतुओं की प्रतिष्ठा धर्म में है, अर्थात् ऋतुओं का विभाग धर्म (कर्म) के कारण हुआ है अतः जितने धर्म (कर्म) उतनी ऋतुओं की संख्या की गई है। १-अग्नि होत्र, २-दर्श, ३-पौर्णमास्य, ४-चातुर्मास्य और ५-पशु सोम। इस प्रकार के पांच वैदिक धर्म (कर्म) हैं। इन पांच कर्मों के करने की आज्ञा ऋतु अनुसार दी है जैसे कि, वसन्त ऋतु में 'अग्नि की स्थापना' करनी चाहिए आदि इसी भांति, अन्य कर्म भी ऋतु अनुसार करने चाहिए तथा वर्ण धर्म भी, ऋतु अनुसार होते हैं, जैसे ब्राह्मण का यज्ञोपवीत वसन्त ऋतु में करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ऋतु धर्म में कारण, अथवा उपयोगी होने से ही श्रुति ने पांच कही है। 'टिप्पणी'

‡५ धर्म तथा १ धर्मी मिलकर ६ होते हैं, उनके करने वाले सकाम व निष्काम भेद से, दो प्रकार के हैं अतः वे १२ होते हैं प्रत्येक के अंग भी १२ होते हैं। धर्मी धर्म का आचरण करे उसका मूल साधन 'आयु' है। कितनी आयु है, इसका अनुमान वर्षों से लगाया जाता है। उसके (वर्ष के) भी १२ मास होते हैं, अतः कहा गया है कि मास धर्मी में प्रतिष्ठित हैं। इन ४ श्लोकों के अनन्तर जो १२ श्लोकों से जिन जीवों का वर्णन होगा उनका भी धर्मी में समावेश समझना चाहिए। 'टिप्पणी'

कारिकार्थ – तीन श्लोकों में अर्थ, शब्द तथा फल इन तीनों का वर्णन है, और दो श्लोकों में फल के अन्दर के अंग तथा बाहर के अंग का वर्णन किया गया† है ॥ १ ॥

कारिका – **पुष्टिमार्गे हि मर्यादामार्गस्तत्र न शोभते ।**
अतः पञ्चविधस्यापि हानिरत्र निरूप्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ – जहाँ पुष्टि मार्ग है, वहां मर्यादा मार्ग की शोभा नहीं होती है । इसी कारण से, पांच प्रकार के धर्म की हानि का यहाँ निरूपण किया‡ है ॥ २ ॥

---

†'निशामुखेषु' श्लोक ८ से १२ पर्यन्त के श्लोकों में प्रतिपादित अर्थ का वर्णन इस कारिका में करते हैं । १ धर्म की जड़ (मूल) वेद है, उसमें वर्णाश्रमादि धर्म कहे गए हैं, यह अर्थ (वेदों का अर्थ) है, क्योंकि वेदने वर्णाश्रम धर्म रूप अर्थ का प्रतिपादन किया है । २-वेद का अध्ययन 'शब्द' है, कारण कि, अध्ययन करने से 'शब्द' का ग्रहण होता है उसकी ही मुख्यता है । ३-कर्म का निषिद्ध (हीन) फल, ४-निषिद्ध फल के मिलने से बाह्य सम्पत्ति (भगवान् से विमुख करने वाली सम्पत्ति) प्राप्त होती है । ५-उस बाह्य सम्पत्ति से शरीर में मद (अभिमान) आता है । इस प्रकार ५ श्लोकों में हीन पदार्थों के दृष्टान्त दिए हैं । उनके देने का आशय (पुष्टि मार्ग) इस कारिका में स्पष्ट करते हैं । **'टिप्पणी'**

‡हीन पदार्थों के दृष्टान्त, जो पांच श्लोक में दिए हैं, उनका तात्पर्य, इस कारिका से प्रकट करते हैं, कि पुष्टि मार्ग में मर्यादा मार्ग से विलक्षणता है । यदि पुष्टि मार्ग और मर्यादा मार्ग में भिन्नता है तो इस ८ वें श्लोक के आभास में यह कैसे कहा गया है कि पांच ऋतुओं की धर्म में प्रतिष्ठा है ? इसको समझाते हैं कि विचार करने से दोनों प्रकार का कहना (पुष्टि मार्ग से मर्यादा मार्ग भिन्न है और धर्म की प्रतिष्ठा) योग्य है । जैसे कि, लौकिक सृष्टि में, जब पाप बढ़ता है तब पाषण्ड धर्म प्रकाश में आता है और वैदिक धर्म तिरोहित[1] हो जाता है । वैसे ही यहाँ वर्षा ऋतु का सहज[2] जो अन्धकार, वह धर्म है दूसरा पाप है । उस समय में (वर्षा ऋतु में) सदैव प्रकाश करने वाले चन्द्र आदि ग्रह तो छिप जाते हैं (प्रकाश नहीं करते हैं) किन्तु जुगुनू प्रकाश करने लगते हैं । जुगुनू का प्रकाश (जो क्षणिक है) यही पाषण्ड के धर्म का प्रकाश है, इसी प्रकार चन्द्र आदि ग्रहों का अप्रकाश यही वैदिक धर्म का अप्रकाश है । इनसे पृथक् कोई अन्य पाषण्ड धर्म का प्रकाश नहीं है और वैदिक धर्म का अप्रकाश भी नहीं है । यह वर्षा ऋतु की शोभा करने वाला है क्योंकि इससे बताया है कि यहाँ (व्रज में) पूर्ण वैदिक धर्म है, अर्थात् यह वर्षा ऋतु लीला सृष्टि के स्वरूप को जनाने[3] वाली है ।

१-छिपना । २-स्वभाव सिद्ध । ३-बताने ।

सुबोधिनी – तत्र प्रथमतो वेदार्थहानिमाह, **वसन्ते हि ब्राह्मणानामुपनयनाग्न्याधानादि** तस्याभावे वसन्तव्यवस्थोक्ता भवति, ब्राह्मणानामन्यशेषत्व उपनयनानन्तरं यदध्ययनादि ग्रीष्मर्तौ तदन्यार्थमिति तत्स्वरूपमप्युक्तं भवति, ततः कर्मफलं यद् वर्षाकार्यं तदप्यसङ्गतमिति तस्यापि स्वरूपं विवृतं भवति, अल्पफलं बाह्यं क्लेशसाध्यं शरत्फलमिति दोषदुष्टत्वात् तस्यापि स्वरूपमुक्तं भवति, ततोऽल्पसन्तोषस्तदभावश्चेत्यवशिष्टस्य द्विरूपस्य, प्रावृषि **निशामुखेषु खद्योताः** कीटविशेषा लोकानां प्रकाशका इव भवन्ति स्वयमपि प्रकाशन्ते तत्र हेतुस्तमसेति, कालकृतं यत् तमो मेघवृष्ट्यादिकृतं **तेनैव तेषां प्रकाशस्तदपि प्रथममेव**, अग्रे वृष्ट्या तेषामेव **मरणसम्भवात्** कस्य प्रकाशका भवेयुः ? **ग्रहा ये नित्यप्रकाशास्ते न भान्ति** एवम्भावे यो हेतुस्तं दृष्टान्तेन स्पष्टयति यथा पापेनेति, **यथा यथा पापाधिक्यं** तथा तथा **वेदविरुद्धमार्गे रुचिः**,

व्याख्यार्थ – प्रथम वेदार्थ[1] की हानि का प्रकार बताते है, वसन्त ऋतु में ब्राह्मणों को उपनयन संस्कार (जनेऊ धारण) करना चाहिए अग्नि का आधान (गृह में अग्निहोत्र के लिए अग्नि की स्थापना करना चाहिए इत्यादि), उनका अभाव, अर्थात्, इस समय उन धर्मों का पालन नहीं होता है, जिससे वसन्त ऋतु भी व्यर्थ सी हो गई है, अतः वेदार्थ की हानि है ।

उपनयन के अनन्तर ग्रीष्म ऋतु में, वेदों का अध्ययन करना चाहिए । वह अध्ययन अपने लिए न कर, दूसरों के लिए करते हैं (जिसका वर्णन ९वें श्लोक में है) इससे यह सिद्ध हुआ, कि ग्रीष्म ऋतु का धर्म जो वेदाध्ययन ब्राह्मणों को स्व धर्म समझ कर करना चाहिये, वह न करके धन प्राप्त्यर्थ दूसरों के लिए करते हैं, अतः ग्रीष्म ऋतु का स्वरूप भी सार्थक नहीं है।

तदनन्तर (१०वें श्लोक में) वर्षा ऋतु का स्वरूप भी असङ्गत है, क्योंकि वर्षा का कार्य, जो कर्म फल है, वह भी मार्गानुसार न होने से, लाभदायी नहीं अतः वर्षा ऋतु का स्वरूप भी विफल[2] है ।

मर्यादा मार्ग से पुष्टि मार्ग में विशेषता यह है, कि व्रज में, निवास करने वाले लीला में उपयोगी क्षुद्र[3] जीव भी प्रकाश करते हैं और महान् होते हुए भी लीला में उपयोगी नहीं है वे प्रकाशित नहीं होते हैं ।*

परोक्ष वाद से भी पुष्टि मार्ग में वैलक्षण्य है-इत्यादि विशेष टिप्पणीजी में देखिये ।

---

*पुष्टि मार्ग में दीनता ही उच्च कक्षा पर पहुंचाकर जीव में प्रकाश लाती है । अहंकार प्रकाश का आवरक हो जाता है अर्थात् दीनता ही जीव को लीलोपयोगी बनाती है । **'अनुवादक'**

१-वेद के अर्थ । २-बिना फल वाला । ३-छोटे ।

दोषों से दुष्ट बाह्य और अल्प फल वाली शरद ऋतु है, इसका भी, इसी प्रकार वर्णन किया गया है। हेमन्त और शिशिर ऋतु का फल है, अल्प से सन्तोष मानना चाहिए। अर्थात् वह युगल ऋतु कहती है, कि जो कुछ मिले, उसमें प्रसन्न रहना चाहिए किन्तु उस (सन्तोष) का भी अभाव है। इस प्रकार सर्व ऋतुओं के स्वरूप की निष्फलता बताई।

वर्षा ऋतु में, रात्रि का जब प्रारम्भ होता है, उस समय मेघ और वृष्टि आदि के कारण, अन्धकार होने से, जैसे जुगनू स्वल्प[१] समय तक, चमकने लगते हैं और अन्यों को भी प्रकाशक जैसे होते हैं, वे वर्षा से स्वयं भी नाश हो जाते हैं तथा उस समय नित्य प्रकाश करने वाले ग्रह आदि का प्रकाश लुप्त सा हो जाता है, इसी प्रकार, कलियुग में पाप रूप अन्धकार के कारण, नित्य प्रकाशक, वेद मार्ग लुप्त हो जायँगे और पाषण्ड धर्म का प्रकाश होगा, उस वेद बाह्य पाषण्ड धर्म में रुचि बढती रहेगी।

कारिका – **वेदमार्गविरोधेन येषां करणमण्वपि ।**
ते हि पाषण्डिनो ज्ञेयाः शास्त्रार्थत्वेन वेषिणः ॥ १ ॥

कारिकार्थ – जिनका कर्म स्वल्प[१] भी वेदमार्ग से विपरीत[२] है, उनको पाषण्डी समझना चाहिए, वे शास्त्रों का अर्थ (विरुद्ध अर्थ) कहने के लिए ही वेष[३] मात्र धारण कर रहे हैं ॥ १ ॥

सुबोधिनी – धर्मे पुष्टे तु तत्र रुचिर्न भवत्येव न ह्युपनयनादिसंस्कृतः पूर्ववद्व्यवस्थां कर्तुं वाञ्छत्यतोऽत्रापि **पापेनैव पाषण्डाः**, ननु विद्यमाने वेदे जागरूके कथं पाषण्डप्रवृत्तिः ? तत्राह **न हि वेदाः कलौ युग** इति, **त्रियुगो धर्मस्तत्प्रतिपादको वेदोऽपि तावत्काल एव भवितु-मर्हति**, तदाह **हीति**, **वेदान्तः कलिर्यतः**, **युगपदप्रयोगा-दनुल्लङ्घ्यत्वम्** ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ – जब धर्म पुष्ट[४] होता है, तब पाषण्ड धर्म में रुचि नहीं है और जिसका उपनयनादि संस्कार वैदिक विधि के अनुसार होता है, वह पहले की भांति व्यवस्था करना नहीं चाहता है, अर्थात् वेद विरुद्ध या पाषण्ड धर्म का आचरण करने की इच्छा नहीं करता है। अतः पाप की वृद्धि से ही पाषण्ड बढता है। वेदों के विद्यमान[५] होते हुए पाषण्ड में प्रवृत्ति कैसे होगी ? इस शङ्का के निवारण[६] के लिए कहते हैं कि 'नहि वेदाः कलौयुगे' कलियुग में वेदों का प्रभाव (प्रकाश) नहीं होगा, कारण कि, 'त्रियुगोधर्मः' धर्म तीन (सत्ययुग, त्रेता और द्वापर) युगों तक रहता है अतः उस धर्म के प्रतिपादक वेद भी, तीन युग तक अपना प्रकाश करते हैं। इस आशय को बताने के लिए मूल श्लोक में 'हि' शब्द दिया है, अर्थात् निश्चय से, कलियुग में वेदों का

१-थोड़ा। २-उल्टा। ३-सन्यासी वेष। ४-सबल। ५-मौजूद। ६-मिटाने।

प्रभाव न रहेगा । जहाँ भगवान् और जगत् दोनों हैं वह 'युग' है, अतः युग के धर्म को कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता है, कारण कि, इस समय इस प्रकार का धर्म हो, यह भगवदिच्छा है ॥ ८ ॥

आभास – एवमर्थतो वेदनिराकरणमुक्त्वा शब्दतोप्याह श्रुत्वा पर्जन्यनिनदमिति,

आभासार्थ – उपर्युक्त श्लोक में यह सिद्ध किया है, कि कलियुग में, वेद में कहे हुए उपनयन आदि संस्कार भी, विधि अनुसार नहीं होते हैं, अतः इस युग में वेद का अर्थ नहीं रहा है । अब इस श्लोक में कहते हैं, कि कलि में वेद का पठन आदि भी यथा विधि नहीं होता है, अतः शब्द से भी वेद का अस्तित्व नहीं है । तात्पर्य यह है कि वेद के शब्द तथा अर्थ दोनों का कलियुग में ह्रास है अतः कलियुग में वेद नहीं हैं ।

श्लोकः – **श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः ।**
तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ – जैसे शान्ति से सोते हुए ब्राह्मण नियम के उल्लङ्घन होते हुए शब्द सुनकर वेद ध्वनि करते हैं, वैसे ही मेघों की गर्जना सुनकर मण्डूक[१] बोलने लगते हैं ॥ ९ ॥

सुबोधिनी – मण्डूकाः सर्वप्राण्यनुपजीवनीया "एष वै पशूनामनुपजीवनीयो न वा एष ग्राम्येषु पशुषु हितो नारण्ये" इतिश्रुतेः, **तथा चेद् ब्राह्मणाः सर्वोपद्रवकारिणो भवन्ति ततः कथं वेदस्तत्र प्रतिष्ठितः स्यात् ?** तेषां च मण्डूकानां च वचनं सर्वोपद्रवकर्तृ कालाधीनं,तदाह **पर्जन्यनिनदं श्रुत्वा मण्डूका गिरो व्यसृजन्निति,** पर्जन्यनादव्यतिरेकेण न तेषां सहजा प्रवृत्तिः, तदैव तेषामुद्गमात्, अनेनोत्तमा वाणी तस्मिन् काले लुप्ता, गर्जनशब्दो वा मण्डूकशब्दो वा, उपर्यधश्च ब्राह्मणानां विद्यमानत्वात् कथं नोत्तमशब्द इत्याशङ्क्य दृष्टान्ते ब्राह्मणान् निरूपयति **तूष्णीं शयाना** इति, पूर्वं **कलिस्था ब्राह्मणाः प्राक्शयाना एव भवन्ति** ततो **नियमस्याप्यत्यये** मर्यादायां गतायां प्रभोर्दानादिकं **श्रुत्वा** तदा **गिरो व्यसृजन्,** तथा चक्रुः, "**ब्राह्मणासः** सोमिनो वाचमक्रत **ब्रह्म** कृण्वन्तःपरिवत्सरीणम् अध्वर्यवो धर्मिणः शिश्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचित्", 'सोम' पानप्रवणाः 'ब्राह्मणा' यथासुखं 'वाचमक्रत' कृतवन्तः, 'परिवत्सरीणं' संवत्सरसाध्यं 'ब्रह्म'त्रादिकं 'कृण्वन्तः' कृष्यादिपरा यथासुखं वेदशब्दान् पठन्तीत्यर्थः, 'केचित्' पुन––'रध्वर्यवो'ध्वरयाजका 'धर्मिणः' प्रवर्ग्यकर्तारः 'शिश्विदानाः' प्रकाशमाना 'गुह्याः' सन्तो 'नाविर्भवन्ति', **यज्ञा धर्माश्च न वर्षासु प्रभवन्ति,** अतो बहिर्मुखा एव कृष्यादिपरा यथासुखं 'वाचमक्रत', अस्यैवार्थस्य भूयसे निर्वचनायापरा ऋक् "देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्रमिणन्त्येते संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता धर्मा अश्नुवते विसर्गं," ये 'नरः' पुरुषा 'देवहितिं' भगवतः शब्दरूप-'मृतुं जुगुपुर्द्वादशस्य' संवत्सरस्य सम्बन्धी ऋतुर्मुख्यो वसन्तस्तं 'न प्र मिणन्त्येते' न जानन्ति, अतोऽज्ञानात् तूष्णीमेव तदा स्थिताः 'संवत्सरे' संवत्सरमध्ये 'प्रावृष्यागतायां' पूर्वं 'तप्ता धर्माः' 'वि' विधमेव 'सर्गमश्नुवते', न तु मूलभूतां वाणीं वदन्ति, यत्किञ्चिद् वदन्तीत्यर्थः, यतो 'धर्माः' परतापकाः स्वयं च 'तप्ताः,' तेषां यत्किञ्चिद्वचनान्याहापरा ऋक्, "गोमायुरदादजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्तं आयुः," वर्षायामुत्पन्नं फलं प्राप्य केनैतत् फलं दत्तमिति पृष्टा आहु 'गोमायुरदात्' सृगाले

दत्तवान् 'अजमायु'र्वृक: 'पृश्नि'र्भूमि'र्हरितो' **मेघा** 'नो' स्मभ्यं 'वसूनि' दत्तवन्त:, किञ्च 'गवां शतानि **मण्डूका** ददत: सहस्रसावें' सहस्रवर्षपर्यन्त'मायु'श्च 'प्र तिरन्त:' प्रयच्छन्तो जाता:, **किञ्च** वृष्ट्यर्थं मण्डूकस्य पत्नीं च प्रार्थय ''न्त्युप प्रवद मण्डूकि वर्षमावदतादुरि मध्ये ह्रदस्य प्लवस्य विगृह्य चतुरःपदः,'' हे 'मण्डूकि' 'उप' समीपे 'वर्षं प्रवद', 'अ' समन्ता 'दुरिं' **मण्डूको** 'वद तात्', तस्यावस्थां चाह 'मध्य' इति, एवं ब्राह्मणा यथा तेषामुपजीव्या मण्डूकास्तथैव ये ब्राह्मणा **मण्डूको**पजीविनस्तै: कथं वा वेदरक्षा भवेदिति शब्दतोऽपि **वेदनिवृत्ति:** सूचिता ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ – जैसे इस श्रुति* में कहा है कि मण्डूक की वाणी ग्राम वाले अथवा वन में रहने वाले प्राणिओं की हितकारिणी नहीं है। अत: मण्डूक की वाणी सब को उपद्रव करने वाले काल के आधीन हैं, इसी प्रकार, यदि ब्राह्मण भी सर्व के लिए उपद्रव कारी हो, तो वहां वेद का ज्ञान कैसे स्थित होगा ? अर्थात् वैसे ब्राह्मण, वेद का प्रचार वा वेद के तत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति कैसे कर सकेंगे ? इसलिए वेद आदि शास्त्रों में भी कहा है कि जैसे मेघों की ध्वनि सुनकर, मण्डूक सब को अप्रिय शब्द टर्र टर्र करते रहते हैं वैसे ही वे ब्राह्मण कर्म के समय पर तो यथाविधि वेद का उच्चारण नहीं करते हैं भली भांति नींद लेते हैं और जब किसी दाता यजमान का शब्द सुनते हैं तब ज्यों आवे त्यों पढने लग जाते हैं जिससे लाभ के स्थान पर सबों का अहित होता है।

श्रुति† कहती है, कि ब्राह्मण, जो सोमपान करने की इच्छा करने वाले हैं, वे तो योग्य प्रकार से वेद पाठ करते हैं, वर्षा में उत्पन्न होने वाले, अन्न को जो पैदा करने का काम करते हैं वे तो जैसे आवे वैसे (वेद मन्त्र वा अन्य) बोल देते हैं और अन्य प्रकार के ब्राह्मण जो 'यज्ञ करने वाले हैं', सोमयज्ञ की प्रारम्भिक विधि करने वाले तथा तेजस्वी हैं वे छिपकर रहते हैं, प्रकट नहीं होते हैं, जैसे वर्षा ऋतु में सूर्य आदि ग्रह छिप जाते हैं। अत: वर्षा ऋतु में यज्ञादि धर्म नहीं होते हैं किन्तु जैसे इस ऋतु में मेंढक टर्र टर्र करते हैं वैसे ही खेती करने वाले अनजान ब्राह्मण जैसे आता है वैसे ही अंड बंड बोलते हैं।

श्रुति‡ स्पष्ट कहती है कि, जो पुरुष उस वसन्त में शान्त रहते हैं, जिसमें देवताओं की वृद्धि

---

*'एष वै पशूनामनुजीवनीयो न वा एष ग्राम्येषु पशुषु हितो नारण्ये' इति श्रुति: ।

†'ब्राह्मणास: सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्त: परिवत्सरीणम् अध्वर्यवो ।

‡धर्मिण: शिश्विदाना अविर्भवन्ति गुह्या न केचित्' श्रुति: ।

‡देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्रमिणन्त्येते संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता धर्मा अश्नुवतेविसर्गम् श्रुति:

होती हैं उनका कल्याण होता है उस (वसन्त) को नहीं जानते हैं कि यह ऋतु वर्ष भर की ऋतुओं में मुख्य एवं श्रेष्ठ ऋतु है, इस प्रकार अज्ञानता के कारण, इस ऋतु में वेद का अध्ययन न कर, शान्त रहते हैं और जब वर्षा ऋतु आती है तब अंड बंड[१] वाणी बोलते हैं अर्थात् वेदोच्चारण नहीं करते हैं जिससे सब को दुःखी करते हैं और आप भी पीड़ा भोगते हैं।

इस श्रुति* में यह बताते हैं कि वे बहिर्मुख ब्राह्मण किस प्रकार अंड बंड बोलते हैं- जब वर्षा ऋतु आने से, खेत में धान उत्पन्न हो जाता है, तब उनसे पूछते हैं कि इतना धान (धन) किसने दिया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि, गीदड़ ने दिया, भेड़िये ने दिया, पृथ्वी ने दिया, बादलों ने दिया और मण्डूकों ने सहस्त्र गायें दी तथा एक हजार वर्ष की आयु भी दी।

इस श्रुति द्वारा वृष्टि हो, तदर्थ मण्डूकी को प्रार्थना करते हैं।

मण्डूक चार पादों से कूदकर तालाब वा नाव में जाकर मण्डूकी को कहता है कि तू कहदे कि थोड़े ही समय में वर्षा होगी। इस प्रकार जो ब्राह्मण मण्डूकों के ऊपर आश्रय करने वाले हैं वे ब्राह्मण वेद की रक्षा नहीं कर सकते हैं जिससे निश्चय होता है कि कलियुग में शब्द से भी वेद की स्थिति नहीं हैं ॥ ९ ॥

आभास – तर्हि मास्तु वेदः पाषण्डैरेव कार्यं भवत्वित्याशङ्क्य महतां तु ते क्षोभका भवन्त्यल्पानां तु व्यामोहका भवन्तीत्याहासन्निति, उत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्यो

आभासार्थ – यदि कलियुग में वेद, शब्द तथा अर्थ दोनों से नहीं रहा है, तो पाषण्ड धर्मो से ही काम चलाना चाहिए। इसके उत्तर में कहते हैं कि वे (पाषण्ड धर्म) महापुरुषों के अन्तःकरण में क्षोभ[२] उत्पन्न करते हैं और साधारण पुरुषों के हृदय में व्यामोह पैदा करते हैं। अतः पाषण्ड धर्म नाश के कारण बन जाते हैं। जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ।**
पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥ १० ॥

---

*'गोमायुरदादजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्त्रसावे प्रतिरन्त आयुः' श्रुतिः।

‡'उपप्रवद मण्डूकि वर्षमावदतादुरि मध्ये हृदस्य प्लवस्य विगृह्य चतुरः पदः' श्रुतिः।

१-असम्बन्ध। २-घबराहट।

श्लोकार्थ — जैसे इन्द्रियाधीन पुरुष की देह, धन तथा सम्पदा उलटे मार्ग पर जाकर नाश हो जाती है वैसे ही क्षुद्र नदियाँ उलटी राह में जाती हुई अन्त में सूख जाती है (नाश को प्राप्त होती है)।

सुबोधिनी — उत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्यो: वर्षासु जाता अकस्मादेव निषिद्धं फलं बह्वेव प्राप्नुवन्त्यमर्यादत्वात् तद्रक्षणाशक्ता **उत्पथवाहिन्यो** भवन्ति, ततोऽनु तत्क्षणमेव **शुष्यतीर्भ**वन्ति, प्रकृतोपयोगाय दृष्टान्तमाह **यथास्वतन्त्रस्ये**न्द्रियपरवशस्य देहेन्द्रिय-**सम्पदोमार्गवा**हिन्योऽपि **भवन्त्यनुशुष्य**तीश्च भवन्ति ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ — छोटी नदियाँ, वर्षा ऋतु में, अचानक विशेष जल पाने से, उसको धारण करने में असमर्थ होने के कारण, उलटे मार्ग में, इधर उधर बहकर शीघ्र ही वैसे ही सूख जाती है, जैसे इन्द्रियाधीन पुरुष की देह और सम्पदाएँ उलटी राह पर जाकर नष्ट हो जाती* है ॥ १० ॥

आभास — बाह्यसम्पत्त्याः स्वरूपमाह हरिता इति,

आभासार्थ — इस निम्न श्लोक में बाहर की सम्पत्ति का वर्णन करते हैं।

श्लोकः — **हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः ।**
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ — हरी घास से हरी, इन्द्रगोप[1] से लाल, उच्छिलीन्द्र[2] से छायावाली, पटबीजना भूमि, मनुष्यों की लक्ष्मी जैसी हो गई ॥ ११ ॥

सुबोधिनी — इयं सर्वैव **भूस्त्रिगुणा** सती **नृणां** यथा राज्यसम्पत्तिर्धनसम्पत्तिर्वा भवति तथा जाता, **हरिभिर्हरिद्वर्णैः शष्पैर्घासैर्हरिता** श्यामवर्णा **भूरिन्द्रगोपैः** कीटविशेषै-**र्लोहित**वर्णा **उच्छिलीन्ध्रै**श्छत्राकैः श्वेतवर्णा **कृतच्छाये**वैवं लोहितशुक्लकृष्णा, इन्द्रगोपो राजेव छत्रमिव छत्राकं सेनावच्छष्पाणि, अनेन भूमिरपि युद्धसामग्रीव वर्णिता, अतो **यथा खड्गजीविका मरणपर्यवसायिन्येवमियं कृष्यादिजीविकापि मरणपर्यवसायिनी** ॥ ११ ॥

---

*इस श्लोक में यह बताया है कि व्रज में जो ब्राह्मण इस समय हैं वे धर्मनिष्ठ हैं, कलियुग में जैसे ब्राह्मण होंगे वैसे यहाँ मण्डूक हैं, और यहाँ इन्द्रियाधीन पुरुष भी नहीं है, सब अन्तरङ्ग भक्त हैं अन्तरङ्ग भक्त इन्द्रियाधीन नहीं होते हैं। **'टिप्पणी'**

१-बीर बहूटी-बरसाती लाल कीड़ा, २-छत्राक ।

व्याख्यार्थ – यह सर्व भूमि, मनुष्यों की लक्ष्मी, राज्य की लक्ष्मी तथा उसके समान धन सम्पत्ति की भाँति तीन गुणों वाली हो गई । हरी घास से हरी, पटबीजना से लाल, छत्रांक से श्वेत हुई अर्थात् पृथ्वी हरी लाल और श्वेत होने से तीन प्रकार की हुई । इस पृथ्वी पर, पटबीजना तो राजा के समान, छत्रांक छात्र के समान और घास के तिनके सेना के समान हैं । जिससे यह जताया है कि पृथ्वी भी मानो युद्ध की सामग्री वाली है । अत: जैसे तलवार अर्थात् युद्ध से जो आजीविका की जाती है, वह मारने वाली ही है, वैसे ही खेती से होने वाली आजीविका भी, मृत्यु लाने वाली ही है । अर्थात् जैसे युद्ध करने में, मृत्यु का भय बना रहता है वैसे ही खेती में भी मृत्यु का डर रहता है ॥ ११ ॥

आभास – शरत्कालीनो धर्मस्तथैव च भवत्यन्तस्तोषतदभावावाह क्षेत्राणीति,

आभासार्थ – शरद ऋतु का धर्म वैसा ही है और इस श्लोक में अन्त:करण की प्रसन्नता और उसका अभाव वर्णन करते हैं ।

श्लोक: – **क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षुकाणां मुदं ददुः ।**
मानिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ – खेत, धान्य की समृद्धि से किसानों को आनन्द देने लगे । सब (जय-पराजय) दैव के आधीन है, इस तत्त्व को नहीं जानने वाले आक्रमणकारी अभिमानियों को दु:खदायी हुए ॥ १२ ॥

सुबोधिनी – **सस्यानां सम्पत्तिभिः** कृत्वा **कर्षुकाणां** कृषीवलानां **क्षेत्राणि मुदं** ददुः, मानिनामभिमानवतां शत्रुवधार्थं प्रवृत्तानां वर्षासस्यादिभिः प्रतिबन्धं ज्ञात्वा क्लिष्टानामु**पतापं च** ददुः, **जयादिकं सर्वं भगवदधीनं**, न हि वर्षाप्रतिबन्धाभावे सर्वथा तेषां जयो निश्चयाभावात् तदाह **दैवाधीनमजानतामिति, जये पराजये च दैवमेव प्रयोजकम्** ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ – खेत, धान की सम्पदाओं से, किसानों को हर्ष देने वाले हुए । शत्रु पर विजय पाने के लिए आक्रमण करने वाले अभिमानियों को, वर्षा से उत्पन्न हुई कीचड़ से, तथा मार्ग की रुकावट करने वाले सस्य आदि से, खेत दु:खदायी हुए । वे अभिमानी इस शास्त्रीय सिद्धान्त को तो समझते नहीं हैं कि सबकुछ (जय और पराजय) दैव के आधीन है, दैव अनुकूल है तो रुकावटों के होते हुए भी जय होगी और यदि दैव अनुकूल नहीं है, तो रुकावटें न होने पर भी पराजय होती है ॥ १२ ॥

आभास – एवमृतुन्यायेन वर्णनामुक्त्वा मासन्यायेन द्वादशधा धर्मानाह जलस्थलौकस इति द्वादशभिः, मासा हि निमित्तं धर्मिणोत्र प्रधानगुणा वाच्याः ।

आभासार्थ – इस प्रकार ऋतुओं के न्याय से वर्णन कर अब १२ श्लोकों में, महीनों के न्याय से द्वादश प्रकार के धर्मों का वर्णन करते हैं । महीने (धर्मी के स्वरूप प्राप्त कराने में) कारण हैं । अतः यहाँ मुख्य जो धर्मी है उनके प्रधान गुण कहने चाहिये सो कहे जाते हैं ।

कारिका – **जीवा नद्यः पर्वताश्च मार्गा कामिन्य एव च ।**
विद्यावांश्चन्द्रमा बर्ही भक्ता वा तापसास्तथा ॥ १ ॥
गृहिणो वैदिका मार्गा राजानश्चेति कीर्तिताः ।
त्रिविधाः सर्व एवैते मासभोग्याः प्रकीर्तिताः ॥ २ ॥
सर्वेप्येते वृष्टिकाले सुखं दुःखं च लेभिरे ।
पुष्टिमार्गस्थिताः सर्वे सुखं प्रापुर्न चापरे ॥ ३ ॥

कारिकार्थ – १-जीव, २-नदियाँ, ३-पर्वत, ४-मार्ग, ५-कामिनियाँ, ६-विद्यावाले, ७-चन्द्रमा, ८-मयूर वा भक्त, ९-तपस्वी, १०-गृहस्थी, ११-वैदिक मार्ग, १२- राजा लोग ये सब तीन प्रकार के मास न्याय से भोग्य कहे गए हैं ॥ १-२ ॥

ये सब वर्षा के समय में सुख तथा दुःख भोगने लगे, सुख तो उनको हुआ जो पुष्टि मार्गीय थे, जो दूसरे (पुष्टि मार्गीय नहीं) थे वे दुःख भोगने लगे ॥ ३ ॥

श्लोकः –**जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया ।**
अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ – जैसे हरि की सेवा करने से, भक्त जन सुन्दर स्वरूप को पाते हैं, वैसे ही जल तथा स्थल के रहने वाले जीवों ने वर्षा के नवीन जल से सुन्दर स्वरूप को प्राप्त किया ॥ १३ ॥

सुबोधिनी – तत्र क्रमेण सुखदुःखे निरूपयन्नादौ [illegible]वदीयं प्रावृडिति ज्ञापयितुं सर्वेषामेव प्राणिनां सुखजनिका जातेत्याह **जलस्थलौकस** इति, जलं वा स्थलं वौको येषां भूचरा जलचराश्च राजसास्तामसाश्च, सात्त्विकास्त्वनुक्तसिद्धाः सुखिनो दृष्टान्तार्थं भिन्नतया स्थापिताः, **सर्व** एव **नववारिसेवया** नवजलसेवया **रुचिरं** मनोहरं **रूपमबिभ्रत्**,

दोषादपि रूपवैलक्षण्यं भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह **यथा हरिनिषेवया, भगवत्सेवया चतुर्भुजादि रूपं प्राप्नोति** **तेजोविशेषं वा**, हरिपदेन तदानीमेव गजेन्द्रस्य रूपान्तरसम्पत्तिः स्पष्टार्थं ज्ञापितेति प्रदर्शितम् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ – सुख किसको हुआ और दुःख किसको हुआ ? इसका क्रम पूर्वक निरूपण करते हुए, प्रथम बताते हैं कि यह वर्षा ऋतु सर्व प्राणि मात्र को सुखदायिनी हुई क्योंकि यह (वर्षा) ऋतु भगवदीय है, भगवदीय किसी को दुःख नहीं देते हैं किन्तु सुख ही देते हैं, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते है ।

पृथ्वी पर रहने वाले राजस जीवों ने तथा जल में रहने वाले तामस जीवों ने वर्षा से प्राप्त नवीन जल के सेवन से सुख प्राप्त किया अर्थात् नवीन सुन्दर स्वरूप धारण किया, शेष सात्त्विक तो सुखी हुए ही, उनके सुखी होने के लिये कहने की आवश्यकता नहीं है, सात्त्विक दृष्टान्त के लिये पृथक् कहे हैं । दोष से (चित्त में क्षोभ आदि होने से) भी रूप में विलक्षणता आ जाती है । इस शङ्का को मिटाने के लिये जो दृष्टान्त भगवान् की सेवा का दिया है, उससे सिद्ध है, कि व्रज में जो सब के स्वरूप नवीन सुन्दर हो गए हैं वे दोषों के कारण नहीं हुए हैं, जैसे भगवान् के सेवन से (जीव) चतुर्भुजादि रूप अथवा विशेष तेज को प्राप्त करता है । जिसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त 'गजेन्द्र' है, भगवान् के सेवन (स्मरण) से गजेन्द्र ने नवीन सुन्दर स्वरूप प्राप्त किया है ॥ १३ ॥

आभास – अभिमानी तु महान् मोहं प्राप्नोतीति समुद्रं निरूपयति,

आभासार्थ – बड़ा, अभिमानी होता है, अतः उसको मोह होता है, जिसको समझाने के लिए इस १४ वें श्लोक में समुद्र का निरूपण करते हैं-

श्लोकः --**सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षोभ श्वसनोर्मिमान् ।**
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ – जैसे अपक्व योगी का चित्त, काम वासना और विषयों से युक्त हो क्षोभित[१] होता है, वैसे ही समुद्र, नदियों के मिलने से तथा पवन के वेग से उत्पन्न लहरों से क्षोभ वाला होता है ॥ १४ ॥

सुबोधिनी – सरितो हि तस्य स्त्रियः, सर्वाभिरेव ताभिः **सङ्गतः सिन्धुः** समुद्रश्चुक्षोभ **क्षोभं** प्राप्तवान्, **वर्षाकालो हि कामिनां क्षोभकः सुतरां स्त्रीसङ्गिनां**, किञ्च श्वसनेन कृत्स्नोर्मिमांश्च जातः, तरङ्गाश्च गर्भस्थानीयाः, **वायुश्च** रजोगुणः, एवं तस्यानर्थो निरूपितः, महतःकथमनर्थ इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरत्यप**क्वयोगिन** इति, न पक्वो योगः फलपर्यवसायी यस्य, "चित्तवृत्तिनिरोधो" हि "योगः" स चेत् पक्वो भवेत् कुर्याच्चित्तवृत्तिनिरोधंअपक्वत्वान् निरोधो जात इव प्रतिभाति, परीक्षायां न सङ्गच्छते, तदाह **कामाक्तमिति**, स्वभावतो **गुणयुग्** गुणसम्बन्धी स चेत् **कामेनाक्तो** भवेद् विषयसम्बन्धी भवेत् तदा क्षोभं प्राप्नुयात्, कामलक्षणदोषयुक्तं वा **गुणयुग्** विषयसम्बन्धि, अतः **स्वभावदोषस्यानिवृत्तत्वान् महानपि क्षुभ्यति ॥ १४ ॥**

व्याख्यार्थ – वर्षा ऋतु का समय कामियों को क्षोभ करता है, उसमें भी, जो स्त्रियों के सङ्गी हैं उनको विशेष क्षोभ करने वाला होता है, जैसे कि नदियाँ समुद्र की स्त्रियाँ हैं वे जब समुद्र से जाकर मिलती हैं, वर्षा का समय होता है साथ में पवन चलती है तो समुद्र में लहरें उठती हैं जिससे समुद्र क्षुभित हो जाता है। लहरें समुद्र के गर्व को प्रकट करती है, वायु चलती है वह बताती है कि समुद्र में रजोगुण बढ़ रहा है, इस वर्णन से यह समझाया है कि महान् जो होते हैं वे अनर्थ वाले होते हैं। महानों में तो अनर्थ का अभाव होना चाहिए। आप कैसे कहते हैं कि महान् अनर्थ वाले होते हैं ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'अपक्वयोगी' का दृष्टान्त दिया है।

चित्त की वृत्तियों के पूर्ण संयम होने को **'योग'** कहते हैं, यदि योग इस प्रकार परिपक्व हो गया हो, तो फल की सिद्धि होती है; अर्थात् वह योगी कामाधीन न होने से क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है, किन्तु योगी का योग यदि पूर्ण नहीं हुआ है, तो उसका (योगी का) चित्त विषयों से डुल जाता है। अपक्व योग से, परीक्षा के समय अनुत्तीर्ण हो जाता है। विषयासक्त होकर, क्षोभ को प्राप्त होता है। अतः स्वभाव से सिद्ध दोष, जब तक समूल नष्ट नहीं होते हैं, तब तक महान् भी अनर्थ वाले हो जाते हैं ॥ १४ ॥

आभास – तत्रापि ये पुनर्महान्तो दृढा उच्चा भगवन्निष्ठा न तु ज्ञानिन इव सर्वसमाः समुद्रविलक्षणास्तेषां वर्षाकृतोपद्रवमाह। गिरय इति,

आभासार्थ – उनमें भी जो, फिर दृढ़, उच्च तथा भगवान् में निष्ठावाले महापुरुष हैं, वे ज्ञानियों की भाँति सर्व सम नहीं है, समुद्र से विलक्षण (पर्वत) जैसे वर्षा के उपद्रवों को सहन करते हैं वे (भगवन्निष्ठ) भी, सर्व व्यसनों को सहन करते हैं जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।**
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ – जैसे भगवान् में स्थित चित्तवाले भक्त दुखों से अभिभूत[१] होने पर भी, क्षोभ[२] को प्राप्त नहीं होते हैं वैसे ही पर्वत, वर्षा की धाराओं से पीड़ित होते हुए भी, व्यथा को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

सुबोधिनी – निरन्तरं **वर्षधाराभिर्हन्यमाना** अपि **गिरयो न विव्यथुर्व्यथां** न प्राप्तवन्तो यतस्तेऽन्तः साराः, हेतुं दृष्टान्तेन स्पष्टयत्य**भिभूयमाना व्यसनैर**िति, **यथा व्यसनैः** स्त्र्यादिभिरापद्भिर्वा**भिभूयमाना** वशीक्रियमाणा अप्य**धोक्षजचेतस** इन्द्रियातीते **भगवति स्थापितचित्ता न क्षोभं प्राप्नुवन्ति** तथा, तदा कन्दरादिष्वन्तर्भगवानस्तीति तत्र वृष्टिधारास्पर्शनिवारकत्वं स्वस्य सम्पद्यत इति तदानन्देन च पूर्णा धाराकठिनस्पर्शमपि सुखत्वेन मानयामासुर्जलद इवातपस्पर्शमित्यर्थः, **अधोक्षज**पदेनान्याविषयत्वोक्त्या रहश्शयनं सूच्यते, यत्र जडाः कठिना अप्येतादृशास्तत्र चेतनाः किमु वाच्या इतिभावः, समुद्रस्तूद्धृतरत्नादिरित्यसारः ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ – निरन्तर[३] वर्षा की धाराओं की मार सहते हुए भी पर्वत व्यथित नहीं हुए, कारण कि, उनकी कन्दराओं में भगवान् विराजमान हैं। वे समझते हैं, कि हमारे भीतर विराजमान प्रभु को वर्षा की धाराओं से होने वाले कष्ट को हमने रोक कर, प्रभु की सेवा की हैं, जिससे वर्षा की धाराओं के दुःख रूप कठिन स्पर्श को यों सुख रूप समझने लगे, जैसे बादल, धूप के स्पर्श को आनन्ददाता समझते हैं। इसी प्रकार, वे महान् पुरुष, जिनके चित्त में इन्द्रियातीत परब्रह्म विराजमान हैं, उनको व्यसन (स्त्री आदि अथवा आपदाओं से) पराभव होने पर भी क्षोभ[२] नहीं होता है।

भगवान् का 'अधोक्षज' नाम देकर यह भाव बताया है कि उनके पास अन्य नहीं जा सकते हैं, कारण कि, आप पोढ़े हुए हैं। यदि उस स्वरूप में आसक्त कठोर जड़ (पर्वत) भी भगवदीय हैं, तो चेतन जीव उसमें आसक्त हो जावें, उसमें कौनसा आश्चर्य है ? समुद्र से रत्न निकाल लेने से, वह निःसार हो गया है, जिससे उसका चित भगवान् में नहीं लगता है ॥ १५ ॥

आभास – एवं राजसीं सात्त्विकीं व्यवस्थामुक्त्वा तामसीमाह मार्गा बभूवुरिति,

आभासार्थ – इस प्रकार उपरोक्त दो श्लोकों में, राजसी तथा सात्त्विकी व्यवस्था बताकर, अब तामसी व्यवस्था निम्न श्लोक में कहते हैं-

श्लोकः – **मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः ।**
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ – जैसे अभ्यास न करने तथा समय व्यतीत हो जाने से, ब्राह्मणों को श्रुतियों के स्पष्ट शुद्ध पढ़ने में कष्ट होता है, वैसे ही लोगों का आना जाना न होने से और घास से ढक जाने से तथा सफाई न होने से, मार्ग संदिग्ध हो गए, जिससे आने जाने में पथिकों को कष्ट होने लगा ॥ १६ ॥

सुबोधिनी – सर्व एव **मार्गाः सन्दिग्धा** जाता यत**स्तृणैराच्छन्नाः**, युक्तश्चायमर्थः प्रत्यक्षत एव सन्देहदर्शनात्, पूर्वं ये तेन मार्गेण सञ्चरन्ति तान् प्रति **सन्दिग्धा** अन्येषां तु ज्ञानमेव न यत**स्तृणैश्छन्नाः**, तर्ह्यग्रे मार्गप्रवृत्तिः कथमित्याशङ्क्याहा**संस्कृता** इति, संस्कारपर्यन्तं सन्देह एव संस्कारभावे तु मार्गस्य लोप एव, बहुधा दृष्टस्य कथं सन्देहजनकत्वमितिशङ्कां दृष्टान्तेन वारयति **नाभ्यस्यमाना** इति, **यथानभ्यस्यमानाः श्रुतयस्तैरेव द्विजैः** पुनः स्मृताः सन्दिग्धा भवन्ति, आम्नायश्छन्दसां दण्डः, तदभावे सन्देहः सहजस्तस्य, **कालेन** महता **हताश्च** भवन्ति ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ – वर्षा होने से, उत्पन्न घास से, सर्व मार्ग ढक गये थे; जिससे वे मार्ग, आने जाने वालों को भी संदेह उत्पन्न करने वाले हो गए कि, यह मार्ग है या नहीं है । अनजान के लिए तो मार्ग का पता ही नहीं पड़ता । जब तक वे साफ नहीं किए जाएँगे, तब तक आने जाने में रुकावट ही रहेगी । यदि विशेष समय यों ही छोड़ दिया सफाई नहीं की गई तो मार्ग लुप्त हो जाएँगे । जिस राह को बहुत बार देखा है उसमें सन्देह क्यों पड़ा ? इस शङ्का को दृष्टान्त देकर मिटाते हैं कि जैसे ब्राह्मण वेद का पढ़ना छोड़ दे, तो उसको वेद विस्मृत हो जाएगा, पुनः पढ़ने के समय उनको शङ्का होती है, कि ये श्रुतियाँ वैसी हैं या नहीं ? इसी प्रकार पथिकों को भी मार्ग में न आने जाने से, सन्देह पड़ता है । अतः अभ्यास करना यह वेद का दंड (स्मृति कराने वाला) है, यदि अभ्यास नहीं किया जाता है तो वेद पढ़ने के समय सन्देह उत्पन्न होता है कि यह बराबर है या नहीं, यदि बहुत समय छोड़ा गया हो, तो ब्राह्मण वेद के मूल को भूल जाता है।

आभास – एवं गुणातीतसगुणभेदेन चतुर्धा वर्षाकृता धर्मा उक्ताः पुनर्विपरीततया चतुर्धा निरूपयति, द्वितीये राजसाः प्रथमास्ततः सात्त्विकस्ततस्तामसो गुणातीतश्चेति तामसभावेन चतुर्धाग्रे निरूपयिष्यति,

आभासार्थ – इस प्रकार निर्गुण तथा सगुण भेद से, वर्षा के चार प्रकार के धर्म कहे हैं। अब विपरीत प्रकार से, वर्षा के चार प्रकार के धर्मों का वर्णन करते हैं । प्रथम राजस, फिर सात्त्विक, अनन्तर तामस, अन्त में निर्गुण, इसी क्रम से वर्षा के चार धर्म कहते हैं-तामस भाव से चार प्रकार के धर्मों का निरूपण आगे करेंगे ।

श्लोकः – **लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः ।**
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ – जैसे कामिनियां[१] गुणवान पुरुषों में भी मन को स्थिर नहीं करती हैं वैसे ही वर्षा के समय में लोगों के बन्धु रूप मेघों में बिजली स्थिर नहीं रहती है ॥ १७ ॥

सुबोधिनी – तत्र स्त्रियो राजस्यो मुख्यास्तासां राजसस्तामसो वा चेद् भर्ता तदा स्थिरता सात्त्विकत्वे तु न **स्थैर्य**, विद्युतामस्थैर्ये हेतुरनेनोच्यते, **लोकबन्धुषु लोकानां सर्वेषां बान्धवा मेघाः**, यदि सर्वमेव जलं विद्युत्स्वेव प्रयच्छेयुस्तदा **विद्युतः** स्थिरा भवेयुस्ते तु **लोकहितैषिण** इति सर्वेभ्यो दाने तेषु **चलसौहृदा** जाताः, **सौहार्दं** तत्प्रकाशकत्वं तत्र शोभाजनकत्वं वा, यत एताः **कामिन्यः**, अतो लोकेऽपि **कामिन्यः** परोपकारनियतेषु स्थिरतां न प्राप्नुवन्ति, **कामिनी**पदात् कुलवधूत्र्युदासः, युक्तश्चायमर्थः, सर्वस्वे दत्ते किं ता भक्षयेयुरिति चेत् तत्राह **गुणिष्व**पीति, ते हि गुणवन्तस्ततोऽप्यधिकं सम्पादयिष्यन्ति, तथापि प्रत्यक्ष एव पर्यवसितमतित्वान् **न स्थैर्यं चक्रुः** मेघा अपि गर्जनेन गुणवन्तः ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ – गुणों से, जीव तीन प्रकार के होते हैं उनमें जो जीव राजस हैं, उनमें स्त्रियाँ मुख्य हैं, अर्थात् स्त्रियों में रजोगुण मुख्य है; अतः वें सतोगुणी पति से, प्रेम कर उसके पास स्थिर स्थिति नहीं करती है, किन्तु राजस वा तामस पति में स्थिर स्थिति करती हैं। जैसे बिजली लोक बन्धु मेघों में स्थिर नहीं रहती है, प्रकाश कर चली जाती है, प्रकाश से, अपना प्रेम तो प्रकट करती हैं, किन्तु वे समझती हैं कि हमारे पति मेघ लोकबन्धु (सात्त्विक परोपकारी) है, अपना सब धन (जल) पृथ्वी को दे देंगे जिससे हम दरिद्र भूखी रह जायँगी । इस प्रकार के विचार कामनियों का होता है । इसलिए श्लोक में, 'कामिन्यः' पद दिया है† बिजली कामिनीयों हैं । जिससे यह बताया है, कि लोक में, भी व्यभिचारिणी स्त्रियाँ यों करती है, किन्तु कुलीन स्त्रियाँ तो इस प्रकार न कर, पति से स्थिर प्रेम करती हैं । क्योंकि वे समझती हैं कि पति को अपने पोषण से भी, हमारे पोषण की चिन्ता विशेष रहती है । वे जो कुछ दान करते हैं; उससे उनको भगवान् विशेष देते हैं; जिससे हमारा भरण पोषण सुख से होगा किन्तु कामिनियाँ तो प्रत्यक्ष को ही देख, गुणवान से प्रेम नहीं करती हैं । श्लोक में 'गुणवान' विशेषण देकर यह बता दिया है, कि वे सात्त्विक पुरुष इस बात को जानते हैं, कि दान से वृद्धि ही होती है । मेघ गर्जना कर अपना गुणीपन बताते हैं ॥ १७ ॥

आभास – विजातीया अपि विजातीयेषु शोभां प्राप्नुवन्तीति, प्रावृट्कृतधर्ममाह धनुरिति,

---

१-स्त्रियाँ ।

---

†व्रज में 'कामिनियां' केवल 'बिजलीयों' थी, वहाँ की स्त्रियों में तो 'कामिनी' कोई नहीं थीं, सब प्रभु में स्थिर प्रेम वाली थी । **'टिप्पणी'**

आभासार्थ – वर्षा ऋतु के गुण से विजातीय भी, विजातीय में शोभा पाता है, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात् ।**
व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान् पुरुषो यथा ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ – गुणों की गड़बड़ वाले प्रपंच में[१] गुण रहित पुरुष शोभा देता है वैसे (ही) गुणवाले आकाश में, निर्गुण महेन्द्र का धनुष शोभा देने लगा ॥ १८ ॥

सुबोधिनी – वियत्याकाशे **माहेन्द्रं धनुर्निर्गुणमपि** गुणिन्यपि विद्यावत्यपि **विषयाभावात्** प्रकाशं प्राप्तवत्, महेन्द्रोपि वृत्रवधान् 'महान् वा अयमभूद् यो वृत्रमवधीदिति तन् महेन्द्रत्वमितिश्रुतेर्भगवत्सम्बन्धो महेन्द्रे निरूपितः, तस्य सम्बन्धाद् वज्रं **निर्गुणमपि सगुणे शोभां प्राप्नोति तथा भगवदीयोपि सर्वत्र शोभां प्राप्स्यतीति** फलितं, **जीवास्तु त्रिविधाः स्वभावतो भगवद्गुणवन्तो दोषवन्त उभयरहिताश्च,** तत्र देवा गुणवन्त दैत्या दोषवन्तो मानुषास्तू-भयरहिताः, तेऽपि भगवत्कृपया देवा इव गुणवन्तो भवन्ति तदभावेऽपि कर्मणा **व्यक्ते गुणव्यतिकरे** संसारे त्रिगुणयुक्ते **गुणवान**पि **पुरुषो** योनिबीजवर्णधर्मान् प्राप्य **भासते**, अगुणत्वाद् **गुणातीतो वा भगवत्सेवकः** भगवद्धर्मान् दृष्टान्तीकुर्वतेन्द्रधनुषो माहात्म्यं निरूपितं, **भगवदीयैव सम्पत्तिर्गुप्तं भगवदीयं प्रकटीकरोतीति, पुरुष** इति गुणातिरिक्तत्वख्यापनाय, प्रकृतिस्तु गुणमय्येव ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ – इन्द्र धनुष निर्गुण-डोरी (ज्या) बिनाका-है और आकाश गुणवान है। गुणवान आकाश में निर्गुण इन्द्र धनुष उभरा है। (आकाश को गुणवान इसलिए कहा जा रहा है कि श्रुति में आकाश को ब्रह्म का शरीर बतलाया है। शरीरी का परिचय शरीर से होता है, विद्या से ज्ञान प्राप्त होता है अतः आकाश-ब्रह्म विद्यावान है-गुणवान है। इन्द्र धनुष का कोई लक्ष्य न होने से, निर्गुण होने पर भी, शोभास्पद हुआ।

इसी तरह गुणातीत वज्र भी (आयुधानामहं वज्रः के अनुसार भगवद् विभूति रूप होने से) सगुण महेन्द्र के हाथ में शोभता है। श्रुति* कहती है, कि इन्द्र वृत्र को मारकर महेन्द्र बन गया। यहाँ भगवत् सम्बन्ध ही इन्द्र का दिखलाया गया है। या जैसे सगुण इन्द्र के सम्बन्ध से, वज्र निर्गुण होने पर भी, भगवद् गुण वाले इन्द्र के हाथों में शोभा देता है, वैसे भगवदीय भी सर्वत्र† शोभास्पद है।

---

*महान् वा अयमभूद् यो वृत्रमवधीदिति तन् महेन्द्रत्वम्।

†भगवद् गुणों वालों में गुणातीत शोभता है, तो भगवद् गुण रहितों में तो अवश्य वही शोभेगा।

१-संसार में।

जीव तीन तरह के होते हैं (१) स्वभावतः भगवद् गुणों से युक्त, देव। (२) स्वभावतः दोष वाले, दैत्य, (३) गुण दोष दोनों से रहित-मानव। यह मानव भी भगवान् की कृपा से गुणवान बन सकता है। भगवद् गुण के बिना ही कर्म से व्यक्त सत्त्व रजस्तमो गुण वाले संसार में गुण रहित भी पुरुष योनि, बीज और वर्ण के धर्मों को लेकर भासमान होता है, अथवा निर्गुण होने के-कारण, भगवान् के सेवक गुणातीत + होते हैं। इस तरह इन्द्र धनुष की शोभा के वर्णन में भगवान् के धर्मों का दृष्टान्त देकर, उसका माहात्म्य भी दिखलाया है क्योंकि भगवान् से संबद्ध वस्तु ही‡ भगवदीय को प्रकट कर सकती है। 'पुरुष' कह कर गुणों से पृथकता दिखलायी जब कि प्रकृति तो गुणमय ही है। × ॥ १८ ॥

आभास – गुणेष्ववशिष्टं चन्द्रमाह न रराजेति,

आभासार्थ – अब इस श्लोक में गुणों में अवशिष्ट[१] तामस चन्द्र का वर्णन करते हैं-

श्लोकः – **न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः ।**
अहम्मत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ – जैसे अपने प्रकाश से प्रकाशित अहङ्कार वाली बुद्धि से आच्छादित[२] पुरुष शोभा को नहीं पाता है, उसी प्रकार अपनी चाँदनी से प्रकाशित हुए मेघ से आच्छादित चन्द्रमा सुशोभित नहीं हुआ ॥ १९ ॥

सुबोधिनी – उडुपः क्षुद्रपोषको नक्षत्राधिपतिः **स्वज्योत्स्नयैवाभासितैरपि घनैर्न रराज**, तत्र भगवदीय-व्यतिरिक्तं पुरुषं साहङ्कारं दृष्टान्तीकरोत्य**हम्मत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथे**ति, **अहम्मति**रहङ्कारोऽहमिति या बुद्धिः सापि **स्वभासा**त्मभासैव भासिता तथापि तया **पुरुषो** न शोभते ॥ १९ ॥

+अर्थात् तीन प्राकृत गुण वाले संसार में गुणातीत भगवदीय जैसे शोभता है वैसे इन्द्र धनुष आकाश में शोभा।

‡इन्द्र धनुष भगवदीय है क्योंकि वर्षा ऋतु द्वारा भगवान् की लीला के विनियोग के लिए उभरा है।

×यहाँ निर्गुण शब्द वाच्य सगुण शब्द वाच्य में शोभता है इसी अंश दृष्टान्त और इन्द्र धनुष का वर्णन है। सगुण और निर्गुण शब्द अनेक अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुए हैं।

१-शेष बचे हुए।   २-ढका हुआ।

व्याख्यार्थ – जिस प्रकार, प्रपञ्च में अपने ही प्रकाश से प्रकाश वाली अहं बुद्धि (अभिमान) से युक्त अभक्त पुरुष शोभा को नहीं पाता है, वैसे ही, अपनी ही चाँदनी से प्रकाशित मेघों से, क्षुद्र जो तारे एवं नक्षत्र हैं उनका अधिपति होते हुए भी चन्द्रमा शोभा को प्राप्त नहीं होता है ॥ १९ ॥

आभास – एवं त्रिविधानुक्त्वा ये केवलं भगवदीया यथा मेघोन्नत्यभिकाङ्क्षिणो बर्हिणस्ते सुखिनो भवन्तीति वर्षाकृतं तेषु सुखमाह ।

आभासार्थ – इस प्रकार वर्षा के कारण, सगुणों की दशा का वर्णन कर, अब इस श्लोक में कहते हैं कि जो मयूरों के समान निर्गुण भगवदीय हैं, वे सुखी होते हैं ।

श्लोकः – **मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः ।**
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥ २० ॥

श्लोकार्थ – जिस प्रकार घर में सन्ताप को प्राप्त हुए विरक्त पुरुष, भगवद्भक्त के आगमन से प्रसन्न हो उनका वाणी आदि से सत्कार करते हैं, उसी भाँति गरमी से तपे (दुःखी) हुए मोर मेघों के आगमन रूप उत्सव को देख, उनका केकावाणी से आदर करते थे ॥ २० ॥

सुबोधिनी – **मेघागमोत्सवा**-निति, मेघानामागमे य उत्सवः स येषां सस्यवृक्षलतादीनां तान् **दृष्ट्वा मेघोत्सवान्** वा वृष्टिविद्युदादीञ् **शिखण्डिनो** मयूरा **प्रत्यनन्दन् भगवता विचित्राः कृता** एव **भगवदीयोत्सवं मन्यन्त** इति, एतन्निरूपणं यदर्थं तदाह **गृहेषु तप्ता** इति, **गृहेषु स्थिता** गृहादिचिन्तया तप्ता दुःसङ्गैरसदिन्द्रियैश्चात एव गृहा बहुविधा उक्ताः, तथाभूता अपि यदा **निर्विण्णास्तापे**नैव वा निर्विण्णा **अच्युतजना** जितेन्द्रियाः **परमहंसा त्रिदण्डिनो भगवज्जनास्ते** हि परिभ्रमन्तो वर्षासु गृहस्थस्य गृहे गच्छन्ति तदा तेषां समागमो भवति तेषु समागतेषु **ये निर्विण्णास्ते प्रतिनन्दनं** कुर्वन्ति न त्वनिर्विण्णाः, अतः प्रावृट् सर्वेषामेव तप्तानां सुखदायिनी ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ – जिस प्रकार, ग्रीष्म के ताप से दुःखी जीवों में भी, केवल भगवदीय मयूर ही मेघों के आगमन से जो आनन्द उत्सव होता है (जैसे कि बेल बूँटे वृक्ष आदि हरियाली एवं पुष्प फलों से सुशोभित होते हैं तथा वृष्टि और बिजली आदि से शोभा होती है) उसको देखकर प्रसन्न हो, उनका केका वाणी से अभिनन्दन[1] करते हैं, उसी भाँति, घरों में रहने वाले जो गृहस्थी भी दुःसङ्ग अथवा असत् इन्द्रियों से एवं गृह की चिन्ताओं से व्याकुल हो दुःखी होने से निराश

१-प्रशंसा ।

होते हैं, वे जब (वर्षा ऋतु में) देखते हैं, कि हमारे यहाँ भगवान् के जन,[१] परमहंस त्रिदण्डधारी संन्यासी जिन्होंने इन्द्रियों को जीतकर भगवान् में मन पिरो दिया है, वे पधारे हैं, तब उनका समादर कर प्रसन्न होते हैं। उनके सङ्ग से उस दुःख से छूट कर, आनन्द को प्राप्त करते है। जिनका मन दुःखों से व्याकुल न हो, घरों में आसक्त है, उनको आनन्द नहीं प्राप्त होता है और वे उनका अभिनन्दन नहीं करते हैं। भगवदीयों वर्षा ऋतु संसार से तप्त सब भगवदीया को* आनन्द देती है ॥ २० ॥

आभास – प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यमाह पीत्वाप इति, ।

आभासार्थ – अब निम्न चार श्लोकों से, चार प्रकार के तामसों का पृथक्[२] पृथक् वर्णन करते हैं-

श्लोकः – **पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन् नानात्ममूर्तयः ।**
प्राक्क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ – जैसे, प्रथम तप करने से दुर्बल और थके हुए पुरुष, प्रिय पदार्थों के सेवन से पुष्ट होकर, अन्य रूप वाले होते हैं, वैसे (ग्रीष्म के ताप से शुष्क) पेड़ वांछित जल का मूल से पान कर, हरे रूप वाले होते हैं ॥ २१ ॥

सुबोधिनी – **पादपाः** सर्वे वृक्षास्तामसेषु सात्त्विकाः, **नानात्ममूर्तिर्येषां** तादृशा जाताः, पानमप्रत्यक्षसिद्धमिति **पद्भिरित्युक्तं पादपशब्दो** रूढो वा भवेदिति, तेषां नीरस्यैव जीवनत्वेन पदयोरेव तत्पानसाधनत्वेन स्वच्छाययैवोग्रताप-शीतादिभ्यः स्वपादान् पान्तीति वा तथा, **नानामूर्तयस्तु** स्वभावत एव भवन्ति वृक्षाणामनियतरूपस्योक्तत्वात्, तन्निराकरणार्थ**मात्म**पदं, यस्य ग्रीष्मर्तौ या मूर्तिः स्थिता ततो विलक्षणा **नानामूर्तिर्जा**तेति, एतदपि निरूपणं यदर्थं तदाह **प्राक्क्षामा** इति, पूर्वं **क्षामा** दुर्बलास्**तपसा** न केवलं देहदौर्बल्यमपि तु **तपसा श्रान्ताः**, इन्द्रियशक्तिरपि कुण्ठिता भवति, ते यदा तपः फलरूपं **काममनुसेवन्ते** तदा प्रत्यहं **नानात्ममूर्तयो** भवन्ति, ते वर्षायामेव पुष्टा भवन्तीति प्रकृते निरूपितं, अन्यदा शोषकबाहुल्यान् न शीघ्रमुपचयः ॥ २१ ॥

*लेख तथा टिप्पणीजी में दिए हुए भावों का सारांश-यद्यपि श्लोक में 'मयूर' मेघ के आगमन से प्रसन्न हो उनका सत्कार करते हैं यों कहा है, किन्तु इसका भीतर का आशय यह है, कि स्वामिनीयाँ मेघों को देख, उनका अभिनन्दन करती है, कारण कि वर्षा ऋतु में ही प्रभु वन तथा पर्वत आदि पर, जब स्वैर विहार करने पधारते हैं, तब स्वामिनियाँ वहाँ जाती है, मेघ आकर वर्षा करते हैं तो प्रसन्न होती है, क्योंकि वर्षा के कारण प्रीतम का मिलाप विशेष मिलेगा, नहीं तो घर शीघ्र लौटना पड़ता। अब वर्षा के कारण, बहाना मिल गया है। घर वाले रीस नहीं करेंगे, अतः भगवदानन्द देने वाले मेघों का सत्कार करती हैं।

१- भक्त। २--अलग अलग।

व्याख्यार्थ – जड़ पदार्थ तामस होते हैं, किन्तु उन तामसों में वृक्ष सात्त्विक हैं। वृक्षों के अपने रूप पृथक्[१] पृथक् हैं, वे मूल से पानी पीते हैं, जिससे उनका पानी पीना कोई भी नहीं देख सकता है। 'पादप' शब्द का रूढ़ि[२] अर्थ है। 'मूल से पानी पीने वाला' किन्तु शब्दों से. जो दूसरा अर्थ निकलता है, वह 'यौगिक' अर्थ इस प्रकार है-जो अपनी छाया से प्रबल ताप तथा शीत से अपने मूल की रक्षा करते हैं-वे 'पादप' कहे जाते हैं।

वृक्ष, एक प्रकार से उत्पन्न नहीं होते हैं, अत: वे अनेक रूप वाले तो होते ही हैं, किन्तु यहाँ 'आत्म' शब्द देकर यह भाव बताया है, कि गर्मी के कारण, जो वृक्षों के अपने रूप हो गए थे, वे बदल कर नाना रूप हो गए जैसे कि कहा है, प्रथम तपस्या के कारण देह से दुर्बल और ताप से श्रान्त होने से जो इन्द्रियों से भी दुर्बल हो गए थे, वे अपने मनोवाञ्छित जल प्राप्त होने से, उसका* पान कर अनेक रूप वाले (हरे, पत्र पुष्प फल आदि से) युक्त होकर इन्द्रिय देह से पुष्ट हो गए। यदि इस प्रकार वांच्छित जल की प्राप्ति न होती, तो विशेष शोक होने से शीघ्र बल की प्राप्ति न होती। श्लोक में तपस्वी पुरुष का दृष्टान्त देकर भी इसकी पुष्टि की गई है, कि पुरुष प्रथम तपस्या कर, देह तथा इन्द्रियों से निर्बल होता है; पुन: जब तपस्या का वांच्छित फल प्राप्त होता है (तब) उसका भोग कर, पुनः विशेष पुष्ट हो जाता है ॥ २१ ॥

आभास – तत्र राजसानामाह **सरस्स्वति,** ।

आभासार्थ – तामसों में जो राजस हैं उनका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक: – **सरस्स्वशान्तरोधस्सु व्यूषुरङ्गापि सारसाः ।**
गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ – हे महाराज ! जैसे दुष्ट अन्तःकरण वाले संसारी पुरुष, अखुट कर्मों

---

*जो एक पर दृढ़ विश्वास करते हैं, उनको वह मनोवाञ्छित फल देता है जैसे वृक्ष, अपने जीवन रूप जल की कामना करते हैं, किन्तु स्वयं उसको प्राप्त नहीं कर सकते हैं, अत: उसकी प्राप्ति कराने वाले मूल[३]की रक्षा करते हैं, जड़ निर्बल[४] ताप से तप्त होती है उसका दृढ़ आश्रय केवल वर्षा ऋतु पर है, आश्रय के फल स्वरूप, उस जड़ को वह ऋतु जल देकर तृप्त करती है। इसी प्रकार, जो भक्तभगवदीय का दृढ़ आश्रय रखता है, उसको उस (भगवदीय) से भगवद् रस की प्राप्ति होती है। भगवदीय वर्षा ऋतु भी, सर्वत्र निकुञ्ज आदि उत्पन्न कर, वहाँ भक्त को भगवत्सम्बन्ध का आनन्द दान करवाती है। **'टिप्पणी'**

१-अलग-अलग। २-लोक में प्रचलित। ३-जड़-पैरों। ४-दीन।

से भरे हुए, घरों में रहते हैं, उसी प्रकार, सारस पक्षी उन तलावों के किनारों पर जो किनारे सदैव एक समान शान्त नहीं है ॥ २२ ॥

सुबोधिनी – **सारसा** हि सरस्येव रसवन्तः, तानि वर्षाकाले पूरितानि भवन्ति, उपरि बहुदूरे जलं गच्छति ततश्च नीडं कृत्वा स्थिताः कूले, तत् कूलं जलेन प्लावितं भवति, तदुपरि कृतं तदपि कदाचित् कूलं पतति, एवमनेकविध-दोषदुष्टेष्वपि **सरस्सु सारसास्तद्रसाविष्टा व्यूषुः** समीपसप्तमीविशेपणवशाद**शान्तरोधसि** तिष्ठन्तीति गम्यते, एतद् यदर्थमुक्तं तदाह गृहेष्विति, न **शान्तं** कदाचिदपि **कृत्यं** कर्तव्यं येषु, **न ह्यामरणं गृहचिन्ता कदाप्यपगच्छति**, तेऽपि **ग्राम्या** ग्राम एवोत्पन्ना रता इन्द्रियग्रामपोषका वा तादृशा अपि **दुराशया** अन्तःकरणदोषयुक्ता अपि, **बहिर्निर्गतानां खेदेन भगवत्स्मरणं तीर्थदर्शनं सत्सङ्गो वा भवेत् क्रियाव्यापृतौ चिन्ताभावो वा**, वर्षायां तु सर्वाभावः ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ – जिन पक्षिओं को सरोवर पर रहने से ही रस (आनन्द) आता है, उनको 'सारस' कहते हैं। सरोवरों में सदैव जल स्वल्प[१] रहता है, किन्तु वे वर्षा के समय में पूर्ण भरपूर हो जाते है, जिससे जल ऊपर आ जाता है। जब जल ऊपर आता है, तब वे पक्षी अपना आवास[२] किनारे पर बना कर वहाँ रहते हैं और कभी किनारे भी पानी से भर जाते हैं, अर्थात् पानी में डूब जाते हैं, तो वहाँ भी क्लेश होता है, वहाँ रहने में इतने दोष होते हुए भी सरोवर के रस के इच्छुक, उस रस में मग्न होने से, वे (सारस) वहाँ ही रहते हैं। इसी प्रकार जिन घरों में रहने से कभी भी घर के कार्य पूरे नहीं होते हैं, मरण पर्यन्त घर की चिन्ता लगी ही रहती हैं, तो भी ग्राम में उत्पन्न होने से, ग्राम में ही जिनको आनन्द आता है, अथवा इन्द्रिय रूप ग्राम का पोषण करने वाले तथा अन्तःकरण के दोष वाले पुरुष भी ग्राम वा गृह को नहीं छोड़ते हैं। यदि घर छोड़ बाहर निकले, तो वहां दुःख प्राप्त होने से भगवान् की स्मृति हो, तीर्थों का दर्शन हो तथा सत्सङ्ग प्राप्त हो एवं काम में ही रुके रहने से चिन्ता का भी अभाव हो जाय, किन्तु इस सब को वर्षा होने नहीं देती है, कारण कि, वर्षा बाहर निकलने नहीं देती है ॥ २२ ॥

आभास – एवं राजसानुक्त्वा तामसानाह जलौघैरिति, ।

आभासार्थ – तामसों में जो सात्विक और राजस थे, उनका वर्णन कर अब तामसों का वर्णन करते हैं।

श्लोकः – **जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे ।**
पाषण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ – जिस भाँति कलियुग में, पाषण्डियों के असद्वादों[१] से, वेद के मार्ग नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार इन्द्र द्वारा की हुई प्रबल वर्षा से पुल टूट गए ॥ २३ ॥

सुबोधिनी – जलसमूहैः **सेतवो** नितरामभिद्यन्त भिन्ना जातास्तत्र च प्रतीकारो न शक्यः, **ईश्वरे वर्षति पर्जन्य ईश्वरः स हि सर्वसुखार्थं वर्षति,** ततो शक्यप्रतीकारात् **सेतवो** भिन्ना एव, एतदपि यदर्थं तदाह **पाषण्डिनामसद्वादैरि**ति, **कलौ** बुद्धावतारे भगवति तेन प्रवर्धिताः पाषण्डास्तेषाम**सद्वादैः** कुयुक्तिभिः सर्व एव **वेदमार्गाः** कर्मज्ञानभक्त्युपासनादि प्रतिपादकाः सर्व एव **निरभिद्यन्त** कलौ तेषां प्रयोजनाभावात् ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ – इन्द्र द्वारा की हुई प्रबल वर्षा से, पुल टूट गए, उसका कोई उपाय नहीं, कारण कि, वह वर्षा करने वाला ईश्वर है अतः वह (ईश्वर) जो कुछ करता है, सो सब के हित के लिए ही करता है। वर्षा होगी, तो पुल टूटेंगे ही, उसका कोई प्रतिकार[२] नहीं है। यह दृष्टान्त जिस लिए दिया गया है, वह श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहते हैं, कि कलियुग में, भगवान् ने बुद्धावतार धारण कर, असद्वादों से कल्पित युक्तियों से, पाषण्ड धर्म चलाए, जिनसे, सब वेद मार्ग (जो वेद मार्ग, कर्म, ज्ञान, भक्ति और उपासना आदि धर्मों का प्रतिपादन करते थे वे सब) टूट गए लुप्त* हो गए, क्योंकि, कलियुग में उनका कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २३ ॥

आभास – गुणातीतस्थानीयमाह व्यमुञ्चन्निति,

आभासार्थ – तामसो में जो गुणातीत है उसका वर्णन अब करते हैं।

श्लोकः – **व्यमुञ्चन् वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्योऽथामृतं घनाः ।**
यथाशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ – जैसे ब्राह्मणों की प्रेरणा से, भूपतिगण[४] समय समय पर दीनों को धनादिक देते हैं, वैसे (ही) वायु से प्रेरित मेघ, प्राणिओं को समय समय पर अमृत जल देते हैं ॥ २४ ॥

---

*व्रज में आपके बिराजने से केवल जल को पार करने के लिए जो पुलें थीं वे ही टूट गई थीं, किन्तु अन्य वेद धर्म की सेतु[३] नहीं टूटी थी, अर्थात् व्रज में, वेद धर्म उसी प्रकार ही चल रहा था। **'टिप्पणी'**

१-मिथ्या-झूठे। २-बदला-इलाज-उपाय। ३-पुल। ४-राजा।

सुबोधिनी – वायुभिः प्रेरिता **घना भूतेभ्योऽमृतं** रस्तादिजलं मघादिजलं वा मुमुचुः, अन्यत् तु जलं गच्छति मघादिजलं बध्यत इति दृष्टान्ते **काल**पदवीप्सया यदा यत्र जलमपेक्षितं तत्रैव तदैव वृष्टिरिति ज्ञाप्यते. **भूतेभ्य** इति चतुर्थी, एतदपि यदर्थं तदाह यथेति, **विश्पतयो** देशाधिपतयो ब्राह्मणैः **प्रेरिता आशिषो** धनादिकं प्रयच्छन्ति. **पुरोहितप्रेरिता हि ते दीनेभ्योऽन्नादिकं प्रयच्छन्ति**, वर्षासु दीनानां स्वतःकार्यसामर्थ्याभावाद् **यस्तु वर्षासु दाता स दातेति** ब्राह्मणप्रेरणा प्रत्यक्षकृतोपयोगिता ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ – जो जल, प्राणियों को अमृत[१] समान (हस्त और मेघा नक्षत्र में पड़ा हुआ जल अन्नादिक को उत्पन्न करता है अतः अमृत रूप है) हितकर होता है, वह जल समय समय पर अर्थात् जब प्राणियों को जल की आवश्यकता होती है, तब मेघ वायु की प्रेरणा से उनको देते हैं, जैसे राजा लोग, ब्राह्मणों (पुरोहितों) की प्रेरणा से दीनों को धन अन्नादि देकर, उनको सुखी करते हैं । वर्षा ऋतु में, दीन स्वतः अपने कार्य (धनादि को लाने के कार्य) करने में असमर्थ होते हैं; अतः जो वर्षा समय में दान करता है, वह ही दाता है, इससे ब्राह्मणों की प्रेरणा प्रत्यक्ष उपयोग वाली सिद्ध हुई है ॥ २४ ॥

आभास – एवमेकविंशतिप्रकारेण स्वरूपेण च प्रावृड् वर्णिता, तस्यां प्रावृषि भगवतो गुणानां च रमणमाह सप्तभिः, तत्र प्रथमं रमणार्थं भगवत प्रवेशमाहैवमिति,

आभासार्थ – वर्षा ऋतु का इक्कीस प्रकार तथा स्वरूप से वर्णन कर, अब वर्षा ऋतु में भगवान् ने स्वयं तथा गुणों ने जिस प्रकार रमण किया, उसका निम्न सात श्लोकों से वर्णन करते हैं । जिसमें प्रथम भगवान् ने रमण के लिए वन में प्रवेश किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

---

[१] श्री प्रभु चरण 'अमृत' शब्द का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं, कि पहले कह आए हैं, कि मेघों ने जल बरसाया, फिर वही बात दुबारा क्यों कही, ऐसी शङ्का निवारण के लिए 'अमृत' कहा, 'जल' नहीं, क्योंकि, जो जल, हस्त आदि नक्षत्रों में पृथ्वी पर पड़ता है, वह अन्न आदि उत्पन्न करता है । यदि वह ऐसे समय में न पड़े, तो धान्य उत्पन्न न होवे, पहले पड़ा हुआ जल व्यर्थ हो जाए, अतः इस जल को जल न कहकर, 'अमृत' कहा है, कारण कि, वह जल धान्यादि पैदा कर प्राणियों की क्षुधा रूप मृत्यु से रक्षा करता है, अतः यह जल 'अमृत' कह कर पुनरुक्ति दोष को मिटा दिया है ।

२ व्रज में सब को सब प्रकार की सम्पत्ति प्रभु देते थे; अतः उन (व्रजवासियों) को दूसरे, किसी का प्रयोजन नहीं था, वर्षा ऋतु भगवान् को लीला के लिए जिसकी आवश्यकता थी, उसकी प्रथम ही तैयारी कर देती थी ।

३ जैसे भूपति, दूसरों की प्रेरणा के बिना किसी को भी नहीं देते हैं, वैसे ही यहाँ व्रज में, केवल मेघ हैं, जो दूसरों की (वायु की) प्रेरणा से जलदान करते हैं, दूसरे नन्दादिक तो, अन्य की प्रेरणा के बिना (ही) सब को सर्व प्रकार के पदार्थ स्वयं देते हैं ।

श्लोक: — **एवं वनं तद् वर्षिष्ठं पक्वखर्जूरजम्बुमत् ।**
गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार बहुत सम्पदावाले, उस वन में, जहाँ खजूर और जामुन पके हुए थे, वहाँ गौ तथा गोपों से घिरे हुए श्रीकृष्णचन्द्र बलदेवजी सहित पधारे ॥ २५ ॥

सुबोधिनी — **एवं** पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वगुणसम्पन्नं **वनं** तत् प्रसिद्धं **वर्षिष्ठं** सर्वोत्तमं जातं, नन्वत्र वने क्रीड़ायां शीघ्रं गृहागमनं न सम्भवति भुक्त्वा गमनेऽपि महद् दिनमिति मध्ये क्षुद् भवेदाम्रादिफलानि तु निवृत्तानि ततः कथं रमणमित्याह **पक्वखर्जूरजम्बुमदिति**, **पक्वानि खर्जूरफलानि** जम्बुफलानि च यस्मिन् वने, **भगवान् गुणातीतः सत्त्वस्थानीयो बलो रजःस्थानीया गोपाला गावस्त्ववशिष्टाः**, तैः सर्वैरेव भगवदीयैरावृतः प्रकर्षेण क्रीड़ां कर्तुं स्वसम्पादितनिर्दुष्टैर्जीवैः सह वनं **प्राविशत्** ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ — जिस सर्व गुण वाले वन का पहले वर्णन हो चुका है, वह प्रसिद्ध वन, सबसे उत्तम हुआ। वैसे वन में रमण किया जाएगा तो घर शीघ्र लौटना न हो सकेगा और यदि भोजन कर जावें तो भी दिन बड़े हैं, बीच में भूख लगेगी, वन में वर्षा के कारण, आम्र फल तो भोजन के लिए मिलेंगे नहीं, क्योंकि, वे नष्ट हो गए हैं, अतः भूख होते हुए रमण कैसे हो सकेगा ? इस शङ्का के निवारण के लिए श्लोक में कहा है, कि बन में आम्र नहीं है, किन्तु भोजन के लिए पकी हुई खजूर तथा जामुन बहुत हैं, उनसे भूख मिटाई जाएगी, सत्व में स्थित बलरामजी रजोगुण में स्थित गोप और तम में स्थित गौ, इन तीन प्रकार के सर्व भगवदीयों से वेष्टित,[१] गुणातीत भगवान् जिन (भगवान्) ने सब के दोष निवृत्त कर दिए हैं, उन निर्दोष जीवों के साथ आप उत्तम प्रकार के रमण करने के लिए वन में प्रवृष्टि हुए ॥ २५ ॥

आभास — तत्र प्रथमं धेनूनां शोभामाह,

आभासार्थ — भगवान् जिनके साथ वन में पधारे उनमें से प्रथम गौओं की शोभा का वर्णन करते हैं।

श्लोक: — **धेनवो मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा ।**
ययुर्भगवताहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनीः ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ – भारी ऊध[१] के भार से गौ धीरे-धीरे चलती थी किन्तु जब भगवान् ने बुलाई तो वे स्तनों से दूध को स्रवित[२] करती हुई प्रेम से शीघ्र शीघ्र भगवान् के पास जाने लगी ॥ २६ ॥

सुबोधिनी – प्रवेशो वीर्यशक्तिरियं वैराग्यशक्तिर्वा, ऐश्वर्यशक्तिमाह **मन्दगामिन्यो** धेनवो जाता:, गर्भेणापि तथा भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाहो**धोभारेण भूयसे**ति, क्षीराशयस्यैव महान् भार:, तादृश्योऽपि **भगवताहूता** ऐश्वर्यवशाद् द्रुतमागता, निर्बन्धेनाप्यागमनं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह प्रीत्येति, प्रीत्याहूता: प्रीत्या च **ययु:** प्रीत्यैव **च स्नुता स्तना** यासां ङीप्टापौ व्यत्ययेन भवत: ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् का, वन में प्रवेश, उन (भगवान्) की वीर्य शक्ति* तथा वैराग्य शक्ति† का द्योतक[३] है अर्थात् यह प्रवेश भगवान् की वीर्य शक्ति तथा वैराग्य शक्ति को प्रकट करता है। ऐश्वर्य शक्ति का वर्णन करते हैं। गौ ऊध के भार से धीरे धीरे चलती थीं, यों कहने से यह बताया है, कि उस समय गौओं का धीरे धीरे चलना गर्भ के कारण नहीं था, अर्थात् वे गर्भवती नहीं थीं। यद्यपि ऊध के भार से वे धीरे धीरे चलती थी, तो भी जब भगवान् उनको बुलाते थे, तब वे प्रेम से दूध को बहाती हुई शीघ्र[२] भगवान् के पास जाती थीं। यह उनका भगवान् के पास जाना भगवान् से डर, वा उनके आग्रह के कारण नहीं था, किन्तु जैसे भगवान् प्रेम पूर्वक बुलाते थे, वैसे (ही) ये भी प्रेम से जाती थीं ॥ २६ ॥

आभास – गोपानां सुखमाह वनौकस: प्रमुदिता इति,

आभासार्थ – अब इस श्लोक में गोपों के सुख का वर्णन करते हैं।

---

*योजनाकार लालू भट्टजी कहते हैं कि जिस वन में प्रलम्ब आदि रहते थे जिनको भगवान् ने मारा था और दावाग्निओं का पान किया था वैसे भयङ्कर वन में भगवान् का प्रवेश उनकी (भगवान् की) वीर्य शक्ति प्रकट करता है।

†आठवें श्लोक की टिप्पणीजी में श्री प्रभुचरण ने कहा है कि यह लीला परोक्षवाद से रहस्यलीला कही गई है, भगवान् सदैव रहस्य लीला में आसक्त हैं तो भी आप जो अब बलराम, गौ और गोपों के साथ बाहर रमण के लिए वन में पधारे हैं जिससे भगवान् में वैराग्य शक्ति है यह सिद्ध होता है अर्थात् भगवान् ने यह लीला कर अपनी वैराग्य शक्ति प्रकट की है।

१-हवाना या आयना (वह अंग जिसमें दूध रहता है)। २-बहाती हुई।

३-प्रकाश करने वाला।

श्लोकः — **वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः ।**
जलधारा गिरेरासन्नासन्ना ददृशे गुहाः ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ — वन में निवास करने वाले बहुत आनन्द में थे, वन की पंक्तियाँ रसों को टपकाती थीं, पर्वतों से जल की धाराएँ बहती थी और उनके समीप ही, गुफाएँ थीं, भगवान् ने इन सबको देखा ॥ २७ ॥

सुबोधिनी — **वनवासिनां** हि कालान्तरे तापो भवतीदानीं शीतलत्वात् सर्वे **प्रमुदिताः**, अनेन दोषाभाव उक्तः सहजं च सुखं, भक्ष्यसम्पत्तिमाह, **वनराजीर्वनपङ्क्तयः** सर्व एव वृक्षा नानाजातीया **मधुच्युतः** पूर्णे मधुनि ततोपि प्रवाहमधुयुक्ता जाताः, पेयसम्पत्तिमाह **जलधारा गिरेरासन्निति पर्वतसम्बन्धिन्यो जलधारा अकलुषिताः शीतलाः पानयोग्यधाराश्च भवन्ति,** वृष्टौ स्थातुं शयनं **च** कर्तुं स्थानमाहा**सन्ना ददृशे** गुहा इति, **आसन्ना** निकटस्था **गुहा** विश्रामस्थानानि, एतत्त्रिविधसामग्रीयुक्तान् वनौकसो गोपालानन्यांश्च **ददृशे** ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थ — वर्षा ऋतु के कारण, वनवासी जो अन्य समय में ताप आदि से वन में दुःख भोगते थे, वे अब शीतल के कारण प्रसन्न थे । यों कहकर यह बताया है, कि वनवासियों के सर्व दोष निवृत हो गए हैं और सहज सुख की प्राप्ति हो गई है । न केवल शीतलता के कारण आनन्द मग्न थे किन्तु भोजन की सम्पत्ति भी प्राप्त थी जैसे कि सर्व वृक्ष, अर्थात् प्रत्येक जाति के वृक्ष मधु धाराएँ बहाते थे और पान की सम्पत्ति भी विद्यमान थी जैसे पहाड़ों से शीतल तथा स्वच्छ जल की धाराएँ बह रही थीं । इसके साथ विश्राम और शयन के लिए पास में गुफाएँ भी थीं, इस प्रकार, तीनों प्रकार की आवश्यक सामग्री वाले वन में वन निवासी गोप तथा अन्य (भील आदि) को भगवान् ने देखा※ ॥ २७ ॥

आभास — बलभद्रस्य तत्र रमणमाह क्वचिद् वनस्पतिक्रोड इति,

आभासार्थ — इस श्लोक बलदेवजी के रमण का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — **क्वचिद् वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति ।**
निर्विशन् भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः ॥ २८ ॥

※ददृशे (देखा) इस पद से भगवान् की ज्ञान शक्ति प्रकट की है । 'प्रकाश'

श्लोकार्थ – भगवान् रमण करते हुए देखते, कि वर्षा होती है तब वृक्ष की खोह में, वा पर्वत की गुफा में प्रवेश करते थे और वहाँ कन्द मूल और फल खाते थे ॥ २८ ॥

सुबोधिनी – वृक्षस्य **क्रोडे** कोटरे **गुहायां** वा**भिवर्षति** देवे **निर्विशं**स्तत्रोपविशन् **भगवान्** रामो **मूलकन्द**-फलान्येवाशनं यस्य **वनस्थानि सर्वाणि दिव्यानि स्वादिष्टानि च रेमइ**तिपदाद् रामो ज्ञायते, विशेषं च वक्ष्यति, भगवति **क्रोडे** पुनर्निलीयोपवेशनं फलाहारश्च न सम्यक् सम्पद्यते ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ – कभी वर्षा होती, तो भगवान् (राम) वृक्ष के कोटर में, वा पर्वत की गुफा में प्रवेश कर, वहाँ बिराजते हुए कन्द, मूल और फल† का भोजन करते थे, वन के कन्दादिक सर्व अलौकिक स्वादिष्ट होते हैं। श्लोक में भगवान् कहा है किन्तु 'रमे' क्रिया पद से ज्ञात होता है कि यह 'बलरामजी' की लीला है, विशेष में इसका स्पष्टीकरण आगे कहेंगे, वृक्ष के कोटर में, और छिपकर फलाहार, यह भगवान् के लिए उचित* नहीं है ॥ २८ ॥

आभास – भगवतो लीलामाह दध्योदनमिति,

आभासार्थ – इस श्लोक में स्वयं भगवान् ने जो लीला की है उसका वर्णन करते हैं–

श्लोकः – **दध्योदनमुपानीतं शिलायां सलिलान्तिके ।**
सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः सङ्कर्षणान्वितः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ – जल के समीप वाली शिला पर बैठ, सङ्कर्षणजी के साथ वाले भगवान् ने अपने साथ भोजन करने वाले गोपों से घर से आए हुए दही भात का भोजन किया ॥ २९ ॥

सुबोधिनी – गोपैर्गोपिकाभिर्यशोदया रोहिण्या वा तदानीमु**पनीतं दध्योदनं शिलायां** पर्वतसानुनि स्थूल आच्छन्नमेघे वर्षति सति **सलिल**समीप एव जलार्थमन्यत्र गमनाभावाय **सम्भोजनीयैः** सजातीयै**र्गोपैः सङ्कर्षणेन** **चान्वितो बुभुजे,** एतद् भोजनं प्रावृपि तस्याः स्वसम्पत्तित्व ख्यापनार्थं, अन्ये **च** गोपाला भिन्नतया बुभुजुर्बलभद्रेण सह फलाहारे वा ॥ २९ ॥

---

†इस भोजन से बलरामजी की वैराग्य शक्ति कही है, यदि २५वें श्लोक में वैराग्य शक्ति कही गई तो यहाँ पुनरुक्ति समझी जाएगी, तो यह बलरामजी का चरित्र है, जिससे यों समझना कि 'वीर्य शक्ति' कही है। **'प्रकाश'**

*कंदरा में छिपकर भोजन करना भगवान् के योग्य न होने से यह भगवान् बलरामजी की लीला है। **'टिप्पणी'**

व्याख्यार्थ – जिस समय भगवान् अपने भक्त गोप तथा भ्राता श्री बलदेवजी के साथ रमण कर रहे थे, उसी समय गोप, गोपीजन अथवा यशोदाजी तथा रोहिणीजी, जो दहीं भात लाई थीं, उसका, पर्वत के शिखरों पर धीरे धीरे बादलों के बरसते हुए पीने का पानी लाने के लिए कहीं जाना न पड़े (ऐसी) जल के समीप वाली चट्टानों पर बैठकर सजातीय (भक्त) गोपों के साथ भगवान् भोजन करने लगे। उस समय श्री बलरामजी भी, आपके साथ में थे। वह भोजन भगवान् ने यहाँ इसलिए किया, कि वर्षा में उत्पन्न सर्व सम्पत्तियाँ मेरी और मेरे लिए ही है। जो गोप सजातीय नहीं थे, उन्होंने पृथक् भोजन किया अथवा बलरामजी के साथ फलाहार किया ॥ २९ ॥

आभास – ननु गोषु विद्यमानासु ताभ्योऽदत्वा कथं भगवान् बुभुज इतिशङ्कां वारयति शाद्वलोपरीति,

आभासार्थ – भगवान् ने गोपों के साथ भोजन किया, किन्तु आपके साथ गौ बैल आदि थे, उनको भोजन न करा के आपने कैसे किया ? इस शङ्का का निवारण इस श्लोक में करते हैं –

श्लोकः – **शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान् ।**
तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च स्वोधोभरश्रमाः ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ – तृप्त हुए वृष[१] और बछड़े हरी घास बैठकर आँखें मीचकर जुगारी करते थे और गौ, औंध के भार से थककर, बैठी हुई जुगारी करती थीं ॥ ३० ॥

सुबोधिनी – शाद्वलं हरिततृणवद्देशस्तत्र **संविश्य चर्वतो** रोमन्थं कुर्वाणान् **तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च ददृश** इतिसम्बन्धः, **रोमन्थसमये न तेभ्यो देयं,** त्रिविधा गणिताः, तत्र गोग्रासो देय इत्यधिकशङ्कायामाह **स्वोधोभरश्रमा** इति, **स्वस्योधसो भरेण श्रमो** यासां, एवं सर्वेषां भोजनपान-शयनविहारा निरूपिताः ॥ ३० ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् ने देखा कि हरी घास वाली भूमि पर तृप्त हुए बैल, बछड़े तथा गौ जुगारी कर रहीं हैं, जिस समय वृष आदि जुगारी करते हैं, उस समय, उनको खाने के लिए नहीं देना चाहिए, क्योंकि वे तृप्त होकर बैठे हैं और चरे हुए पदार्थ के रस का स्वाद ले रहे हैं। गौ ग्रास तो देना चाहिए था, इसके उत्तर में कहते हैं कि वे गौ तृप्ति के कारण ओंध* के भार से

*गौ का औंध भर गया, यह तृप्ति का चिन्ह है, जिससे भगवान् की यश शक्ति प्रकट होती है, तात्पर्य यह है कि भगवान् के कारण, गौ इस प्रकार तृप्त होती है कि उनका औंध दूध से इतना भर जाता है कि उसके भार से थक जाती हैं, अतः तृप्त को ग्रास देना व्यर्थ है। **'प्रकाश'**

१-बैल।

श्रमित हुई थीं, अर्थात् थक गई थीं अतः उनको गौ ग्रास ऐसे समय देना व्यर्थ था, इस प्रकार, सबके भोजन, पान और शयन के विहार का वर्णन किया है ॥ ३० ॥

आभास – एतादृशस्य वनस्य भगवत्कृतमभिनन्दनमाह प्रावृट्श्रियमिति,

आभासार्थ – इस प्रकार के वन का, जो अभिनन्दन[१] भगवान् ने किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – **प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतसुखावहाम् ।**
भगवान् पूजयाञ्चक्र आत्मशक्त्युपबृंहिताम् ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ – सब जीवों को आनन्द देने वाली उस वर्षा की सम्पदा को अपनी शक्ति से समृद्ध देखकर भगवान् ने उसकी पूजा की ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी – आधिदैविकी **प्रावृट्श्रीः** स्वकीया तत्र समागता, आधिदैविकीमपि **तां वीक्ष्य भगवान् पूजयाञ्चक्रे,** पूजायां हेतुत्रयं, **सर्वभूतसुखावहत्वमात्मनो** यावत्यः शक्तयस्ताभिरु**पबृंहित**त्वं चकारसूचितमाधिदैविकरूपत्वञ्च, तस्यां क्रीडित्वा तस्या अभिनन्दनं कृतवान् ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ – व्रज में आधिदैविकी वर्षा ऋतु आई, उसको देखकर भगवान् ने उसका आदर सत्कार किया, क्योंकि वह (वर्षा ऋतु) तीन कारणों से सत्कार के योग्य थी, १-सर्व प्राणियों का हित करने वाली थी, २-भगवान् की सर्व शक्तियों से समृद्ध (बहुत सम्पदावाली) थी, ३-आधिदैविक रूप धारण कर आई थी, इन तीनों गुणों वाली इस वर्षा ऋतु में भगवान् ने रमण द्वारा उसका समादर[२] किया, यदि भगवान् रमण नहीं करते, तो प्रावृट् ऋतु[३] का तीन गुणों को प्रकट कर आना व्यर्थ हो जाता, जिससे वह अपना अपमान वा अनादर समझती, अतः गुणज्ञ सर्वान्तर्यामी भगवान् ने उसकी की हुई सेवा को ग्रहण किया ॥ ३१ ॥

आभास – इदानीं पूर्वलीलामुपसंहरन् लीलान्तरकथनार्थं शरद्वर्णनमाहैवमित्यष्टादशभिः, सामान्यतः शरत्प्रवृत्तिरेकेन सप्तदशभिश्च तत्कार्याणि, तत्र प्रथमं तस्याः प्रवृत्तिमाह, एवं लीलां कुर्वाणयोस्तस्मिन्नेव वने निवसतो,

आभासार्थ – वर्षा ऋतु की लीला के वर्णन की समाप्ति कर, अब अन्य लीला के कहने का प्रारम्भ करते हैं, वह लीला शरद् ऋतु में की हुई कहनी है अतः अठारह श्लोकों में शरद् का वर्णन करते हैं, जिससे इस एक श्लोक में, शरद् की प्रवृत्ति का वर्णन कर, शेष १७ श्लोकों में उसके कार्यों का वर्णन करेंगे ।

श्लोकः – **एवं निवसतोस्तस्मिन् रामकेशवयोर्व्रजे ।**
शरत् समभवद् व्यभ्रा स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ – इस प्रकार बलरामजी और श्रीकृष्णचन्द्रजी के वन में (व्रज में) रहते हुए शरद् ऋतु आई, जिसके आने से बादल बिखर गये, जल निर्मल हो गया और वायु मन्द-मन्द चलने लगी ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी – रामकेशवयोः सतोर्व्रजे च **निवसतोः शरत् समभवत्,** वर्षासु भगवान् रेम इति ज्ञात्वा शरदपि समागता मय्यपि रंस्यत इति, तस्या वर्षातो वैलक्षण्यमाह **व्यभ्रेति,** वर्षाया गुणत्रयमुक्तं 'मेघा विद्युत् स्तनयित्नव'' इति तथास्या अपि गुणत्रयमाहाभ्राभावो जलगतमल-निवृत्तिर्वायोःपरुषस्पर्शनिवृत्तिश्चेति अनेन तदपेक्षया अस्या उत्तमत्वमुच्यते, **सा हि प्रवृत्तिधर्मस्त्वेयं निवृत्तिधर्मस्त्वा,** उपर्याकाशनैर्मल्यमधो जलनैर्मल्यं परितो वायुनैर्मल्यमिति यथा प्रवृत्तावुत्पत्तिमुख्या तदपेक्षयोत्पत्त्या नैर्मल्यं मुख्यं **भूम्यपेक्षया जलं महत् परिध्यपेक्षया च वायुः, अत एवास्यां भगवान् रतिं** करिष्यतीति **स्त्रीणामानन्दस्तत्र प्रतिष्ठित** इति ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् राम तथा कृष्ण इस प्रकार रमण करते हुए, वन और व्रज में रहते थे, तब इनका वर्षा ऋतु में रमण देख, शरद् ऋतु को भी इच्छा हुई, कि मैं भी वहाँ चलूं तो मुझ में भी प्रभु रमण करेंगे, इस आशा से शरद् ऋतु भी वर्षा से पृथक्[१] लक्षण वाले तीन गुणों से युक्त होकर आई, १-वर्षा में जो आकाश, बादलों से घिरा रहता था उसको अभ्र रहित बना के स्वच्छ कर दिया, २-वर्षा में नदियों का जल, मलवाला हो जाता था उसको निर्मल[२] बना दिया, ३-वर्षा में पवन का स्पर्श तीव्र प्रतीत होता है उसको बदलकर शीत मन्द मन्द वायु चलाई, इस प्रकार शरद् ऋतु ने अपने निवृत्ति परायण गुणों से निवृत्ति धर्म प्रवृत्यर्थ सेवा की और वर्षा ऋतु के प्रवृत्ति धर्म को बन्द किया। ऊपर तो आकाश निर्मल किया नीचे जल स्वच्छ बना दिया और चारों तरफ वायु में निर्मलता प्रकट कर दी ।

प्रवृत्ति धर्म में, उत्पत्ति का होना मुख्य है, निवृत्ति धर्म में, उत्पन्न हुए पदार्थों की शुद्धि होना मुख्य है, भूमि से जल महान् है और परिधि[३] से वायु बड़ी है, अतः वैसी शरद् में, भगवान् रमण करेंगे क्योंकि इस (शरद् ऋतु) में स्त्री जीवों (प्रेमी भक्तों) का आनन्द प्रतिष्ठित[४] है ॥ ३२ ॥

१-भिन्न । २-शुद्ध-साफ । ३-जहाँ तक दृष्टि पहुँचती है । ४-स्थित ।

आभास – शुद्ध्यर्थमस्याः प्रवृत्तिरिति षोडशकलासहित जीवस्य सप्तदशात्मकस्य शुद्धिरुच्यते ।

आभासार्थ – निवृत्ति धर्म वाली शरद् ऋतु शुद्धि के लिए आई है, अतः जो जीव, सप्तदशात्मा (१६ गुण और १ गुणी स्वयं जीव इस प्रकार जीव सप्तदशात्मा) है, उसकी शुद्धि के वर्णन का क्रमशः प्रारम्भ करते हैं-

कारिका – **जलानां सर्वभूतानामभ्राणां ज्ञानिनां तथा ।**
कुटुम्बिनां दरिद्राणां विरक्तानां विमुक्तिनाम् ॥ १ ॥
योगिनां गोपिकानाञ्च शरत्सम्बन्धतो हरिः ।
दश दोषान् निवार्याथ चित्तस्यापि निवार्य च ॥ २ ॥
सर्वानशोभयद् देवः षड्गुणैश्चन्द्रमानवाः ।
गावः पद्मानि भूमिश्च वर्णाश्चैव विभाविताः ॥ ३ ॥
शरदः कार्यमेतावद् भगवानविशद् यतः ॥ ३½ ॥

कारिकार्थ – भगवान् ने शरद् के सम्बन्ध से, जलों, सर्व भूतों, मेघों, ज्ञानियों, कुटुम्बियों, दरिद्रों, विरक्तों, मुक्तों, योगियों और गोपीजनों के दश प्रकार के दोष निवृत्त किए तथा चित्त के दोषों का निवारण किया, इस प्रकार, सब के दोष मिटाकर सब को हरि ने सुशोभित किया ।

यह कार्य शरद् ऋतु ने किया है, क्योंकि भगवान् ने इस शरद् ऋतु में प्रवेश किया है ।

इन कारिकाओं में, जो एक एक जल आदि पदार्थ कहे हैं, वे निम्नलिखित श्लोकों का सारांश लेकर कहे हैं-अर्थात् इन पदार्थों का एक-एक श्लोक में, विवेचन है जैसे कि इस ३३ वें श्लोक में जलों के दोषों के मिटाने का वर्णन है ।

श्लोकः – **शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः ।**
भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ – जैसे योग सिद्ध होने से, जो योगी योग भ्रष्ट होकर जन्म लेते हैं, वे पुनः उसी दूसरे जन्म में योग द्वारा निरोध प्राप्त करते हैं, अर्थात् शुद्ध होकर (योग सिद्ध कर) अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही वर्षा के कारण, मल युक्त हुए जल, शरद् के कारण, कमलों को उत्पन्न कर, शुद्ध बन अपने मूल निर्मल शुद्ध रूप को प्राप्त करते हैं ॥ ३३ ॥

सुबोधिनी — तत्र प्रथमं जलानां दोषं निवर्तितवतीत्याह शरदेति, **अद्भिःसर्वशुद्धिस्ताश्चेन् निर्मलास्तदा सर्वमेव शुद्धं भवेत्,** शुद्धौ प्रकार उच्यते शरदेति, **कमलोत्पत्तिः शरदैव,** निर्गतं रजो यस्मादिति नीरजं, सर्वमेव जलरजो भौतिकं भूमौ विलाप्याध्यात्मिकं स्वरूपभूतं कृत्वाधिदैविकं शुद्धं मकरन्दात्मकं स्वस्मिन् कृत्वा सर्वमेव रजो दूरीकरोत्यतो **नीरजमित्युच्यते,** तानि चेदुत्पन्नानि तदा दोषस्य निवृत्तत्वान्नीराणि **प्रकृतिं ययुः,** नीरे जातानीत्यपि व्युत्पत्तिरतः **पुत्रे जाते स्वयमपर्णो भवति तदा प्रकृतिं प्राप्नोत्यन्यथा ऋणेन पीडित एव स्यात्,** न केवलमेतद् भौतिकदोषनिवृत्त्यर्थं शरदेवं करोति किन्तु भगवत्क्रीड़ार्थमन्तरपि **हृदयकमलविकासेन हृदयं गुणातीतं भवति,** तत्र शरद् योगमुत्पादयन्ती तथा करोतीति योगो दृष्टान्तत्वेनोच्यते, अथ वा **शनैः शनैः शुद्धिर्योगे भवतीति** तदर्थं दृष्टान्तः, तदाह **भ्रष्टानामिव चेतांसीति, भ्रष्टा** योगभ्रष्टास्तेषां **चेतांस्यपि** भ्रष्टानि भवन्ति, तानि **पुनर्योगसेवया** वृत्तिरूपस्य रजसो निरोधं प्राप्नुवन्ति ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ – जल सर्व पदार्थों को शुद्ध करते हैं, किन्तु यदि वे ही शुद्ध न होवे तो, अन्य पदार्थों को शुद्ध कैसे करेंगे, अतः शरद् ने आकर, प्रथम जलों की शुद्धि की है। किस प्रकार जलों की शुद्धि की, उसका वर्णन करते हैं कि, शरद् ऋतु पहले तो जलों की भौतिक सर्व रज[१] को पृथ्वी में लीन कर, उनका स्वरूप आध्यात्मिक बना के तथा शुद्ध मकरन्द वाला आधिदैविक सिद्ध कर, सर्व प्रकार की रज दूर कर देती है; जिससे वे जल, नीरज[२] हो गए हैं, अतः उन जलों में कमल उत्पन्न हुए हैं उनसे वे जल स्वाभाविक निर्मल रूप को प्राप्त हुए। जैसे, मनुष्य पुत्रों को उत्पन्न कर, पितृ ऋण से उन्मुक्त होते हैं और चिन्ता से छूटकर आनन्द को प्राप्त करते हैं, वैसे (ही) ये जल भी, कमलों को उत्पन्न कर, अपने मल को निवृत कर, आनन्दित हो गए, क्योंकि अपनी प्रकृति (चित्त रूप शुद्ध स्वरूप) को प्राप्त हुए। शरद् ऋतु केवल भौतिक (बाहर के) दोषों को मिटाने के लिए कमलों को उत्पन्न नहीं करती है, किन्तु भगवान् की क्रीड़ा के लिए, जल का हृदय भी कमलों के विकास से गुणातीत करती है, अर्थात् हृदय रूप कमल के विकास से, हृदय गुणातीत होता है। हृदय के गुणातीत होने में, शरद् योग[३] देती है इसलिए योग का दृष्टान्त दिया है, अथवा योग द्वारा शुद्धि धीरे धीरे होती है इसी कारण से, योग का दृष्टान्त दिया है, जैसे कि योग से जो पतित[४] होते हैं, उनके चित्त भी पतित[५] हो जाते हैं। वे योग भ्रष्ट मनुष्य, योग के सेवन से, रजोगुण को प्राप्त, चित्त का निरोध करते हैं, अर्थात् रजोगुण को नाश कर, चित्त को सतोगुणी बनाते हैं, जैसे वह भगवान् के बिराजने के योग्य हो जाए ॥ ३३ ॥

१-मैल-दोष। २-बिना रज दोष वा मैल वाले। ३-सहायता। ४-भ्रष्ट। ५-अशुद्ध।

आभास — एवं सर्वशुद्धिहेतुभूतस्यान्तःकरणस्य जलस्य च शुद्धिमुपपाद्य महाभूतानां शुद्धिं कथयन्नाश्रमाणां शुद्धिप्रकारमाह,

आभासार्थ — इस प्रकार सब की शुद्धि के कारण, रूप, अन्तःकरण और जल की शुद्धि का प्रतिपादन कर, महाभूतों की शुद्धि कहते हुए, आश्रमों की शुद्धि का प्रकार बताते हैं-

श्लोकः — **व्योम्नोब्दं भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलम् ।**
शरज् जहाराश्रमिणां कृष्णे भक्तिर्यथाशुभम् ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ — जैसे श्रीकृष्ण में की हुई भक्ति, चारों आश्रम वाले पुरुषों का पाप (दुःख) हरण करती है, वैसे ही शरद् ऋतु ने महाभूतों की सङ्करता (जैसे अग्नि तथा वायु की मिलावट, भूमि तथा जल की कीच, आकाश के मेघ, इस प्रकार चारों का चारों मल) दूर की ॥ ३४ ॥

सुबोधिनी — **महाभूतानि चेच्छुद्धानि तदा देहः शुद्धो भवेदाश्रमशुद्ध्या धर्मः शुद्धः** तदर्थमाह, **व्योम्नोब्दमिति व्योम्न** आकाशस्य मेघा एव मलरूपाः, भूतशबलताग्नि-वाय्वोर्मलं स्पर्शार्थं क्षुदर्थे तत्सम्भवाद् **भुवः पङ्क** एव **मलमपामपि पङ्क** एवेति, एवं पञ्चमहाभूतानां **शरज् जहार**, इयं च शरदाश्रमाणामपि मलं दूरीकरोति वर्षासु स्वधर्मस्य निरुद्धत्वान् न्यासिनामेकत्रान्नभोजनेन दोषोत्पत्तिसम्भवाद् ब्रह्मचारिणो गुरुसेवायां सङ्कोचसम्भवाद् गृहस्थस्य कालाज्ञानात् कर्मलोपसम्भवाद् वनस्थस्य च सङ्ग्रहादिना दोषसम्भवात् तत् सर्वं निवर्तयति शरत्, तस्या भगवत्सान्निध्यादाधिदैविकवद् दोषनिवर्तकत्वं जातमिति दृष्टान्तेनाह **कृष्णे भक्तिर्यथेति भक्तिश्च हृदयाकाशशोकं दूरीकरोति** नेत्रजलजननादब्दो **भूतानां शबलता त्रिविधजीवानां किर्मीरितत्वं भक्ति-र्दूरीकरोति**, तस्य प्रवर्तक आसन्यो वाग्निर्वेत्येको दूरीकरोत्यपरं ज्वालयति, भुवः पङ्कमपि प्रसाददानाद् दूरीकरोति **भक्त्या भावितौ चरणौ भक्तानां हृदये स्नेहेनार्द्रौ जलार्द्रतां दूरीकुरुतः**, तावेव हि **भूः**, अपां सर्वासामेव मलं भक्तो दूरीकरोतीति प्रसिद्धमेव, ब्रह्मचर्ये च गुरवे जलदानमस्ति भक्तिश्च तद् दूरीकरोत्यलौकिकदानसामर्थ्यात्, भूतैः सह शबलता गार्हस्थ्ये भवति भक्त्या तन्निवृत्तिः स्पष्टैव, भूस्थानीयो वनवासस्तत्र मलधारणं धर्मः, **भगवद्भक्तिस्तु भगवत्सेवार्थं तद् दूरीकरोति अपां** बहूदकादीनां **मलं** परिभ्रमणादिक्लेशं भगवदायतने नित्यस्थितिसम्भवात्, किञ्चा**शुभं** पापमपि दूरीकरोति यदनिवार्यं तत्संस्कारार्थमुत्तरक्रिया ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ — जब महाभूत शुद्ध होंगे, तब देह भी शुद्ध रहेगी, क्योंकि देह महाभूतों से बनी है । इस प्रकार, चारों आश्रम शुद्ध रहेंगे, तो धर्म की भी शुद्धि रहेगी अन्यथा नहीं, अतः शरद् ने जिस प्रकार, आकाशादि एवं आश्रमों की शुद्धि की, उसका वर्णन करते हैं । शरद ऋतु प्रत्येक के मल को निवृत करती है, 'मल' उसको कहा जाता है जो कार्य में वा स्वरूप दर्शन में रुकावट डाले, जैसे 'मेघ' आकाश के मल हैं क्योंकि मेघों से आच्छन्न होने पर आकाश का शुद्ध स्वरूप

देखने में नहीं आता है । शरद् ने आकर मेघों को हटाकर आकाश का मल मिटाया, जिससे, आकाश का स्वच्छ स्वरूप देखने में आने लगा । महाभूतों की मिलावट, अग्नि और वायु का मल है, स्पर्श एवं भूख* के लिए इनकी (अग्नि और वायु की) आवश्यकता है । पृथ्वी और जल का मल कीच है, इन सब मलों को शरद् ने हरण कर लिया ।

शरद् ने जैसे महाभूतों के मलों को मिटाया, वैसे ही आश्रमों के मल भी निवृत्त किए । जैसे कि, संन्यासियों का धर्म घूमने का है, उनके लिए एक स्थान पर रहने का शास्त्रों ने निषेध किया है, किन्तु वर्षा, इस संन्यास आश्रम के धर्म में रुकावट डालती है, जिससे, वे एक ही स्थान में रहते हैं, वहाँ एक ही स्थान का भोजन करते हैं उससे दोषों की उत्पत्ति का सम्भव है; ब्रह्मचारी भी वर्षा के कारण भिक्षा माँग कर गुरु को देना, उनकी आज्ञा से, भिक्षान्न भोजन करना, इस धर्म का पालन नहीं कर सकते हैं । वर्षा के कारण समय के अज्ञान से, गृहस्थी भी अपना कर्म समयानुसार नहीं कर सकते हैं । वानप्रस्थी भी, इस कारण से, सङ्ग्रह कर रखते हैं, इससे दोष उत्पन्न होने का सम्भव है । इसी प्रकार, वर्षा में, सर्व आश्रम वालों में, दोष आने की, जो सम्भावना थी उसको शरद् ने आकर मिटा दिया । शरद् ऋतु से भगवान् का सान्निध्य होने से, आधिदैविक के समान वह (शरद्) भी दोषों को मिटाने वाली हुई है । शरद् ऋतु किस प्रकार दोषों को मिटाती है, उसके लिए दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे श्रीकृष्ण की भक्ति, दोषों (पापों) को मिटाती है । भक्ति, शोक से आँखों में उत्पन्न आँसू रूप, हृदयाकाश के मेघों को नष्ट करती है, अर्थात्, हृदय के शोक को मिटाकर हृदय को शुद्ध (आनन्दित) बनाती है ।

जीव सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से, तीन प्रकार के हैं । उनको आसन्य तथा अग्नि मिला देते हैं, अर्थात् एक समान दिखा देते हैं । जैसे आसन्य, सब जीवों की इन्द्रियों में बल[१] उत्पन्न कर, उनको संसार में प्रवृत्त कराते हैं और वाणी की अधिष्ठात्री देवता अग्नि, वाणी में बल देकर, अन्यों से संग कराती है, इसी प्रकार, संसार एवं संग में सब जीव समान से दिखते हैं। जिससे, उनमें दोष आ जाते हैं, किन्तु जब उन जीवों में भक्ति का उदय होता है, तब उनके वे सर्व दोष मिट जाते हैं । आसन्य तथा अग्नि जो जीवों में दोष उत्पन्न करने वाले थे, वे ही भक्ति के प्रताप से, दोषों के नाश कर्ता होते हैं, आसन्य, उन दोषों को दूर करता है और भक्ति उनको भस्म कर देती है ।

*वर्षा ऋतु में सर्व पदार्थ गीले रहते हैं अत: वे शुष्क हों तो, उनका स्पर्श किया जा सके अर्थात् वे काम में लाने के योग्य हों, इसलिए अग्नि तथा वायु की आवश्यकता रहती है । शरीर के भीतर वर्षा काल में वायु का प्रकोप होता है, जिससे भूख नहीं लगती है, उसके लिए मन्द हुई जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए औषध सेवन की आवश्यकता होती है । इससे समझा जा सकता है, कि अग्नि और वायु का सांकर्य है, जिससे मन्दाग्नि तथा गीलापन होता है । उसको शरद् ने आकर मिटाया ।

१ -शक्ति ।

भक्त को भक्ति[१] करने से भगवत्प्रसाद की प्राप्ति होती है जिससे हृदय रूप भूमि की कीच नष्ट हो जाती है ।

जब तक, भक्ति द्वारा, भक्त भगवान् के चरणों को स्नेह रूप जल से आर्द्र कर, हृदय में स्थापित नहीं करता है, तब तक हृदय में, शोक से उत्पन्न जल की आर्द्रता[२] रहती है । भगवान् के चरणों के बिराजते ही, शोक रूप जल से उत्पन्न वह आर्द्रता मिट जाती है, कारण कि, भगवान् के चरणारविन्द आधिदैविक भूमि† है । भूमि जल को चूँसती है, यह तो प्रसिद्ध ही है कि भक्त सर्व प्रकार के जलों का मैल दूर कर देता है, क्योंकि भक्त के हृदय में भगवान् बिराजते हैं, जिससे, भक्त तीर्थ रूप हो के, तीर्थों के मल को नाश कर, तीर्थों को शुद्ध तीर्थ बना देता है।

ब्रह्मचर्य में ब्रह्मचारी गुरु को जलदान करता है, भक्ति ब्रह्मचारी के इस श्रम को दूर करती है, कारण कि भक्ति करने से ब्रह्मचारी भक्ति से उत्पन्न अलौकिक दान के सामर्थ्य से भगवान् की प्रीति रूप जल का दान गुरु को दे देता है ।

गृहस्थाश्रम में, अनेक प्रकार के जीवों से संग होता है, जो दोष रूप संसारासक्त कराने वाला है । भक्ति उस संग को मिटाकर, गृहस्थाश्रम को सुखदायी बना देती है । यह स्पष्ट देखने में आता है, कि भक्ति का उदय होने पर, जीव (गृहस्थी भी) निःसङ्ग हो, भगवत्परायण ही रहते हैं।

जैसे भूमि, कीच रूप मल से दूषित रहती है, वैसे (ही) वानप्रस्थी भी मल युक्त (केश, नख, दाढी आदि धारण करने से-मल युक्त) रहते हैं, किन्तु भक्ति प्राप्त होने पर, वानप्रस्थी भगवत्सेवा करते हैं, तो उनको निर्मल स्वच्छ शुद्ध रहना पड़ता है, देव+ बनकर (आन्तर बाह्य शुद्धि स्वच्छता रखकर) देव की सेवा करे अतः भक्ति, वानप्रस्थ का मल भी दूर कर देती है।

संन्यासी चार प्रकार के होते हैं,-१-कुटीचक, २-बहूदक, ३-हंस और ४-परमहंस । इनमें से कुटीचक को एक ही स्थान पर रहना पड़ता है, शेष तीनों को भ्रमण कर भिक्षा द्वारा उदर पूर्ति करनी पड़ती है, अतः उन तीनों का यह भ्रमण कर भिक्षा माँग माँग (कर) उदर भरने का कष्ट भी भक्ति मार्ग पर चलने से मिट जाता है, अर्थात्, जब वे भक्ति पथ के पथिक बनते हैं, तब उनको, एक स्थान (देवालय) में निवास करना पड़ता हैं, वहाँ ही भगवत्प्रसाद से उदर पूर्ति करते हुए भगवद् ध्यान में मग्न रहते हैं, जिससे उनका भ्रमण एवं भिक्षा माँगने का कष्ट मिट जाता है, इतना ही नहीं, किन्तु जो पाप, अन्य उपायों से नहीं मिटते हैं, वे भी भक्ति से मिट

---

†वैश्वानर विद्या में भगवान् के चरणों को आधिदैविक भूमि कहा है। 'प्रकाश'

+देवो भूत्वां देवं यजेत्'

१-सेवा । २-गीलापन ।

जाते हैं पाप (दोष) आदि को मिटाने के लिए ो उपनिषदों में ज्ञान के साधन कहे हैं, वे भी भक्ति से सिद्ध हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

आभास — एवमेषां दोषान् दूरीकृत्यान्नोत्पादकानां मेघानां दोषान् दूरीकृतवतीत्याह,

आभासार्थ — इस प्रकार, शरद् ने इन (महाभूत तथा आ मों) के दोष मिटाए अब अन्न के उत्पन्न करने वाले मेघों के दोषों को जिस कार मिटाया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

श्लोकः — **सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः ।**
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ — जैसे शान्त मुनि लोग, तृष्णा का त्याग कर, पाप रहित हो, स्वच्छ (शुद्ध) तेज़ वाले होने से शोभते हैं, वैसे (ही) मेघ अपना सर्वस्व (जलरूप धन) छोड़ने से स्वच्छ हो के, शोभा युक्त हुए ॥ ३५ ॥

सुबोधिनी — **सर्वस्व**मिति, यथा मरणकाले न कोपि किञ्चिन् नेतुं शक्नोत्येवं शरत्कालेपि मेघाः **किञ्चित् स्थापयितुं** न शक्ताः **सर्वस्वत्याग एव सर्वप्रायश्चित्तं स्वधर्मवदिति** स्वधर्ममाह **जलदा** इति. हित्वा ज्ञानपूर्वकं ततः **शुभ्रवर्चसो भूत्वा विरेजुः, पापस्य हि रूपं नीलिमा पुण्यस्य शुक्लमतो** मेघानां नीलं रूपं गतं शुभ्रं च जातं, तदाह "**शुभ्रेति शुभ्रं वर्च**स्तेजो येषामिति, न केवलं शुभ्रत्वमात्रेण सम्यक्त्वं केशादिषु व्यभिचारादत आह **विरेजु**रिति, विशेषेण दीप्तियुक्ता जाताः कालवशादेवैवम्भूता जाता इति, तदा नापि रमणं नापि दीप्तिरित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन तद्दोषनिवृत्तिपूर्वकं शास्त्रतो दीप्तिमाह **यथे**ति, **अन्तःकरणं हि चतुर्विधं तत्र चतुर्विधोपि दोषश्चेद् गच्छति तदा बहिस्त्यागादिना दीप्तिमान् भवति,** तदभावे **न शोभते** तत्र **चित्तस्यैषणात्रयं दोषो बुद्धेर्घोर- विमूढत्वं मनसो बहिर्विषयत्वमहङ्कारस्तु सन्निपातरूपो दोषात्मक एव** तदत्र क्रमेणैव तेषां निराकरणमाह **त्यक्ता ईषणा** यैः, ईषणात्रयं तत्र लोकेषणा द्विविधा भुवनजनभेदाद् वित्तेषणा सर्वविषयरूपा अर्थेषणा नाम दारेषणा पुत्रसहिता, अनेन धर्मार्थकामा उक्ताः, त्रिवर्गपरित्याग ईषणात्रयाभावः शान्तिः सत्त्वादपि भवति तथा सति गुणान्तरोद्भवे सा निवर्तते, अतः **शान्ताः स्वरूपेणैव** शुद्धसत्त्वरूपेण वा 'मनसैवेत-दाप्तव्य' मितिश्रुतेः, आत्मप्रवणं मनो येषां ते **मुनयः, मुक्तं किल्बिष**महङ्कारात्मकं यै, एवं त्यक्तदोषा बहिः सर्वपरित्यागेन शुद्धा अपि भवन्ति प्रकाशमानाश्च, एतच्छरदैव भवति भगव-त्सहितया, अत एवाग्रे वक्ष्यति 'सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रया' इति ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ — जैसे मरण के समय, कोई भी प्राणी अपने साथ कुछ भी लेकर नहीं जा सकता है, वैसे ही, शरद् ऋतु रूप काल के आने पर, मेघ भी अपने पास कुछ भी नहीं रख सकते हैं अतः शरद् के आते ही, मेघों ने अपना सर्वस्व (जल) दान कर दिया, क्योंकि यह मेघों का

धर्म है। धर्मानुसार आचरण कर, सर्वस्व त्याग देना[१] ही सर्व पापों का प्रायश्चित है, वह प्रायश्चित मेघों ने ज्ञानपूर्वक[२] किया है, जिससे स्वच्छ तेज़ वाले होकर सुशोभित हुए। पाप का रूप काला है और पुण्य का रूप स्वच्छ[३] है, सर्वस्वदान से मेघों का पाप रूप काला रंग नष्ट हो गया और पुण्य रूप स्वच्छ रंग प्रकट हुआ। मेघ केवल सफेद रूप वाले, (ही) नहीं हुए किन्तु विशेष तेज़ वाले भी हुए। केवल स्वच्छता तो वृद्धावस्था में केशों में भी आ जाती है, वैसी स्वच्छता मेघों में नहीं आई, किन्तु इससे विलक्षण, कालवश से, ही दीप्ति युक्त स्वच्छता आई।

तब (शरद् ऋतु में) मेघों में रमण अथवा दीप्ति[४] तो दृष्टिगोचर नहीं होती है, इस प्रकार की शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि मेघों में जो दीप्ति आई वह शास्त्रानुसारिणी थी, उसका विवेचन[५] करते हैं कि, अन्तःकरण चार (चित्त, बुद्धि, मन तथा अहङ्कार) प्रकार का है, इनके चारों प्रकार के दोष जावे, तब बाहर के त्याग से, वह दीप्तिवाला होता है, यदि त्याग नहीं तो शोभता नहीं। अब अन्तःकरण के एक एक वृत्ति (विभाग) के दोष बताते हैं-१-चित्त के दोष तीन ईषणा[६] है, २-बुद्धि का दोष अतिशय मूर्खता, ३-मन का दोष बाहर के विषयों में आसक्ति, ४-अहङ्कार तो दोषों का भण्डार होने से सन्निपात रूप है। इस प्रकार उनके दोष बताकर अब क्रम से उनका निराकरण[७] कहते हैं। ईषणा तीन है, १-लोकेषणा, २-वित्तेषणा और ३-अर्थेषणा। इनमें लोकेषणा दो प्रकार की है-(१) भुवन की (लोक की) कामना, (२) जन (सेवकादि) की कामना। २-वित्तेषणा-सर्व पदार्थ मात्र की कामना, ३-अर्थेषणा-स्त्री और पुत्र की कामना। इस ईषणा कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों की कामना। इन तीन पुरुषार्थों की कामना के त्याग से वे तीन ईषणाएँ नष्ट होती हैं, जिससे शांति प्राप्त होती है, यह सत्व गुण से भी होती है, किन्तु यदि अन्य गुण रजो वा तमो गुण का प्रभाव बढ़ने लगे, तो वह शांति लुप्त हो जाती है, अतः 'मन' परमात्मा में पिरोने से, जो स्वरूपात्मक शांति प्राप्त होती है, वह लुप्त नहीं होती है यह शांति सत्व गुण उदय होने पर, भगवद्भक्ति[८]* से प्राप्त होती है, इस प्रकार जो मन को परमात्मा में पिरो देते हैं वे मुनि हैं।

जिन्होंने अहङ्कार रूप दोषों को मिटा दिया है और बाहर के भी सर्व पदार्थों को त्याग दिया है, वे शुद्ध तथा तेज वाले होते हैं। यह शरद् के द्वारा ही होता है क्योंकि आध्यात्मिक शरद् में भगवान् स्वयं बिराजते हैं अतः आगे कहेंगे कि शरद् की सर्व रात्रियाँ भगवान् की लीला की रात्रियाँ हुई ॥ ३५ ॥

आभास – एवं शरत्कृतां दोषनिवृत्तिमुक्त्वा गुणानाह गिरयो मुमुचुरिति,

---

*'चेतः तत्प्रवणं सेवा' सिद्धान्त मुक्तावली में श्री महाप्रभुजी ने कहा है।

१-दे देना। २-समझकर। ३-स्व ४-प्रकाश। ५-निर्णय।
६-बलवती इच्छा। ७-मिटाना। ८-भगवान् की सेवा।

आभासार्थ – इस प्रकार शरद् ऋतु ने जिस भाँति दोषों की निवृत्ति की, उसका वर्णन कर अब उसके गुणों का वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः – **गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन् न मुमुचुः शिवम् ।**
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ – जैसे, ज्ञानी लोग, अपना ज्ञान रूप अमृत किसी समय देते हैं और कभी नहीं भी देते हैं, वैसे (ही) पर्वत अपना निर्मल जल किसी स्थल पर छोड़ते हैं कहीं नहीं भी छोड़ते हैं ॥ ३६ ॥

सुबोधिनी – ज्ञानं हि गुणोन्तःसारेष्वेवेति तच्च ज्ञानं शुद्धं सर्वदोषनाशकं, तदत्र जलं निरूपयन् दृष्टान्तेन निरूपयति, पर्वताः **क्वचित् तोयं मुमुचुः क्वचिन्** न यत्र **झरणादिमार्गो भवति** तत्र '**मुञ्चन्त्यन्तः**स्थितं जलं न तु वर्षोद्भूतं तदाह **शिव**मिति, शान्तं शीतलं सुस्वादु, **महतां ह्यन्तस्तापाभावान् न सूर्यादिनापि तेषां तापः शक्यते कर्तुं**, तेषामुभयरूपत्वं बुद्धिकृतमाहोस्वित् स्वाभाविकमिति विचिन्त्य स्वाभाविकत्वे शरदो न कापि प्रतिष्ठेति ज्ञानकृतत्वं वदन् शरदस्तत्र प्रयोजकतामाह **यथा ज्ञानामृत**मिति, **ज्ञानमेवामृतं** मरणनिवर्तकं **काले** शुद्धेऽवसरे पुरुषविशेषे स्वयं ज्ञानपूर्णा अपि देशकालाधिकारिणो दृष्ट्वा ज्ञानयोग्याश्चेदुत्तरत्र सम्प्रदायनिर्वाहका अमार्गरहिता विचार्यैव ज्ञानप्रदाश्चेत् तदा ददतेऽन्यथा तु **न ददत** इति, 'विद्यया सहितो विद्वान् म्रियेतैवा-विचारयन् न त्वयुक्ताय तद् दद्यात् कथञ्चिदितिनिश्चयः,' शुद्धिः सर्वा शरत्कृतेति शरदः प्रयोजकत्वम् ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ – ज्ञान रूप गुण उनमें है, जिनके अन्दर सत्य तत्त्व है, वह ज्ञान शुद्ध तथा दोषों को मिटाने वाला होता है । यहाँ जल का निरूपण करते हुए, उस ज्ञान का, दृष्टान्त से निरूपण[1] करते है । पर्वत सर्व स्थान पर जल नहीं बरसाते हैं, जो स्थान योग्य समझते है, वहाँ बरसते हैं जैसे कि, जहाँ पर्वतों में ऐसे स्थान हैं, जहाँ से वह जल स्रोतों[2] के रूप में बहकर नीचे जाता है, वहाँ ही बरसते हैं । उस स्थान पर बहना नहीं चाहते हैं, जहाँ झरने न बन सकें और आगे का बरसाया हुआ पानी खड्डों में भरा भरा मलीन हो जाए । पर्वतों के ऊपर के पानी का गुण 'शिवम्' शब्द से प्रकट करते हैं जिसका तात्पर्य[3] है कि वह जल शांन्त, शीतल तथा स्वादिष्ट हैं । जैसे पर्वत के अन्दर का जल शीत एवं शान्त है, वैसे (ही) महान् पुरुष का अन्तःकरण शान्त तथा शीतल होने से, सूर्य आदि के ताप भी उनके अन्दर ताप (दुःख) आदि नहीं कर सकते हैं । इससे यह बताया, कि जैसे पर्वत योग्य स्थान पर जल बरसाते (छोड़ते) हैं अन्यत्र नहीं, वैसे (ही) महान् पुरुष भी योग्य अधिकारी को ज्ञान का दान करते हैं ।

१-विचार करते हैं । २-झरनों या चश्मों । ३-भाव ।

उनके, ये दो प्रकार के रूप स्वाभाविक हैं ? अथवा अपनी बुद्धि से किए हुए हैं ? ऐसा विचार कर, निर्णय करते हैं, कि स्वाभाविक रूप में तो शरद् ऋतु का कोई बल नहीं चलेगा इसलिए बुद्धि से किए हुए होने से, शरद् का बल चल सकता है, अर्थात् शरद् अपना प्रभाव डाल सकती है। ज्ञान ही अमृत (मृत्यु को मिटाने वाला) है, जब शुभ समय होता है, तब ज्ञानी स्वयं ज्ञान से परिपूर्ण होते हुए भी देश, काल तथा ज्ञान लेने योग्य अधिकारी को देख और ज्ञान लेने के अनन्तर इस सम्प्रदाय (ज्ञान मार्ग) को स्थिर करता रहेगा एवं कुमार्ग पर न जाएगा, इन सर्व विषयों का पूर्ण विचार कर, जब समझते हैं कि ये ज्ञान देने के योग्य है, तब उनको ज्ञान देते हैं अन्यथा[1] नहीं देते हैं, शास्त्रों में आज्ञा है कि 'ज्ञानवान् महापुरुष शरीर छोड़ देवें तो भी बिना विचारे अनधिकारी को किसी सूरत में भी ज्ञान न देवें।' महाभूतादि की शुद्धि शरद् ऋतु ने की है, अतः शुद्धि से बुद्धि (ज्ञान) भी शुद्ध हो गई है, जिससे किसको ज्ञान देना चाहिए (और) किसको नहीं देना चाहिए, पर्वत कहाँ जल छोड़ें कहाँ नहीं छोड़ें इत्यादि सर्व ज्ञान शरद् के कारण हुआ है ॥ ३६ ॥

आभास – एवं शरदो ज्ञानोपयोगित्वमुक्त्वा वैराग्योपयोगित्वमाह नैवाविदन्निति.

आभासार्थ – इस प्रकार शरद् के ज्ञान के लिए उपयोग सिद्ध कर, अब इस श्लोक में, वैराग्य के लिए भी शरद् उपयोगी[2] है यह बताते हैं।

श्लोकः – **नैवाविदन् क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः ।**
यथायुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ – जैसे कुटुम्बी मूर्ख मनुष्य, अपनी नित्य क्षय होती जा रही आयु को नहीं जानते हैं, वैसे (ही) उथले[3] जल में रहने वाले जल के जन्तु नित्य क्षीण होने वाले जल को नहीं पहचान सकते हैं ॥ ३७ ॥

सुबोधिनी – जलस्य क्षयकर्त्री शरत् **जलं च गाधं** परिमितं, **जलचरा जल एव क्रियाशक्तियुक्ता भवन्ति,** जले गते गता एव तेन जलेन सह यद्यगाधं जले प्रविष्टा भवेयुस्तदा न कापि चिन्ता स्यात्, जलेऽपि स्थित्वा जलक्षयं न ज्ञातवन्तः, अत एव न प्रयत्नं कृतवन्तः, एतदपि स्वाभाविकं चेन् न शरदुपयोग इति शास्त्रीयत्वसमर्थनार्थं दृष्टान्तमाह यथायुरिति, **आयुषा हि पुरुषार्थाः सम्पादनीयास्तच्चायुः परिमितं तादृशेनाल्पायुषा वृथा व्ययस्थानं गृहं परित्यज्य निर्भयं भगवच्चरणं चेद् गच्छेत् तदा न काचित् क्षतिराधिदैविकायुषः पूर्णस्य तत्र विद्यमानत्वात् सर्वोपीष्टसाधने प्रवर्तत** इति प्रवृत्त्यभावे ज्ञानाभाव एव हेतुः, अतोऽज्ञानं निन्द्यत **आयुः क्षीयमाणं न** विदुरिति.

१-नहीं तो। २-अनुकूल। ३-छिछले या थोड़े।

क्षय्यपदेन शक्यता निरूपिता, यद्ययमक्षयं कर्तुं वाञ्छति तदाक्षयमपि भवति, **आयुः** प्राणविशेष इति पूर्वमुक्तं 'शतायुः पुरुष' इत्यपि सर्वत्र मृत्यवोऽप्युक्ताः प्रतीकाराश्च, अत **आयुः** **क्षय्य**मित्युक्तं, **अन्वह**मिति पश्चाज्ज्ञाने पश्चात्तापाभावाय, अज्ञाने हेतुत्रयं **नरत्वं मूढत्वं कुटुम्बित्वं** च स्वभावतः शास्त्रतः सङ्गतश्चेति ज्ञानाभावो निरूपितः ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ – एक तो जल जन्तु, यों ही उथले हुए जल वाले सरोवर में रहते हैं, फिर शरद् ऋतु उस जल का धीरे २ शोषण करती रहती है, जिसका ज्ञान उन जन्तुओं को जल में रहते हुए भी नहीं होता है। वे तो, उस उथले पानी में ही, क्रिया शक्ति का कार्य (चलना, फिरना और खेलना आदि) आनन्द से निश्चिन्त होकर करते रहते हैं और न उस उथले पानी के साथ, किसी अथाह जल वाले नद में चले जाते हैं, प्रयत्नकर, यदि चले जाते तो, कोई चिन्ता नहीं रहती, किन्तु, न जाने का परिणाम, यह होता है, कि पानी नष्ट होते[1] ही, वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं, यदि यह जल का नष्ट होना स्वाभाविक[2] होता, तो शरद् ऋतु का कोई उपयोग न रहता, अर्थात् यदि वह पानी स्वतः[3] सूख जाता तो शरद् की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस शास्त्र सिद्ध विषय को समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे आयु है, आयु से ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ सिद्ध किए जा सकते हैं, किन्तु एक तो, वह आयु परिमित[4] है, फिर हम ऐसे स्थान में रहते हैं, जहाँ उसका अपव्यय[5] होता है और न उस स्थान (गृह) को छोड़ कर उसी दूसरे निर्भय स्थान (भगवान् के चरणारविन्द रूप गृह) का आश्रय करें तो किसी प्रकार की हानि न हो, किन्तु वहाँ आश्रय करने से पूर्ण आधिदैविक आयु की प्राप्ति तथा सर्व प्रकार के इष्ट की सिद्धि हो। इतना होने पर भी जीव यों नहीं करता है, उसका कारण अज्ञान ही है। अतः अज्ञान की निन्दा करते हुए कहते हैं कि अज्ञान से ही, वे इसको नहीं समझ सकते हैं, कि हमारी आयु प्रति दिन क्षीण होती जाती है। यहाँ क्षीण शब्द देने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई चाहे तो वह क्षीण न हो, तो वह अक्षय भी हो सकती है। क्योंकि 'आयुः' का भावार्थ कोई वर्ष वा मास बताने का नहीं है किन्तु आयु का अर्थ प्राण विशेष बताना है अर्थात् इसकी इतनी आयु है, जिस कहने का भाव यह है कि इसको इतने 'प्राण' मिले हैं। पूर्व में यों भी कह आये है, कि 'शतायुर्वै पुरुषः' पुरुष की आयु शत वर्ष की है इसी प्रकार 'मृत्यु' भी सर्वत्र कहे हैं तथा उनके प्रतीकार[6] भी बताए हैं। आयु क्षीण होती है एवं प्रतिदिन क्षय हो रही है। यदि मनुष्य को यह विषय ध्यान में आ जाए कि मेरी आयु दिन-प्रति-दिन क्षय होती जा रही है, इसको मैं अक्षय बनाने के लिए भगवान् के चरणों का आश्रय करूँ ऐसा विचार हो जाए, तो मनुष्य पश्चाताप करने से बच जाए, किन्तु वैसा होता नहीं, कारण कि अज्ञान है। अज्ञान होने के १-नरत्व, २-मूढत्व, ३-कुटुम्बित्व ये तीन कारण हैं। इन तीनों से ज्ञान नहीं होता है। नरत्व-मनुष्य स्वभाव, वैसा है जो उस ओर रुचि करने नहीं देता है, २-मूढत्व-मूर्खता के कारण शास्त्र ज्ञान न होने से, अज्ञान नहीं मिटता है। ३-कुटुम्बित्व-इससे स्त्री, पुत्र, धन आदि में सङ्ग[7] होने से भी अज्ञान नहीं मिटता है ॥ ३७ ॥

१-सूख जाने पर। २-कुदरती। ३-अपने आप। ४-सीमावाली।
५-व्यर्थ नाश, फिजूल खर्च। ६-उपाय। ७-आसक्ति।

आभास — ननु क्वचिदज्ञानमपि सुखकरं भवति तथा नरत्वादयोऽप्यतो वैराग्याभाव ऐहिकं सुखं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **गाधवारिचरा** इति,

आभासार्थ — जैसे किसी समय अज्ञान भी सुखकर हो जाता है, वैसे (ही) वे (अज्ञान के तीन कारण नरत्व आदि) भी सुख देने वाले होते हैं, वैराग्य के अभाव में उनसे लोक के सुख भोगे जाते हैं, इस प्रकार शङ्का हो तो उसका निवारण इस श्लोक से करते हैं-

श्लोकः — **गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरदर्कजम् ।**
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ — जैसे दरिद्री, कृपण और अजितेन्द्रिय कुटुम्बी पुरुष, संसार के दुःखों को भोगता है, वैसे (ही) उथले जल में रहने वाले जन्तु शरद् के सूर्य के ताप को सहन करते हैं ॥ ३८ ॥

सुबोधिनी — अल्पवारिचरा विद्यमानेऽपि जले शरदा कृत्वा खेदं प्राप्तवन्तः, **अज्ञानं तदैवोपयोगि यदि कालेन कर्मणा वा न पीड्यते**, अतोऽत्र शरदा मेघा निवर्तिता इति जलशोषकस्य तापजनकस्य सूर्यस्य व्यवधायकाभावाज् जलतापे तप्ता भवन्ति, तत्रापि पूर्ववद् दोषपरिहारायाह यथेति, दोषचतुष्टयाभावे दुःखाभावः प्रत्येकसमुदायाभ्यां तारतम्येन, अन्तःकरणेन्द्रियशरीरविषयाः पुरुषस्य पोषकाःसुखदातारस्ते सर्वे स्वभावदोषसहिताः, तत्र दारिद्र्यांसर्वविषयनाशकं बहिर्मुखस्य दुःखदायि कार्पण्यमन्तःकरणदोषो लोभात्मकः दरिद्रोपि भूत्वाऽलुब्धो यदि भवति तदा न प्राप्नुयाद् दुःखं, तत्राप्येकाकी चेन् न काचित् क्षतिः प्रत्युत **कुटुम्बी**, देहदोषोयं, तथाभूतोपि यदि जितेन्द्रियः **स्यान्** न काचिच् चिन्ता, न **विजितानि** विशेषेणेन्द्रियाणि येन ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ — अज्ञान, सुखदायी तब हो सकता है जब काल अथवा कर्म, प्राणी को दुःख न दे सकें, वे तो अज्ञान दशा में भी दुःख देते ही हैं, जैसे कि उथले जल में रहने वाले अज्ञानी जन्तुओं को शरद् सूर्य तथा जलाशय के बीच में अन्तराय[१] डालने वाले मेघों को दूर कर जल को तप्त कर शुष्क करने वाले सूर्य द्वारा उनको दुःखी करती है ।

जहाँ चार दोष (१-अन्तःकरण, २-इन्द्रिय, ३-शरीर और ४-विषय) नहीं है वहाँ दुःख नहीं होते हैं । जैसे वर्षा ऋतु में वर्णन है, कि व्रज निर्दोष होने से, वहाँ किसी प्रकार का पाषण्ड धर्म नहीं है, जिससे दुःख हो । यहाँ भी दृष्टान्त से इसको समझाते हैं, कि यद्यपि ये अन्तःकरण

आदि चार स्वयं अथवा दूसरों से मिलकर प्राणियों का पोषण करने वाले तथा सुखदाता हैं, तो भी वे सब स्वाभाविक दोष वाले हैं। जिन दोषों में से दरिद्रता[१] सर्व विषयों को नाश करने वाली तथा बहिर्मुखों को दुःख देने वाली है, समपन[२] अन्तःकरण का लोभ रूप दोष है, यदि गरीब होते हुए भी लोभी नहीं है, तो वह दुःख को प्राप्त नहीं होता है। यदि मनुष्य एकाकी हो तो भी हानि नहीं, किन्तु कुटुम्ब वाला है, यह देह दोष है। कुटुम्बी होकर, यदि जितेन्द्रिय बन जाए तो भी कोई चिन्ता न रहे, किन्तु इन्द्रियों को जीता नहीं है। अतः अज्ञान होते भी काल कर्म वश दुःख भोगना ही पड़ता है सुख प्राप्ति नहीं होती है ॥ ३८ ॥

आभास — एवं शरत्कृतं दोषत्रयमुक्त्वा गुणसहितं केवलान् गुणानाह शनैः शनैरित्येकादशभिः,

आभासार्थ — इस प्रकार शरद् ऋतु के किए हुए गुण सहित तीन दोषों का वर्णन कर, अब एकादश (११) श्लोकों से शरद् के निर्दोष गुणों का वर्णन करते हैं।

श्लोकः — **शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः ।**
यथाहम्ममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ — जैसे धीर पुरुष धीरे धीरे, अनात्म रूप शरीर आदि पदार्थों में से अहन्ता एवं ममता का त्याग करते हैं, वैसे (ही) स्थलों (भूमि) ने कीच को तथा लताओं ने कच्चेपन का त्याग किया ॥ ३९ ॥

सुबोधिनी — **शनैः शनैः** क्रमेणैव **स्थलानि पङ्कं जहुः**, तामसाः स्वतामसदोषं **जहुः**, **वीरुधो** लतागुल्मादय **आमम**पक्वतां **जहुः**, चकाराद् वृक्षा अपि सात्त्विका **आम**मेव **जहुः**, पूर्ववदेवाह **यथाहम्ममता**मिति, **ममता** पङ्कस्थानीया, **अहन्ता**मस्थानीया, **अहन्ताममतात्यागे यद्यपि शास्त्रं हेतुस्तथापि धैर्याभावात् स्वाभाविकदोषेण पीडिताः शास्त्रीयं न मन्यन्ते**ऽतो धैर्यमेव हेतुत्वेनाह महतां ममतैवान्येषामहन्ताप्यतो द्वयमप्युक्तमभेदश्च, केचिदत्रात्मता- दात्म्यमात्मसम्बन्धश्चाहुः, अहङ्कारो ब्रह्मवादे नैयायिकादि- सिद्धान्ते च नास्ति तत्रात्मबुद्धिरेवेति स्वयमात्मत्वमध्यस्यत इत्यपरे, तादात्म्यमित्यन्ये, सर्वथा त्याज्यमेव, गौणपक्षेपि त्यागमर्हति, करणपक्षे तु ममता कार्यार्थ इति न त्यागः, अत एव **धीरा** इत्युक्तं न तु भक्ताः, **आदि**शब्देन पुत्रादयः, तेष्वप्यहन्ता केषाञ्चिद् वैदिके त्वहन्तैव पुत्रे भार्यायां च **शनैस्त्याग**स्त्यक्तांशस्य पुनरग्रहणार्थं त्यागे भिन्नत्वं हेतुरिति तदुपपादयत्य**नात्म**स्विति ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ – धीरे, धीरे, अर्थात् क्रम के अनुसार, ज्यों ज्यों समय बीतता गया, त्यों त्यों, भूमि ने कीच को छोड़ा (भूमि सूखी होने लगी) जिससे, यह जताया है कि तामसों ने अपने दोषों का त्याग किया । बेल और झाड़ियों ने अपना कच्चापन छोड़ दिया, मूल श्लोक में 'च' (और) कहने का तात्पर्य यह है, कि सात्त्विक वृक्षों ने भी कच्चेपन को छोड़ा । जैसे वर्षा ऋतु के प्रकरण में, दृष्टान्त देकर समझाया है वैसे (ही) यहाँ भी दृष्टान्त देकर समझाते हैं ।

जैसे भूमि में कीच, वैसे ही मनुष्य में ममता है, जैसे लता वृक्षादि में कच्चापन है वैसे (ही) मनुष्य में अहन्ता है । इन दोनों (अहन्ता तथा ममता) के छोड़ने में शास्त्र कारण होते हैं किन्तु धैर्य के अभाव से तथा स्वाभाविक दोषों से पूर्ण मनुष्य, शास्त्रों में कहे हुए ज्ञान आदि साधनों को नहीं मानते हैं; अतः धैर्य को यहाँ अहन्ता ममता के त्याग का कारण कहा गया है । लोक में देखा जाता है कि महान् पुरुषों को केवल ममता होती है । अन्यों को अहन्ता तथा ममता दोनों होती है । इसलिए दोनों (अहन्ता, ममता) का अभेद बताने के लिए दोनों (अहन्ता तथा ममता) एक ही है । श्लोक में कहे हुए 'शरीरादिषु' में जो आदि शब्द दिया है जिससे इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तःकरण कहा है उसका भावार्थ अहन्ता त्याग ही जाना जाता है, तो फिर उसके साथ ममता क्यों जोड़ी जाती है इस प्रकार की शङ्का मिटाने के लिए ही उपर्युक्त विवेचन (दोनों एक ही है) आचार्य श्री ने किया है ।

१–कोई अहन्ता तथा ममता का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं । आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध (आत्मवत्–आत्मा की तरह हो जाना) अहन्ता है और उस (आत्मा) से केवल सम्बन्ध ममता है, अतः अहन्ता का त्याग नहीं हो सकता है (न करना चाहिए) केवल ममता का त्याग हो सकता है और वह करना भी चाहिए ।

२–ब्रह्मवाद तथा नैयायिक आदि सिद्धान्त में अहङ्कार (अहंभाव) उत्पन्न करने वाली अहन्ता नहीं है, किन्तु शरीर आदि को आत्मा समझना और उसी प्रकार कर्त्तव्य करना यह अहन्ता है। यही शुद्ध वैदिक सिद्धान्त सम्मत मत† है ।

३–देह आदि में आत्मा का जो अध्यास (एक पदार्थ को दूसरा समझना अध्यास है, जैसे देह को आत्मा समझना यह देह में आत्मा का अध्यास कहा जाता है) किया जाता है वह अहन्ता है ।

४–आत्मा के साथ तादात्म्य (एकी भाव) अहंता है यों भी कोई मानते हैं । (यह ऊपर बताया है)

यह अहन्ता सर्वथा त्याज्य है, गौण पक्षवाली‡ अहन्ता भी नहीं करनी चाहिए । केवल तभी

---

†श्री महाप्रभु भी मद्वल्लभाचार्य चरण भी अहन्ता का यह स्वरूप मानते हैं । –अनुवादक

‡शरीर को आत्मा समझना यह गौणी बुद्धि है, निश्चित न हो कर थोड़े समय के लिए होने से ऐसी बुद्धि को गौणी कहते हैं ।

ममता का त्याग नहीं करना चाहिए जब वह ममता भगवान् की सिद्धि के लिए हो, तब वह 'ममता' लीला की सिद्धि में करण (साधन) होती है अतः त्याग के योग्य नहीं है। इसीलिए ही श्लोक में 'धीराः' पद देकर बताया है कि धीर पुरुष इनका त्याग करते हैं किन्तु भक्त नहीं करते हैं।

श्लोक में दिए हुए (आदि) शब्द से स्त्री पुत्र आदि में अहन्ता होती है, यों कितनेक कहते हैं। वेद में कहे हुए सिद्धान्त के अनुसार तो, स्त्री और पुत्र में अहन्ता ही होती है, जैसे कि कहा है ('आत्मा वै पुत्र नामासि' 'स पतिः पत्नीचाभवताम्) 'तू स्वयं पुत्र रूप है' 'वह पति और पत्नी दो रूप हुए, अर्थात् पत्नी पति का आधा शरीर है। त्याग किए हुए अंश को फिर ग्रहण नहीं करने के लिए धीरे धीरे त्याग करते हैं कहा है, और त्याग में कारण बताते हैं कि वे आत्मा न होने से अपने से भिन्न है इसलिए त्याग योग्य है ॥ ३९ ॥

आभास - एवं बहिर्दोषं परिहृत्य ततोऽन्तरङ्गदोषपरिहारार्थं समुद्रं निरूपयति । निश्चलाम्बुरिति,

आभासार्थ - इस प्रकार बाहर के दोषों का परिहार[१] कर अब इस श्लोक में भीतर के दोषों के निवारण करने के लिए 'समुद्र' का निरूपण करते हैं।

श्लोकः — **निश्चलाम्बुरभूत् तूष्णीं समुद्रः शरदागमे ।**
आत्मन्युपरते सम्यङ् मुनिर्व्युपरतागमः ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ — जैसे अन्तःकरण के उपराम[२] पाते ही मुनि, वेद से निवृत्त हो जाता है, वैसे ही शरद् आने पर समुद्र स्थिर जलवाला हो शान्त हो गया ॥ ४० ॥

सुबोधिनी — **पृथिव्यपेक्षया जलमुत्तमं जले च समुद्रः**, तत्र चाञ्चल्यं दोषो रजःसम्बन्धस्तत्र स्वभावत एव नास्ति शब्दश्च दोषश्चलनेनैवोत्पद्यते, उभयमपि राजसं, तामसं पृथिव्यामेवोक्तं च, तदुभयाभावमाह **निश्चलाम्बुरिति**, **तूष्णीमभूदिति**, तत्र हेतुः **शरदेव**, पूर्ववद् दृष्टान्तमाह, **आत्म**न्यन्तःकरणे **सम्यगुपरते** लयविक्षेपरहिते जाते **मुनिर्म**ननशील **उपरतागमोपि** भवति निवृत्तवेदार्थानुसन्धानो भवति, यतोयं **सम्यङ्** मुनिर्निष्पन्नमनननिदिध्यासनसाधनः, **आगमः** शब्दश्चाञ्चल्याभाव **उपरतिः**, सात्त्विकस्तु तथा दोषो न भवतीति पृथिवीजले एव निरूपिते ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ — पृथ्वी से जल उत्तम है, जल में भी समुद्र उत्तम है, उसमें चञ्चलता दोष है,

समुद्र के जल में रज का (पृथ्वी की मिट्टी व कूड़ा) मेल स्वभाव से नहीं है, गर्जना की ध्वनि रूप दोष जल के चलने से उत्पन्न होता है। ये दोनों दोष (चंचलता तथा ध्वनि) राजस हैं, तमोगुण का दोष पृथ्वी में है, इसमें नहीं है। शरद् के आने से, वे दोनों दोष नष्ट हो गए जिससे समुद्र स्थिर जल वाला बन कर, शान्त हो गया। वर्षा के समान, यहाँ भी दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि, जब अन्तःकरण लय तथा विक्षेप रहित होकर शान्त हो जाता है, तब मनन करने वाले 'मुनि' को वेद के अर्थ का अनुसन्धान नहीं करना पड़ता है वा नहीं रहता है। कारण कि, इस मुनि ने मनन, निदिध्यासादि साधन पूरे कर लिए हैं। आगम[१] शब्द है और चञ्चलता का अभाव यह उपरति है। तात्पर्य यह है, कि जैसे मुनि को, वेद ध्वनि वां उनके अर्थ के अनुसन्धान करने की आवश्यकता न रहने से, शान्ति प्राप्त होती है, वैसे (ही) शरद् में समुद्र भी चञ्चलता व ध्वनि बन्द हो जाने से शान्त हो जाता है।

पृथ्वी के तामस दोष और जल के राजस दोषों के (३९वें तथा ४०वें श्लोकों में) दूर करने का वर्णन किया। सात्त्विक दोष तो होते नहीं हैं ॥ ४० ॥

आभास – जलभेदान् निरूपयति केदारेभ्य इति,

आभासार्थ – अब इस श्लोक में जल के भिन्न-भिन्न भेदों का वर्णन करते हैं।

श्लोकः – **केदारेभ्यस्त्वपोऽगृह्णन् कर्षुका दृढसेतुभिः ।**
यथा प्राणैः स्रवज् ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ – जैसे योगीजन प्राणों के द्वारा निकल जाते (स्रवित) हुए ज्ञान को, उन (प्राणों) का नियमन (निरोध) कर रोक रखते हैं, वैसे ही किसान भी वह जाते हुए जल को दृढ़ मेंड़ों से पकड़ रखते हैं और समय पर क्यारों में पुनः भर देते हैं ॥ ४१ ॥

सुबोधिनी – **केदारा** धान्योत्पत्तिक्षेत्राणि विभक्तानि तेभ्यो निःसरन्तीरपः **कर्षुका अगृह्णन्** गमनमार्गमुद्रणेन, तदाह **दृढसेतुभिरिति जलेन सर्वमार्द्र**मिति जलगतिनिरोधार्थं दृढत्वमुक्तं, अस्यापि गुणस्य स्वभाविकत्वपरिहाराय दृष्टान्तमाह **यथे**ति, शरदि वृष्टिर्दुर्लभेति जलार्थिनां तन्निरोध उचितस्तथाप्यस्य फलसाधकत्वं साधनीयं जलाभावे सर्वैव कृषिर्व्यर्था भवेदिति रक्षायां दार्ढ्यमपि निरूपणीयं, प्राणादयो वायवो यदा बहिर्निः **सरन्ति** तदा **ज्ञान**सहिता एव निःसरन्ति तथेन्द्रियाण्यपि, ज्ञानक्रियाशक्तियुक्तो हि भगवाञ् ज्ञानक्रिययोर्गतयोरपगच्छतीव प्राकट्यं तु निवर्तत एव, ज्ञानं हि प्रकटमुच्यते शास्त्रतो जातं 'स्रवतीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यत' इतिवाक्यात्, **ज्ञानार्थमेव हि योगशास्त्रं प्रवृत्तं**,

---

१-वेद। २-बान्धों।

व्याख्यार्थ – खेती में किसान अन्न के उत्पादन के लिए पृथक् पृथक् क्यारे बनाते हैं, जिनमें धान बोते हैं, धान के लिए पानी चाहिए। वर्षा ऋतु में वे क्यारे भर जाते हैं, किन्तु शरद् आते ही वह पानी सूख जाता है वर्षा भी निश्चित रूप से पड़ती नहीं, ऐसी सूरत में यदि पानी न मिले तों खेती नष्ट हो जाए, अत: किसान लोग प्रथम ही सावधान होकर पहाड़ नदी आदि जहाँ से भी पानी निकल जाने का मार्ग होता है उस मार्ग पर दृढ़ बान्ध बनाकर पानी को रोक रखते हैं जब भी आवश्यकता होती है तब खेती के लिए क्यारों में पानी ले लेते हैं, जिस से, खेती नाश से बच जाती हैं धान भी पुष्कल उत्पन्न होता है। इसी प्रकार योगी जन भी, प्राण वायु तथा इन्द्रियों द्वारा निकलते हुए ज्ञान को रोकने के लिए योग के साधन रूप बान्धों को बनाते हैं अर्थात् योग के साधन करते हैं।

भगवान् की ज्ञान और क्रिया दो शक्तियाँ हैं उनके साधन, प्राण और इन्द्रियाँ हैं। यदि वे दोनों शक्तियाँ प्राण तथा इन्द्रिय सहित निकल जावें तो उनके अभाव के कारण, भगवान् भी वहाँ न रहेंगे और इन्द्रियाँ विषयों में आसक्त हुई तो ज्ञान नष्ट हुआ। ज्ञान नष्ट न हो, इन्द्रियाँ विषयासक्त न हो, तदर्थ (ज्ञान की रक्षा के लिए इन्द्रियों को सन्मार्ग पर चलाने के लिए) योग शास्त्र प्रवृत्त हुआ है।

कारिका – "ऊर्ध्वेन्द्रियैस्तु विक्षेपो ज्ञानस्याधो विनाशनम्।
निरोधे पुञ्जभावेन स्वकार्यं साधयेद् ध्रुवम्॥

कारिकार्थ – ऊर्ध्व इन्द्रियों (जिन इन्द्रियों का निरोध नहीं हुआ है उनको ऊर्ध्व इन्द्रियाँ कहते हैं) से ज्ञान बह जाता है (बाहर निकल जाता है) और नीचे से जाते हुए, यों नष्ट हो जाता है जैसे छिद्रवाले घड़े से पानी बहकर नष्ट हो जाता है, अत: निरोध से उनका संयम कर, योगी को अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए।

सुबोधिनी – प्राणेन्द्रियनिरोधेन स्रवज् ज्ञानमगृह्णन् तत्र योगमार्गा **दृढसेतव** इति, **केदारेभ्य** इति चतुर्थी, तुशब्दोग्रहणेपि सिद्धिं व्यावर्तयति, अत: साधनदशायां योगो नित्य:, **आसनप्राणायामादिस्थैर्ये ज्ञानं** नावकीर्यत एव योग: शरदि सिध्यतीति च शुद्धिद्वारा च हेतु:॥ ४१॥

व्याख्यार्थ – योगीजन प्राण तथा इन्द्रियों का निरोध कर बहते हुए ज्ञान को रोक लेते हैं। इस (ज्ञान को रोकने) में योग के जो मार्ग हैं वे दृढ़ बान्ध हैं। मूल श्लोक में 'केदारेभ्य:' यह पद चौथी विभक्ति का है जिसका तात्पर्य है पानी को रोकने का कारण ये क्यारे हैं अर्थात् क्यारों के लिए पानी रोका जाता है। मूल श्लोक में 'तु' शब्द इसलिए दिया है कि केवल पानी रोक रखने से भी सिद्धि नहीं होती है उसकी सदैव देख भाल करनी ही चाहिए, जैसे योगी को साधन दशा में योग नित्य करना पड़ता है। आसन, प्राणायाम आदि योग के अंग जब स्थिर हो जाते

हैं, तब फिर, ज्ञान निकल नहीं सकता है । योग, शरद् ऋतु में सिद्ध होता है क्योंकि शरद् ऋतु, महाभूत आदि की शुद्धि कर देती है, उनकी शुद्धि होने पर ही, योग की क्रिया, की जा सकती है और तब वह क्रिया योग को सिद्ध करने में समर्थ होती है ॥ ४१ ॥

आभास – एवमाधिभौतिकीमाध्यात्मिकीं च जलस्य शुद्धिमुक्त्वाधिदैविकप्रकारेण शुद्धिमाह । शरदर्कांशुजानिति,

आभासार्थ – इस प्रकार जल की आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक* शुद्धि कह कर अब इस श्लोक में, आधिदैविक प्रकार से शुद्धि कहते हैं-

श्लोकः – **शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत् ।**
देहाभिमानजं दुःखं मुकुन्दो व्रजयोषिताम् ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ – जैसे मुकुन्द भगवान् ने व्रज की स्त्रियों का देहाभिमान से उत्पन्न दुःख (ताप) हरण कर लिया, वैसे ही चन्द्रमा ने शरद् के सूर्य की किरणों से उद्भूत[१] भूतों का ताप नाश किया ॥ ४२ ॥

सुबोधिनी – शरत्कालीनो योऽर्कः सोऽत्यन्तं खरस्तस्यांशवोऽपि तथा तज्जनितास्तापा ज्वराद्युत्पादकत्वेनापि खराः अतस्तापेषु बहुवचनं, **भूतानां** जातानां, **चन्द्रो हि जलाधिपतिर्जलप्रकृतिकस्तदात्मिकानि च** भूतान्यतस्त-त्तापनिवारकत्वं तस्य युक्तं, **उडुप** इति, नक्षत्रद्वारापि तापहारकत्वमुक्तं उभयत्रापि शरदो हेतुत्वं, पूर्ववद् दृष्टान्तः, यथा चन्द्र आधिभौतिकं तापं हृतवानेवं भगवानाध्यात्मिकं तापं हृतवान्, स तापो देहाभिमानरूपः स क्रमेण पुष्टिमार्गप्रवेशनाद् हृतो देहादीनां भगवति विनियोगाद् न केनाप्यंशेन तापः, **व्रजयोषिताम्**इति, तदा ता एव स्थिताः, चन्द्रसमानतया निवारणाद् रात्रावेव **देहाभिमानः** स्त्रीत्वाभिमानाज्ञानं कामस्तत्कृताश्च तापाः, ननु जात्यादिधर्मनाशकत्वात् कथं तापनिवारकत्वं ? तत्राह **मुकुन्द** इति, **मोक्षदानसमये पूर्वावस्था त्याजनीयैव**, अत उपयुक्त एव त्यागः अन्यथा शरदि ता मृता एव स्युस्तत्र विद्यमाने भगवति मोक्षाभावश्च **सर्वभावेन ता गृहीता इति तासां तापाभावः** शरदो विभाव-कत्वादुपयोगः, केदारदृष्टान्त एव वायोः शुद्धिरर्कचन्द्र-मसोर्निरूपण एव तेजसः ॥ ४२ ॥

---

* (१) प्राण की शुद्धि कहने से जल की आध्यात्मिक शुद्धि कही है क्योंकि श्रुति में 'आपोमयः प्राणः' कहा है कि प्राण जलमय हैं ।

(२) 'शुद्धि' पद का तात्पर्य है अपने कार्य करने की शक्ति ।　　**'प्रकाश'**

१-पैदा हुआ ।

व्याख्यार्थ – जैसे शरद् का सूर्य तीव्र ताप वाला है वैसी ही उग्र ताप वाली उसकी किरणें भी हैं। भूत अनेक हैं, ताप से उत्पन्न रोग भी अनेक हैं, उन भूतों के रोगों (तापों) को नाश किया यह बताने के लिए मूल श्लोक में 'ताप' शब्द बहुवचन दिया गया है। ताप हरण करने वाला 'चन्द्र' क्यों हुआ ? इस शङ्का की निवृत्ति करते हुए कहते हैं कि 'चन्द्रमा' जल का अधिपति है तथा जल प्रकृति वाला है और भूत[१] जलात्मक हैं अत: अधिपति होने के नाते उनका ताप मिटाना चन्द्रमा का यह कार्य योग्य ही है। चन्द्रमा को मूल श्लोक में 'उडुप' नाम इसलिए दिया है कि वह 'उडु' (नक्षत्रों को) 'प' (पालने वाला) है। इससे चन्द्रमा नक्षत्रों द्वारा भी ताप को हरण करने वाला है। चन्द्रमा स्वयं ताप को हरण करे अथवा नक्षत्रों द्वारा ताप मिटावे इन दोनों प्रकारों में शरद् कारण रूप है। अब पूर्ववत्[२] दृष्टान्त देकर समझाते हैं जैसे चन्द्रमा ने आधिभौतिक ताप को मिटाया, वैसे (ही) भगवान् ने आध्यात्मिक ताप को नाश किया। वह आध्यात्मिक ताप देहाभिमान रूप है, जीव जब पुष्टि मार्ग में प्रवेश हुआ (होता है) तब धीरे धीरे उसका देहाभिमान से उत्पन्न ताप का हरण हुआ। पुष्टि मार्ग में प्रवेश होते ही देहादि का भगवान् में विनियोग होता है उससे (विनियोग होने से) सब ताप नाश हो जाते हैं किसी अंश से भी ताप नहीं रहता है।

भगवान् ने व्रज सीमन्तनियों का ताप हरण किया, कारण कि उस समय, वहाँ वे ही स्थित थीं। भगवान् ने उनका ताप चन्द्रमा की भाँति निवारण किया। चन्द्रमा रात्रि के समय, ताप को मिटाता है, प्रभु ने भी उनके स्त्रीपन का अभिमान, काम और उससे उत्पन्न ताप ये तीन दुःख रात्रि में ही मिटाए, कारण कि, स्त्रियों को ये रात्रि को ही होते हैं।

भगवान् ने उनके तापों का नाश किया, जिससे उनका जाति धर्म (स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म स्त्रीत्व आदि) भी नाश हुआ। इसलिए भगवान् को उनके तापों को नाश नहीं करने चाहिए थे ? ऐसी शङ्का का निवारण 'मुकुन्द' नाम देकर किया है। भगवान् मोक्ष दाता है, जब मुक्ति दान करने का समय होता है, तब पूर्व अवस्था (बन्धन में जकड़ रखने वाली कामादि अवस्था) को छोड़ना योग्य होता है, इसलिए जाति धर्म का त्याग योग्य ही है। यदि उनका त्याग न करें, तो शरद् में उनकी मृत्यु हो जाती, भगवान् की उपस्थिति में[३] उनको मोक्ष न होता। किन्तु भगवान् ने उनका सर्वात्म भाव से अङ्गीकार किया था, इससे उनको तापाभाव हुआ। शरद् ऋतु का तो दर्शक की भाँति इस लीला में उपयोग[४] है। पूर्व श्लोक में क्यारों का दृष्टान्त दिया, जिससे वायु की शुद्धि कही, इस श्लोक में सूर्य चन्द्र के निरूपण से तेज की भी शुद्धि बताई ॥ ४२ ॥

आभास – आकाशस्य शुद्धिपूर्वकं गुणमाह खमशोभतेति, निर्मेघं खमशोभत, शरदा कृन्चा विमलास्तारका यस्य,

आभासार्थ – इस श्लोक में आकाश की शुद्धि कह कर, गुणों का वर्णन करते हैं । शरद् के कारण, जिसमें निर्मल तारे है और मेघों का अभाव है, वैसा आकाश शोभा पाने लगा ।

श्लोकः – **खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम् ।**
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ – वेद के अर्थ के प्रकाश होने से, सत्व गुण वाला चित्त, जैसे शोभा पाता है वैसे ही मेघ रहित शरद् के कारण निर्मल तारोंगण वाला आकाश शोभा पाने लगा ॥ ४३ ॥

कारिका – **मासाष्टकं तथाकाशे तमस्तापैः कृतं रजः ।**
मेघैरपोह्यते सम्यगतः शरदि निर्मलाः ॥ १ ॥
सर्वं नभो दिशश्चैव तारकाश्चन्द्र एव च ॥ १½ ॥

कारिकार्थ – आठ मास पर्यन्त (चातुर्मास के बिना) आकाश में सूर्य के तापों ने जो रज रूपी तम किया उसको मेघ (वर्षा ऋतु में) पूर्ण प्रकार से मिटाते हैं, जिससे शरद् ऋतु में सम्पूर्ण आकाश, दिशाएँ तारागण और चन्द्रमा भी निर्मल होते हैं ॥ १½ ॥

सुबोधिनी – तदाह, **शरद्विमलेति,** मेघापगमो दोषाभाव आधिभौतिक विमलताध्यात्मिकी तारका गुणाः, आधिदैविकीयं शरदिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **सत्त्वयुक्तमिति, सत्त्वगुणेन युक्तं चित्तं शब्दब्रह्मणो** वेदस्य **दर्शनं** यत्र तादृश**मशोभत, चित्तस्य रजस्तमसी दोषः सत्त्वसम्बन्धेऽपगच्छति, गुणास्तु सर्वपदार्थानां तत्त्वतो ज्ञानं,ते च पदार्थाः श्रुत्येकसमधिगम्याः शुद्धेऽन्तःकरणे वेदभावनया स्फुरन्ति,** शुद्धिहैतुत्वाच्छरदुपयोगः, मेघाभावस्थानीयं **सत्त्वं** विमलस्थानीयं **शब्दब्रह्म** तदर्थज्ञानं तारकास्थानीयं एतद्व्यावर्त्या दोषा आकाशो बाह्य आभ्यन्तरश्च शुद्धो निरूपितः ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ – शरद् ने आकर, आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीन प्रकार के दोष आकाश के नाश किए। आकाश में मेघों का होना आधिभौतिक दोष था, शरद् ने उन (मेघों) को हटाकर, आकाश का आधिभौतिक दोष निवारण किया, आकाश में रज, आध्यात्मिक दोष था, शरद् ने उस (रज को नष्ट कर आकाश को निर्मल बना के उसका आध्यात्मिक दोष दूर किया । तारागण गुण हैं उनसे आकाश का सुशोभित होना आधिदैविकी शरद् है, यह बताने के लिए दृष्टान्त देते हैं, चित्त के दो दोष, रजोगुण और तमोगुण हैं । वे दोनों ही, सतोगुण का जब

चित्त से सम्बन्ध होता है, तब चले जाते हैं, जिससे सतोगुण युक्त चित्त में, वेद के अर्थ का प्रकाश होता है उस प्रकाश से वह (चित्त) शोभा पाता है। सर्व पदार्थों का तत्त्व से (वास्तविक प्रकार से) ज्ञान होना ही गुण है। वे पदार्थ श्रुति द्वारा ही समझे जाते हैं। शुद्ध हुए अन्तःकरण में, वेद की भावना से वे स्फुरित[१] होते हैं। शुद्धी करने वाली होने से शरद् का यहाँ उपयोग है। जैसे आकाश में मेघ न होने से आकाश स्वच्छ रहता है, वैसे (ही) चित्त में सत्त्व आने से (रज तम जाते हैं) चित्त शुद्ध हो जाता है। जैसे आकाश निर्मल हो तो शोभा देता है वैसे (ही) चित्त शब्द ब्रह्म से निर्मल हो सुशोभित होता है। जैसे आकाश में तारे चमकते है तो आकाश अलङ्कृत सा दिखता है वैसे ही चित्त को वेदों के अर्थ का ज्ञान तारों के समान चमकता है तथा अलङ्कृत करता है।

इस वर्णन से दूर करने योग्य दोषों का (मेघ, रज तथा तम) तथा महाभूत आकाश, एवं भीतर के आकाश (चित्त) की शुद्धि का निरूपण किया ॥ ४३ ॥

आभास – तत्र हृदये भगवच्छोभावक्तुं प्रथमत आकाशे चन्द्रशोभामाह महाभूतानन्तरं मनसः क्रमभावित्वाद्, अखण्डमण्डल इति,

आभासार्थ – पूर्व श्लोक में कहे हुए, सत्त्व युक्त चित्त में, भगवान् की शोभा का वर्णन करने के लिए, इस श्लोक में, प्रथम आकाश में हुई चन्द्रमा की शोभा कहते हैं, कारण कि मन, महाभूतों के अनन्तर ही आता है।

श्लोकः – **अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणैः शशी ।**
यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ – जैसे यादवों के पति श्रीकृष्ण, भूमि पर यादव मण्डल से आवृत हो शोभा देते हैं, वैसे (ही) सम्पूर्ण मण्डल सहित चन्द्र, तारा मण्डल से आवृत हो आकाश में शोभता है ॥ ४४ ॥

सुबोधिनी – अखण्डं मण्डलं यस्य तादृशः पूर्णमासश्चन्द्रो भगवदीयो वोडुगणैः सह **रराज,** भगवदीयव्यावृत्त्यर्थं **शशी** निरूपितः, सोऽपि चन्द्रो [illegible]कादिभिर्दृश्यमान एव तथा, अग्रे वा तस्य प्राकट्यं **यथा** हृदये, **यदुभिः** सह **यदुपतिः कृष्णो** भुव्य**खण्डमण्डलो** राजते यद्यपि **यदुपतिः** सर्वत्रैव राजते, कृष्ण एवावतारान्तरेष्वपि तथापि **वृष्णिचक्रेणावृतो**ऽवतीर्णः साक्षाद्भगवानत्रैव शोभते ॥ ४४ ॥

१-प्रकाशित।

व्याख्यार्थ – इस श्लोक में दो प्रकार के चन्द्रमाओं★ की शोभा का वर्णन किया है। एक की शोभा का आकाश में और एक की शोभा का पृथ्वी पर वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण बिम्ब वाला पूर्णिमा का चन्द्र तारागणों के साथ जैसे आकाश में शोभता है वैसे ही पृथ्वी पर यादवों से आवृत श्रीकृष्णचन्द्र शोभते हैं। मूल श्लोक से 'अखण्डमण्डल'★ शब्द से निष्कलङ्क सम्पूर्ण भगवदीय चन्द्र का वर्णन किया है और **'शशी'** शब्द से कलङ्क वाला लौकिक चन्द्र कहा है। जैसे लौकिक चन्द्रमा को आकाश में नक्षत्र सुशोभित करते हैं वैसे (ही) भगवदीय चन्द्रमा के लिए स्वामिनीयों के मन नक्षत्र रूप हैं अतः जब स्वामिनीयाँ उन अपने नक्षत्र रूप मन से, भगवदीय चन्द्र (भगवान् के मुखचन्द्र) का दर्शन करती हैं, तब भगवान् का मन भी स्वामिनीयों में संलग्न होने से सुशोभित होता है अथवा आगे उनका प्राकट्य होगा, जैसे हृदय में।

श्लोक में 'व्योम्नि'[१] पद दिया है जिसका आशय है कि यह लौकिक 'चन्द्र' आकाश में शोभता है और 'अलौकिक चन्द्र' (श्रीकृष्ण) भक्तों के हृदयाकाश में प्रकट होकर शोभा देता है।

यद्यपि यदुपति सर्वत्र अन्य अवतारों में भी शोभा देता है, तो भी यादवों के चक्र से आवृत अवतारी साक्षात् भगवान् तो यहाँ ही सुशोभित होते हैं ॥ ४४ ॥

आभास – शरदो मासान्तरकृत्यमाहाश्लिष्येति,

आभासार्थ – इस श्लोक में शरद् ऋतु के द्वितीय मास का कृत्य वर्णन करते हैं।

श्लोकः – **आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् ।**
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ – जिस (शरद्) में पुष्पों वाले वन की समान उष्ण और शीत युक्त वायु से आलिङ्गन कर, मनुष्यों ने तो अपना ताप मिटा दिया, किन्तु जिनका मन श्रीकृष्ण ने हर लिया है, वैसी गोपीजनों का ताप उस वायु का चित्त से स्पर्श न होने से नहीं मिटा ॥ ४५ ॥

★एक चन्द्रमा जो आकाश में स्थित है, दूसरा 'भगवदीयचन्द्र' (भगवान् ही चन्द्र, अथवा भगवन्मुखचन्द्र) पृथ्वी पर है।

★यह भावार्थ प्रभुचरणों की 'टिप्पणी' से लिया है। -अनुवादक

१-आकाश में।

सुबोधिनी — समं शीतमुष्णं च यत्र **प्रसूनयुक्ते वने मारुतो** यस्य तादृशं **शीतोष्ण**भावमाश्रित्य **तापं जहुः, वनमारुतं** वा समत्वान्मान्द्यमपि प्रसूनसम्बन्धात् सौगन्ध्यं, एवं सर्वगुणमपि वायु**माश्लिष्य जनास्तापं जहुः, अस्य** सहजत्वाभावान्न दृष्टान्तः, परं हीनतामाह **गोप्यो** नेति, तत्र हेतुः **कृष्णहृतचेतस** इति, **कृष्णेनैव हृतं** चित्तं यासां, **चित्ते हि सुखं भवति तत् कृष्णसम्बन्ध एव देहे तिष्ठति,** आश्लेषोऽपि न कृतः, सामान्यनिषेधात् कृष्णाश्लेषोऽप्यनेनैव निषिद्धो हरणशब्दाच्च, अत आध्यात्मिकीयं शरन्न सुखदायिनी वृत्ता, आधिदैविकीं तु वक्ष्यति ॥ ४५ ॥

व्याख्यार्थ — शरद् ऋतु के कारण, वन की वायु, गरमी और ठंडी समान होने से मंद मंद चलती थी, और पुष्पों के सम्बन्ध से वह वायु सुगन्धि युक्त भी हो गई थी। इस प्रकार सर्व गुण युक्त वायु का आश्रय[१] कर मनुष्यों ने अपने ताप मिटा दिए। यह स्वाभाविक नहीं है, अतः दृष्टान्त रूप से यह नहीं दिया है, किन्तु इससे वायु की हीनता प्रकट करते हुए कहते हैं कि गोपीजन का ताप नहीं मिटा, कारण कि उनके चित्त को भगवान् ने हरण कर लिया था, अतः वह चित्त भगवान् के पास था, जिससे वायु के साथ तो चित्त का आलिङ्गन न हुआ किन्तु भगवान् ने भी उस (चित्त) का आलिङ्गन नहीं किया था, जिससे गोपीजन का ताप मिटा नहीं, चित्त स्थान पर होए तो आलिङ्गन ही सके यह हरण किया हुआ होने से, स्थान पर नहीं है, अतः भगवान् का भी आश्लेश न हो सका है, ताप मिटकर, सुख चित्त को होता है, वह चित्त, कृष्ण के सम्बन्ध्र वाले देह में स्थित है। अतः गोपीजन के लिए यह आध्यात्मिकी शरद् सुखदायी नहीं हुई है, आधिदैविकी शरद् का वर्णन आगे कहेंगे ॥ ४५ ॥

आभास — आध्यात्मिक्याः प्रसङ्गादुपयोगान्तरमप्याह गाव इति,

आभासार्थ — आध्यात्मिक शरद् के प्रसङ्ग में उसका अन्य उपयोग (लाभ) इस श्लोक में कहते हैं-

श्लोकः — **गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यःशरदाभवन् ।**
अन्वीयमानाः स्ववृषैः फलैरीशक्रिया इव ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ — गाएँ हरिणियाँ, पक्षिणीयाँ (चिड़ियाँ) और स्त्रियाँ शरद् से पुष्प वाली (ऋतुमती) होती हैं तथा पति उनके पीछे लग जाते हैं तब, जैसे ईश्वराराधन रूप क्रियाओं से फल प्राप्त होता है वैसे ही वे भी फल प्राप्त कर लेती हैं ॥ ४६ ॥

१-सेवन ।

सुबोधिनी — गर्भाधानकालोऽयं वर्षाभिर्बीजोत्पत्तेः, **गावो मृगाः खगा**स्तामसादिभेदास्त्रय एव नार्यः स्त्रियोपि स्पष्टार्थं वा ता एव **शरदा** कृत्वा **पुष्पिण्यः**, अन्तःप्रविष्टा शरद् रजोविकासं कृतवती तासामृतुकालो जात इत्यर्थः, **अभिव्यञ्जकं तु नारीणामेव नैमित्तिकं स्ववृषैः** स्वपतिभिरन्वीयमानाः फलैरप्यन्वीयमाना अभवन्निितियोजना, फलस्यामोघत्वप्रतिपादनाय दृष्टान्तमाहेशसम्बन्धिन्यः **क्रिया इव,** ईशसंयोगात् फलयुक्ता अपि भवन्ति, **ईशः** पतिस्थानीयः, ता अपि फलैरन्विताः फलमभिलषितं सहजं वा दृष्टान्तस्त्वभिलषितसिद्ध्यर्थः, भगवत्सम्बन्धाच्छरद एते गुणाः ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ — वर्षा के कारण, पृथ्वी में से बीज उत्पन्न होते हैं, अतः इससे सिद्ध होता है, कि यह काल गर्भाधान का है, गाएँ, हरिणियाँ, चिड़ियाँ ये तामस भेद वाले जन्तुओं की स्त्रियाँ हैं इनके अतिरिक्त स्त्रियाँ (मनुष्य जाति की स्त्रियाँ) भी कही हैं, किन्तु इस बात को स्पष्ट समझाने के लिए वे पृथक् कही है, तामस जाति की स्त्रियाँ ही शरद् ऋतु में पुष्पवती (गर्भ धारण योग्य) होती हैं जिसका अन्य कोई चिन्ह नहीं है केवल इससे जाना जाता है कि नर (पति) उनके पीछे लगे रहते हैं, जिससे निश्चय होता है कि शरद् ने इनमें प्रवेश किया है। मनुष्यों की स्त्रियों की रज (पुष्प वा ऋतु) तो चिन्हवाली होने से प्रकट दिखाई देती है।

फल अवश्य होता है इसके लिए दृष्टान्त देते हैं कि भगवत्सम्बन्धी क्रियाएँ जैसे अभिलषित फल को देती ही है वैसे ही शरद् भी देती है, कारण कि, भगवान् के सम्बन्ध होने से शरद् में ये गुण प्रकट हुए हैं जैसे क्रिया के फल सिद्ध करने में भगवान् ईश (पति) हैं वैसे ही वहाँ 'पति' 'ईश' समझना चाहिए। फल अभिलषित[१] हो वा सहज[२] हो दृष्टान्त तो अभिलषित सिद्धि का है ॥ ४६ ॥

आभास — जङ्गमानामुक्त्वा स्थावराणामाहोदहृष्यन्निति,

आभासार्थ — जङ्गमों[३] का वर्णन कर अब स्थावरों[४] का वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — **उदहृष्यन् वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुद् विना ।**
राज्ञा तु निर्भया लोका यथा दस्यून् विना नृप ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ — हे नृप ! जैसे चोरों के अतिरिक्त अन्य सब लोग राजा से (राजा के होने से) निर्भय होते हैं, वैसे ही सूर्य के उदय होने पर कमोदनी के अतिरिक्त अन्य कमल प्रफुल्लित हो गए ॥ ४७ ॥

१-चाहा हुआ। २-स्वाभाविक-सरल। ३-चलने फिरने वाले चेतन्य प्राणियों।
४-जड़-पुष्पादि।

सुबोधिनी – **सूर्योत्थाने** कमलान्युदहृष्यन्, **कुमुत्** कुमुदं तु चन्द्रमसा **विना** कालेन उदहृष्यत्, कुमुदं विना वा, सुब्लोपः, **अनेन सात्त्विकाः सात्त्विकाधिपतावुद्गच्छन्तीत्युक्तं न त्वन्ये**, सात्त्विकस्य सर्वसुखदातृत्वेपि न सात्त्विकव्यतिरिक्तानां सुखं यतस्तेषां **कुत्सिता मुद्**, केवलभौतिकव्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह, **राज्ञा सर्व** एव **लोका निर्भया** न तु दस्यवः, ते **कुमुदाः**, नृपेतिसम्बोधनं तत्सम्मत्यर्थं, **लोका** भुवनान्यपि, शरदि **चौर्याभावश्च** सूचितः ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थ – सूर्य के उदय होते ही, कुमुदिनी[१] के अतिरिक्त अन्य कमल प्रफुल्लित होकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं, कुमदनी तो समय पर जब चन्द्र उदय होता है, तब खिलने लगती है । सात्त्विक ही सात्त्विकों के पति की ओर स्वयं खिच जाते हैं, अन्य जो सात्त्विक नहीं हैं वे खिचते नहीं । यद्यपि सात्त्विक सुखदाता हैं, तो भी वह सुख, सात्त्विकों के सिवाय अन्यों को नहीं मिलता है, कारण कि अन्यों का आनन्द कुत्सित[२] है । राजा (चेतन) का दृष्टान्त इसीलिए दिया है कि स्थावरों की भाँति चेतनों में भी यों होता है, जैसे कि राजा का उदय होते (राजा का सिंहासन पर विराज राज्य की वागडोर हाथ में लेते) ही सब लोक निर्भय होने से प्रसन्न होते हैं, किन्तु चोर निर्भय न होने के कारण, प्रसन्न नहीं होते हैं । श्लोक में महाराजा को 'नृप' कह कर यह बताया है कि आपकी भी इसमें सहमति है । श्लोक में 'लोक' शब्द देने का भाव यह है, कि राजा से सब 'भुवन' निर्भय बनते हैं, न कि, केवल (वह स्थान) जहाँ उसका राज्य है वह निर्भय होता हैं, अतः राजा के कारण शरद् में कही भी चोरी नहीं होती है, जिससे सब भुवन निर्भय कहे हैं ॥ ४७ ॥

आभास – एवं लौकिकं सर्वमुक्त्वा वैदिकमाह पुरग्रामेष्विति,

आभासार्थ – इस प्रकार शरद् से हुए लौकिक सर्व गुण आदि का वर्णन कर, अब इस श्लोक में, जो वैदिक गुण हुए उनका वर्णन करते हैं ।

श्लोकः – **पुरग्रामेष्वाग्रयणैरैन्द्रियैश्च महोत्सवैः ।**
बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ – पके हुए धान से समृद्ध भूमि, नगरों तथा गावों में होने वाले श्रौत और स्मार्त यज्ञादि तथा लौकिक महोत्सवों से तो शोभा देती (ही) थी किन्तु हरि की दो कलाओं से, विशेष शोभित होने लगी ॥ ४८ ॥

१-कुई, कमोदनी, रात में खिलने वाला एक प्रकार का कमल । २-तुच्छ ।

सुबोधिनी – पुराणिसात्त्विकानि ग्रामा **राजसा आग्रयणा**नि श्रौतानीन्द्रसम्बन्धीनि स्मार्तानि **महोत्सवा** लौकिकाः, **चकारात्**कुलधर्माश्च, **पुरग्रामे**ष्विति बहुवचनात् त्रिविधा अपि गृहीताः, सर्वैः कृत्वा **भूरेव बभौ**, तस्या आधिभौतिकीं शोभामाह **पक्वसस्याढ्ये**ति, **पक्वैः सस्यैराढ्या**, आधिदैविकीमाह **कलाभ्या**मिति, रामकृष्णाभ्यां सङ्कर्षणकृष्णाभ्यां, भारहरणार्थं हि तावेवागतौ, विशेषमप्याह **नितरां हरे**रिति, हरेःसम्बन्धिनी **भू**र्नितरां **बभौ** पदैरनुभावै- र्लीलाभिश्च, अस्मिन् वाक्ये भूप्रस्तावा**द्धरिपदात्** तस्या एव दुःखहर्तोच्यते, स च पुरुषोत्तम एव, भारहरणद्वारा सङ्कर्षणोपीति तत्कलारूपत्वं **च**, **केशयो**रिति, भूमेर्वा दुःखहर्तुः **केशाभ्यां** नितरामित्यन्तःकरणसन्तोषाच्च चिदानन्दाभ्यां वा, सत् सिद्धैव ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ – सात्त्विक नगर और राजस ग्राम, दोनों में, श्रौत (वैदिक) तथा स्मार्त यज्ञ आदि तथा लौकिक महोत्सव और कुल धर्म इत्यादि होने वाले सर्व उत्सवों से भूमि सुशोभित होने लगी। पृथ्वी की शोभा एक प्रकार से नहीं हुई, किन्तु दोनों (आधिभौतिकी एवं आधिदैविकी) प्रकार से होने लगी। चारों तरफ धान्य आदि पक जाने से, आधिभौतिकी शोभा हुई तथा भार हरण के लिए प्रकट हुए सङ्कर्षण और श्रीकृष्ण से आधिदैविकी शोभा हुई। इस प्रकार, केवल साधारण शोभा कह कर, अब विशेष शोभा का वर्णन करते हैं, कि यह भूमि भगवान् के चरणों से, उनके प्रभावों से तथा उनकी लीलाओं से सम्बन्ध वाली हुई, अतः विशेष सुशोभित होने लगी।

यह प्रसङ्ग भूमि का ही है और भगवान् का नाम यहाँ हरि कह कर यह बताया है, कि उस (भूमि) का ही दुःख हरण करने के लिए आप प्रकटे हैं, वह (दुःख हर्ता) पुरुषोत्तम ही है और भार हरण कार्य सङ्कर्षण ने किया है वह (सङ्कर्षण) उन (पुरुषोत्तम) का कलारूप भी है अतः इस कला रूप से भी भार हरण (दैत्यों का वध) कर, हरि ने भूमि का दुःख दूर किया है।

श्लोक में दिए हुए 'हरेः कलाभ्यां' पद से शङ्का होती है, कि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं यहाँ उनको 'कला' कैसे कहा है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए आचार्य श्री कहते हैं, कि आपने अपनी चित् और आनन्द कलाओं (अंशो) को प्रकट कर, भूमि के दुःख को हरण किया है अतः कलाभ्यां‡ पद दिया है और भागवत २।७।२६ के 'सितकृष्णकेशः' कहने का भी यह भाव है। सत् कला (अंश) तो सिद्ध ही है (प्रकट ही है) ॥ ४८ ॥

आभास – उपसंहारार्थं शरदः सर्वसाधकत्वमाह वणिगिति,

---

‡ योजनाकार लालू भट्टजी इसको विशेष स्पष्ट कर लिखते हैं कि भगवान् की तीन कलाएँ (सत् चित् तथा आनन्द) हैं, उनमें से एक 'सत्' कला तो सर्वदा प्रकट देखने में (अनुभव में) आती ही है, शेष दो कलाएँ 'चित्' और 'आनन्द' तिरोहित रहती हैं, वे दो कलाएँ, भगवान् जब श्रीकृष्ण और बलराम स्वरूप से लीलार्थ अब प्रकटे हैं, तो वे दो कलाएँ भी, लीलार्थ उनके साथ पृथ्वी पर प्रकट हुई हैं; अतः उन कलाओं से भूमि विशेष सुशोभित होने लगी।

आभासार्थ — शरद् के वर्णन का उपसंहार (समाप्ति) करते हुए इस श्लोक में कहते हैं कि यह (शरद्) सर्व को सिद्ध कर देने वाली है ।

श्लोक: — **वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे ।**
वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ — जैसे बहुत वर्षों से जिन्होंने संयम कर, अपने को सिद्ध बना लिया है, वे समय आने पर अपनी देहों (देवादि) को प्राप्त करते हैं, वैसे ही वर्षा के कारण घर में रुके हुए वैश्य, मुनि, राजा और स्नातक शरद् का समय होते ही बाहर निकल अपने अर्थों को प्राप्त हुए ॥ ४९ ॥

सुबोधिनी — **वणिङ्मुनिनृपा** वैश्यब्राह्मणक्षत्रियश्रेष्ठास्ते **निर्गम्य** पण्यात् प्रदेशान् प्राप्तवन्तः, तदाहार्थान् **प्रपेदिर** इति, **अर्थ**शब्दो हि लोके प्रसिद्धो वक्तव्यस्ततो वैदिकस्ततः स्मार्त इति, अर्थे तमः प्रधानं ततः सत्त्वं ततो रजः, अनेन स्थितानां न सिद्धिरुक्ता लौकिकोपकारी वैदिकोपकारी चोपकार्ये पूर्वमुक्तौ, **स्नाताः** स्नातकास्ते हि तीर्थवासिनस्ते यथाभिलषितान् धर्मार्थकामान् **प्रपेदिरे**, प्रत्येकसमुदायाभ्यां वा धर्मार्थकामा उक्ताः, अत्रापि पूर्ववद् दृष्टान्तमाह **वर्षरुद्धा** इति, वर्षैर्बहुभिरेव **रुद्धा** निरुद्धाः सिद्धाः पश्चात् प्राप्तफलाः **स्वपिण्डान्** पूर्वस्थितानेव **काल आगते प्रपेदिरे**, योगादिना बहुकालं स्वनिरोधं कृत्वा ततः सिद्धाः **सन्तः** तत्फलमनुभूय पुनः **काले** प्रलये **समागते** मोक्षसाधकत्वात् पुनस्तानेव देवदेहान् गृह्णन्ति स्वपिण्डान् फलरूपान् वा, **कालः** फलकालः पूर्वकालस्य साधकत्वमस्य फलत्वमित्याधिभौतिकाध्यात्मिकभेदेन निरूपितं **कालप्राधान्यार्थमागत** इति, एवं सलीला **शरद्** वर्णिता ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे सप्तदशाध्यायविवरणम् ॥

व्याख्यार्थ — वैश्य, ब्राह्मण और क्षत्रियों में जो श्रेष्ठ (उद्यमी अपने कर्म करने के उत्साही) थे वे अपने कामों पर जाने लगे अर्थात् अपने अर्थ प्राप्त करने का उद्यम करने लगे । 'अर्थ' शब्द तो लोक में प्रसिद्ध ही है, वह अर्थ वैश्यों के लिए 'धन' है, मुनियों के लिये वैदिक अर्थ (धर्म) है और राजा (क्षत्रियों) के लिए वह अर्थ स्मार्त (काम) है । इन तीन प्रकार के अर्थों में जो 'धन' अर्थ है वह तमोगुण प्रधान है, वैदिक अर्थ (धर्म) सतोगुणी है और स्मार्त अर्थ 'काम' रजोगुणी है । इस प्रकार के धन की प्राप्ति जो घर में बैठे रहते हैं उनको नहीं होती है अतः शरद् होते ही वे† (वैश्य और मुनि) राजा के उपकार का कार्य करने लगते हैं । स्नातकों

---

†(१) वैश्य व्यापारादि तथा गोपालन आदि अपने कर्तव्य से राजा का उपकार करते हैं तब राजा प्रजा को संतुष्ट कर सकता है ।

---

(२) मुनि लोग धर्म द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर वर्षा आदि करवाते हैं तथा अधर्म के नाश से रोगादि का नाश करते हैं जिससे प्रजा सुखी हो राजा के गुण गान करती है । इस प्रकार दोनों राजा पर उपकार करते हैं ।

ने (तीर्थ वासियों ने) भी अपने वांच्छित धर्म, अर्थ और काम को पृथक् पृथक् अथवा साथ में सिद्ध किया ।

यहाँ भी पहले की भाँति दृष्टान्त देते हैं-बहुत वर्षों से संयम कर बैठे हुए सिद्धों ने समय आने पर, फल को (प्रथम स्थित देहों को) प्राप्त किया अर्थात्-योग आदि से बहुत समय तक इन्द्रिय प्राण आदि का निरोध करने से सिद्ध हो उस सिद्धपन के फल का अनुभव कर, समय (प्रलय का (फल प्राप्ति का) समय) आने पर फिर उन देव देहों को प्राप्त करते हैं । जब वे योगाभ्यास आदि करते हैं, तब वह काल साधक (फल को सिद्ध करने वाला) काल, आधिभौतिक काल है, और यह काल, फल काल होने से आध्यात्मिक है । काल की प्रधानता* स्थापन करने के लिए ही भगवान् पधारे हैं । इस प्रकार लीला के साथ शरद् का वर्णन किया ॥ ४९ ॥

---

*लेखकार का आशय-प्रत्येक वस्तु में जब उसका स्व (अपना) भाव (स्वरूप रस) प्रकट हो तब उसमें से रस प्राप्त होता है तब ही लीला रसजनक होती है । भगवान् रस को प्रादुर्भूत करने के लिए ही लीला करते हैं । रस का प्रादुर्भाव काल करता है वह काल भगवान् ही स्थापना कर सकते हैं अतः भगवान् काल की स्थापना के लिए प्रकटे हैं ।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के १७वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण के 'वैराग्य' निरूपण छठे अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

राग मलार

देखियतु गोवर्द्धन गिरिधारी ।
सघन घटा चहुं दिसितें धाई चमकति है चपला री ॥
गरजत मंद मंद धन बरपत मानों मेघ पुलवा री ।
जमुना-पुलिन मनोहर सुंदर वृन्दावन सुखकारी ॥
बंसीवट कुंजनि तरुवर मानों होत कुलाहल भारी ।
देखत सुर नर कौतुक भूले 'कृष्णदास' बलिहारी ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः (पूर्वार्धः)

तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

'सप्तमोऽध्यायः'

श्री सुबोधिनी अनुसार १८वाँ अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २१वाँ अध्याय

कारिका – अष्टादशे गोपिकानामासक्तिर्वर्ण्यते स्फुटा ।
वर्ण्यवर्णकभेदेन गोपानामपि सोच्यते ॥ १ ॥
प्रवेशकूजने तासामुद्बोधाय निरूपिते ।
तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति हि ॥ २ ॥
आसक्तिः प्रेमपूर्वेव प्रेमापि हरिणा कृतम् ।
उद्बोधकं च हरिणा कृतं नान्येन केनचित् ॥ ३ ॥
आसक्त्या वर्णनं तस्माद् विद्यान्ते वर्ण्यते स्फुटम् ।
कालाधिको हरिश्चात्र पुरुषोत्तम एव च ॥ ४ ॥
त्रयोदशविधा लीला तत उक्ता पृथक् पृथक् ॥ ४½ ॥ १ ॥

कारिकार्थ – अठारहवें अध्याय में गोपीजन की आसक्ति प्रकट रूप से वर्णन की जाती है, वर्णनीय वस्तु तथा वर्णन करने वालों के भेद से, गोपों की आसक्ति भी कही जाती है ॥ १ ॥

उनकी (गोपीजन की) आसक्ति को जगाने के लिए भगवान् का वृन्दावन में प्रवेश तथा उनके वेणुनाद करने का वर्णन किया गया है। जो भगवान् के गुणों में आसक्त हैं वे ही भगवान् में भी आसक्ति वाले होते हैं† ॥ २ ॥

प्रेम के अनन्तर आसक्ति होती है। वह (प्रेम) हरि ने ही कराया है, और उद्बोधन[१] भी हरि ने कराया है, हरि के सिवाय, कोई अन्य उद्बोधक नहीं है ॥ ३ ॥

इस कारण से, पञ्च पर्वात्मक विद्या के वर्णन के अनन्तर आसक्ति से उसका स्फुट वर्णन किया जाता है ॥ ३½ ॥

यहाँ जिस हरि का वर्णन है, वह पुरुषोत्तम है, कारण कि काल से अधिक है ॥ ४ ॥

अतः तेरह प्रकार की लीला, पृथक् पृथक् कही गई है ॥ ४½ ॥

व्याख्या – यद्यपि समग्र प्रमेय प्रकरण में आसक्ति का ही वर्णन है, तो भी गोपीजन की आसक्ति के स्पष्ट वर्णन को इस १८वें अध्याय में ही प्रदर्शित किया गया है, अतः प्रकरण और अध्याय की सामान्य वर्णन रूप संगति है, अर्थात् प्रकरण में आसक्ति का सामान्य वर्णन है और अध्याय में विशेष वर्णन है।

शङ्का – गोपीजन की आसक्ति का स्पष्ट वर्णन तो है ही नहीं ?

उत्तर – इस अध्याय में यह कथा है कि गोपीजन ने दिन में भगवान् के गुणों को गाते हुए, सारा दिन पूर्ण किया है, जिससे भगवान् के गुणों में गोपीजन की आसक्ति का स्पष्ट वर्णन है, अतः आचार्य श्री, कारिका में कहते हैं, कि 'तद् गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति हि' भगवान्

---

†जिनकी भगवान् में आसक्ति होती है वे ही भगवान् के गुणों में आसक्त होते हैं।

१-जागरण।

के गुणों में जो आसक्त हैं वे ही भगवान् में आसक्ति वाले हैं, अर्थात् गोपीजन भगवान् के गुणों में आसक्त हैं अतः भगवान् में आसक्त हैं ही। यदि भगवान् में उनकी आसक्ति न होती, तो वे भगवान् के गुणों का गान ही न करती, जिसमें आसक्ति होती है, उसके ही गुण--गान किए जाते हैं। परोक्ष में उसके गुणगान के सिवाय, जीवन दुर्भर हो जाता है अथवा रहता ही नहीं है।

जो कि, वर्णन का विषय एक ही भगवान् का चरित्र है, तो भी, जैसे दिन का चरित्र और रात्रि का चरित्र पृथक् पृथक् होने से, चरित्र के दो भेद हैं, वैसे ही चरित्र के कहने वालों के भी दो भेद हैं, दिन में चरित्रों का गान करने वाली गोपीजन हैं और रात्रि में चरित्र गान करने वाले गोप हैं, अतः इस भेद के होने से गोपों की आसक्ति भी कही गई है। गोपों का जो पाँच अध्यायों में आसक्ति रूप निरोध प्रभु ने किया है, वह उनका निरोध भी गोपीजन के कार्य की सिद्धि के लिए ही किया है।

शङ्का – भगवान् ने वेणु कूजन क्यों किया ? जब कि आसक्ति का उद्‌बोधन तो कोकिल की कुहू ध्वनि से भी हो सकता है ?

उत्तर – भगवान् ने केवल, वेणु ध्वनि से आसक्ति का उद्‌बोधन नहीं किया है, किन्तु सब कुछ जो भी लीला के लिए आवश्यक था, वह स्वयं भगवान् ने ही किया है, जैसे कि, आसक्ति तब होती है जब प्रेम हो, इसलिए भगवान् ने प्रथम 'प्रमाण' प्रकरण की लीलाओं द्वारा 'प्रेम' प्रकट किया तदनन्तर[१] आसक्त्यर्थ 'प्रमेय' प्रकरण की लीलाएँ की, उस आसक्ति को जगाने के लिए 'वृन्दावन प्रवेश' और 'वेणुकूजन' किया। वृन्दावन प्रवेश और वेणुकूजन से सिद्ध है कि भगवान् का इन पर (गोपीजन पर) प्रेम था, वृन्दावन में आप अकेले नहीं पधारे हैं किन्तु गौ और गोपों के साथ पधारे हैं। तात्पर्य यह है, कि प्रेम से अङ्गीकृति के कारण लीलार्थ अपेक्षित सर्व सामग्री हरि ने ही सिद्ध की है। कोकिल कूजन से वा अन्य के वेणुनाद से, इस अलौकिक आसक्ति का जागरण नहीं हो सकता है, न केवल इतना (ही) किन्तु अन्य साधन से भी, वह नहीं हो सकता है; अतः श्री हरि ने ही उसका उद्‌बोधन करने के लिए यह लीला की है।

पुष्टि मार्ग में, 'प्रभु की प्राप्ति का साधन प्रभु स्वयं है' अतः 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इस श्रुति के अनुसार प्रभु, कृपा पूर्वक अङ्गीकार कर, जीव के सर्व साधन, आप सिद्ध करते हैं।

यद्यपि गोपीजन दिन को गोकुल में अपने घर में बैठी थी और भगवान् वन में जो जो लीलाएँ करते थे उन सर्व लीलाओं का गोपीजन भगद्भाव के उद्रेक[२] से अनुभव कर सकती थी, जिससे वे लीलाएँ घर में बैठे बैठे गाया करती थी, एवं गोप भी भगवान् की रात्रि लीलाओं का गान गोपीजनों के समक्ष करते थे। यद्यपि रात्रि लीला रहस्य लीला होने से, शुकदेवजी ने गोपों की गाई हुई लीलाओं का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है तो भी, 'अन्ये तदनुरूपाणि' इस श्लोक से गोपों

१--उसके पीछे २--बढ़ जाना

ने लीलागान किया है इसका संकेत मिलता है। यद्यपि गोप, बालक थे और बालकों का स्वभाव है जो कुछ देखे वा सुने उसको जहाँ तहाँ कह देते हैं किन्तु गोप, बालक होते हुए भी इस बात को समझते थे कि यह 'भगवच्चरित्र' हमारा सर्वस्व धन है, वह जिस किसी को देने योग्य नहीं है अत: इसके योग्य भगवदासक्त, निरूद्ध गोपीजनों को ही योग्य समझ, उनके आगे वर्णन किया करते हैं। इससे सिद्ध है कि गोप भी गोपीजनों की भाँति आसक्त चित्त वाले निरुद्ध भक्त थे, इसीलिए भगवान् इनको अन्तरङ्ग लीला में ले गए हैं। वहाँ साक्षी रूप से रहकर, लीलाओं का अनुभव कर, आनन्द मग्न हुए हैं, अर्थात् पूर्णानन्द प्राप्त किया है।

'कुसुमित वनराजि' श्लोक में अन्य पदार्थ भी आसक्ति के बोधक कहे हैं, तो भी सर्व का वास्तविक उद्‌बोधक भगवान् ही हैं, क्योंकि इनका वर्णन करने वाले, श्री शुकदेवजी स्वयं भगवद् गुणों में आसक्त हैं।

यद्यपि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:' इस श्रुति का अक्षरार्थ इतना ही है कि भगवान् जिस जीव को अङ्गीकार करते हैं उसको वे मिलते हैं, किन्तु इसका गूढार्थ स्वारस्य[१] यह है, कि आसक्ति तक जीव पहुँचा हो, तो भी जब तक विद्या† का (पञ्चपर्वा) दान हरि नहीं करते हैं, तब तक प्रभु के स्वरूप का तथा उनके गुण एवं लीलाओं का ज्ञान नहीं होता है।

भगवान् ने वेणुनाद द्वारा आसक्त गोपीजन में अपने लिए काम (मिलने की कामना) उत्पन्न किया, गोपीजन भी कामवश होने से, भगवान् में अपने लिए काम (मिलने की कामना) का उद्भव करणार्थ अपनी सखियों के सन्मुख भगवान् के गुणों का गान करना प्रारम्भ करने लगीं, किन्तु उनकी आसक्ति विद्या रहित थी, अत: प्रभु गुण-गान करते ही स्मर[२] के वेग से चित्त विक्षिप्त हो गया जिससे गुणादिका का गान न कर सकीं, तब स्वभक्त जन पक्षपाती पुष्टि, प्रभुने भक्तों का दु:ख न सह सकने के कारण शुक द्वारा 'बर्हापीडं' श्लोक से, विद्या का दान उनको किया, तदनन्तर वे विद्या प्राप्त कर १३ श्लोकों से गुणगान करने में समर्थ हुई।

प्रभु ने गोपीजन को प्रथम नाद ब्रह्मरूप अमूर्त* विद्या का अन्त:करण में अनुभव कराके,

---

†आज कल के हम वैष्णवों को इस पर ध्यान देना चाहिए कि विद्या (ज्ञान) के सिवाय प्रभु के स्वरूप, उनके गुण तथा लीलाओं का साक्षात् (अनुभव) दर्शन नहीं होता है। अत: हम लोगों को विद्या प्राप्ति के लिए प्रभु कृपा सम्पादन करनी चाहिए। -अनुवादक

*विद्या के दो रूप हैं, एक अमूर्त और दूसरा मूर्त। अमूर्त विद्या अप्रकट रूप से भीतर अन्त:करण में अनुभव कराती है और मूर्त विद्या, प्रकट रूप से, अंग संग द्वारा, स्वरूपानन्द का अनुभव कराती है।

-अनुवादक

१-अभिप्राय। २-काम।

उस (अमूर्त) विद्या का जो फल रूप स्वरूप हैं, उसका भी अनुभव 'वेणुगीत' में नाद द्वारा अन्त:करण में ही कराया है, आगे रासोत्सव में व्यापि वैकुण्ठ की मूर्तिमती विद्या, स्वरूपानन्द के अनुभव का दान करेगी यह प्रसङ्ग 'फल' प्रकरण में विशेष स्पष्ट होगा ।

'विद्या' भी एक भगवत् शक्ति है, अत: श्रुति कहती है 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' विद्या से ही अमृत का भोग होता है, अर्थात् इस भगवत् शक्ति रूप विद्या की प्राप्ति विना भगवत् स्वरूपानन्द नहीं मिलती है । अत: यहाँ व्रजभक्तों को भी विद्या का दान हुआ है । जब पञ्चपर्वा विद्या (१-वैराग्य, २-सांख्य, ३-योग, ४-तप और ५-भक्ति) प्राप्त हुई तब तत्क्षण[१] गोपीजन भगवद् गुणगान करने में समर्थ हुई । यह गुणगान साधारण गुणगान नहीं हुआ है, किन्तु फलदान होने का प्रारम्भ हुआ है, अर्थात् यह निश्चय हो गया, कि इस (गुणगान) से अविलम्ब[२] निश्चित ही फल की प्राप्ति होगी ।

यह पञ्चपर्वा विद्या भी अलौकिक है, उसका दान श्री गोपीजन को हुआ है । इस अलौकिक विद्या का स्वरूप निम्न प्रकार का है, १-वैराग्य-भगवान् के सिवाय सर्व पदार्थ मात्र में अनुराग[३] का अभाव अर्थात् केवल भगवत्स्वरूप में अनुराग-वैराग्य है । २-सांख्य,-परब्रह्म का स्वरूप रसमय है इस ज्ञान को सांख्य कहते हैं । ३-योग-चित्त भगवान् में यों तन्मय हो जाए जैसे मनिकों में तागा[४] लीन हो जाता है । ४-तप-भगवान् के वियोग से उत्पन्न ताप क्लेश का अनुभव 'तप' है । ५-भक्ति-चारों[†] पुरुषार्थों की कामना (को) त्याग भगवान् में पूर्ण आसक्ति 'भक्ति' है

यह पञ्चपर्वा विद्या पुष्टिमार्गीय है, जिसका दान गोप सीमन्तिनियों को हुआ है । इस विद्या के पञ्चम् पर्व भगवदासक्ति रूप भक्ति का निरूपण इस अध्याय में हुआ है ।

भगवान् ने गीता में, कहा है कि 'भक्त्यामामभिजानाति' जीव में जैसा हूँ, जो हूँ, जितना हूँ, इसको पूर्ण रीति से, भक्ति द्वारा मुझे जान सकता है, अत: गोपीजनों ने विद्या के अन्तिम पर्व पुष्टिमार्गीय भक्ति द्वारा 'बर्हापीडं' श्लोक में वर्णित जिस स्वरूप का अनुभव किया उसका वर्णन 'अक्षण्वतांफलमिदं' श्लोक में किया है, तदनन्तर गुण वर्णन प्रारम्भ हुआ हैं, इससे सिद्ध है कि गोपीजन का यह वर्णन आसक्ति पूर्वक किया हुआ है, अत: वह साधन रूप होते हुए भी फल रूप ही हैं । इसलिए कारिका में आचार्य श्री ने कहा है कि 'विद्यान्ते वर्ण्यते स्फुटम्' फल रूप होने से ही विद्या के अन्त में इसका वर्णन हुआ है ।

गोपीजनों ने 'अक्षण्वतां फलमिदं' इस ७वें श्लोक से 'गा गोपकै:' इस १९ वें श्लोक तक,

---

†धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ।

१-उसी क्षण में । २-शीघ्र । ३-प्रेम । ४-धागा, डोरा ।

तेरह श्लोकों से भगवान् के गुणों का वर्णन किया है। २०वें श्लोक में श्री शुकदेवजी ने इस अध्याय को सम्पूर्ण किया है।

१३ श्लोकों में भगवान् के गुणों का वर्णन इस आशय से गोपीजनों ने किया है, कि जिस स्वरूप के गुणों का हम वर्णन करती हैं, वह स्वरूप द्वादशाङ्ग पुरुष तथा द्वादशमासात्मक काल पुरुष से अतीत अर्थात् उत्तम है। जिसके कहने का भाव यह है, कि यह पुरुषोत्तम स्वरूप प्रभु तथा इनके गुण, लीला एवं स्वरूप सब कालातीत होने से नित्य हैं और यही 'इन्द्रिय वालों का परम फल' है ॥ १-२-३-४-४½ ॥

॥ कारिका व्याख्या सम्पूर्ण ॥

आभास – भगवल्लीलार्थं पूर्वाध्यायान्ते शरद् वर्णिता ततोऽत्र लीलार्थं भगवतो वृन्दावनप्रवेश उच्यत इत्थमिति,

आभासार्थ – १७वें अध्याय के अन्त में भगवान् की लीला सामग्री सिद्ध करने वाली शरद् ऋतु का वर्णन हुआ है। अब इस १८वें अध्याय में भगवान् लीलार्थ वृन्दावन में प्रविष्ट हुए जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः – **इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना ।**
न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ – श्री शुकदेवजी कहने लगे, कि इस प्रकार की शरद् थी, जिससे (जिस वन का) जल स्वच्छ हो गया था और जिससे कमलों की सुगन्धि से व्याप्त वायु लग रहा था, वैसे वृन्दावन में, भगवान् ने गौ और गोपों के साथ प्रवेश किया ॥ १ ॥

सुबोधिनी – इत्थम्भूता या शरत् तया **स्वच्छं जलं** यस्मिन् वृन्दावने तादृशम**च्युतो न्यविश**दितिसम्बन्धः, अत्रापि पूर्ववदाधिदैविकीभिः शक्तिभिर्लीला वक्तव्या, तत्र नायकोत्कर्षार्थम**च्युत** इत्याह, तत्रापि **गावोऽनुभाविका गोपालाः** सेवकाः, शक्तीनां निर्भयत्वायैते देवाः साक्षिणः, रमणं जलस्थलभेदेन द्विविधं निर्भररमणे च **वायोरपेक्षा** जलक्रीडायां तु नैर्मल्यं शीताभावश्च, शरदा नैर्मल्यं शीताभावश्चोक्तः, **शरत्स्वच्छजल**मिति, **शरदा स्वच्छानि जलानि** यत्र, विशेषतः कर्मानिर्देशात् क्रीडार्थं जलप्रवेशश्चोक्तः, **पद्माकराणां सुष्ठु** यो गन्धः शैत्यसहितस्तद्वान् सुगन्धी, एतादृश**वायुना वातं** वनं **न्यविशत्**, गन्धवत्त्वेनैव मान्द्यमुक्तं, एतावदेव क्रीडायामपेक्षितं, विशेषणधर्माणामेव प्राधान्यान्न विशेष्यनिर्देशः, **नितरां प्रवेश आधिदैविकपर्यन्तः** ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ – इस प्रकार की शरद् ऋतु ने निर्मल जल युक्त हुए वृन्दावन में अच्युत (भगवान्) ने प्रवेश किया। इस अध्याय में पहले की भाँति ही आधिदैविकी शक्तियों† के साथ की हुई लीला कहनी चाहिए। इस लीला में लीला का नायक श्रेष्ठ है अतः उनका उत्कर्ष[१] बताने के लिए (अच्युत)‡ शब्द दिया है, उस (लीला सामग्री) में भी गौ अनुभव करने वाली हैं और गोप सेवक हैं, शक्तियों के निर्भयत्व[२] के लिए ये देव (गोप) साक्षी* हैं। रमण, जल में और स्थल में, होता है, अतः रमण दो प्रकार का है। निर्भर[३] रमण के समय में वायु की आवश्यकता होती है, जल की क्रीड़ा में तो निर्मलता होती है और शीतलता का अभाव होता है। शरद् ऋतु के वर्णन से ये दोनों (निर्मलता और शीत का अभाव) बता दिए हैं। जैसे कि श्लोक में 'शरत्-स्वच्छ जलं' से स्पष्ट कहा है, कि शरद् ने जल को स्वच्छ कर दिया है, जिससे यह बता दिया है, कि वैसे स्वच्छ जल में क्रीड़ार्थ प्रवेश किया है। श्लोक में विशेष कर 'वनं' कर्म नहीं दिया है इससे भी जल में प्रवेश को कहा, समझा जाता है। वन में प्रवेश के समय जो वायु चल रही थी उसका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि वह वायु कमलों की सुगन्धि से सुगन्धवाली एवं ठंडी तथा धीमी थी। जितनी क्रीड़ा में अपेक्षा थी उतनी ही सुगन्धि ठंडक तथा धीमीपन धारण की हुई वायु थी। श्लोक में विशेष्य (वन) शब्द क्यों नहीं कहा ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि यहाँ विशेष्य (वन) से भी विशेषण धर्मों की प्रधानता है अतः विशेष्य यहाँ नहीं कहा है, कारण कि, प्रधान विशेषणों से (वन के गुणों से) स्वतः विशेष्य (वन) का ज्ञान भी हो जाता

---

†यहाँ 'श्री गोपीजन के साथ' स्पष्ट न कहकर शक्तियों के साथ लीला करने को कहा है, उसका कारण श्री प्रभुचरण टिप्पणीजी में कहते हैं, कि एक तो जिन अज्ञानियों को श्री गोपीजन के अलौकिक, नित्य तथा स्वाभाविक धर्म वाले स्वरूप का ज्ञान नहीं है और ये (गोपीजन) भी भगवान् के समान ही सर्व अलौकिक धर्म तथा स्वरूप वाली हैं, इसका ज्ञान नहीं है उससे भगवद् भोग्य श्री गोपीजन के साथ हुई लीलाओं को गुप्त रखने के लिए 'शक्ति' शब्द दिया है।

‡जिसके स्वरूप की कभी भी किसी प्रकार भी च्युति (क्षरण-नाश-कमती) नहीं होती है।

*प्रभुचरण टिप्पणी में 'साक्षी' शब्द का भाव बताते हैं कि, जैसे उपनिषद् में भगवान् को साक्षी कहा है, वैसे ही यहाँ (इस लीला में) गोप भी साक्षी हैं, कारण कि, जैसे स्वार्थ अथवा स्वार्थ बिना फल भोग का दाता तथा अधिकार अनुसार उसमें प्रवृत्त कराने वाला, साक्षी कहा जाता है, वैसे ही यहाँ गोपों में ये लक्षण हैं तथा वे अन्तरङ्ग भक्त हैं अतः इनको (सेवक गोपों को) साक्षी कहा गया है।

१-बड़ाई। २-निर्भयपन। ३-गाढ़।

है। 'नि' उपसर्ग देने का यह भाव है कि भगवान् ने केवल आधिभौतिक (दृश्य) वन में प्रवेश नहीं किया किन्तु आधिदैविक‡ गुप्त वन (निकुञ्जों) में भी प्रवेश किया+ ॥ १ ॥

आभास – प्रवेशमुक्त्वा देवतोद्बोधनमाह कुसुमितेति,

आभासार्थ – प्रथम श्लोक में प्रवेश का वर्णन कर अब इस श्लोक में देवता के उद्बोधन का वर्णन करते हैं।

श्लोकः – **कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्गद्विजकुलजुष्टसरःसरिन्महीध्रम् ।**
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ – फूले हुए वन की पङ्क्तियों से उत्पन्न रस तथा गन्ध के मद से उन्मत्त[१] हुए भ्रमर तथा पक्षियों के समूह से सेवित, तलाब, नदी और पर्वत वाले वन में प्रवेश कर, गोप तथा बलदेवजी के साथ गौओं को चराते हुए मधुपति भगवान् ने वेणु का कूजन किया ॥ २ ॥

सुबोधिनी – **मधुपतिर्गाश्चारयन् वेणुं चुकूज,** वसन्ताधिपतिः सरसः शृङ्गारात्मा धर्मं कुर्वन् क्रियाज्ञान-शक्तिसहितो देवतोद्बोधनाय वेणुनादं कृतवान्, उद्बुद्धा देवताः सामग्र्यभावान्न रता भवन्तीति भगवतो **मधुपतित्वं** निरूपितं, विभावादीन् निरूपयति, **कुसुमिता या वनराजय-**स्ताभिर्ये **शुष्मिणो** मत्ता जाता **भृङ्गाः** पक्षिणश्च तेषां **कुलान्यवान्तरजातिभेदास्तैर्जुष्टानि सरितः सरांसि महीध्राः** पर्वताश्च यस्मिंस्तानेव वा, एकवद्भावः, एवंविधम**वगाह्य** तत्रत्यानपि त्रिविधानुद्बोधयितुं केवलं शृङ्गारार्थमेव **कूजनं** कृतवान् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ – वसन्त के अधिपति सरस[२] शृङ्गारात्मा[३] ने धर्म* को (गोचारण रूप धर्म को)

---

‡आधिदैविक शब्द 'परोक्षवाद' से निकुञ्ज प्रवेश बताने के लिए दिया है। **'योजना'**

+जहाँ (निकुञ्जों में) देवता आकर अपना २ कार्य नैत्र तथा भृकुटी के विलासों से करते हैं। **'लेख'**

*श्री विठ्ठलेश प्रभुचरण 'धर्म' शब्द का भाव **'टिप्पणीजी'** में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'धर्म' साक्षात् अथवा परम्परा भेद से 'धर्म', 'अर्थ', 'काम', और 'मोक्ष' चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला होता है, जिस जिस स्थान में जैसी २ लीला करनी योग्य होती है वहाँ जाकर वैसी लीलाएँ की जाती है। किसी लौकिक कार्य के सिद्ध करने के बिना, यों ही वन में जाना लोक के विरुद्ध है, अर्थात् वन में किसी कार्य सिद्ध करने के लिए ही जाना चाहिए, जिसे अपने गुप्त इच्छित कार्य के लिये जाना हो उसका अन्यों को ज्ञान हो जाय (पता पड़ जाय) तो उससे स्वारस्य (सरसपना) निकल जावे तो वह रस विरुद्ध है, अतः भगवान् वन में जिस रहस्य लीला के लिए पधारे थे उसको तो गुप्त ही रखा जैसे उसका सरसपन बना रहे और गोचारण रूप धर्म को प्रकट दिखाया, जिससे पुरुषार्थ (अपने इच्छित कार्य) की भी सिद्धि की है, अतः वह लीला कार्य न लोक विरुद्ध हुवा तथा न रस विरुद्ध हुआ।

१- मस्त। २-रसवाले, रसिक। ३-शृङ्गार रस की आत्मा वा शृङ्गार रस के स्वरूप।

करते हुए देवता के उद्बोधन† के (जागृत करने के) लिए क्रिया और ज्ञानशक्ति× के साथ हो वेणु का कूजन किया। भगवान् को 'मधुपति' इसलिए कहा है कि आप वसन्त के स्वामी होने से, जैसे वसन्त में सर्व प्रकार की रस सामग्री सिद्ध (स्थित) होती है वैसे ही भगवान् में भी सर्व रस सामग्री विद्यमान है अतः आप सरस शृङ्गारात्मा मधुपति हैं। जिससे उद्बुद्ध किए हुए देवताओं को रत होने में किसी प्रकार प्रतिबन्ध नहीं हुआ, वे (देवता) जागृत होते ही, रत (क्रीड़ारत) होने लगे। इस प्रकार भगवान् का (मधुपतित्व) सिद्ध कर, अब रस को उद्दीप्त करने वाले, जो विभावादि हैं उनका वर्णन करते हैं कि-भ्रमर और पक्षी, वन की पङ्क्तियों को खिले हुए पुष्पों वाली देख के तथा उनसे आते हुए रस एवं सुगन्धियुक्त वायु का सेवन कर मत्त बन गए और उन मत्त भ्रमर एवं अनेक जाति वाले पक्षियों से नदी, सरोवर तथा पर्वत सेवित हैं। इस प्रकार के समलङ्कृत वन में प्रवेश कर, वहाँ रहने वाले तीन प्रकार के देवताओं‡ को जगाने के लिए केवल शृङ्गार के लिए ही कूजन किया ॥ २ ॥

आभास – एवमुद्बोधनमुक्त्वा ताभिः सह रमणे कामिनीकामोद्बोधकत्वात् कूजितस्य व्रजस्त्रियोप्युद्बुद्धकामा जातास्ततः कामवशाद् भगवदुद्बोधार्थं स्वसखिभ्यः स्वसमानशीलव्यसनाभ्यस्तद्गुणान् वर्णयितुमारेभिर इत्याह तद् व्रजस्त्रिय इति,

आभासार्थ – इस प्रकार उद्बोधन कहकर, यह बताया कि उन देवताओं से एक प्रकार से रमण हुआ जिससे, उस कूजन से कामिनियों[१] में काम[२] उद्भव[३] हुआ, वह देखकर व्रजसुन्दरियों में भी अभिलाषा जगी जिससे (कामवश होने से) वे व्रज सुन्दरियाँ भगवान् में अपने लिए काम पैदा करणार्थ, अपने जैसी (समान शील और व्यसन वाली) सखियों के आगे उनके गुणों का वर्णन प्रारम्भ करने लगीं। जिसका वर्णन 'तद् व्रजस्त्रिय' इस निम्न श्लोक में कहते हैं।

---

†'उद्बोधन' का भावार्थ है, शृङ्गार रस को जगाना, शृङ्गार का अर्थ (भाव-आशय) है। 'प्रेम' 'रति' उसको (प्रेम को) जगाने के लिए उद्बुद्ध प्रेम ही आसक्ति कही जाती है।

×योजनाकार कहते हैं कि मधुपति, सदैव ही 'या सर्वज्ञः सर्वशक्तिः' इस श्रुति के अनुसार सदैव लीलार्थ ज्ञान शक्ति को साथ में रखते हैं, अतः अब भी क्रिया शक्ति रूप गोपों को (अन्तरङ्ग कार्य के लिए उनको) साथ में ले 'गोचारण रूप धर्म' भी करते हैं, और ज्ञान शक्ति रूप बलरामजी द्वारा लीला में प्रतिबन्धक दैत्यों का वध एव भक्त रक्षा करते हैं। (अन्तरङ्ग लीला में आपको साथ नहीं लेते हैं कारण कि आपका (बलरामजी का) वहाँ अधिकार नहीं) -लेख

‡'देवताओं' शब्द से तलाव, सरोवर तथा पर्वतों के समीप रहने वाली व्रज सुन्दरियाँ समझनी चाहिए, अर्थात् व्रजसुन्दरियों में प्रेम को जगाकर उनकी आसक्ति दृढ़ की।

१-वन सुन्दरियां। २-अभिलाषा। ३-उत्पन्न, पैदा।

श्लोकः – **तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।**
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ – व्रज की स्त्रियों ने काम को जगाने वाला वह बंशी का नाद पूर्ण रीति से सुना । उनमें से कितनी ही गोपीजन श्रीकृष्ण के परोक्ष में अपनी सखियों के आगे उसका वर्णन करने लगीं ॥ ३ ॥

सुबोधिनी – आसमन्ताच्छ्रुत्वाधिदैविकत्वात्, अन्यथा कथं वनस्थितो वेणुनादो व्रजस्थिताभिर्गोपिकाभिरेव श्रूयेत ? यथा सर्वे देवा उत्थिता एवं स्मरोपि, उद्दीपनविभावत्वान्नादस्य, तन्मध्ये स्मरेण काश्चन मूर्च्छिता एव काश्चित् पुनः कृपया भगवत्सङ्गं प्राप्य **कृष्णस्य परोक्षे** विद्यमानाभ्यः **स्वसखीभ्योऽनु** भगवत्करणानन्तरमे**वावर्णयन्** वर्णितवत्यः ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् ने वेणुनाद वन में किया था और उस समय गोपीजन व्रज में स्थित थीं-वन में हुआ प्रथम वेणु कूजन पश्चात् (नाद)+ व्रज में स्थित गोपीजन × ने ही पूर्ण रीति से (पूर्ण) सुना, उसका कारण यह है, कि वह कूजन 'आधिदैविक' था । यदि वह आधिदैविक न होता तो, व्रज स्थित गोपीजन ही उसको नहीं सुन सकती थीं किन्तु अन्य भी सुनते । इस नाद ने उद्दीपन विभाव होते से, जैसे सब देवों को जगाया वैसे काम को भी जागृत किया क्योंकि वह भी देव है । काम के जागृत होने से, काम के कारण कितनी ही (व्रज स्त्रियाँ) मूर्च्छित हो गईं वे तो अज्ञानावस्था में पड़ी रही और कितनी ही जिनको मूर्च्छा न हुई, वे भगवान् की कृपा से (अन्तः स्थित भगवान् का) सङ्ग प्राप्त करने के अनन्तर कृष्ण के परोक्ष में वहाँ विद्यमान[१] अपनी सखियों के समक्ष भगवद्गुणगान करने लगीं ॥ ३ ॥

आभास – तासामपि पुनः कामोद्बोधे विशेषतो वर्णनाशक्तिर्जातेत्याह तद्, त्रर्णयितुमिति ।

+ नाद-(लीला विशिष्ट रस स्वरूप को स्पष्ट शब्दों में कहने वाला गान) ।

× गोपियों ने ही सुना जिसका कारण यह है कि भगवान् ने स्वामिनी भाव स्थापन कर जिन व्रज भक्तों का अंगिकार किया है, वे ही भगवान् की इच्छा से वेणुनाद में स्थित सुधा पान कर भगवदीय बने अतः उन्होंने ही सुना अन्यों ने नहीं सुना, नाद आधिदैविक है अतः अन्य अधिकारी नहीं ।

---

१ मौजूद, स्थित ।

आभासार्थ – वे गोपीजन* (जो मूर्च्छित नहीं हुई थी) वे भी भगवान् में काम[१] जगाने के लिए सखियों के आगे वर्णन करने की इच्छा करने लगी, किन्तु काम के उद्बोध[२] से वर्णन करने में असमर्थ हुई-जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः – **तद् वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।**
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ – हे नृप ! गोपीजन ने वर्णन करना आरम्भ किया, किन्तु भगवान् की लीलाओं का स्मरण करने से उत्पन्न काम के वेग से व्याकुल हो गई, जिससे वर्णन नहीं कर सकीं ॥ ४ ॥

सुबोधिनी – **वर्णयितुमि**ति **तत्** स्वानुभूतं भगवद्रूपं वेणुगीतं वा **वर्णयितुं** कार्यतः कारणतः फलतः स्वरूपतश्च निरूपयितु**मारब्ध**वत्यस्ततो मध्ये वर्णनार्थं **कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्य**स्तत्स्मरणजातेन **स्मरेण** यो जातो **वेग**श्चित्तचाञ्चल्यं तेन **विक्षिप्तमनसो** जाताः, नृपेतिसम्बोधनं धर्मवत्त्वेन जितेन्द्रियत्वाय ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ – गोपीजन, अपने अनुभव किए हुए भगवान् के स्वरूप का अथवा वेणु गीत का कार्य से, कारण से, फल से और स्वरूप से निरूपण करने के लिए प्रस्तुत[३] हुई, किन्तु वर्णन करने के लिए जो कृष्ण की लीलाओं का स्मरण करने लगी, तो उस स्मरण से स्मर[४] का वेग

---

* कुछ गोपीजन जो वेणु कूजन से मूर्च्छित हो गई थी शेष (जो मूर्च्छित होने से बची थी) वे वर्णन करने लगी। परन्तु वर्णन प्रारम्भ करते हुए जो श्री कृष्ण लीलाओं का स्मरण हुआ, तो वे भी चित्त के विक्षेप से गुण-गान न कर सकी किन्तु जब वह क्षोभ शान्त हुआ तब निम्न श्लोकों से चार प्रकार से वेणुगीत का वर्णन करने लगी।

१-वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्ति - इस श्लोक में कार्य से वर्णन किया।

२-अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम - इस श्लोक में कारण से वर्णन किया।

३-गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्मः - इस श्लोक में स्वरूप से वर्णन किया।

४-गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार वेणु स्वनैः - इस श्लोक में फल से वर्णन किया।

१-प्रेम, कामना। २-जगने। ३-तैयार। ४-काम।

ऐसा हुआ जिससे उनका मन विक्षिप्त[१] हो गया, जिससे वर्णन न कर सकी। राजा को यहाँ 'नृप' सम्बोधन देकर यह सूचना की, कि आप धर्मनिष्ठ तथा जितेन्द्रिय हो ॥ ४ ॥

आभास – ताभिर्वर्णयितुमशक्यं स्वयं वर्णयति तथात्वज्ञापनाय बर्हापीडमिति,

आभासार्थ – गोपीजन विक्षिप्त होने से जब वर्णन न कर सकी तब शुकदेवजी स्वयं निम्न श्लोक से वर्णन करने लगे।

श्लोकः – **बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं**
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ – शिर पर मोर पिच्छ का मुकट, कानों में कनेर के पुष्प, श्री अङ्ग पर सुवर्ण सम पीत पट और कण्ठ में वैजयन्ती माला धारण किए नट और वर के समान रूप वाले, अपने अधरामृत से वेणु के छिद्रों को पूर्ण करते हुए गीत कीर्ति (जिनके की कीर्ति का गान हो रहा है वैसे) भगवान् ने गोपों के साथ अपने चरणों के स्पर्श से सुन्दर तथा रमण स्थल बने हुए वृन्दावन में प्रवेश किया ॥ ५ ॥

सुबोधिनी – वाक्यार्थोत्र वर्णनीयो न तु रूपमात्रं, तथा सति रूपं वेणुनादः क्रीड़ा चेति त्रयं वर्णितं स्यादन्योन्यसम्बन्धे प्रकारविशेषश्च, एतादृशं **वपुर्बिभ्रद् वेणोः रन्ध्रान् पूरयन् वृन्दारण्यं प्राविशदितिसम्बन्धः**, स्वरूपगुणलीला उक्ताः क्रमेणैव, **बर्हो** मयूरपिच्छं स **एवापीडः** शिरोभूषणं यस्य **वपुषः**, नृत्यन्मयूरानुकरणञ्चैतत्, स चोद्बुद्ध रस एव तथेति भगवतोऽप्युद्बुद्धरसात्मकत्वं सूचितं भवत्यनेन, अतो युक्तैवा-शक्तिरितिभावः, **नटवद् वरवच्च वपुः, रसो हि द्विविधो 'धर्म सहितः केवलश्च, केवलो नाट्ये प्रसिद्धो धर्म सहितः सम्भोगे**, भगवतो वपुरुभयविधमप्यत उक्तं **नटवद्** वरवदिति, **वरः** प्रत्यग्रभोक्ता, भगवांस्तु हृदयेऽपि वर्तते तावतापि ज्ञानिनामिव न तासां सुखमिति ज्ञापयितुं **वपुषो** भरणं निरूप्यते, न तु स एव तथा, **कर्णयोः कर्णिकारकुसुमं** यस्य, अलुक्सप्तमी, **बिभ्रदिति** वा सम्बन्धः, **कर्णिकारस्तु** शृङ्गारोद्बोधकः **शृङ्गारस्तु संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः**, श्रोत्रे तदुभयप्रतिपादके, तयोः कर्णिकारसम्बन्धेन पूर्वं निरूपितो रस उच्छलितो भवति, **तादृशस्तु रसो गुप्त एव रसत्वमापद्यत** इति पीताम्बरं वर्णयति **कनककपिशं वासो बिभ्रदिति**, उद्बुद्धे रसे गोपिका वासो न गणयेयुरिति व्यामोहककनक तुल्यता निरूपिता, **कनकवत् कपिशं** पीतमिति, माया हि सा, अतो यत्र वसनाकृतिरपि न सम्यगवलोकिता तत्र तेन **वसनेनाच्छन्नं** रसं कथमुद्घाटयेयुः ? ततोऽप्याच्छादिकामाह

१-व्याकुल ।

कीर्तिमयीं वनमालां **वैजयन्तीञ्च मालां बिभ्रदिति, वै** निश्चयेन सर्वजयप्रकाशिका **वैजयन्ती**, एवं रसद्वयं तदुद्बोध आच्छादकं विक्षेपकं च रूपे निरूपितं, नामलीलारूपं वेणुनादं निरूपयति **रन्ध्रान् वेणोरि**ति, **रन्ध्रा वेणोः** सप्त, **सुधा त्रिविधा, देवभोग्या भगवद्भोग्या सर्वाभोग्या च,** तत्र हेतुर्लोभात्मकेऽधरे स्थापिता, तस्याः साक्षादनुभवो नोच्छिष्टेन सम्भवति, अतः **श्रोत्रपेयैव सा, सा हि सर्वेषां भगवदीयत्वं सम्पादयति, आनन्द एव सा प्रकटा द्रवीभूता, ब्रह्मानन्दादप्यधिका, आनन्दसारभूता**, सा न **कथञ्चित् साधनतामापद्यते स्वतः**, अतो नादब्रह्मणि तां योजयितुं नादोत्पत्तिस्थाने वेणौ तत्रापि तद्रन्ध्रेष्वमूर्तत्वात् पूरिता, न हि सा साक्षाद् वेणुमपि स्पृशति, **वेणोरि**त्यसमासाद् वेणुमध्येपि सा न, अतो यदा नादस्तद्द्वारा गच्छति तदा तेन सम्बद्धा गच्छति, ततः कर्णद्वारा हृदये प्रविष्टा वर्णनायां मुखे समागच्छन्ती मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोति यावच्च रसपूरेण सोऽप्यंशो नान्तः प्रविशति तावदपि साक्षात् तद्भोगयोग्यता न भवति, एतदर्थमेव वर्णनं, तद्रसप्रवेशे निरोधः सिद्धः, अतः स्वल्पतरो गोपेषु भोग्यगोपीव्यतिरिक्तासु सर्वेषु च, अत एव निरोधो भक्त्यनन्तरं निरूपितः, **सृष्ट्युत्पन्नानां भोग एतत्पर्यवसायी**, ततो विमोचनं स्वाश्रयप्रापणं च प्रत्यापत्तिः, अन्यथा सृष्टिर्व्यर्था स्यात्, अयं पुनर्ब्रह्मानन्दभावे जाते तत्राप्याधिदैविकरूपे सम्पन्ने लक्ष्म्या इव मुख्यो रसभोगः सम्भवति तदंशानाञ्च क्रमेण, अतो **निरोधो महाफलः**, अतोऽत्र स्त्रियः प्रकरणान्ते निरूप्यन्ते, **भगवद्भोगानन्तरमेव भगवान् भोग्यो भवति**, अतोऽत्र शुकोऽपि मुख्यतया **स्त्रिय** एव वर्णयति, अग्निकुमाराणामप्यत एव **स्त्रीत्वं**, न हि पुरुषोऽन्योपभोग्यो भवति स्वोपभोग्यो वा, परं **ज्ञात्वा पाने महान् रस** इति भगवतोऽग्रे ज्ञानोपदेशनिर्बन्धः, मुख्यप्रापणार्थं वा, दुखःदूरीकरणार्थं **च**, अत एवाग्र आधिदैविकीं स्त्रियं प्रार्थयिष्यन्ति, अतो **रूपेण वशीकृत्याधरामृतं पाययन् स्वच्छन्दतां सम्पादयति**, स्वच्छन्दतामाह **गोपवृन्दैरि**ति, **वृन्दायाः** स्त्रिया **अरण्यं प्राविशत्, सर्वं कार्यं कृत्वा स्वच्छन्दतां सम्पादितवान्**, ननु जगति भक्तिर्न स्थापितेति कथं कृतकार्यता ? तत्राह **स्वपदरमण**मिति, **स्वपदानां** स्वचरणानां **रमणं** यत्र, धर्मस्थापनमाह **गोपवृन्दैः** सहेति, अवशिष्टसर्वपुरुषार्थस्थापनार्थमाह **गीतकीर्तिरि**ति, **गीता कीर्तिर्यस्येति, स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति-कृष्णपदार्थः क्वचिद् विवृतः** ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ – यहाँ वाक्य के अर्थ का वर्णन करना है क्योंकि उससे रूप, वेणुनाद तथा क्रीड़ा इन तीनों का वर्णन हो जाता है, केवल रूप के वर्णन से तीनों का वर्णन नहीं होगा; तीनों का (रूप, वेणुनाद और लीला का) परस्पर सम्बन्ध होने के कारण वर्णन का यह विशेष प्रकार है, अब वाक्यार्थ का प्रकार कहते हैं-वैसे वपु (श्री अङ्ग) को धारण करते हुए और वेणु के रन्ध्रों[१] को भरते हुए प्रभु वृन्दावन में प्रविष्ट हुए। यह सम्बन्ध (वाक्यान्वय-वाक्य का सम्बन्ध) है इस वाक्यार्थ से स्वरूप, गुण और लीला तीनों क्रम से कही।

जिनके श्री अङ्ग का मयूर पिच्छ ही शिरोभूषण है, और जिनका नृत्य भी मयूर का अनुकरण[२] है। मयूर नृत्य तब करता है, जब उसमें रस जागृत होता है, इससे (मयूर के नृत्य का अनुकरण तथा मयूर पिच्छ को शिर पर धारण करने से) यह बताया कि भगवान् में भी रस जागृत हुआ है, जिससे भगवान् के स्वरूप का स्मरण करते ही गोपीजन के चित्त आकुल व्याकुल हो गए और वे गुण-गान न कर सकीं यह योग्य ही है। प्रभु का रूप (श्री अङ्ग) दो प्रकार का है,

---

१-छिद्रों। २-नकल।

एक नट के समान और दूसरा वर के समान; कारण कि, आप रस स्वरूप हैं। रस दो प्रकार का होता है; अतः आपका रूप भी दो प्रकार का है। रस के दो प्रकार बताते हैं-१-एक रस 'केवल' होता है और दूसरा रस 'धर्म सहित' होता है। 'केवल' रस, नाट्य में होता है उस रस में भोग नहीं होता है, वहाँ नट मात्र[१] इङ्गितों[२] से रस के आनन्द का अनुभव कराता है, क्योंकि, वहाँ उद्दीपन सामग्री का अभाव रहता है। किन्तु 'धर्म सहित' रस में, उद्दीपन करने वाली सर्व भोग्य सामग्री सिद्ध होती है। अतः वहाँ भोग करता है, जिससे रस का अविर्भाव होता है, अर्थात्, धर्म सहित रस प्राप्त होता है। अतः 'केवल' रस को 'विप्रयोग' शृङ्गार रस कहते हैं और 'धर्म सहित' रस को 'संयोग' शृङ्गार रस कहते हैं।

भगवान् वर भी है, नट भी है, अतः आपके श्री अङ्ग में, दोनों रस सदैव स्थित हैं। वर, नूतन पदार्थ का भोक्ता होता है, यद्यपि भगवान् गोपीजन के हृदय में भी हैं, तो भी ज्ञानिओं के समान उनको इतने से ही सुख की प्राप्ति नहीं हुई, अतः भगवान् ने उन (गोपीजन) को रस दान करने के लिए 'वपु'[३] को धारण किया। शरीर धारण करने का भावार्थ यह है, कि जैसे कोई मनुष्य किसी को, कोई पेय[४] पदार्थ पिलाना चाहता है, तो प्रथम वह पेय किसी पात्र में धरता है उसके द्वारा पीने वाले को पिलाता है अन्यथा (अर्थात् पात्र बिना) वह पेय पदार्थ बह जाता है, इसी प्रकार भगवान् व्रजजनों को रस पिलाना चाहते थे, अतः रस रूप आप अपने रस रूप को धरने के लिए श्रीअङ्ग रूप पात्र बने, उसमें उस रस को धर गोपीजनों को पिलाया, जिससे वह रस इधर-उधर बह नहीं सका। भगवान् ने रस को धरने के लिए श्रीअङ्ग रूप पात्र बनाया, उसमें दोनों रस धरे उनको जगाने के लिए आपने दोनों कानों में कनेर के आभूषण पहने, क्योंकि, कनेर के फूल शृङ्गार (रस) को जगाने वाले हैं। वैसे उच्छृङ्खल (स्वतन्त्र जगे हुए) रस को गुप्त रखना चाहिए, क्योंकि गुप्त रस ही रस को उत्पन्न करता है। अतः भगवान् ने रस को गुप्त रखने के लिए पीताम्बर धारण किया है, पीताम्बर होते हुए भी रस के जागृत होने से, यदि गोपीजन, उस वस्त्र की परवाह न करे तो कहते हैं, कि वह पीताम्बर, कनक[५] के समान चमकीले वर्णमाला व्यामोहक माया का रूप था, जिससे गोपीजन उस पीताम्बर को भी जब न देख सकीं तो उससे वेष्टित[६] उद्‌बुद रस को कैसे खोल सकेगी।

भगवान् ने रस को गुप्त रखने के लिए वैसा केवल पीताम्बर (ही) धारण नहीं किया था किन्तु उससे भी विशेष आच्छादन के लिए, कीर्त्तिमती वनमाला तथा वैजयन्ती माला को भी धारण किया था। ''वैजयन्ती'' माला के ''वैं'' और 'जयन्ती' दो पदों से, यह स्पष्ट होता है, कि जिसने इसको धारण किया, उसकी अवश्य जय होगी* क्योंकि यह माला निश्चय से जय कराने वाली

*अतः रास क्रीड़ा करते हुए आपने काम पर जय पाई। -अनुवादक

१-केवल, सिर्फ। २-चेष्टाओं व संकेतों (इशारों)। ३-शरीर। ४-रस।
५-सुवर्ण। ६-ढके हुए।

है। इसी भाँति दोनों रस, उन दोनों रसों का उद्बोध[१], उनका आच्छादक[२] और विक्षेपक[३] रूप भगवान् के रूप में वर्णन किया है।

अब नाम लीला रूप वेणुनाद का वर्णन करते हैं। अर्थात् भगवान् ने जो बंशी बजाकर लीला की है, वह 'नामलीला' है, उसका अब श्लोक के उत्तरार्ध (रन्ध्रान् 'वेणोः) से वर्णन करते हैं। वेणु के छिद्र सात हैं, सुधा तीन प्रकार की है, १-देव भोग्या, २-भगवद् भोग्या और ३-सर्व से अभोग्या। (जिसका सब कोई भोग नहीं कर सकता है) १-देवभोग्य सुधा वह है, जिसका भोग देव कर सकते हैं (यहाँ देव शब्द से स्वर्ग में रहने वाले देव नहीं समझने चाहिए, किन्तु 'देवाः अत्र साक्षिणः' इस आचार्यश्री की उक्ति के अनुसार जो लीला में गोप, गौ आदि थे वे देव समझने चाहिए) उन देवों के भोग योग्य सुधा को 'देव भोग्य' सुधा कहा है।

२-'भगवद् भोग्या' सुधा वह है जिस अधर सुधा को भगवान् 'वेणुनाद' द्वारा भक्त हृदय में (गोपीजन एवं वृन्दावन के नदी पुष्प आदि पदार्थों में) प्रवेश कराके पुनः आप (प्रभु) स्वयं उनके द्वारा पान करते हैं वह 'भगवद्भोग्या' सुधा है। ३-'सर्वाभोग्या' सुधा वह है जो द्रव पदार्थ के समान सर्वत्र प्रसरण[४] करती हैं, यह सुधा द्रवानन्दात्मक प्रभु का स्वरूप है इसका प्रवेश कर्ण द्वारा सीधा हृदय में होकर सर्व इन्द्रियों में प्रसरता है।

इस त्रिविध सुधा को 'सुधा' इसलिए कहते हैं, कि वह प्रभु ने अपने लोभात्मक अधर में स्थापित की हैं। अतः यह सुधा सब सुधाओं से उत्तम है, इस सर्वोत्कृष्ट[५] सुधा का साक्षात् अनुभव उच्छिष्ट से (मुख द्वारा) नहीं होता है किन्तु कर्ण द्वारा पान होता है। वह सुधा कर्ण द्वारा हृदय में पहुँच कर सर्व इन्द्रियादि में फैलकर सब को भगवदीय बना देती है। वह प्रकट द्रवीभूत सुधा, ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द रूप है तथा आनन्द की सारभूत है। वह किसी प्रकार भी स्वतः साधन रूप नहीं होती है। अतः प्रभु ने इसको अमूर्त[६] होने से, नाद ब्रह्म में मिलाने के लिए नाद को उत्पन्न करने वाले वेणु के छिद्रों में भरा। प्रभु ने वेणु में भरा तो सही, किन्तु उस (वेणु) के स्पर्श किए बिना ही नाद के साथ मिल कर सीधी भक्तों के कर्ण द्वारा उनके हृदय में प्रवेश करती है। इसके (प्रवेश होने के) पश्चात् गोपीजन निष्काम हो, भगवद्गुणगान करने में समर्थ होती हैं। वर्णन करने के समय, वह सुधा मुख में आकर, मुख को भी भोग योग्य बना देती है। जब तक रस के पूर से, वह अंश भीतर प्रवेश नहीं करता है, तब तक उस भोग की साक्षात् योग्यता नहीं होती है। इसलिए ही गोपीजन का यह गुण वर्णन हैं। इस प्रकार रस के प्रवेश होने से, निरोध सिद्ध होता है। इस कारण से, गोप तथा भोग्य गोपीजन से भिन्न अन्य सर्व में यह रस अतिशय स्वल्प[७] हैं। यह ही कारण है, कि जिससे निरोध का भक्ति के पश्चात्, निरूपण किया हैं। इस सृष्टि में (लीला सृष्टि में) उत्पन्न जीवों को यहाँ तक ही इस प्रकार का उत्कृष्ट भोगा प्राप्त होता है अतः यह भोग की चरमावधि[८] है, उसके पश्चात् भगवान् मोक्ष और अपना

१-जगाना। २-वस्त्र से ढांकना। ३-क्षोभ उत्पन्न कराने वाला। ४-फैलाव।
५-सब से उत्तम। ६-द्रवी भूत। ७-बहुत कम। ८-अन्तिम सीमा।

प्राप्ति रूप, पहली जैसी स्थिति, उनकी कर देते हैं, जो यों न करें तो उस सृष्टि का प्राकट्य वृथा[१] हो जाए।

लक्ष्मी की भाँति यह मुख्य रस भोग, तब प्राप्त होता है, जब ब्रह्मानन्द (आध्यात्मिक) का भाव उद्भव होवे और पश्चात् वह पुनः आधिदैविक होवे जब तक यह भाव प्राप्त नहीं होता है, तब तक, मुख्य रस भोग की प्राप्ति नहीं होती है। लक्ष्मी के अंशों को तो, (वह रस) क्रमशः प्राप्त होता है, इसलिए कहते हैं कि 'निरोध' महाफल है। अर्थात् निरोध से जिस फल की प्राप्ति होती है वह फल महान्[२] है। अतः इस प्रकरण में स्त्रियों का वर्णन शुकदेवजी ने अन्त में किया है। इस लीला में, प्रथम भगवान् भोक्ता बनते हैं। जब भगवान् भोग कर लेते हैं, तदनन्तर भगवान् भोग्य बनते हैं। गोपियाँ भोक्ता बनती हैं, जिससे शुकदेवजी ने मुख्य रूप से, स्त्रियों का वर्णन किया है, इसीलिए ही 'अग्निकुमार' स्त्री रूप हुए हैं। पुरुषोत्तम का कोई अन्य पुरुष भोग नहीं कर सकता हैं और न स्वयं अपना भोग कर सकते हैं। किन्तु स्वरूप को जानकर उसके पान में महा रस की प्राप्ति होती हैं, इस कारण से ही, भगवान् ने ज्ञान के उपदेश का अभिनिवेश[३] किया है*। यह उपदेश मुख्य फल की प्राप्ति के लिए अथवा दुःख दूर करने के लिए किया है। इसी वास्ते आगे आधिदैविकी स्त्री (कात्यायनी) की प्रार्थना करेंगे। अतः रूप से वश कर, अधरामृत को पिलाकर, स्वच्छन्दता सिद्ध करते हैं।

श्लोक में कहे हुए 'गोपवृन्दैः' पद से भगवान् की स्वच्छन्दता बताई है। सर्व कार्य कर (सब लीला सामग्री आदि की सिद्धि कर) गोपों को अपने साथ लेके वृन्दा (स्त्री)* के छरण्य में प्रवेश किया।

जगत् में तो भक्ति की स्थापना अभी की नहीं है तो कृतकृत्यता[४] कैसे हुई ? इस शङ्का को निवारण करने के लिए कहते हैं, कि भगवान् ने अपने भक्ति रूप चरणों से रमण कर, भक्ति की स्थापना की है तथा गोपों को साथ लेकर क्रीड़ा की, जिससे धर्म की स्थापना की है, आपकी कीर्ति का गान हो रहा हैं जिससे बाकी बचे हुए पुरुषार्थों की भी स्थापना की है।

'कृष्ण' पद के अर्थ का विवरण यहाँ यह किया है, कि वह 'पुष्टि मार्ग' में कृष्ण है, अर्थात् जिसमें प्रकट पुरुष भाव है और गुप्त स्त्री भाव है ऐसा जो 'रस' स्वरूप परब्रह्म है वह 'कृष्ण' है जिसका भीतरी भाव यह है कि रस शास्त्र में जो 'स्त्री भाव' को ही परमानन्द स्वरूप कहा है वह परमानन्द स्वरूप 'कृष्ण' है ॥ ५ ॥

---

*एकादश स्कन्ध में उद्धवजी को ज्ञानोपदेश देकर वैसा करने का आग्रह किया है।

*पुरुष गोपों को साथ ले, लीलार्थ स्त्री के वन में प्रवेश कर स्वच्छन्द विहार करना, जिससे भगवान् की स्वच्छन्दता प्रकट होती है नन्दालय में यों न कर सकते थे।

१-निरर्थक, बेफायदा। २-बड़ा श्रेष्ठ। ३-आग्रह। ४-मनोरथ की सफलता।

आभास – अत: सर्वमेवोपसर्जनीभूतं वेणुनाद एव मुख्य इति तमेव वर्णयितुमारेभिरे गोप्य इत्याहेति वेणुरवमिति,

आभासार्थ – इस श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं कि व्रज की स्त्रियाँ वेणु रव[१] सुनकर उसका ही वर्णन करने लगीं, कारण कि, अन्य सर्व पुरुषार्थ नाद के आगे गौण हैं ।

श्लोक: – **इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम् ।**
श्रुत्वा व्रजस्त्रिय: सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेमिरे ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ – हे राजन् ! सर्व जीवों के मन को हरन करने वाला वेणुगीत सुनकर, सब व्रज की स्त्रियाँ उसका वर्णन करती हुई चारों ओर रमण करने लगीं ॥ ६ ॥

सुबोधिनी – **इतिहेतोर्वेणुरवमेव वर्णयितुं** वेणुरवमाकर्ण्य वर्णयितु मारेभिर इतिसम्बन्ध:. तत्र **प्रथमश्रवणे वर्णनार्थं श्रवणे च सादरं श्रवणं भवति,** अमुना प्रकारेणोद्गतं **वेणुरवं** न तु केवलं, **राजन्निति**सम्बोधनं तद्रसानभिज्ञत्वज्ञापनाय, अनेनापि स्पष्टोऽर्थो नोक्त इति ज्ञापितं, तर्हि तत्र कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य प्रमेयबलादेव भविष्यतीत्यभिप्रायेणाह **सर्वभूतमनोहरमिति सर्वभूतानां मनोहरं** स्वत एव मनोवशीकरणसमर्थं, अत: सम्यक् **श्रुत्वाभिरेमिरे, व्रजस्त्रिय** इति कार्यान्तराभाव: सूचित:, **न हि व्रजस्त्रीणां पुरुषेषु वनं गतेषु सन्ध्यापर्यन्तमागमनसम्भावनारहितेषु प्रातरेव निवृत्तावश्यकेषु** किञ्चित् **कार्यमस्ति,** अत: सर्वा एव **वर्णयन्त्य:** पौर्वापर्येणाभितो **रेमिरे,** दु:खात्मकं प्रपञ्चं विस्मृत्य परमानन्दविलासं कृतवत्य: पूर्वं प्रथमश्रवणमात्रेण कामोद्दीपने चित्तविक्षेपादशक्तिरुक्ता, तत उक्तसुधायामन्त:-पूर्णायामत्याधिक्येन परितो गलनरूपं वर्णनमिति पश्चात् तदुक्तम् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ – सर्व पुरुषार्थों में यह श्रेष्ठ है, इस कारण से, वेणु रव का वर्णन करने के लिए ही, उसको श्रवण किया, पश्चात् वर्णन करने लगी । गोपीजन जिसका वर्णन करने लगी, वह दूसरे श्लोक में कहा हुआ वेणु रव है, प्रथम श्लोक में कहे हुए, वेणुनाद और दूसरे श्लोक में कहे हुए वेणु रव में भेद है । पहला 'नाद' केवल (अधर सुधा से मिला हुआ नहीं था) और दूसरे श्लोक में कहा हुआ 'रव' अधर सुधा से सम्मिलित था । 'रव' शब्द का भावार्थ यह है, कि 'र' अग्नि बीज होने से 'विरहाग्नि' प्रकट करता है, और 'व' अमृत बीज होने से विरह को शांत कर आनन्दोत्पत्ति करता है । अत: प्रथम केवल नाद श्रवण से उत्पन्न विरहाग्नि से उदय हुए काम के कारण मन विक्षिप्त हुआ, जिससे वर्णन न कर सकी, अब सुधा मिश्रित रव ने कर्ण द्वारा हृदय में प्रवेश कर कामाग्नि शांत की, तब सचेत हो, इस (वेणु रव) को ही मुख्य समझ वर्णन करने लगी । परीक्षित् को हे राजन् ! ये सम्बोधन कर यह बताया, कि आप राजधर्म निष्ठ होने से, इस रस के भाव को नहीं समझ सकते हो । किन्तु फिर भी, आप (राजा) को इस चरित्र

१-नाद ।

के सुनने की अभिलाषा इसलिए हुई है, कि यह 'वेणु रव' सर्व प्राणी मात्र के मन को अपनी तरफ खींचने वाला हैं, अत: यह अपने प्रमेय बल से, सब की प्रवृत्ति कराता है। इसलिए गोपीजन भी, भली भाँति श्रवण कर, उसमें सर्व प्रकार रमण करने लगी। गोपीजन व्रज की स्त्रियाँ हैं, अत: उनको दिन में घर का कोई काम नहीं रहता है, कारण कि, उनके पति प्रात: गौ चारण के लिए चले जाते हैं, जिससे वे सब भी काम काज से प्रात: ही निबट जाती हैं, फिर जब गोप, शाम को घर लौटे, तब तक गोपीजन को कोई काम नहीं होता है, इस कारण से, वे समस्त दिन वेणु रव का वर्णन करती हुई, आगे पीछे चारों ओर से उसमें ही रमण करती थी। दु:ख रूप संसार को भूलकर उस परमानन्द में विलास[१] करती रहती थी॥ ६ ॥

आभास – अनुवर्णनमेवाहाक्षण्वतामिति त्रयोदशभि: ।

आभासार्थ – अब गोपीजन १३ श्लोकों से 'वेणु रव' का वर्णन करती हैं। उसका क्रमश: भाव कारिकाओं द्वारा समझाते हैं-

कारिका – **रसद्वयार्थं द्वितयं वेणुपूरणमेकत: ।**
स्वच्छन्दपादगमने हेतुश्चापि तथापर: ॥ १ ॥
चतुर्भि: पीठिकैवं स्यात् षड्भिर्वेणोस्तु वादनम् ।
द्वाभ्यां भक्ते: प्रतिष्ठा च दोष: स्याद् वर्णनेव्यथा ॥ २ ॥
वैपरीत्यात् समाधानमन्यथा स्यात् तु दूषणम् ॥ २$\frac{1}{2}$ ॥

कारिकार्थ – सातवें श्लोक से वर्णन का प्रारम्भ होता है। अत: पहले, दो श्लोकों (७-८) में संयोग तथा विप्रयोग रस का वर्णन किया है। पश्चात् एक श्लोक (९) में वेणु के पूरण (भरने की क्रिया) का वर्णन, तथा दूसरे एक (१०) में स्वच्छन्दता से चरणों के गमन का हेतु कहा हैं। इस प्रकार इन चार श्लोकों से पीठिका कही (वर्णन की)। पश्चात् छ (११ से १६) श्लोकों से वेणु वादन से जो कुछ नाम लीला का आनन्द जिन जिन को हुआ उनका वर्णन है। पीछे दो (१७, १८) श्लोकों से भक्ति की स्थापना का वर्णन है, यदि भक्ति की स्थापना नहीं की जावे तो दोष हो। उस (दोष) का समाधान विपरीतता बताकर किया है नहीं तो दूषण की प्राप्ति हो जाए॥ २$\frac{1}{2}$ ॥

१-शृंगार चेष्टा-हाव भाव।

व्याख्या - इन कारिकाओं में पहले यह बताया है कि, किन किन श्लोकों में किस किस प्रकार की लीला हुई है और अन्त में भक्ति की स्थापना दोष निवारण के लिए की हुई है. कारण कि, जो कार्य लोक में 'दूषण' देखने में आता है, वह यहाँ भक्ति मार्ग में भूषण है। यही भक्ति मार्ग में विशेषता है। भक्ति रस में यह बल है कि जड़ को चेतन बना दे चेतन को जड़ बना दे जैसे वेणु रव श्रवण (पान) से चेतन नदियाँ जड़[1] हो गईं और जड़ पर्वत चेतन हो गए। भगवान् के चरण, भक्ति रूप है, उनका सम्बन्ध चरणों से हुआ, तो वे हीन जाति की पुलिन्द भी भक्त बन गईं, जिससे अयोग्य होते हुए भी योग्य बन गईं। भक्त होने के कारण, उनक उच्च कोटि हुई, अतः उनके संसर्ग से जो दोष भगवान् में दिखता है वह 'भक्ति स्थापना' कर से निवृत्त हो गया। भगवान् की लीला लोक से विपरीत है, अतः भगवान् ने वन में गोपों क साथ, गौओं को लेकर, बंशी बजाते हुए वन में जब अटन किया तब समस्त वन, वनस्थ स पदार्थ शुद्ध होकर भक्ति रस वाले हो गए।

ये पुलिन्दियाँ भी गोवर्द्धन पर्वत, जो कि हरिदासों[2] में श्रेष्ठ हैं उनके संग से भगवच्चरण सं को प्राप्त हो उत्तम बनी हैं। तात्पर्य यह है कि भक्ति मार्ग (अनुग्रह मार्ग) सर्व मार्गों से उत्कृष्ट है अतः इसमें लौकिक दृष्टि से जो दोष दीखते हैं वे दोष नहीं है, कारण कि, भक्ति में यह शवि है जो दोषों को नष्ट कर गुण प्रकट कर देती है। इसलिए भक्ति मार्ग की स्थापना हुई है।

आभास – तत्र प्रथमं यद् वर्णयितुमारब्धं तत्राशक्तौ शुकेन यद् वर्णितं चतुर्भिस्त वर्णयन्ति, तत्र प्रथमं स्वरूपतो रसात्मकं भगवन्तं वर्णयन्त्यक्षण्वतामिति,

आभासार्थ – गोपीजन जिस भगवद् स्वरूपादि के वर्णनार्थ प्रथम उद्यत हुई थी, किन्तु का वेग से विक्षिप्त हो वर्णन न कर स[illegible]से वह वर्णन 'श्री शुकदेवजी' ने 'बर्हापीडं' श्लो में कर दिया। अब गोपीजन व्याकुल[illegible]ष्ट होकर, सावधानी आने से, जो शुकदेवजी ने उ (बर्हापीडं) श्लोक में वर्णन किया था उसका क्रमशः चार श्लोकों में वर्णन करती हैं। उन प्रथम, स्वरूप से रसात्मक[3] भगवान् का वर्णन 'अक्षण्वतां फलमिदं' श्लोक में करती हैं*

॥ गोप्य ऊचुः ॥

श्लोकः – अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननु निवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ ७

*श्लोक में 'इदं' पद से सन्मुख उपस्थित और जो हृदय में मनोरथ से भासमान है, वही स्वरूप 'फल' है

१- स्तब्ध, स्थिर। २-हरि भक्तों। ३- रसरूप।

श्लोकार्थ — गोपीजन ने कहा कि, हे सखिओं ! वेणुनाद करते हुए तथा बंशी बजाते हुए एवं स्नेह भरे कटाक्ष चलाते हुए मित्रों के द्वारा पशुओं को वन में ले जाने वाले व्रजराजजी के पुत्रों के मुख का सेवन तथा पान ही इन्द्रिय वाले अथवा नेत्र वालों का फल है किन्तु 'मोक्ष' फल नहीं है इस प्रकार हम जानती हैं ॥ ७ ॥

सुबोधिनी — अक्षण्वतामिन्द्रियवतां चक्षुष्मतां वा, इदमिति स्वहृदये मनोरथप्रकारेण प्रतिभातं,

व्याख्यार्थ — 'अक्षण्वतां' एकादश इन्द्रिय वालों का तथा नेत्र वालों का यह+ जो गोपीजन के हृदय में मनोरथ रूप से भासमान हो रहा है वह प्रभु स्वरूप ही फल हैं ।

कारिका — **भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च ॥ ३ ॥**
आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ।
अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा ॥ ४ ॥
तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः ।
तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदा ॥ ५ ॥
इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा ।
यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णोः फलं भवेत् ॥ ६ ॥
एवं मोक्षोपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि ।
बाधकानां परित्यागे साधकानां न तद् भवेत् ॥ ७ ॥

कारिकार्थ — नेत्र अथवा इन्द्रियधारियों का वह स्वरूप ही फल है, क्योंकि इस स्वरूप से वार्तालाप, दर्शन, आश्लेष[१] सेवा, स्पर्श, अधरामृत का पान, भोग, पुलकता,[२] भगवान् के किये हुए कूजन का श्रवण, श्री अङ्ग की सुगन्धि, नित्य प्रभु के निकट जाना, सदा इस प्रकार की भावना, आदि होती है अतः यह स्वरूप ही इन्द्रियधारियों का मोक्ष फल है अन्य प्रकार का जो 'मोक्ष' है वह फल नहीं है। जिस प्रकार अन्धकार में स्थिति नेत्रों का फल नहीं है, अर्थात् नेत्रों का होना सफल तब होता है, जब प्रकाश हो जिसमें सर्व प्रकार की कृति की जा सके अन्यथा (अन्धकार होना) नेत्रों की निष्फलता है। इसी प्रकार इन्द्रियधारियों की

+श्लोक में 'इदं' पद से सन्मुख उपस्थित और जो हृदय में मनोरथ से भासमान है वही स्वरूप 'फल' है ।

१-परस्पर मिलन । २-रोमें (रोंगटे) का खड़ा हो जाना ।

इन्द्रियाँ तब फलवती होती हैं, जब वे इन्द्रियाँ रसमय इस वपुधारी स्वरूप से सर्व प्रकार की चेष्टाएँ करती हैं अन्यथा नहीं, अत: इन्द्रियाँ वालों का 'यह' वपुधारी रसेश ही फल है जिनको साधारण जन 'मोक्ष' कहते हैं, जिससे सर्व इन्द्रियाँ निरर्थक हो जाती हैं, वह 'मोक्ष' इन्द्रिय वालों के लिए मोक्ष नहीं है। बाधकों को परित्याग कर, साधकों के प्राप्ति से वैसा मोक्ष प्राप्त नहीं होता है, अत: मोक्ष फल नहीं है।

जिन इन्द्रियवालों ने भगवान् के सिवाय अन्य सर्व को बाधक (आनन्द में रुकावट) समझ उनका त्याग किया है, वे तो इस रसेश की प्राप्ति ही मोक्ष फल समझते हैं, कारण कि, उनकी इन्द्रियाँ अलौकिक होने से नित्य हैं और उनके रसमय प्रभु का वपु भी अलौकिक होने से नित्य है, अत: वे भक्त आनन्दमय वपु का अलौकिक इन्द्रियों से रस लेने को ही मोक्ष फल समझते हैं उनके लिए यही फल मोक्ष है, शेष, जो इस फल के अधिकारी नहीं हैं जिनका अन्त:करण आदि का हरण हो गया है, वे उस 'अण्वीगति' (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं और उसको फल समझते हैं।

सुबोधिनी – तदाह न परं **विदाम** इति, **परो** मोक्ष: सायुज्यादि:, नन्वा "त्मलाभान्न परं विद्यत" इतिश्रुते: कथं **न परस्य** पुरुषार्थत्वम् ? तदाहु**र्विदाम** इति, वयमप्युपनिषद्रूपा अतो वयमेव **जानीम:**, **न ह्यनुभवविरुद्धमनुभवापर्यवसायि फलं श्रुत्युक्तं भवति**, तत: केवलानां तदेव फलमिन्द्रियवतां त्वेतदितिव्यवस्थितविकल्प: अस्मिन्नर्थे श्रुत्यन्तररूपाणां गोपिकानां सम्मतिमाहुर्हे **सख्य इति**, समानशीलव्यसन एव **सख्य**पदप्रयोगात्, अत: श्रुत्यन्तरसम्मतिरप्युक्ता, एतत् कासाञ्चिद् गोपिकानामेव भवतीति सर्वेषां साधारणं पक्षमाहुश्चक्षुष्मतामिति, **अस्मिन्** पक्षेऽ**क्षण्व**त्पदं चक्षुष्मत्पदपरं ज्ञेयं, तेनास्यावृत्तिर्वा ज्ञेया, **पशूननु** पशूनां पश्चाद्भागे **वयस्यै:** सह **वनं पशून् निवेशयतो रामकृष्णयोर्वक्त्रमेकं यैर्वा निपीत**मिति, वेत्यनादरे मुख्यापेक्षयेदं गौणमिति, ये तु कालेन तुल्यास्तै: सह **पशू**नेतद्रसानभिज्ञान् वनं **प्रवेशयति** भगवान् निर्गुणावस्थाधिकाराभावे सात्त्विकावस्थाया युक्तत्वात्, भगवतो लीलायां कालो निमित्तं गोपानां लीलायाश्च तदाधारत्वे निमित्तमिति **वयस्य**ता, तदा तै: पशूनां वने निवेशनं तै: सह वा **समानकालै**र्वने निवेशनं भगवतो वा सहभाव:, तथा सति वननिविष्टानां पशूनामपि गोपानां तच्छ्रमे तत्स्थाने निवेशनार्थं, **आविष्टस्य मुखारविन्दं न स्पष्ट**मिति भगवत एव **मुख**मुभयरूपस्यापि **मुखं** चक्षुर्द्वारा यैस्तदन्त:प्रवेशितं "तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेन्नान्यानि चिन्तयेद् भूय: सुस्मितं भावयेन् मुख" मितिवाक्यात् किञ्चैता हि स्वहृदि भावितं निरूपयन्ति तथा च साधारणपक्षत्वेन सामान्यतो बलभद्रस्य निरूपणेऽपि **मुखनिरूपणप्रस्तावेऽन्यमुखमेतासां हृदि नायातीत्येकमेव तन् निरूपितम्**, मुखस्यैकत्वं प्रतिपादयन्त्य ईश्वरत्वेनाराधनबुद्ध्यानुरोधबुद्ध्या वा येषां पानं तत् सापेक्षमित्यनादरे हेतुमाहु**र्व्रजेशसुतयोरिति**, **न हि बलभद्रो व्रजेशस्य पुत्र:**, आवेशपक्षे तु कृष्ण एवाविशतीति युक्तमेव तयो**र्व्रजेशसुत**त्वं, अनादरे लौकिकसापेक्षदर्शनं हेतु:, अन्ये पुनर्गीतरसाभिज्ञा वेणुनादश्रवणार्थं भगवन्मुखारविन्दं पश्यन्ति **तदाहानुवेणु जुष्ट**मिति, **वेणुमनु**लक्ष्यीकृत्य यद् वर्तते तद**नुवेणु** वेणुवादनपरं तद् **यैर्जुष्टं यैर्वा निपीत**मिति, सेवनं निदर्शनं पानमन्त:प्रवेशनं, केवलं शब्दग्रहणं मनोहरत्वाच्-

छिक्षार्थं वेतिविकल्पः, अनादरस्तु स्वरादेवायाति, एवं मनोहरत्वात्रादांविष्टत्वाद् वा भजनमुक्तं, कामसम्बन्धादपि भजनं पाक्षिकमिति विशेषणान्तरमाहा**नुरक्तकटाक्षमोक्ष**मिति, **अनुरक्तानां कटाक्षानां मोक्षो** यत्र एतच् चक्षुष्मतां फलमिति निर्गुणसगुणभेदा निरूपिताः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ – गोपीजन कहती हैं कि हम इस फल से उत्तम फल अन्य (मोक्ष) नहीं समझती हैं, 'आत्मलाभात् न परं' इस श्रुति में जब आत्म रूप के लाभ को 'पर' कहा गया है, तब आप कैसे कहती हो कि अन्य (आत्मलाभ) उत्तम नहीं है, इसके उत्तर में गोपीजन श्लोक में 'विदामः' पद कह कर कहती हैं, कि हम भी उपनिषद् रूपा हैं अतः इस श्रुति के तत्त्व को हम ही जानती हैं। श्रुतियाँ अनुभव के विरुद्ध ऐसा कुछ भी नहीं कहेंगी जिसका अन्त अनुभव में न आ सके, अर्थात् श्रुतियाँ वही कहेंगी जो अनुभव से सिद्ध हो। यों कहने का तात्पर्य[१] यह है, कि जो इन्द्रिय रहित हैं, उनका फल मोक्ष है। जो इन्द्रिय वाले हैं उनका फल 'यह' रस स्वरूप हैं। जो श्रुति रूप गोपीजन यों कह रही हैं वे अपने इस सिद्धान्त के लिए अन्य उपनिषद्रूप अपनी सखियों से सम्मति लेती हैं हे सखियों ! इस सम्बोधन से यह बताया कि, अन्य गोपीजन भी हमारे समान शील एवं व्यसन वाली हैं, अतः वे भी उपनिषद्रूपा ही हैं, अतः उनकी सम्पति‡ भी प्रमाण हैं। इस प्रकार का अनुभव विरल[२] गोपीजन को ही होता है, शेष साधारण गोपीजनों को जो अनुभव होता है वह कहते हैं कि नेत्रधारियों का यह ही फल है। 'अक्षण्वतां' पद के दो अर्थ होते हैं एक 'इन्द्रिय वाले' दूसरा 'नेत्र वाले' अतः जो जैसी अधिकारिणी थी उनको वैसा ही फल मिला। जो उत्तम अधिकारिणियाँ थीं, उन्होंने सर्व इन्द्रियों से उस स्वरूप का आनन्द प्राप्त किया, जो उत्तम नहीं थीं उन्होंने केवल नेत्रों से दर्शन का ही आनन्द लूटा। अतः दोनों प्रकार की गोपीजन ने इस स्वरूप को ही परम फल समझा।

जो भगवान् राम कृष्ण, मित्रों के साथ गौओं के पीछे आते थे और साथ पशुओं को भी वन में प्रवेश कराते थे उनके एक ही मुखारविन्द को जिन्होंने भली भाँति पान किया हैं उन इन्द्रियधारी वा नेत्रधारियों का यह ही फल है, 'वा' शब्द यह समझाने के लिए दिया है कि सकल इन्द्रियों को प्रभु में जोड़ देने से केवल नेत्रों से दर्शन करना यह फल गौण है, अर्थात् जिन्होंने केवल नेत्रों से मुखारविन्द का ही दर्शन कर उसके ही परम फल समझा वह फल 'गौण' है। मुख्य फल सर्व इन्द्रियों से उस रस का अनुभव करना है। भगवान् अपने समान आयु वाले मित्र गोपों के साथ उन गोपों को भी वन में प्रवेश कराते हैं जो इस रस को नहीं जानते हैं। अर्थात् जो पशु समान अज्ञ हैं, भगवान् यों इसलिए करते हैं कि जो निर्गुण† अवस्था वाले नहीं हैं उनकी सात्त्विक अवस्था में ही स्थिति करानी योग्य है, नहीं तो वे

‡श्रुति रूपा गोपीजन ने अपनी सखियों से पूछा तब उन्होने भी कहा कि 'विदामः' हम भी यों ही समझती हैं- 'विदामः' की आवृत्ति है। **'अनुवादक'**

†अन्तरंग लीला के अधिकारी।

१-भावार्थ। २-कुछ।

अनाधिकारी अन्तरंग लीला देख भगवान् तथा गोपीजन में दोषारोपण करते अत: उनको केवल वन (आधिभौतिक वन) तक ही प्रवेश कराया है। और निर्गुणावस्था वाले वयस्य गोपों को आधिदैविक वन तक (निकुञ्जादि में) ले गए हैं। भगवान् की लीला में काल निमित्त है, गोप तथा लीला के आधार, जो भगवान् का प्राकट्य है वह ही निमित्त है, इसी कारण से, समान अवस्था वाले गोप मित्र हैं। अत: भगवान् उनके द्वारा पशुओं को वन में प्रवेश करवाते हैं अथवा जो गोप समान आयु वाले हैं उनके साथ भगवान् गोप तथा गौओं को वन में प्रवेश कराते हैं, अथवा वयस्यों का भगवान् के साथ सदैव सहभाव है[१]। भगवान् वयस्यों को सदैव साथ में इसलिए रखते हैं कि कदाचित् अन्य गोप कहें कि 'गौ दूर' चली गई हैं हम थक गए हैं तो उस कार्य करने के लिए वयस्यों को नियुक्त[२] कर दें।

श्लोक में मुख के लिए 'वक्त्रं' एक वचन दिया है और यह मुख किसका है वहाँ 'व्रजेशसुतयो:' राम और कृष्ण दोनों का एक मुख कहा है तथा 'राम' को भी व्रजेश (श्री नन्दरायजी) का पुत्र कहा है, इसको स्पष्ट समझाने के लिए कहते हैं कि, जिस मुखारविन्द को चक्षु द्वारा गोपीजनों ने अन्त:करण में प्रवेश कराया है वह मुखारविन्द भगवान् (कृष्ण) का ही है, अत: वह मुख फल रूप है, आविष्ट स्वरूप बलभद्रजी का 'मुख' स्पष्ट नहीं है, क्योंकि, वह भगवान् के मुख में तिरोहित[३] है अत: श्लोक में 'मुख' एक वचन दिया है, जिससे दोनों स्वरूपों का यही 'मुख' हैं यह उक्ति भी सत्य है, तथा 'राम' व्रजेश का पुत्र नहीं है तो भी यहाँ व्रजेश कहा है उसका कारण यह है कि उस समय भगवान् 'राम' स्वरूप में आविष्ट थे। अत: राम को भी 'व्रजेश' कहना असत्य नहीं।

जो भक्त, केवल भगवान् के स्वरूप के रसाभिलाषी अनन्य उपासक हैं, वे तो भगवान् के मुखारविन्द के सिवाय अन्य मुखारविन्द के रस की स्वप्न में भी केवल भावना भी, नहीं करते हैं, तो वे भगवान् के मुख के सिवाय अन्य मुख के दर्शन को फलरूप कैसे मानेंगे ? अत: यहाँ व्रजेश सुतयो: मुखं एक वचन देकर यह स्पष्ट किया हैं कि यह 'मुख' भगवान् कृष्ण का ही है जिसको गोपीजन 'फल' रूप मानते हैं।

भगवान् का श्री मुख उस समय वेणुवादन में रत[४] था, अर्थात् भगवान् उस समय बंशी बजा रहे थे, अत: जो गीत रस के अभिज्ञ[५] भक्त थे वे वेणुनाद के श्रवणार्थ भगवान् के मुखारविन्द को देखते थे, वेणुवाद का श्रवण कर जिन्होंने उसका केवल श्रवण रूप सेवन किया, और जिन्होंने पान किया (अन्त:करण में प्रवेश किया) उन दोनों को पृथक् पृथक् लाभ (फल) मिले।

श्रवण करने वालों को वह 'मनोहर' है वैसा ज्ञात हुआ, जिससे उन्होंने केवल श्रवण ही किया। अन्यों ने पान कर, उसको शिक्षा के लिए अन्त:करण में धरा, कारण कि, उनकी भावना

१-साथ में रहते हैं। २-मुकर्रर कर दें, लगा देवे। ३-छिपा हुआ।
४-लगा हुआ। ५-जानने वाले।

यह थी, कि हम भी इस नाद गान को सीखकर कभी भगवान् की भाँति गान करेंगे ।

कितनी ही गोपीजन काम के सम्बन्ध से भी भजन कर रहे हैं, वह पाक्षिक[१] है, यह भजन श्लोक में 'अनुरक्त कटाक्ष मोक्षम्' पद से कहा है, अर्थात् भगवान् के जिस मुखारविन्द पर अनुराग युक्त प्रेमी भक्तों के कटाक्षों का पात होता है, वह मुख चक्षु वालों का फल है । इस प्रकार इस श्लोक में गोपीजन के निर्गुण तथा सगुण भेद कहे हैं । निर्गुण भक्त वे हैं, जो सर्व ११ इन्द्रियों से भगवदस्वरूपानन्द का भोग ही फल मानते हैं, और सगुण भक्त वे हैं जो केवल नेत्र इन्द्रिय से श्री मुख का सेवन, पान तथा उस पर (मुखारविन्द पर) कटाक्ष मोक्ष करते हैं ॥ ७ ॥

आभास – केवलं रसरूपमाह चूतेति,

आभासार्थ – निम्न 'चूत प्रवाल' श्लोक में केवल रस रूप (विप्रयोग शृङ्गार रसात्मक) स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः –**चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।**
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रंगे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ – आम की कोंपल कानों में, मयूर पिच्छों के गुच्छक मस्तक पर, कमलों की माला कण्ठ में धारण किए हुए और इन से मिले हुए पीताम्बर आदि वस्त्रों से विचित्र वेष वाले राम और श्रीकृष्ण दोनों भ्राता कभी उत्तम नट के समान ग्वाल बालों की सभा में गान करते हुए ऐसे शोभा देते हैं जैसे नट नाट्यशाला में शोभायमान होते हैं ॥ ८ ॥

सुबोधिनी – **चूतानामाम्राणां प्रवालाः** कर्णयो- **र्बर्हस्तबका** बर्हगुच्छानि शिरस्युत्पलाब्जानां **माला** कण्ठे **तैरनुपृक्तं** मिलितं **परिधानं** पीताम्बरादिवस्त्राणि **तैर्विचित्रौ वेषो** ययोरेतादृशावुभावपि **पशुपालगोष्ठ्यां मध्ये विरेजतुः**, रसाभिनयेऽवतारवदेवावेशस्याप्युपयोगाद् द्विवचनम् ।

१-अल्प, थोड़े ।

व्याख्यार्थ – आम के कोंपल कानों के ऊपर के भाग में, मयूर पिच्छों के गुच्छक मस्तक पर, कमलों की माला कण्ठों में धारण किए हुए और इनसे† मिले हुए पीताम्बर आदि वस्त्रों से विचित्र वेष वाले बलराम* और श्रीकृष्ण दोनों भ्राता कभी उत्तम नट के समान ग्वाल बालों की सभा में गान करते हुए शोभा दे रहे हैं ।

श्लोक में 'विचित्रवेषौ' द्विवचन देने का भावार्थ यह है, कि जैसे अवतार के कार्य में बलरामजी (आवेश स्वरूप) का उपयोग है, वैसे ही रस के अभिनय में भी उनका उपयोग (आवश्यकता) है ।

कारिका – **गुणा माया च वेषार्थमुपयुक्ता भवन्ति हि ।**
अतो रसस्याभिनये चत्वारोऽर्था निरूपिताः ॥ १ ॥
रसरूपसुगन्धानां प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिता ।
धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र निरूप्यते ॥ २ ॥
वस्तुनिर्देशमात्रेण श्रोतृणां काव्यवद् रसः ।
रसवत्फलबोधाय प्रथमं पल्लवो मतः ॥ ३ ॥
शास्त्रार्थस्य परिज्ञानाद् भावस्य कलिका भवेत् ।
ततस्तस्य च वैचित्र्यं पुष्पस्थानमिहोच्यते ॥ ४ ॥
अहोरात्रं वासना स्यात् तत आच्छादनं स्मृतम् ।
रसोत्पत्त्यर्थमेतावन् निरूपितमितिस्थितिः ॥ ५ ॥
आविर्भावे रसास्वादान्नृत्यं शोभा ततो भवेत् ।
अतोऽतिगुप्तो भगवान् रसत्वं प्रतिपद्यते ॥ ६ ॥

कारिकार्थ – गुण और माया ये दोनों निश्चय से वेष के लिए उपयोगी होते हैं, इस कारण से रस के अभिनयार्थ चारों पदार्थ निरूपण किए हैं ॥ १ ॥

---

†भगवान् ने कानों में कर्णिकार (कनेर के पुष्प) के साथ ऊपर के भाग में आम्र के कोपल भी धारण किए हैं, कारण कि शिर पर धारण किया हुआ मोर पिच्छ का मुकट जिसमें पीले वस्त्र का जो टुकड़ा बाँधा हुआ है उससे वे कोंपल भी सम्मिलित हो, और उत्तरीय वस्त्र (नीचे धारण किया हुआ पीताम्बर) का भी माला से मेल हो यों करने से वेष में विचित्रता आ गई है । सुबोधिनीजी में 'पीताम्बरादि' में आदि शब्द से श्री बलदेवजी के नील वस्त्र का सूचन किया है ।

*श्री बलदेवजी में जो श्री पुरुषोत्तम का आवेश स्वरूप है, वह रस रूप है उस रस रूप की ही इस रस के अभिनय में आवश्यकता है ।

रस, रूप और सुगन्ध की प्रतिष्ठा[१] तीन में निश्चित रूप से की है, धर्मी स्वरूप के रस का आच्छादन करने के लिए माया का भी यहाँ निरूपण किया गया है ॥ २ ॥

केवल वस्तु के निर्देश[२] से ही श्रोताओं को काव्य के समान रस प्राप्त होता है, यह फल रस भरित है यह जताने के लिए पहले पल्लव[३] कहा है ॥ ३ ॥

भाव रूप कली तब उत्पन्न होती है, जब शास्त्र के अर्थ का पूर्ण ज्ञान होता है, उसके पश्चात् उसमें विचित्रता आती है, उसको यहाँ पुष्प का स्थान दिया है ॥ ४ ॥

रात-दिन वासना होती रहे इसलिए आच्छादन की स्मृति कराई गई है, यह सब रस के प्राकट्य के लिए कहा है, इस प्रकार की स्थिति है ॥ ५ ॥

रस का आविर्भाव होता है, तब रस के स्वाद की प्राप्ति होती है तथा नृत्य एवं शोभा भी होती है जिससे अतिशय गुप्त रस रूप भगवान् का रस पन प्रकट होता है ॥ ६ ॥

व्याख्या – कारिका में जो 'गुण' कहे हैं उनके दो भाग हैं एक भाग-प्रवाल स्थायिभाव† स्तबक (व्यभिचारी भाव‡) माला (विगाढभाव*) हैं, दूसरा भाग-प्रवाल (रजोगुण रूप) स्तबक (तमोगुण रूप) माला (सत्त्व गुण रूप) है, ये तीन गुण और चौथी पीताम्बर वस्त्र रूप माया ये चार, वेष के लिए उपयोगी है तथा रस प्रकट करने में भी उपयोगी है ।

---

†यं आलम्ब्य रस उत्पद्यते सः स्थायिभावः, आलम्बना विभावः जिसके आश्रय से रस उद्भव होता है वह स्थायिभाव, आलम्बन विभाव है ।

‡यो इतः ततः सञ्चरन्ति रसेषु अनेक रस व्याप्ता भवन्ति, ते व्यभिचारी भावाः, जो भाव यहाँ वहाँ रसों में संचारण कर अनेक रसों में व्याप्त होते हैं वे 'व्यभिचारि भाव' हैं ।

*विलोडितः (संचालितः-उन्माद पर्यन्तं संचालितः) कटाक्षादि रूपो भावः अनुभावः । (उन्माद हो तब तक चलाया हुआ) जो कटाक्षादि रूप भाव रसों का अनुभव कराता है वह विगाढभाव वा अनुभाव है ।

१-स्थापना । २-उपदेश । ३-नवीन कोपल ।

१-आलम्बन विभावात्मक धर्मी स्वरूप में धर्म रूप स्थायि भाव, व्यभिचारि भाव और अनुभाव से ही विचित्रता उद्भव होती है।

२-(अ)-प्रवाल (रजोगुण रूप) से अनेक प्रकार के भावों की उत्पत्ति होती है।

(आ)-मकर गुच्छ (तमोगुण रूप) से भगवान् के किसी भी एक स्वरूप में (वा अवयव में) विशेष प्रेम होकर उस में मन का लय होता है।

(इ)-कमल माला (सत्त्व गुण रूप) से यह ज्ञान होता है कि सर्व पदार्थ रस में उपयोगी है ॥ १ ॥

प्रवाल (कोंपल) मयूर पिच्छ के गुच्छ, कमलों की माला और माया रूप पीताम्बर धारण इन चार पदार्थों के धारण करने के भाव निम्नलिखित है।

१-मैं रस रूप हूँ, इसकी सूचना के लिए आम्र के रस रूप कोंपल धारण किए हैं, क्योंकि आम्र वृक्ष में रस प्रतिष्ठित है।

२-मैं रूप से सुन्दर हूँ इसका ज्ञान कराने के लिए 'मयूर पिच्छ गुच्छ' को धारण किया है।

३-मेरे श्री अङ्ग में सहज सुगन्ध है इसको प्रकट करने के लिए 'कमलों की माला' धारण की है।

४-'रस' गोप्य[1] है अतः माया रूप पीताम्बर धारण किया है।

आम्र में रस स्थित है अतः आम्र के पल्लव (कोंपल) स्थायिभाव है, मयूर में रूप है रस नहीं है, इसलिए मयूर पिच्छ गुच्छ व्यभिचारीभाव के द्योतक हैं, कमलों में सुगन्ध रहती है, इसी कारण से कमल माला 'अनुभाव' है जिससे सुगन्ध ग्रहण करते हुए जो 'चुम्बन' होता है वह अनुभावक है। ये तीनों (रस, रूप और सुगन्ध) वेष में विचित्रता उत्पन्न करते हैं। तो भी पूर्ण वैचित्र्य तो आच्छादन वस्त्र ही करता है अतः उसकी भी अपेक्षा रहती है अतः चौथी वस्त्र रूप माया को भी धारण किया है ॥ २ ॥

अनुभव करने के सिवाय केवल कहने से रस का अनुभव[2] कैसे होगा ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'काव्य उसको कहा जाता है जिसके वाक्य रस भरित हो' उस काव्य के श्रवण मात्र से श्रोताओं को जैसे रस का आनन्द प्राप्त[3] होता है वैसी ही यहाँ भी जो रसवाले शब्द हैं वे फलरूप सुधामय हैं, अतः उनसे गलित हुई सुधा गोपीजन परस्पर कहकर, पान करती हुई

१-छुपाने योग्य। २-प्राप्ति। ३-अनुभव में।

रस का आस्वाद लेती हैं । अतः 'केवल वस्तु के कहने से भी रस का आस्वाद होता है, यह सिद्धान्त सत्य है इसलिए यहाँ प्रथमः रसमय 'कोंपल' धारण किया है ॥ ३ ॥

प्रथम पल्लव[१] के कहने का कारण यह है कि 'फल' रसवाला है, उसके पश्चात् रस शास्त्र के अर्थ (फल) के ज्ञान होने पर, भाव की कली प्रकट होती है, अतः कली के समान मयूर पिच्छ गुच्छ को कहा है । 'फल' रसमय थे, इस प्रकार के ज्ञान होते ही, वह भाव रूप कलिका पुष्प रूप होकर अव्यक्त रसादि को व्यक्त कराके, अनुभव कराने में सहायभूत होती है । प्रमाण प्रकरण की लीलाओं से उत्पन्न प्रेमरूप भाव बढ़कर प्रमेय प्रकरण की लीलाओं से आसक्ति रूप भाव में बदल जाता है किन्तु आसक्ति भी कलिका के समान ही है जिससे उसमें भी कटाक्षादि जो कुछ होता है वह अव्यक्त ही होता है । पश्चात् जब वह भाव बढ़कर व्यसन दशा को प्राप्त होता है तब पुष्प रूप बनता है अतः यहाँ कमल माला कही है उसको धारण कर व्यसन का सूचन किया है । व्यसन दशा में वे सर्व अव्यक्त भाव स्फुट हो जाते हैं और उनमें विचित्रता प्रदर्शित होती है ॥ ४ ॥

जब व्यसन होता है तब सर्वदा मिलन संभाषण आदि की वासना[२] होती रहती है उसके प्रकट होने से, रस रसाभास हो जाता है अतः उसको गुप्त रखने के लिए माया रूप पीताम्बर धारण करना आवश्यक समझ उसको धारण किया है गोप्य रस, रस ही रहा है ॥ ५ ॥

इस प्रकार क्रम से जब भावात्मक भगवान् का आविर्भाव होता है और स्वामिनीजी के सम्बन्ध होने से रस का अनुभव प्राप्त होता है तब प्रभु नृत्य कर शोभा को विशेष रूप से प्रकट करते हैं ॥ ६ ॥

सुबोधिनी — विचित्रवेषाविति सर्वरसाभिनिवेशनार्थं, **त्रयाणामन्योन्यगुणप्रधानभावे नव रसा भवन्ति,** एवं रसरूपं भगवन्तं निरूप्य तद्रसपोषकौ समाजे वाद्यगीतविशेषौ निरूपयति **मध्ये विरेजतु**रिति, **पशुपालानां गोष्ठी नात्यन्तं गूढा** तेन रसस्य सुलभत्वं निरूपितं, **मध्ये** गीतवाद्ययोः, त्रयाणां समानतैव सर्वोत्तमा, नृत्यस्य तु विशेषः प्रायिक एवेति तदेवोक्तं, कादाचित्कनिषेधार्थ**मल**मिति, शास्त्रमत्र नियामकं न भविष्यतीत्याशङ्क्याह दृष्टान्तं **रङ्गे यथा नटवरा**विति, रङ्गं शास्त्राधारभूतं स्थानं, **रङ्गमण्डपे यथा नटौ** शास्त्रार्थानुसारिणौ भवतः, अलौकिकनाट्यार्थं **वर**पदं, एवं राजसभावनृत्यमुक्त्वा सात्त्विकभावनृत्यमाह **क्व च गायमाना**विति, देशविशेषे हस्ताभिनयमात्रपूर्वकं श्रमरहितं गानं कुरुतः, एतदपि लोकप्रसिद्धम् ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ — श्लोक में 'विचित्रवेषौ' इस विशेषण के देने का आशय बताते हैं कि सर्व रसों का वहाँ अभिनिवेश[३] है ।

तीन गुणों के परस्पर मुख्य एवं गौण भाव से नव रस की सिद्धी होती है । इस प्रकार रस रूप भगवान् का निरूपण कर, समाज में, उस रस के पोषक गीत और वाद्यों का निरूपण करते हैं ।

१-कोंपल । २-इच्छा । ३-आग्रहपूर्वक स्थिति ।

वे दोनों के मध्य में भली-भाँति शोभा पा रहे थे। पशुओं के पालन करने वालों[१] की गोष्ठी[२] बहुत गूढ नहीं होती है, इससे यह बताया कि रस सुलभ है। गीत और वाद्य इन दोनों के मध्य में तीनों (नृत्य, वाद्य तथा गीत) की समानता ही सर्वोत्तम है। नृत्य की विशेषता कदाचित् ही होती है अत: 'वाद्य' ही कहा है किसी समय ही वैसा होता होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'अलम्' (बहुत अच्छी रीति से) कहा है।

राम और श्रीकृष्ण के गीतों में यहाँ शास्त्र नियामक नहीं होगा ? ऐसी शङ्का के निवारण के लिए दृष्टान्त देकर कहते हैं कि जैसे शास्त्रानुसारी रङ्ग मण्डप में नट शास्त्र के अनुसार ही गीत नृत्यादि करते हैं, वैसे (ही) ये दोनों भी शास्त्रार्थ के अनुसार ही अलौकिक नाट्य (नृत्यादि) करते हैं अत: 'वर' पद दिया है, इस प्रकार राजस भाव का नृत्य कह कर 'क्व च गायमानौ' पद से कहते हैं, कि सात्त्विक भाव का नृत्य करते हैं जैसा कि अमुक स्थान में केवल हस्त के अभिनय के साथ इसी प्रकार गान करते हैं, जिससे कुछ भी परिश्रम नहीं होता है। यह बात भी लोक में प्रसिद्ध ही है ॥ ८ ॥

आभास — एवं रसं निरूप्य तस्याधिदैविकरूपतासम्पादकं वेणुनादं निरूपयन्ति गोप्य इति,

आभासार्थ — इस प्रकार रस के स्वरूप का वर्णन कर उस रस को आधिदैविक बनाने के लिए इस 'गोप्य किमाचरत्' श्लोक में वेणुनाद⁑ का निरूपण करते हैं।

श्लोक: —**गोप्य: किमाचरदयं कुशलं स्मवेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।**
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्या: ॥९॥

श्लोकार्थ — हे गोपीजनों ! इस मुरली ने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है कि, जो केवल गोपीजनों के ही भोग्य दामोदर भगवान् के अधरामृत को स्वतन्त्र होकर यथेच्छा पान कर रही है उससे शेष रहे रस को झरने तथा वृक्ष भी भोग रहे हैं और वे आर्यों के समान रोमांचित होते हैं एवं आनन्द के आँसू गिराते हैं ॥ ९ ॥

⁑**श्री विठ्ठलेश प्रभुचरण** 'टिप्पणी में आज्ञा करते हैं कि, जो काम रस सहज[३] है अर्थात् लौकिक है उसको यह वेणुनाद अधर सुधा के साथ अन्त:करण में प्रविष्ट होकर आधिदैविक भगवदीय (भगवत्सम्बन्धी अलौकिक आधिदैविक रसमय) बनाता है।

१-गोपों। २-बातचीत। ३-स्वाभाविक।

सुबोधिनी – गोप्य इतिसम्बोधनं पूर्वरसाभिज्ञापकं, नात्र बोधनीयं वचनीयं वा किञ्चिदस्ति, यद्यपि तेन रसो न पीतस्तथापि मुखे सन्दर्शनादन्यार्थत्वेऽपि भोजनं करोतीति लक्ष्यते, पुरुषस्य तद्भोजनं सर्वथासम्भावितमन्यथा भगवतैव भुक्तं स्यादतः स्त्रीणामेतद् भोग्यं, तदाह **गोपिकानामिति अधरसुधा गोपिकानां** सम्बन्धिनी, बहुवचनेन समुदायरूपा लक्ष्मीरप्यनेन सूचिता तदंशाश्च तयैव समागताः, नान्यत्र तद्भोगो लोके प्रसिद्धः, तादृशस्य वस्तुनो भोक्ता पुरुष एव न भवति किम्पुनर्योन्यन्तर्गतो जीवस्तत्रापि वेणुः ? आधि-दैविकस्य चेतनत्वं सूचयन्त्य आहुः सर्वा एव आधिदैविक्य इति स्वगोष्ठ्यां तस्यापि विचारो घटते, **सर्वं धर्मफलमितिवैदिकसिद्धान्तोऽतः** कारणभूतं धर्मं विचारयन्ति **किमाचरदिति, धर्मः सर्वोऽपि वेदसिद्धो वेदरूपाश्च वयमतोऽस्मदज्ञातः कथं धर्मो भवति** येन धर्मेण वयं जाताः ? परं तत्रापि मर्यादान्यायेन साधनविरोधाभावस्ततोऽस्मासु स्त्रीत्वं वेणौ तु तदभावस्ततः सन्देहः फलस्य दृष्टत्वाच्च, सम्मत्यर्थं च गोपिकासम्बोधनं, अयमितिपुल्लिङ्गनिर्देशश्च बाधकः स्मेतिप्रसिद्धिश्च, वस्तुतस्तु न तस्य फलं, तदुपपादितं, तर्ह्यन्यतराबाधे कर्तव्यं साधनबलनिश्चयेन फलाभावः पूर्वपक्षः फलबलविचारेण साधनाभावाभावः सिद्धान्तः, तदाह वेणुपदेन, **वश्च इश्च वयौ तावणूकृतौ येनेति**, लोकेभ्यस्तथासुखदानाद् धर्मोऽस्तीति निश्चीयते, अधरसम्बन्धादेव तथात्वमित्यनिश्चयोऽपि, तथापि साधनं स्वयमेवेतिनिश्चयः, **पुष्टिबलमाश्रित्य तस्य सिद्धिरिति** ज्ञापयितुं मर्यादायां हीनतामाह **दामोदरेति, दामोदरे** यस्येति भगवतो गोपिकाधीनत्वं सूचितं, लोभात्मकश्चा**धरः**, अतः स्वतः परतश्च तस्य साधनाभावः सूचितः, **सुधा**पदेन च रसविवक्षायां रसनेन्द्रियाभावश्च बाधकत्वेन सूचितः, नादं **भुङ्क्त** इत्यविवादं **सुधामपि भुङ्क्त** इति विवादास्पदं "सा वनस्पतीन् प्राविश" दितिश्रुतेः, सुधानधिकारः पूर्वमुपपादितः, किञ्च भगवांश्चेद् दद्यात् कदाचित् सम्भवेदपि व्यभिचारे स्त्रीसिद्धान्तवत्, गोपिकावत् **स्वयं भुङ्क्त** इत्याश्चर्यं, अधरमुखसम्बन्धे पानमस्माकं सिद्धमस्ति तस्यापि मन्यामहे, किञ्चास्मदपेक्षयापि तस्मिन् विशेषो यस्मिन् भोजनेऽ**वशिष्टं रसं हृदिन्यस्तरवश्च** भुञ्जते, **बालत्वान्माता-पितरावेव पालयति**, उभयत्र हेतुमाह यतो **हृदिन्यो हृष्यत्त्वचो** जाता अन्तःपूर्णानन्दास्ततोऽप्यानन्दाधिक्ये रोमाञ्चयुक्ता भवन्ति, तत्रायं निर्णयः, रोमाञ्चोऽत्र कमलरूपः, स च जगति सर्वोत्तमः, अतो हेत्वन्तरानन्दरोमाञ्चो न भवति तथा सति शैवालानामेवोद्गमः स्यान् न कमलादीनां, अतो ज्ञायतेऽधरामृतमेव **हृदिनी**भिः पीतमिति, अन्यथा तेषु लक्ष्म्या उद्गमो न स्यात्, "यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घना" दितिन्यायात्, लक्ष्म्यास्तदेकभोगित्वमुपपादितं, उपलक्षणमेतत्, **अश्रु च मुमुचुः, न हि मकरन्दोऽन्यस्य रसो** भवति, **तरवश्च** तथा, तेषां रोमाञ्चः फलान्यश्रु च **मधुधाराः**, एतच्चोभयविधं नान्यथा सम्भवति, नचैतद् द्वयं तयोः स्वाभाविकमिति मन्तव्यं, कादाचित्कत्वाद् वेणुनादानन्तरमेव तथात्वात् स्वाभाविकवैलक्षण्याच्च, तदाह **यथार्या** इति, **सन्तो हि भगवद्धर्मान्तःप्रवेश एव तथा भवन्तीति**, तस्माद् **धदिन्यो** मातृरूपास्तरवः पितृरूपाश्च तद्भुक्तावशिष्टरसपातारः ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ – हे गोपीजन ! यह सम्बोधन, प्रथम कहे हुए सहज काम रस का बोधक है, यह वेणु भगवान् के अधर पर स्थित हैं, चाहे इसने रस पान नहीं किया है, तो भी यों समझा जाता है कि यह दूसरों के लिए भोग करता है, अतः यहाँ जानने व कहने योग्य कुछ नहीं है। श्लोक में 'गोपिकानां' पद देकर बताया है कि यह अधर सुधा गोपीजन के लिए है तब यह 'वेणु' जो पुरुष है, वह इसका भोग कैसे करेगा ? यह भोग तो स्त्रियों का है यदि पुरुषों के योग्य होता, तो भगवान् ही इसका भोग करते वे तो करते नहीं, अतः इस रस का भोगना पुरुषों के लिए सर्वथा असम्भव है । जब चेतन पुरुष ही इसका भोक्ता नहीं बन सकता है, तो अन्य योनि में उत्पन्न जीव उनमें भी वेणु ? इसका भोग कैसे कर सकता है ? । 'गोपिकानाम्' यह बहुवचन देने का भाव यह है, कि इन (गोपीजन) में लक्ष्मी का अंश भी है । लक्ष्मी के बिना दूसरा कोई इस (सुधा) का भोग नहीं कर सकता है । आधिदैविक वस्तु चेतन होती है, चाहे

उसका ऊपर का रूप जड़ भी हो। हम सब आधिदैविकी हैं अतः हमें इन (वेणु) का विचार करना चाहिए कि इसको इतनी उच्च कोटि का अधिकार क्यों मिला है? यह सब धर्म का फल है, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है, इसलिए गोपीजन वेणु के इस अधिकार पाने का कारणभूत धर्म विचारती हैं, कि इसने कौन-सा धर्म किया है ? धर्म मात्र वेद से सिद्ध है, हम वेद रूप हैं इसलिए जिसका हमको ज्ञान नहीं है वह 'धर्म' कैसे हो सकता है ? जिस धर्म से, हम (गोपी रूप में) उत्पन्न हुई हैं। वह उसने भी किया हो तो भी हम में तो मर्यादानुसार साधन का विरोध नहीं है क्योंकि हम तो उस धर्म साधन से आधिदैविक स्त्रियाँ बन गई हैं, किन्तु यह तो वेणु रूप पुरुष बना है, इस प्रकार (विरुद्ध) फल देखने से सन्देह होता है कि जैसा साधन हमने किया है वैसा इसने नहीं किया है, यदि वैसा साधन किया होता तो, फल में वैषम्य न होता। इसलिए अन्य गोपीजन की भी सम्मति लेने के लिए 'हे गोप्यः' सम्बोधन दिया है। श्लोक में 'अयं' पद से वेणु की पुरुष जाति बताई है। वह इसके भोग करने में रुकावट हैं और 'स्म' पद प्रसिद्धि सूचक है 'अधरसुधा' का भोग तो गुप्त स्थान में होता है, जैसे उसकी प्रसिद्धि न होवे, यहाँ प्रसिद्धि सूचक 'स्म' भी भोग में बाधक है। वास्तविक रीति से देखा जाए तो 'वेणु' की फल प्राप्ति है ही नहीं, वह 'बर्हापीडम्' श्लोक में प्रथम ही प्रतिपादन कर दिया है। तब दोनों (साधन और फल) में से एक का बाध करना चाहिए। यों करने से, यदि साधन का बल निश्चित किया जाएगा तो साधन का अभाव नहीं है, यह सिद्धान्त होगा। इसको बताते हुए 'वेणु' शब्द का रहस्य प्रकट करते हैं। 'वेणु' शब्द में 'व' 'इ' और 'अणु' ये तीन शब्द हैं, 'व' का अर्थ है ब्रह्मानन्द 'इ' का अर्थ है विषयानन्द ये दोनों जिसने तुच्छ कर छोड़ दिए हैं वह 'वेणु' है, दोनों प्रकार के सुखों का त्याग करने से वह अन्यों को आनन्द देता है, अतः उस (वेणु) में धर्म है, यद्यपि अधर के सम्बन्ध से इसमे धर्म है, वैसा निश्चय नहीं है तो भी स्वयं[१] ही साधन है, पुष्टि बल[२] के आश्रय से उसकी सिद्धि हुई है। यह जताने के लिए मर्यादा में साधन की हीनता है, अर्थात् मर्यादा मार्ग में, ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे भगवान् वश हो जावे, पुष्टि में दीनता आदि साधन हैं जिससे भगवान् भक्तों के आधीन होते हैं जैसे 'दामोदर' लीला में भगवान् ने, दीनता से भक्ताधीन हो, अपने आप को रस्सी से बन्धवाया है।

'अधर' लोभात्मक है कारण कि उसमें 'सुधा' की स्थिति है अतः स्वतः[३] वा परतः[४] उस (वेणु) को साधन का अभाव है। वेणु को रसना इन्द्रिय[५] नहीं है इसलिए भी वह सुधा का भोग करने में असमर्थ है, क्योंकि सुधा रस रूप है उसके लिए जिह्वा की आवश्यकता है। वेणु के नाद का भोग (श्रवण) करता है, इसमें किसी प्रकार शङ्का नहीं है किन्तु सुधा का भोग करता है यह विवाद का विषय है क्योंकि भगवती श्रुति कहती है कि 'सा वनस्पतीन् प्राविशत्' वह वाणी (वा-सुधा) वनस्पतिओं में प्रविष्ट हुई। वेणु पुरुष रूप है इसलिए वह सुधा का अधिकारी नहीं है, यह पहले प्रतिपादन किया है किन्तु यदि भगवान् अनधिकारियों को भी दान करें, तो

१-आप। २-अनुग्रह बल। ३-अपने आप से। ४-दूसरे से। ५-जिह्वा (जीभ)

कदाचित् वैसे सम्भव हो सकता है, जैसे स्त्री अनधिकारी उपपति को अपने रस का कदाचित् दान करे, तो वह उस रस को भोग सकता है अन्यथा नहीं । फिर ऐसा होते हुए भी यह (वेणु) गोपीजन की भाँति स्वयं भोग करता है वह आश्चर्य है । वेणु सुधापान करता है इसका निर्णय आपने कैसे किया ? इसके उत्तर में कहती हैं कि जैसे अधर तथा मुख के सम्बन्ध से हम पान करती हैं वैसे ही उसका भी उनसे सम्बन्ध है, अत: वह भी पान करती होगी ऐसा हम मानती हैं और हमसे भी उसमें यह विशेषता है, जो उसका बचा हुआ रस नदियाँ (झरणें) और वृक्ष भोगते हैं जैसे सन्तान माता पिता की पालना करता है वैसे ही वेणु, नदियाँ तथा वृक्षों का सन्तान (उनसे उत्पन्न हुआ) है अत: अवशिष्ट रस देकर उनका पोषण करता है । वे पान करते हैं इसका हेतु देते हैं, रस भोग से झरनों में, हर्ष से रोमाञ्च होते हैं वे रोमाञ्च यहाँ कमल रूप हैं । वह कमलों का रूप जगत् में सब से उत्तम है । यदि सुधा का पान न किया होता तो, कमल उत्पन्न न होकर शैवाल का ही उद्भव होता । इस सुधा पान के कारण, लक्ष्मी की उत्पत्ति कमलों से होती है । 'जहाँ अतिशय देखने में आता है, वहाँ स्वार्थ का उल्लङ्घन करने के सिवाय ही वह होता है; इस न्यायानुसार लक्ष्मीजी, केवल उसका ही भोग करती हैं', यह उपलक्षण है, अर्थात् इससे यह सिद्ध हुआ है । जिस प्रकार माता रूप नदियाँ रसपान से आनन्द मग्न होकर रोमाञ्चित हुई, वैसे ही पितृ स्थानीय पेड़ भी इस रस का पान कर आनन्द युक्त हुए, जिससे रोमाञ्च रूप फलों को उत्पन्न किया, तथा अश्रुरूप मकरन्द (मधुधारा) का आविर्भाव किया, इस प्रकार ये दोनों सुधा रस के पान बिना उत्पन्न नहीं हो सकते हैं । यों भी नहीं समझना चाहिए कि इनमें ये (रोमाञ्च आदि) स्वाभाविक हुए हैं, क्योंकि, वेणुनाद होने के अनन्तर हुए हैं, यदि स्वाभाविक होते तो, प्रथम ही हो जाते और इनमें स्वभाव से भी विलक्षणता दिखती है । इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, कि जैसे सत्पुरुष, भगवद्धर्म के अन्त:करण में प्रविष्ट होने से, रोमाञ्चित होकर आँसू बहाते हैं, वैसे (ही) झरने तथा वृक्ष भी वेणु भुक्त से शेष रस के पान से वैसे हुए हैं ॥ ९ ॥

आभास – वृन्दावनविहारे चरणानां स्वरूपमाह वृन्दावनमिति,

आभासार्थ – वृन्दावन के विहार में, भगवान् के चरणों का स्वरूप इस 'वृन्दावनं सखि भुवो' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक: – **वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।**
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्ववरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥१०॥

श्लोकार्थ – हे सखि ! देवकीजी के पुत्र के चरण कमल से जिसने लक्ष्मी (शोभासुन्दरता) प्राप्त की है, और गोविन्द के वेणु के अनुसरण करने से, मत्त बने हुए मयूरों के नृत्य को देखकर, श्री गिरिराज पर स्थित सर्व प्राणी मात्र मूक हो गए हैं। वैसा यह वृन्दावन पृथ्वी की कीर्ति को बढ़ा रहा है ॥ १० ॥

सुबोधिनी — देवानां पादा भूमिं न स्पृशन्ति सुतरां देवोत्तमस्य तत्रापि पुरुषोत्तमस्य, पुरुषोत्तमांशस्य पुरुषस्य मह्याधिभौतिकौ पादावाध्यात्मिकावतीन्द्रियावाधि-दैविकावानन्दरूपौ तयोरपि न भूमिसम्बन्धः, भूमावपि दैत्यभूमिरधमा तत्रापि स्त्रीसम्बन्धिनी तद् **वृन्दावनं** तस्मिन् भगवतः पादा वर्तन्त इति तस्या भाग्याभिनन्दनं स्वस्यौत्कण्ठ्यख्यापकं स्वस्यापि हृदयदेशो भूमिर्भवति स्त्रीणां च हृदयं कठिनमपि भवति पर्वता अपि सन्त्यन्तः प्रवहा नद्यश्च सन्ति रसपूरा रोमपङ्क्तिर्वनमपि भवति स्त्रीसम्बन्धि च, एवं तुल्यतायामप्यत्र चरणौ न स्थाप्येते तत्र स्थाप्येते इतीर्ष्यया वर्णनं, गुणत्रयेण पूर्वं वर्णनं निर्गुणगोपिका त्वेषेति नात्रासूयेति केचित्, **सखीति** सम्मत्यर्थं, तादृश्यो न बह्व्य इत्येकवचनं, असूयापक्षेपि तथा, ननु भगवत्पदानि यथा व्यापिवैकुण्ठे भवन्त्येवं वृन्दावनेऽपि जातानीति किमाश्चर्यम् ? तत्राह **भुवो वितनोति कीर्तिमिति**, यदि वृन्दावनं व्यापिवैकुण्ठ एव स्यात् तदा न काचिच्चिन्ता, भूमौ तद् वर्तत इति केवलं भूमेः **कीर्तिमेव तनोति धन्या भूर्यत्र वृन्दावनमस्तीति** भगवतो नित्यस्थितिममन्यमानाया वचनं, पदानि त्वाधिदैविके नित्यान्येव स्थास्यन्ति प्रदर्शयिष्यति च क्वचिद् भगवांस्त्व-पराधीन इति न तत्प्रदर्शने वृन्दावनस्य सामर्थ्यं, भक्तेः सर्वत्रैव तथात्वात् न वृन्दावनप्रतिष्ठा भवतीति प्रतिज्ञाया निमित्तमाह यद् **देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मीति**, यद् यस्मात् तद् **वनं देवक्याः** पुत्रस्य **पदाम्बुजानां लक्ष्माणि** चिह्नानि ध्वज-वज्रादीनि **तैर्लब्धा लक्ष्मीर्येन**, स्वस्य स्वच्छन्दसम्बन्धार्थं **देवकीसुत**पदप्रयोगः, नन्दगोपसम्बन्धिनं न, देवक्याः **प्रसूतिमात्रं न त्वन्य**दिति सुतपदं, **स्त्रीप्राधान्यात् स्त्रीषु कृपापि सूचिता, पुष्टिमार्गे तासां प्राधान्यमित्यवोचाम. भक्तिमार्गे चरणौ प्रधानभूतौ**, तत्राप्यम्बुजं जलोद्भूतं **स्त्रीणामेव हृदये तापहारकत्वेन शोभते**, तादृशस्यापि च ध्वजवज्राङ्कुशादिशोभा सा नान्यत्र फलति **वृन्दावने** सा प्रतिफलितेति 'पाद'त्वमेव सम्पन्नमतो **लक्ष्मी**रपि तत्र नियतातः **पदाम्बुजैर्लब्धा लक्ष्मी**र्येनेति, भूमिर्यदि सार्द्रा तदैवं भवतीति भूमिकृतैव सा **लक्ष्मी**प्राप्तिरतो युक्तं च भूमेः **कीर्तिं** ख्यापयतीति, किञ्च न केवलं **लक्ष्मी**रेव प्राप्ता किन्तु भक्तिज्ञाने अपि प्राप्ते इत्याह **गोविन्दे**ति, यदा भगवान् वेणुनादं करोति तदा नीलमेघो गर्जतीव भाति ततो **मयूरा मत्ताश्च** भवन्ति ततो नृत्यन्ति, **यदैव भगवता वेणुनादः क्रियते तदैव देहविस्मरणं नृत्यं च जायत इति भक्त्युद्रेक उक्तः, मयूरा** वनमेवेति **वृन्दावन**प्रशंसा, तादृशं **नृत्यं प्रेक्ष्या-द्रिसानुष्ववरतानि** तूष्णीं स्थितान्यन्यानि सर्वाण्येव **सत्त्वानि** यत्र, संभगवद्भक्तिज्ञानात् तेषां तूष्णीम्भावलक्षणं ज्ञानमुक्तं, एको भक्तोऽन्ये सर्वे ज्ञानिनः, नन्वधोबिलेशयाः स्वभावतः कथंज्ञानिनो भविष्यन्ति ज्ञानस्य फलमूर्ध्वगमन-मित्याशङ्क्याहा**द्रिसानु**ष्विति, यत्र क्वापि स्थितास्तत्रैव गत्वापश्यन्तस्तिष्ठन्तीति दोषाभावः स्वस्थानत्याग ऊर्ध्वगमनं चोक्तम् ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ — यह वर्णन गोपीजन ईर्ष्या से कर रही है, जब पृथ्वी का स्पर्श देवताओं के चरण भी नहीं करते हैं, तब इस वृन्दावन भूमि का स्पर्श देवोत्तम के चरण नहीं, किन्तु पुरुषोत्तम के चरण कर रहे हैं। पुरुषोत्तम के अंश रूप पुरुष के आधिभौतिक चरण पृथ्वी है, आध्यात्मिक चरण अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से जो देखे नहीं जाते हैं वे) हैं और आधिदैविक चरण आनन्द रूप हैं, उनका भी भूमि से सम्बन्ध नहीं होता है, तब पूर्ण पुरुषोत्तम के चरणों का सम्बन्ध होना अत्यन्त विस्मय का कारण है, उसमें भी, यह भूमि दैत्य भूमि होने से अधम हैं, उसमें (अधम होते हुए) भी स्त्री के सम्बन्ध वाली है। इतना सब होने पर भी, वृन्दावन की भूमि में जो भगवान् के चरणारविन्द स्थित हैं, जिससे यह महा भाग्यवती है, यों निश्चय होता है, इसके भाग्य की सराहना से अपने हृदय की भी उत्कण्ठा प्रकट करती हैं कि, हमारा हृदय प्रदेश ही भूमि है तथा इस भूमि में स्त्रियों का हृदय कठोर है, वहाँ पर्वत भी हैं, अन्तःकरण में जो भगवत् रस विद्यमान है वह नदी रूप है, रोम कूप रूप वन है तथा वह स्त्री रूप भी है अतः यह कहकर गोपीजन ने अपनी वृन्दावन से समानता सिद्ध की है, इस प्रकार समानता होते हुए भी भगवान् उस (वृन्दावन) में अपने चरण स्थापित करते हैं हमारे हृदय भूमि पर क्यों नहीं धरते हैं ? इसी भाँति

यह वृन्दावन का भाग्याभिनन्दन ईर्ष्या से कर रही हैं। किसी की राय हैं कि पहले का वर्णन सगुण गोपीजन का किया हुआ है और यह वर्णन निर्गुण गोपीजन का है अतः यह वर्णन ईर्ष्या से नहीं है। हे सखि ! यह सम्बोधन देकर यह बताया है कि इस मेरे कथन में अन्य गोपीजन भी सहमत हैं। वह सम्मति देने वाली अनेक नहीं है किन्तु एक है अतः एकवचन दिया है। असूया[१] पक्ष में भी वैसे समझना।

भगवान् के चरणारविन्द जैसे व्यापि वैकुण्ठ में स्थित हैं, वैसे ही वृन्दावन में भी हैं इसमें आश्चर्य करने का क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि, इन चरणों की स्थिति होने से, वृन्दावन पृथ्वी की कीर्ति को बढ़ाता है, क्योंकि, यदि यह वृन्दावन व्यापि वैकुण्ठ में होता तो किसी प्रकार विचार करने की आवश्यकता न पड़ती, किन्तु यह पृथ्वी पर है अतः यह वृन्दावन चरणों की स्थिति होने से केवल पृथ्वी की कीर्ति को बढ़ा रहा है, इसलिए यह भूमि धन्य बखानने के योग्य है; जिस पर वृन्दावन जैसा वन है, यह कहना उसका है जो भगवान् की नित्य स्थिति नहीं मानती है। चरणारविन्द तो आधिदैविक में नित्य ही स्थित रहेंगे, किन्तु उनका दर्शन तो स्वतन्त्र भगवान् अपनी इच्छा से कभी कराते हैं। उन (चरणों) के दिखाने में वृन्दावन का सामर्थ्य नहीं है। भक्ति को तो सब स्थानों में (सब समय) ऐसा सामर्थ्य है जो चरणारविन्द का दर्शन करा सके, वृन्दावन की यों तो प्रतिष्ठा (यश) नहीं है किन्तु प्रतिष्ठा का जो कारण है वह 'यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि' पद से कहा है।

भूमि में स्थित वृन्दावन ने देवकी के सुत के चरण कमल के चिह्नों* के धारण करने से लक्ष्मी (शोभा) को प्राप्त किया है, भगवान् से अपना स्वच्छन्द सम्बन्ध दिखाने के लिए 'देवकी सुत' कहा है 'यशोदा सुत' नहीं कहा क्योंकि वह गोपी, नन्द गोप की सम्बन्धिनी है, अतः यशोदा नन्दन से इसका स्वच्छन्द सम्बन्ध नहीं हो सकता। 'पुत्र' शब्द न देकर 'सुत' पद दिया जिसका भावार्थ यह है, कि भगवान् के साथ देवकी का केवल प्रसूति (प्रकट होने) का सम्बन्ध है न अन्य कुछ भी। 'वसुदेव सुत' न कहकर 'देवकी सुत' कहा उसका कारण यह है कि स्त्री की प्रधानता दिखला कर अपनी, स्त्रियों पर कृपा प्रकट की है, पुष्टि मार्ग में स्त्रियों* की प्रधानता है यह पहले ही हम कह चुके हैं, भक्ति मार्ग में दोनों चरण, प्रधान हैं, उनमें भी चरणाम्बुज (अम्बुज) कहा क्योंकि कमल जल से उद्भूत होने से ताप हारक है; अतः चरणाम्बुज ताप हारक होने से स्त्रियों के हृदय में उत्पन्न ताप को नाश करने के लिए 'शोभा' दे रहा है। इस प्रकार ताप हारक 'चरणारविन्द' की ध्वज, वज्र और अंकुश आदि शोभा अन्यत्र[२] नहीं खिली है, वृन्दावन

---

*ध्वज, वज्र आदि चरण के चिन्ह।

*कोमल प्रकृति वाले प्रेमी जीव, स्त्री जीव है उनकी पुष्टि मार्ग में प्रधानता है-देह सम्बन्धी स्त्री यहाँ स्त्री नहीं मानी गई है।

-अनुवादक

१-गुणों में दोष दृष्टि। २-दूसरे स्थान पर।

में ही खिल रही है इससे उसका (वृन्दावन भूमि का) चरणत्व सिद्ध किया, जिससे, लक्ष्मी भी वहाँ सदैव निवास करती है, इसलिए कहा है, कि चरण कमलों के कारण वृन्दावन ने शोभा प्राप्त की है। भूमि आर्द्र होती है, तब यों होता है, अर्थात् चरण स्थापित होते हैं, इसी कारण से, उसने (वृन्दावन भूमि ने) ही वह लक्ष्मी (शोभा) प्राप्त की है इसलिए यों कहना, कि इसने (वृन्दावन ने) भूमि की कीर्ति की वृद्धि की वह योग्य ही है।

केवल शोभा प्राप्त नहीं की है, किन्तु भक्ति तथा ज्ञान भी प्राप्त किए हैं, जिसका वर्णन 'गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं' पद से किया गया है। जब भगवान् वेणुनाद करते हैं तब यों प्रतीत होता है कि मानो नील मेघ गर्जना कर रहे हैं जिसको सुनकर मयूर मत्त होकर नृत्य करते हैं, वेणुनाद से जो नृत्य करते हैं, वह (नृत्य) देह की सुधि भुलाकर भक्ति का उद्रेक[१] करता है। यहाँ मयूर कहे हैं, वे वृन्दावन के उपलक्षण है, अर्थात् वेणुनाद से देह विस्मृति[२] और भक्ति की वृद्धि वृन्दावन में हो गई। यह वृन्दावन की प्रशंसा है।

यह नृत्य देखकर, गिरिराज के शिखर पर आकर स्थित हुए, अन्य प्राणी भी, 'मूक भाव' को प्राप्त हो गए, मूक भाव कहने का भावार्थ यह है, कि उनको भगवान् की भक्ति के साथ ज्ञान भी हुआ हैं, इनमें एक भक्त, अन्य सर्व ज्ञानी हुए हैं। ज्ञान का फल तो ऊपर जाता है, अतः ये नीचे बिलों में रहने वाले कैसे ज्ञानी हुए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे ज्ञानी हो जाने के कारण 'अद्रिसानुषु' गिरिराज के शिखर पर चढ़ गए। शिखर पर जहाँ कहीं भी स्थित हुए वहाँ से, भगवल्लीला के दर्शन करने लगे, जिससे निश्चय होता है, कि उनके दोष नष्ट हो गए हैं, वे अब निर्दोष हैं अतः उनको लीला का दर्शन हो रहा है। इस योग्यता के कारण उन्होंने अपना स्थान छोड़ ऊपर गमन किया है ॥ १० ॥

आभास — एवं रूपवर्णनामुक्त्वा षोढा वेणुं वर्णयन्ति धन्यास्त्वितिषड्भिः ।

आभासार्थ — इस प्रकार वेणु के स्वरूप‡ का वर्णन कर छ प्रकार से (ऐश्वर्यादि धर्म से) वेणु का वर्णन निम्न ६ श्लोकों से करते हैं।

श्लोकः — **धन्यास्तु मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।**
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥११॥

श्लोकार्थ — ये हरिणियाँ मूढमति होते हुए भी धन्य हैं जो भगवान् के वेणुनाद को सुनकर, अपने प्रेम भरित अवलोकनों (नेत्रों) से विशेष विचित्र वेषधारी नन्द नन्दन का स्वागत (पूजा) करती हैं ॥ ११ ॥

---

‡ये आगे पृष्ठ ३३६ के फुट नोट में पढ़े।

१-वृद्धि। २-अपने को भूल जाना।

कारिका – हरिण्योऽप्सरसो गावः पक्षिणो नद्य एव च ।
मेघाश्चेतिक्रमेणैव कृष्णैश्वर्यादिबोधकाः ॥ १ ॥
ईश्वरः पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदा ।
निरुपाधिकमैश्वर्यं वर्णयन्ति मनीषिणः ॥ २ ॥
वीर्यं देवेषु तत्रापि स्त्रीषु तत्रापि कामतः ।
सान्निध्ये पुरुषाणां च मूर्च्छा तेन ततो महत् ॥ ३ ॥
यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणात् ।
स्वधर्मं योजयेत् तेषु तदा भवति नान्यथा ॥ ४ ॥
तामसा राजसाश्चान्ये गुणातीताश्च रूप्यते ।
वृन्दावनं गुणातीतं मुनयश्चापि पक्षिणः ॥ ५ ॥
गोवर्धनश्च त्रितयं गुणातीतमिह स्थितम् ।
तद्गताश्चापि लोकेऽस्मिन् गुणातीता भवन्ति हि ॥ ६ ॥

''यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत'' इतिश्रुतिन्यायेन सर्व एव विहगा भगवदीया अपि परमां श्रियं प्राप्नुवन्ति,

श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदि ।
ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात् स्वभावविजयो यदि ॥ ७ ॥
हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात् ।
उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदा ॥ ८ ॥
भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिता ॥ ८½ ॥

कारिकार्थ – श्रीकृष्ण के षड्गुणों के क्रमशः बोधक[१] ये (हरिणियाँ, अप्सराएँ, गाएँ, पक्षिगण, नदियाँ तथा मेघ) छ हैं ॥ १ ॥

÷'वेणु' शरीर वाला है इसका प्रमाण 'बर्हापीड' इस श्लोक में कहे हुए नाद के श्रवण से समझ में आता हैं पृथक् नहीं । रस द्रय का वर्णन तथा चरण का जो निरूपण है वह निरूपण 'वेणु' के स्वरूप का ही है ।
'लेख'

१-बोध कराने वाले ।

विद्वान कहते हैं कि जब लोक में मूढ लोग भी ईश्वर की पूजा करते हैं तब समझना चाहिए कि ईश्वर में बिना उपाधि वाला, ऐश्वर्य है ॥ २ ॥

इस कारिका में वेणुनाद का महान् प्रभाव सिद्ध कर, भगवान् का वीर्य दिखाया है, जैसे कि वेणुनाद से देवों में (अप्सराओं में) देवाङ्गनाओं में भी काम का उदय हुआ जिससे पुरुषों के समीप वे (देवाङ्गनाएँ) मूर्छित हो गई ॥ ३ ॥

अतिशय[१] मूढ प्राणियों की जिन प्रत्यक्ष पदार्थों में आसक्ति हो, उनमें से आसक्ति को छुड़ा कर, जब उन (मूढ प्राणियों) में अपना धर्म (अपने स्वरूप में आसक्ति) पीयूष पान द्वारा स्थापन करे तब यश होता है अन्य प्रकार से नहीं होता है ॥ ४ ॥

अब तामस, राजस, सात्त्विक और गुणातीत का निरूपण करते हैं, यहाँ, वृन्दावन, पक्षी रूप मुनि तथा गोवर्द्धन ये तीनों गुणातीत हैं। इस लोक में जिनकी रति[२] इनमें है वे भी गुणातीत होते हैं ॥ ५ ॥

''जब पुरुष निश्चय पूर्वक श्री का भोग करता है तब उसके लिए वीणा बजाई जाती है'' इस श्रुति न्याय के अनुसार सर्व भगवदीय पक्षीगण भी परम श्री को प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

श्री ही परम सीमा है, जब सेवक इस श्री को प्राप्त करते हैं और इस से जब सेवक, स्वभाव को जीत लेते हैं, तब ही ज्ञान का उत्कर्ष होता है ॥ ७ ॥

जब सेवक अपना सर्व सर्वस्व[३] भगवान् को अर्पण करता है, तब भगवान् के चरणों में प्रीति होती है।

वैराग्य का भी उत्कर्ष[४] तब होता है, जब सेवक हरि के दुःखों का हरण करने वाला बनता है, ऐसा भक्ति (प्रेम) से हो सकता है। सेवक को इस प्रकार की सेवा करनी ही योग्य है ॥ ८, ८½ ॥

१-असीम। २-प्रेम। ३-सकल पदार्थ मात्र। ४-वृद्धि।

व्याख्या – द्वितीय कारिका में जो यह कहा है कि भगवान् में निरुपाधिक ऐश्वर्य है, वह कहना योग्य है, क्योंकि लोक में, जिसमें भी ऐश्वर्य के गुण दीखते हैं, वह चाहे ईश्वर न भी हो, तो भी, उसकी पूजा होती है, अर्थात् जिसमें ऐश्वर्य के गुण नहीं दिखते हैं उसकी पूजा नहीं होती है। यदि ऐश्वर्य की सामग्री न हो तो भी जिसकी पूजा होती हो तो समझना चाहिए कि उसमें स्वाभाविक ऐश्वर्य है। ज्ञानी ऐश्वर्य सामग्री न होते हुए भी जो पूजा करता है जिसका कारण यह है कि ज्ञानी को उसके स्वरूप का ज्ञान है परन्तु अज्ञानी जिसको, उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं है और ऐश्वर्य के गुण भी प्रकट नहीं दिखते हैं, तो भी उसकी पूजा करता है, इससे निश्चय पूर्वक समझा जा सकता है कि यहाँ असाधारण ऐश्वर्य है। इस प्रकार का परमैश्वर्य भगवान् में स्थित है भगवान् में ही समझा जाता है ॥ २ ॥

तृतीय कारिका में भगवान् के वीर्य की महत्ता दिखाते हैं, भगवान् मनुष्य रूप से दिखाई दे रहे थे तो भी देवता रूप देवाङ्गनाओं को, उनको देखकर जो काम उत्पन्न हुआ वह असम्भव था, अर्थात् न होना चाहिए, कारण कि देवाङ्गनाएँ जिस रस को चाहती हैं वह मनुष्य से तो उनको मिल नहीं सकता है, फिर उनको इसके लिए काम क्यों उत्पन्न हुआ ? और न भगवान् ने उन (देवाङ्गनाओं) को अपना अलौकिक प्रभाव दिखाया है, किन्तु केवल वनिताओं[१] को मोहित करने वाला सुन्दर वेष तथा वेणुनाद से ही साधारण स्त्रियों के समान इन (देवाङ्गनाओं) को मोह हो गया। वैसा होने का कारण, भगवान् का 'वीर्य' गुण ही है ॥ ३ ॥

चतुर्थ कारिका में यश की सिद्धि का कारण कहा है, यश तब सिद्ध होता है जब अन्य पदार्थों में जो आसक्ति है, उसको छुड़ाकर अपने में करावें। वह तब होता है जब अन्य में आसक्ति वालों के अन्दर अपना धर्म स्थापन करें। यहाँ भगवान् ने गौओं की जो तृण आदि में आसक्ति थी वह (आसक्ति) अपने पीयूष[२] रूप धर्म का उनमें स्थापन कर छुड़ा दिया। जिससे भगवान् के यश का विस्तार हुआ है अन्यथा नहीं होता ॥ ४ ॥

५-६ कारिकाओं में केवल यह बताया है कि वृन्दावन, पक्षी रूप मुनिगण तथा गिरिराज ये तीन ही गुणातीत हैं और जो इनमें रतिवाली गोपीजन हैं वे भी गुणातीत हैं। इनका विशेष विवेचन उन उन श्लोकों में होगा जहाँ जहाँ इनका वर्णन आया है ॥ ५-६ ॥

यह तो लोक में प्रसिद्ध है, कि यदि सेवक सुख पूर्वक आनन्द से भोग करता है, अर्थात् सर्व प्रकार से सुखी है, तो इससे यह सिद्ध होता है, कि स्वामी परम सौभाग्य वाला है, अर्थात् वह (स्वामी) तो इससे भी विशेष सुखी होगा। नीचे (भूमि पर) स्थित भगवान् के किए हुए वेणुनाद को वृक्षों के ऊपर बैठे हुए मुनिरूप पक्षी सुन रहे हैं, अर्थात् उस नादामृत का पान (अनुभव) कर रहे हैं, इस प्रकार पक्षी श्री का भोग कर रहे हैं, (इसीलिए श्रुति कहती है कि जब पुरुष श्री का भोग करता है तब उसके लिए वीणा बजती है)।

१-स्त्रियों। २-सुधा।

इस लीला में, भगवान् में स्थित श्री, जो भगवान् के श्री की कार्यरूप है वह पक्षिओं में आ गई, जिस कार्य रूप श्री से भगवान् की श्री जो कि कारण रूप है उसका ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार नदियों के ज्ञान से भगवान् के कारण रूप ज्ञान का बोध होता हैं तथा वैराग्य रूप भगवद्धर्म भी मेघ[१] में कार्य रूप से आ गया है।

जब सेवक वैसे होते हैं (सर्व प्रकार से आनन्द का ही अनुभव करने वाले होते हैं) तब श्री की पराकाष्ठा[२] होती है। ज्ञान का भी उत्कर्ष तब कहा जाता है जब ज्ञानी स्वभाव को अपने आधीन कर ले।

वैराग्य के प्रकार-१-सब पदार्थों में आसक्ति न होना यह सामान्य वैराग्य है, यदि वह अनासक्ति त्याग वाली है, अर्थात् उन पदार्थों को परार्थ दिया जाता है तो वह वैराग्य का उत्कर्ष है।

२-यदि उस वैराग्य से हरि चरण में रति हो जाती है तो वह वैराग्य भक्ति मार्गीय है, यदि उस (भक्ति मार्गीय वैराग्य) में जो हरि चरण में रति है वह (रति) सर्वस्व (अपने धन आदि) भगवान् में निवेदन युक्त है तो वह भक्ति मार्गीय वैराग्य उत्कृष्ट[३] है।

३-यदि उस वैराग्य से पुष्टि मार्गीय सेवा (भगवान् में बाल भाव आदि के कारण शीतादि निवारण पूर्वक) की जाती हो तो वह वैराग्य 'पुष्टि मार्गीय वैराग्य' है, यदि वह सेवा, प्रेमपूर्वक की जाती है तो इस पुष्टि मार्गीय वैराग्य का उत्कर्ष समझना चाहिए। इसमें भी इस वैराग्य की विशेष उत्कृष्टता तब होती है, जब हरि के दुःखों (परिश्रम) को समझकर अपना सबकुछ इस प्रकार निवेदन कर दे, जैसे प्रभु का सर्व क्लेश एवं परिश्रम नष्ट हो जाए और प्रभु सुख पूर्वक बिराजमान होकर आनन्द का अनुभव करावें इस प्रकार की सेवा करना ही सेवक को उचित[४] है, जैसे मेघों ने अपना सर्वस्व त्याग प्रभु का आतप कष्ट निवारण किया।

सुबोधिनी – तत्र प्रथमं हरिणीनां भाग्यमभिनन्दन्ति **धन्या** इति, **ज्ञानं हि क्रियाविशेषणीभूतं क्रियोत्कर्षः पूजायां सापि चेज् ज्ञानमयैर्द्रव्यैर्भगवद्विषयिणी भवति,** भगवज्ज्ञानं स्वज्ञानं च तस्याः अप्यङ्गं तदभावे सर्वं व्यर्थं यद्यन्यत्रापि तद् भवेत् तदा तदेवोत्तममितिपक्षमाश्रित्य पूर्वपक्षं व्यावर्तयन्ति **धन्यास्त्वि**ति, तुशब्देन स दोषो न ज्ञायत इत्याशङ्कां परिहरन्त्य आहु**र्मूढमतयोपी**ति, स्त्रीणामेवाभिनन्दनं प्रकरणाद्धरिणानां स्त्रियोऽत्र विवक्षिता **हरिण्यः**, सर्वत्रान्या एव वर्णयन्तीति ज्ञातव्यं, **स्वस्याकृतार्थताभावनया दैन्याविर्भावे भगवान् कृपया वर्ण्यमानसर्वसामग्रीसहितः प्रकटीभूत** इति ज्ञापयितु**मेता** इत्युक्तं, तासां भाग्ये हेतुमाहु**र्या नन्दनन्दनं** निरीक्ष्य **वेणुरणितमाकर्ण्य** भगवत्कृतैः **प्रणयावलोकैर्विरचितां पूजां** स्वस्मिन् **दधु**रिति, **या** इति, पूर्वं भगवदुक्ताः प्रसिद्धाः, नन्दमप्यानन्दयतीति **नन्दनन्दनः**, भक्तोद्धारार्थमेव ब्रह्मवाक्यात् प्रवृत्त उद्धारप्रकरणात् ता अप्युद्धरिष्यतीत्यु**पात्तः** स्वीकृतो **विचित्रो वेषो** येन, अनेन रसाभिनयार्थं प्रवृत्तो भगवानुक्तः, एवं स्वरूपतस्तत्कार्यकर्तृत्वं साधनतश्च फलमुखं कर्तृत्वमुक्तं, **विचित्र**पदेन सर्व एव

१-बादल। २-विशेष उत्तमता। ३-उत्तम। ४-योग्य।

रसाः परिगृहीताः, समीपे स्वीकारो ब्रह्मानन्दस्य तत्र प्रवेशनार्थः. **आकर्ण्ये**त्येव क्रिया वेणुरणिते भगवति चार्थतः शब्दतश्च. पशुदृष्टिर्विशेषं न गृह्णातीति शास्त्रदृष्टिरुक्ता. पश्चाज् जायमानापि प्रत्यक्षदृष्टिरन्यानुरोधिनीति विद्यमानापि सा न गणिता. तदाहा**कर्ण्ये**ति. **वेणो रणितं** सर्वरससाधारणं, यथा रसो बाह्यतो न गच्छति तथा शब्दविशेषो **रणितं**, तादृशमपि निकटे गत्वा श्रुतवत्यः, अनेन **दैहिका धर्मा निवर्तिताः**, **सहकृष्णसाराः** स्वभर्तृसहिताः, अनेन **भर्तृनिरोधोपि परिहृतः**, **सापत्न्याभावश्च** कृष्णसारा इत्यनेन, **कृष्ण** एव **सारो** येषामिति **कृष्णसाराः**, अनेन गोपास्तथा न भवन्तीति स्वस्यातथात्वं सूचितमन्यथास्माभिरपि सह गोचारणं कुर्युः, **अत एतेभिमानसारा एव धन्यास्ते कृष्णसाराः**, स्नेह-पूर्व**कावलोकनैर्विरचितां** भगवति **पूजां** धारयामासुः, नेत्राण्येव कमलानि ज्ञानवासितानि ज्ञानोद्भवस्थानानि तैः **पूजा** सर्वोत्तमा तस्याश्च धारणं ततोऽपि, कृतिरर्थादेवोक्ता. भगवता च प्रतिपूजितमात्मनि वा **दधुः**, **सदयावलोकै**रिति वा पाठः. **एतावदेव कर्तव्यं प्राणिनां भगवतश्च** ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् के ऐश्वर्यादि छ धर्मों का बोध कराने वाले हरिणी आदि छ में से, इस श्लोक में पहले हरिणियों के भाग्य की प्रशंसा करते हैं ।

ज्ञान, क्रिया (जो कर्म किया जाता है) का विशेषण (गुण) है, जो पूजा ज्ञानमय द्रव्यों के द्वारा भगवान् के सम्बन्ध वाली होती है, उस पूजा से ही क्रिया का उत्कर्ष होता है, किन्तु ऐसी पूजा के भी दो अङ्ग हैं एक भगवान् का† ज्ञान और दूसरा अपना ज्ञान, इन दोनों अङ्गों से जब क्रिया की जाती है तब वह सफल होती है । उन अङ्गों के ज्ञान के सिवाय, यदि यों ही पूजा की जाती है, तो वह सर्व व्यर्थ है । यदि यहाँ यह अङ्गज्ञान न हो, अन्यत्र हो, तो वह ही उत्तम हैं, इस प्रकार के पूर्व पक्ष का निराकरण करने के लिए मूल श्लोक में 'धन्यास्तु मूढमतयोऽपि हरिण्यः' पद दिया है । 'तु' शब्द देने का यह आशय है, कि अङ्गों का ज्ञान न होना, यह दोष, यहाँ न समझना, कारण कि, यहाँ मूढ मति वाली, अर्थात् जिनको भगवान् का अथवा अपना ज्ञान नहीं है ऐसी भी हरिणियां* 'धन्य' है । इस प्रकरण में स्त्रियों का ही अभिनन्दन[१] है, अतः

†(१) भगवान् का ज्ञान, यहाँ भगवान् के ज्ञान कहने का आशय यह है कि सेवक को सेवा करने के लिए यह ज्ञान आवश्यक है कि देश कालानुसार भगवान् को किस वस्तु की अपेक्षा‡ होगी जैसे कि शीतकाल है इसलिए रुई के वस्त्र चाहिये, उष्ण काल है महीन सूत के वस्त्र चाहिये इत्यादि ज्ञान भगवद् ज्ञान कहा जाता है यों समझकर भगवत्सेवा करनी चाहिए ।

(२) जो भी पदार्थ उत्तम है वही भगवान् के विनियोग के लिए योग्य है अर्थात् भगवान् को सुन्दर वस्तु ही अर्पण करनी यह ज्ञान सेवक के लिये अपना (सेवक पन का) ज्ञान है ।

‡भगवान् को किसी की भी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण है किन्तु तो भी भक्त द्वारा समयानुसार सर्व की अपेक्षा वाला है यही भक्ति मार्ग की उत्कृष्टता है ।

यहाँ हरिण न कहकर हरिण की स्त्रियाँ कही गई है, सर्वत्र अन्य पूर्वा गोपिकाएँ ही वर्णन करती हैं ऐसा समझना चाहिए। हरिणियों का यह भाग्य देखकर गोपीजन ने अपनी अकृतार्थता (हरिणियों जैसा भी हमारा भाग्य नहीं है इस प्रकार अकृतार्थता) समझी, जिंससे उनके हृदय में दीनता का प्रादुर्भाव हुवा, उससे यहाँ जैसा यहाँ वर्णन किया जा रहा है उन सारी सामग्रियों के सहित भगवान् इनके समक्ष प्रकट हुए यह हरिणियों को 'एता' अर्थात्, 'ये हरिणियाँ' यों मानो प्रत्यक्ष दर्शन पूर्वक वर्णन कर रही हो इससे सिद्ध होता है। वे इसलिए भाग्यवती हैं। उनके भाग्यवती होने में हेतु[२] कहती हैं, जिन हरिणियों ने नन्दनन्दन को देखकर तथा वेणुनाद सुनकर, भगवान् के किए हुए प्रेमावलोकन से की हुई पूजा को ग्रहण किया है। 'या' शब्द से यह बताया है कि १२वें अध्याय के ७वें श्लोक में 'नृत्यन्त्यमी' पदों से इन मूढ हरिणियों ने ही भगवान् की, की हुई पूजा को अपने में धारण किया, अर्थात् पूजा को ग्रहण किया वे हरिणियाँ धन्य हैं।

यह नन्दनन्दन हैं अर्थात् नन्द (जो स्वयं आनन्द रूप है उन) को भी आनन्द देने वाले हैं और ब्रह्माजी के वचनानुसार भक्तों के उद्धारार्थ प्रकट हुए हैं अतः यह प्रकरण उद्धार लीला का है; इसलिए इनका भी उद्धार करेंगे। इस कारण से हरिणियों के सान्निध्य[३] में ही विचित्र वेष धारण किया है जिससे यह कहा जाता है कि भगवान् इसके अभिनय[४] के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार भगवान् नन्दनन्दन स्वरूप से उद्धार के अनुकूल कार्य के कर्ता हैं और वेष कारण रूप साधन से फल देने वाले कर्ता हैं, विचित्र वेष धारण कर, यह बताया कि सर्व रस मैंने ग्रहण किए, अर्थात् विचित्र वेष से सर्व रस मुझ में है यह बताया है। हरिणियों के समीप वेष धारण करने का कारण यह था कि उनमें ब्रह्मानन्द प्रविष्ट हो, जिससे हरिणियां आधिदैविक बन जाए और रस स्वरूप के आनन्द ग्रहण करने के योग्य हो जाए।

'आकर्ण्य' श्रवण कर, यह सुनने की जो क्रिया है, उसको वेणु की रणकार में तथा भगवान् में अर्थज्ञान तथा शब्द ज्ञान से संयुक्त करना[५] चाहिए, इस प्रकार कहना शास्त्र दृष्टि से है शास्त्र दृष्टि से कहने का कारण यह है, कि पशु दृष्टि विशेष ग्रहण नहीं कर सकती हैं। इतना कहने का तात्पर्य यह है, कि जो सुना जाए वह कार्य रूप में लाना चाहिए, अर्थात् वेणुनाद सुनकर, अपना मन तथा इन्द्रियाँ भगवान् में एवं वेणु के रणकार में पिरो देना चाहिए।

---

*यद्यपि हरिणियों में ज्ञान नहीं है तो भी उन्होंने अपने में जो सुन्दर अङ्ग नेत्र हैं वे ही भगवान् को अर्पण किए अर्थात् उन ज्ञानेन्द्रिय रूप नेत्रों से भगवान् की पूजा की जिससे वे मूढमति होते भी वैसी सेवा कर सकी जो अन्यों ने नहीं की अतः वे धन्य हैं।

१-प्रशंसा। २-कारण। ३-समीप। ४-लीला से रस प्रकट करने के लिए।
५-जोड़ देना।

पश्चात्[१] प्रत्यक्ष हुई दृष्टि दूसरी दृष्टि के समान होते हुए भी उसको ग्रहण नहीं किया है केवल श्रवण को ही ग्रहण किया है इसलिए 'आकर्ण्य' पद कहा है। 'वेणोरणितं सर्वसाधारणं' पद कह कर यह बताया है, कि वेणु के रणकार का जो रस है, उससे अन्य सर्व रस साधारण है, 'रणित' रणकार कहने का तात्पर्य यह है, कि यह रस (सुधा रस) बाहर न चला जाए अतः इसी प्रकार के शब्द विशेष को 'रणित', अर्थात् रणकार कहा जाता है। वैसे भी 'रणकार' को समीप जाकर, सुनने लगी। इस प्रकार सुनने से देह सम्बन्धी जो धर्म (हम स्त्रियाँ हरिणियाँ) है उसको भूल गई, उस समय (वेणुनाद सुनने के समय) वे पतियों के साथ थीं, देह सम्बन्धी धर्म की निवृति हो जाने से एवं पति साथ थे इससे पतियों का निरोध (रोकना) भी मिटा दिया और साथ में सापत्न्य भाव का भी परिहार कर दिया, अर्थात् सापत्न्य भाव को भी मिटा दिया। हरिण तो कृष्ण सार हैं, अर्थात् कृष्ण के तत्त्व को जानने वाले हैं इसीलिए ये कृष्ण सार हैं किन्तु गोप कृष्ण के तत्त्व को नहीं समझते हैं इसलिए वे कृष्णसार नहीं हैं अतः गोपों में सापत्न्य भाव का अभाव है यदि अभाव न होता, तो वे गौचारण के समय हम (गोपियों) को भी साथ ले चलते जैसे हरिण हरिणियों को साथ लाए हैं किन्तु ये (गोप) अभिमानी हैं और वे कृष्णसार, हरिण धन्य हैं, अतः ये हरिणियाँ भी सर्व प्रकार धन्य हैं। कृष्णसार हरिणों की स्त्रियाँ (हरिणियां) धन्य इसलिए भी हैं जो स्नेह पूर्वक अवलोकनों से भगवान् की पूजा करने लगी, इस पूजा में नेत्र ही ज्ञान गन्ध युक्त कमल हैं उनसे की हुई पूजा सर्वोत्तम कही जाती है इस पूजा को धारण करना उससे भी उत्तम है, भगवान् ने जो उसी प्रकार प्रति पूजन (दया पूर्वक अवलोकन किया) उसको हरिणियों ने अपने अन्तःकरण में स्थिर कर दिया। भगवान् तथा प्राणियों का इतना ही कर्तव्य है, कि जीव भगवान् का प्रेम सहित दर्शन करे यह जीव का कर्त्तव्य (धर्म) है और भगवान् दया सहित दृष्टि से जीव को कृतार्थ करें यह भगवान् का कर्त्तव्य है॥ ११ ॥

आभास — अप्सरसामवस्थामाह कृष्णं निरीक्ष्येति,

आभासार्थ — इस 'कृष्णं निरीक्ष्य' श्लोक में अप्सराओं की अवस्था का वर्णन करते हैं।

श्लोकः — **कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवचारुवेषं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणु विचित्रगीतम्।**
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥१२॥

श्लोकार्थ — स्त्रियों को आनन्दित करने वाले वेष को धारण किये हुए भगवान् का अच्छे प्रकार दर्शन कर, उनकी बजाई हुई बंशी का विचित्र गीत सुनकर, विमान में बैठकर जाती हुई अप्सराओं का, कामदेव से व्याकुल होने के कारण, विवेक नष्ट हो गया, इस प्रकार मोहित[२] हो गई कि जिससे उनके गूंथे हुए केश पास से पुष्प समूह गिरते जाते हैं तथा नीवी[३] खुल गई है उसका भी ध्यान नहीं रहा॥ १२ ॥

१-पीछे। २-मूर्च्छित। ३-भीतर के नीचे के वस्त्र की गांठ।

सुबोधिनी — कृष्णपदार्थात् **स्त्रीणां निरोधः सूचितः, आनन्दे दृष्ट आनन्दसाधन आसक्त्यभावो युक्त एव,** तत्रापि **सदानन्दे,** नितरामीक्षणं दिव्यदृष्ट्या, स्वजातीयोद्धारार्थमागत इतिविशेषः, तदाहु**र्वनितोत्सवचारुवेषमिति, वनितानामेवोत्सवार्थे चारुर्वेषो** यस्य, स उत्सवो ह्यनेकविध**स्तत्तदुत्सवे ते ते भूषिता भवन्त्युत्सवरसानुभवार्थं** केवलं वनितानामें**वोत्सवो** यत्र, **वनं** यौवन**मिताः** प्राप्ताः प्राप्तवत्यः, **वनं** सञ्जातमिति वा **इतच्**प्रत्ययः, न हि तत्र प्रविष्टः पुनरावर्तते, **यौवन**मित्यत्रापि 'यु' मिश्रणार्थे **'वन'** मिति तासामेवोत्सवो भवत्विति भगवता **वेषः** कृतः **सर्वाभरणभूषिताः सर्वा एव वनिता यथावेषरसं पुरुषार्थमनुभवन्ति,** अनेनास्मिन्नुत्सवे यासामलङ्कारादिनोत्सवो न जातस्तासां **वनिता**त्वं व्यर्थमेव यथा रण्डानां तत्रापि **चारु** मनोहरमन्तरप्यलङ्कारहेतुस्तत्र प्रेमज्ञानादिकमलङ्कारा बहिरिवान्तरपि रसानुभवश्च. अनेनाप्सरसां भगवदर्थागमने सर्वोऽप्युपाय उक्तोनुभावकं ततो विलम्बेन प्रस्थापकमाह **श्रुत्वा चेति,** निकटे समागत्य पूर्ववदेव **क्वणितस्य श्रवणं,** अत्र वेण्वतिरिक्तकूजितादिक्वणितानां सङ्ग्रहार्थं तस्य भगवतः **क्वणित**मित्युक्तं, **क्वणितश्च** वेणुः, तादृशवेणावाविर्भावं प्राप्तानि **विचित्राणि गीतान्याकर्ण्ये**तिसम्बन्धः, **एकेनैव गीतेन मूर्च्छिता जाता** इत्येकवचनं, **विचित्राणि** सर्वरसार्थानि, **शृङ्गार एव सर्वे रसा इति नाट्यशास्त्रसिद्धान्तः, अन्यस्य रसत्वमेव न मन्यन्ते** यथा महान्तः सुवर्णाभरणान्येवोपकरणानि च कुर्वन्ति तथा शृङ्गार एव सर्वरसा अन्यथा रसिकानां रुचिर्नोत्पद्येत, अत एव **विचित्रं गीतं,** यद्यपि ता **देव्यो** देवतारूपा पूज्या एव तत्रापि **विमानेनैव गतिर्यासां** नापि भोग्या नापि दुःखसहनशीलास्तथापि **स्मरेणैव नुन्नः सारो** यासां, शरीरेन्द्रियापेक्षया मनो बलिष्ठमिति **स्मरेण सारो** विवेकः सर्वोऽप्यपहृतः, भूमावनागमने पद्भ्यामनागमने स्वतोऽप्यनागमने हेतव उक्ताः, ततो यज् जातं तदाहु**र्मुमुहु**रिति, न केवलमन्तरेव हृदयप्रदेशे मोहः किन्तूपर्यधश्चेति, **भ्रश्यत्प्रसूनानि कबरे** यासां विगता **नीवी** च यासामिति केशनीवीबन्धयोर्विश्लेष आमुष्मिकैहिकफलपरित्यागज्ञापकः, देवतात्वात्र मरणं **विमानगति**त्वान्नाधः पतनं विवेकाभावान्नोपायेनागमनं, **भगवदनुपयोगेऽन्यस्यापि रसो नोत्पद्यतामिति रसाभासो** वर्णितः, देवसहितानामपि प्रायेणात्रावतीर्णानां केवलानां स्त्रियस्ताः स्वपत्यन्वेषणार्थमागता भगवन्तं दृष्ट्वा पूर्वावस्थां सर्वामेव विस्मृतवत्यो भगवानेव पतिर्भवत्विति, तदास्माकं तथात्वं युक्तमेवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ — श्लोक में 'कृष्ण नाम कहने का भाव यह है, कि परब्रह्म इस स्वरूप से स्त्रियों का (कोमल हृदय वाले प्रेमी जीवों का) निरोध करते हैं। यह तो योग्य ही है, कि जब आनन्द का दर्शन हो जाता है, तब आनन्द के साधनों से आसक्ति स्वतः मिट ही जाती है, उसमें भी यदि सदानन्द स्वरूप का पूर्ण दर्शन हो जाए तो, साधनों से आसक्ति मिट जाती है, इसके लिए तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है। श्लोक में 'ईक्ष्य' देखकर इतना ही न कहकर जो 'ईक्ष्य' के 'निर्' जोड़ा है, अर्थात् 'निरीक्ष्य' कहा है जिसका भावार्थ यह है, अप्सराओं ने मनुष्याकृति का दर्शन नहीं किया, किन्तु दिव्य दृष्टि से भगवान् के उस अलौकिक रसमय स्वरूप का दर्शन किया और उन (अप्सराओं) को इससे यह विशेष ज्ञान भी हो गया कि इस स्वरूप का प्राकट्य हमारी जाति के उद्धार के लिए ही हुआ है। इस विषय (स्त्रियों के उद्धारार्थ प्रकटे हैं) को प्रमाणित करने के लिए 'वनितोत्सव चारु वेषं' वाक्य कहा है। जिस कृष्ण ने वनिताओं को आनन्द देने के लिए ही सुन्दर वेष धारण किया है, यह आनन्द देने वाला उत्सव, अनेक प्रकार का है, उस भिन्न भिन्न उत्सव में भिन्न-भिन्न उत्सव के रस के अनुभव के लिए वे अनुभव करने वाले जीव भूषित होते हैं। जहाँ केवल वनिताओं का ही उत्सव है, आचार्य श्री 'वनिता' शब्द के गुप्त भाव को प्रकट करने के लिए दो अर्थ कहते हैं कि-

१-अर्थ-'वनं इता प्राप्ताः' जो पुरुष संसार त्याग कर, भगवदानन्द रस की प्राप्ति के लिए बन में गए हैं वे 'वनिता' हैं।

२-अर्थ-'वनं यौवनमिताः प्राप्तवत्यः' जो स्त्रियाँ युवावस्था को प्राप्त हुई हैं वे 'वनिताः' हैं।

इस प्रकार अर्थ करने से यह भाव प्रकट करते हैं, कि भगवान् ने सुन्दर वेष यौवन प्राप्त स्त्रियों के लिए (जिन स्त्रियों में भगवान् की प्राप्ति की कामना उत्पन्न हो गई है उनके लिए) तथा जो पुरुष होते हुए भी भगवान् की प्राप्ति के लिए हृदय में प्रेम उत्पन्न होने से संसार त्याग वन में जाकर निवास करते हैं उनके लिए धारण किया है ।

भगवान् के इस प्रकार के सुन्दर वेष धारण करने से, स्त्रियों में काम का प्रबोध[१] होता है और पुरुषों में, स्त्री भाव की भावना उत्पन्न होती है, जिससे वे (पुरुष भी) स्त्री भाव उत्पन्न होने से, इस रसपान के अधिकारी होते हैं । जिस प्रकार भगवान् ने सुन्दर वेष धारण किया है, वैसे ही रस एवं पुरुषार्थ के अनुभव करने के लिए वनिताओं ने भी सर्व आभूषणों सहित सुन्दर वेष धारण किए हैं । जिन्होंने ऐसे उत्सव के समय भी सुन्दर वेष धारण नहीं किया है उन स्त्रियों का स्त्रीत्व विधवाओं के समान व्यर्थ है । जैसे बाहर के अलङ्कार, रस ग्रहण करने में, कारण हैं वैसे (ही) भीतर के भी, अतः रस की प्राप्ति के लिए भीतर के अलङ्कारों से अन्तःकरण को भूषित करना चाहिए वे आभूषण प्रेम और ज्ञान आदि हैं जिनसे बाहर की भाँति भीतर भी रस का पूर्ण अनुभव होता है ।

यों कहने से यह बताया, कि अप्सराओं को भगवान् के पास आने के लिए जो उपाय करने चाहिए वे उन्होंने किए हैं । अब भगवान् के पास तो आई किन्तु रस के अनुभव में विलम्ब न हो तदर्थ समीप आकर आलाप किए हुए विचित्र गीत का श्रवण किया । यहाँ 'गीत' शब्द एक वचन में इसलिए दिया है, कि एक ही गीत के श्रवण से अप्सराएँ मूर्च्छित हो गई । 'विचित्र' शब्द का भावार्थ यह है कि सर्व रस इस में ही समाए हुए हैं, क्योंकि नाट्य शास्त्र, शृंगार रस को ही, रस मानता है, अन्य रसों को रस ही नहीं मानता है; अतः यह विचित्र गीतशृङ्गाररसात्मक होने से सर्व रस इसमें समाए हुए हैं ।

जैसे महापुरुष सुवर्ण के ही आभूषण बनवाकर शृङ्गारार्थ पहनते हैं, शृङ्गार में ही सर्व रस मानते हैं, अन्यथा यदि सुवर्ण के आभूषणों से शृङ्गार न किया जाए तो रसिक[२] पुरुषों में आनन्द ही उत्पन्न नहीं होता है ।

जो कि अप्सराएँ देवता रूप होने से, पूज्या हैं इसमें भी वे विमानों में बैठकर जा रही हैं और न वे भोग के योग्य हैं तथा वे दुःख को भी सहन नहीं कर सकती हैं ऐसी अप्सराओं के भी शरीर एवं इन्द्रियों से भी बलवान मन का काम ने विवेक नष्ट कर दिया । पृथ्वी पर न आई, क्योंकि देवताएँ थीं, पैरों से न आने का कारण विमान में बैठी थी भोग्या न होने से स्वतः भी नहीं आई । इस सब के होते हुए भी गीत से वे मूर्च्छित हो गई ।

१-जागृति । २-रस को समझने वाले ।

केवल भीतर हृदय प्रवेश में मोह (मूर्च्छा) हुआ, किन्तु बाहर भी सर्वत्र मोह हुआ, जिससे केश पास के पुष्प गिरने लगे, नीवी छूट गई। इसका आन्तर भावार्थ यह है, कि इस लोक तथा परलोक के फलों का त्याग कर दिया है। देवता होने से मृत्यु भी न हुई विमान में होने के कारण नीचे गिरी भी नहीं और विवेक नष्ट हो गया था इसलिए आने में भी असमर्थ थीं।

जिस वस्तु का उपयोग भगवान् के लिए नहीं होता है, उस वस्तु में रस उत्पन्न नहीं होता है, इस सिद्धान्तानुसार अप्सराओं का उपयोग भगवान् के लिए नहीं हुआ, इससे यह सिद्ध हुआ, कि उनमें रसाभास ही उत्पन्न हुआ न कि सत्य रस उत्पन्न हुआ।

वे अप्सराएँ अपने पतियों‡ को ढूँढने के लिए निकली थीं, किन्तु भगवान् के सुन्दर वेष तथा गीत को सुनकर, वह कार्य भूल गई और मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि 'भगवान् ही हमारे पति हों' गोपीजन कहती हैं, कि जब ये अप्सराएँ भी यों चाहती हैं तो, हम भगवान् की कामना करें वह तो योग्य ही है॥ १२॥

आभास — गवां वत्सानां च चरित्रमाह गाव इति,

आभासार्थ — गाएँ और बछड़ों के चरित्र का वर्णन इस 'गावश्च' श्लोक से करते हैं।

श्लोक: — **गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीतपीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।**
शावाःस्नुतस्तनपयःकवलाःस्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाःस्पृशन्त्यः॥१३॥

श्लोकार्थ — ऊपर किए हुए कर्ण रूप दोनों से श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए वेणुगीत रूपी अमृत का पान करती हुई गाएँ तथा स्तनों से टपकते हुए दूध के कवल को मुख में धारण किए हुए बछड़े अपने नेत्र आँसुओं से भर जाने के कारण अन्तःकरण में ही श्री गोविन्द का स्पर्श करते हुए स्थित (वहाँ ही खड़े) हो गए॥ १३॥

सुबोधिनी — चकाराद् गावोपि तथा जाताः, उत्तमाधमयोर्मध्यमाभिलाषो निरूप्यते, असम्भावितत्वान्मोहः, ता हि **वेणु**मात्र आसक्तास्तथा कुर्वन्तीति**शङ्कां** परिहर्तुमाहुः **कृष्णमुखे**ति, **कृष्णमुखान्निर्गतं** यद् **वेणुगीतं**, ननु बहूनां वादने मुखादर्शन इतरवैलक्षण्यानवधाने वा कथं भगवन्**मुखवेणुगीत**मिति ज्ञायते ? तत्राह **पीयूषेति**, अमृतं हि तत्, तेन व्यञ्जकान्तराभावेपि स्वत एव ज्ञायते, सदानन्दो वाच्यो **मुखं** वागधिपतिर्निर्गमनं वाग् **वेणु**रितरविस्मारको

‡भगवदाज्ञानुसार ब्रह्मा के कहने से देवों ने यादवों में जन्म लिया था, किन्तु देवों ने योगियों के समान अन्य रूप से जन्म लिया है, अतः वे देव उस रूप में वहाँ (स्वर्ग में) हैं।

गीतं षड्गुणात्मकमत: सर्वा सामग्री वक्तुमेतावदुक्तं, अन्यथा 'कृष्णगीतपीयूष' मित्येव वदेयु:, इतरगीतपीयूषनिवृत्त्यर्थं **कर्णानामुत्तम्भनं,** प्रतिक्षणं नूतनकर्णत्वात् प्रत्येकपक्षेपि बहुवचनं सङ्गच्छते, पुटशब्देन तदर्थमेव कर्णसम्पादनमिति, ज्ञापितं न हि पर्णपुटे पुन: कार्यान्तरं भवति चषकादिकं तु बह्वर्थं भवेत्, पुटानां बहुत्वं प्रतिक्षणं नूतनरसतां बोधयति, व्यवस्था तु पूर्वोक्तैव, **शावा** बालका हरिणादीनामन्यजीवानां वा गवामेव वा, अतिबालका घोषे वा, **स्नुतं स्तनात् पय:** **कवल**रूपं येषां, न तस्य पयसोऽन्त:प्रवेश:, इदं सन्दिग्धमिति प्रमाणमाहु:**स्मेति**, **तस्थुर्गाव: शावाश्च**, उभयेषामपि तथात्वे हेतुमाहु**र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकला: स्पृशन्त्य इति**, तासां न बहि:संवेदनं यतोऽन्तर्भगवन्तं **स्पृशन्ति**, तत्रापि **दृशावृत्त**चक्षुषा भगवन्तं **स्पृशन्त्य** इति न भावनामात्रं किन्त्वाविर्भूत इति ज्ञापितं, अन्यथा कथं तुल्यता स्फुरति ? बहिरदर्शने हेतुर**श्रुकला**इति, **अश्रूणां कला** यासां, **गोविन्द**पदं गवां हृदय आविर्भावे दोषाभावार्थं यतोऽयं तेषामेवेन्द्र: ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ – श्लोक में 'च' देकर यह बताया है कि गौओं की भी दशा अप्सराओं जैसी हो गई, जो कि अप्सराएँ उत्तम हैं और गाएँ अधम है, तो भी, दोनों की मध्यम अभिलाषा (सायुज्य रूपी अभिलाषा) का निरूपण करते हैं, यह अभिलाषा करनी तो, इनके लिए असम्भव सी थी, क्योंकि इनको तो मोह है और ये जो केवल वेणु में आसक्त हैं इसलिए यों करती हैं, इस प्रकार की शङ्का को मिटाने के लिए ही कहा है, कि श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए वेणुगीत रूप अमृत को पान कर अन्त:करण में गोविन्द का स्पर्श (आलिङ्गन आदि आनन्द) पाने से उसमें मग्न हो, एक स्थान पर ही खड़ी हो गई। यह वेणुगीत भगवान् के मुख से निकला है इसका ज्ञान इनको कैसे हुआ ? इस शङ्का का निवारण करने के लिए, मूल श्लोक में 'पीयूष' पद दिया है, जिसका भावार्थ यह है, कि वह गीत जिसको कर्ण पुटों द्वारा गाएँ पान कर रही हैं, वह साधारण नहीं था, किन्तु वाणी के अधिपति रूप भगवान् के मुख से निकला हुआ और जो वेणु अन्यों का विस्मारक है उसके द्वारा कर्णपुटों में आया हुआ है तथा यह गीत ऐश्चर्यादि षड्गुण वाला है, इस प्रकार सर्व सामग्री से युक्त यह अमृत रूप गीत भगवान् का ही गाया हुआ है, गौओं को यह निश्चय हो गया था। यदि यह वैसा न होता, अर्थात् सर्व सामग्री युक्त पूर्ण रूप न होता, तो केवल 'कृष्ण गीत पीयूष' पद कहते। इस गीत के सिवाय अन्य गीत 'अमृत' नहीं है, यह ही अमृत है, इसलिए गायों ने अपने कर्णों को ऊँचा किया है। 'कर्णपुटै:' बहुवचन देकर यह बताया है, कि प्रतिक्षण[१] कर्ण नए बनते हैं 'पुट' शब्द से यह कहा है कि कान इसीलिए ही है, क्योंकि पुट[२] दूसरे काम के लिए नहीं 'दोनों में' दूध पिया और उनको फेंका जाता है, फिर दूध आदि पीने के लिए दूसरे दोने लाए जाते हैं, इसी प्रकार ये गाएँ भी, इस गीत रूपी अमृत पान के लिए क्षण क्षण में, कर्णों को नवीन बनाती थीं। इससे यह भाव निकला, कि यह गीत रस भी, क्षण क्षण में नूतन बन नूतन आनन्द देता है। यहाँ श्लोक में 'शावा:' पद दिया है, जिसका अर्थ बालक होता है। वे बालक हरिणादि अन्य जीवों के अथवा गायों के हों अथवा गोकुल में जो छोटे बालक थे उनके लिए है। स्तनों से टपकता हुआ कवल रूप पय मुख में ही रहा, वा भीतर गया, यह निश्चित नहीं है, इसलिए 'स्म' शब्द दिया है। गाएँ और बालक

१-क्षण क्षण में। २-दोना।

एक ही स्थान पर स्तब्ध हो खड़े हो गए; कारण कि, उनके नेत्र आँसुओं से भर गए थे इसलिए गोविन्द भगवान् का वे अन्त:करण में ही दर्शन एवं स्पर्श करते थे, जिससे उनको बाहर किसी प्रकार से वेदना न होती थी। अन्त:करण में केवल भावना से स्पर्श आदि नहीं था, किन्तु भगवान् आविर्भूत[१] विराजमान हो गए थे यदि यों न होता तो, अपने साथ भगवान् की तुल्यता कैसी होती, अर्थात्, बराबरी का स्फुरण कैसा होता। बाहर दर्शन न होने का कारण नेत्रों में आँसुओं का भर जाना था। यहाँ श्रीकृष्ण के लिए 'गोविन्द' नाम देने का भाव यह है, कि आप गायों के इन्द्र हैं इसीलिए उनके दोषों के नाश करने के लिए आप भीतर हृदय में प्रकट हुए हैं ॥ १३ ॥

आभास – पक्षिणां श्रवणं सङ्गाभावाज् ज्ञानाभावाच्चासम्भावितं मत्वा सम्भावनानिरूपणपूर्वकमुपपादयन्ति प्राय इति,

आभासार्थ – पक्षियों के लिए वेणुगीत का श्रवण असम्भव है, क्योंकि उनको न सत्सङ्ग है और न ज्ञान है, इस शङ्का के निवारण के लिए इस श्लोक में कहते हैं, कि पक्षी, मुनि रूप होने से, श्रवण कर सकते हैं।

श्लोक: – **प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।**
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥१४॥

श्लोकार्थ – हे माता ! इस वन में जो पक्षी हैं वे बहुधा मुनि हैं, क्योंकि ये पक्षी भगवान् का दर्शन करते करते सुख से आँखों को मीचकर सुन्दर कोंपल वाली वृक्ष की शाखा रूप भुजाओं पर बैठकर सर्व प्रकार से बोलचाल बन्द कर, भगवान् के सुन्दर वेणु के गीत को सुन रहे हैं ॥ १४ ॥

सुबोधिनी – एता निर्गुणा अत एव यशोदया सह स्नेहस्तद्गृहकन्यका **वा, यथा गवां धनस्य रत्नानां सङ्ग्रह एवमेवोत्तमकन्यकानामपि, द्रव्येण क्रीतास्ता गृहे परिपाल्यन्ते राज्ञां दानार्थे,** ता यशोदानन्दगोपकुमारिका **अम्बे**त्याहु:, सिद्धवन्निरूपणे का एता इतिसन्देहो भवेदत: **प्राय** इत्याहु:, **प्राय:** प्रायेण, **बत** इति खेदे कथमेतादृशीं योनिं प्राप्ता इति, हर्षे वा साधु तैरयमुपाय: कृत इति, **अम्बे**तिसम्बोधनं दयार्थं, भगवदाविर्भावादिति केचित्, अतस्तासां वाक्याद् **विहगा मुनय** एव बाहुल्येन, ते हि **मुनयो** मननशीला जानन्त्यत्र भगवानाविर्भविष्यतीति, अत **एवास्मिन् वने कृष्णेक्षणा: कृष्णार्थमेव क्षणो** येषां **कृष्ण** एव **वेक्षणं येषां,** भगवन्तं पश्यन्त एव **तदुदितं कलवेणुगीतं द्रुमभुजानारुह्य शृण्वन्ति** यावद् भगवतो वेणुनादो न श्रुतस्तावद् रूपमेव पश्यन्त: स्थिता यदा पुनर्वेणुनादमारब्धवांस्तदोभयं कृतवन्तो यदा पुनस्ततो भगवान् दूरे गतस्तदोड्डीयान्यत्रगमने वेणुनादरसो गमिष्यतीति तत्रैव स्थिता: कदाचित् स रसो रसान्तरमुत्पादयिष्यति रसान्तरेण वा प्रतिबन्धो भविष्यतीति नाशङ्कनीयं यत:कलमव्यक्तमधुरं **वेणुगीतं,** ततो भगवत: सकाशादु**दितं** नादब्रह्मात्मकं वेणुरप्यव्यक्तमधुरस्ततो मधुर **एव** रस उत्पद्यत इति, **गीतं**

१-प्रकट।

वा भगवदुक्तपरमार्थप्रतिपादकं तदा **तदुदितमितिविशेष्यं,** वेदशाखा इव **द्रुमभुजानारुह्य** पतनमारणादिशङ्काभावान् निश्चिन्ताः **शृण्वन्ति,** मनसो विषयान्तरसञ्चाराभावाय भगवति दूरं गते दर्शनाभावान् मननाभ्यासाच्च **मीलितदृशो** जाताः, विशेषेण **गता या अन्य**विषयिका **वाचो** येभ्यः, भगवदुपयोगि-वागत्यागज्ञापनायान्यपदं, एतच्च सार्वदिकमिति ज्ञेयं, अन्यथा श्रवणकाले वाचस्तत्प्रतिबन्धकत्वेनैवाभावः सिद्ध इति तदुक्तिर्निरर्था स्यात्, तथा च सदैतद्रसानुभवो हृदीति ज्ञापितं भवति, एतेना**स्य नादस्यालौकिकत्वं दुर्लभत्वं चोच्यते, न हि मुनीनामतादृशेऽर्थे आसक्तिः सम्भवति,** तेषां शरादिभयाभावार्थमाह **रुचिरप्रवाला**निति, पल्लवा उत्तमाः कोमलपत्राण्याम्रादिस्थितानि दृष्टिमुद्रणेऽपि हेतुरन्यथा प्रवालदर्शनं स्यान् मुखमुद्रणेपि हेतुरन्यथा तेषां भक्षणं स्यात्, कोलाहलश्च सम्भवति शकुनभाषणमन्योन्यं पदार्थनिरूपणं वा ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ – हे माता ! यशोदाजी को प्रेम पूर्वक हे अम्ब ! हे माता ! कहने वाली ये गोपियाँ निर्गुण हैं । हे माता कहने से यशोदाजी में अपना प्रेम प्रदर्शित किया है । मनुष्य जिस प्रकार गाएँ, रत्न और धन का संग्रह करते हैं वैसे (ही) पूर्वकाल में उत्तम, कन्याओं का भी संग्रह करते थे । पैसा देकर भी कन्याएँ खरीदते थे, वे कन्याएँ इसलिए खरीदते थे, जो राजाओं को भेट स्वरूप कन्याएँ देनी पड़ती थीं । यशोदा के घर की कन्याएँ वा खरीदी हुई वे निर्गुण कन्याएँ यशोदाजी को कहती हैं, कि हे माता ! ये पक्षी बहुत करके मुनि हैं । 'बहुत करके' इस पद कहने का भाव यह है, कि कोई यों कह दे कि ये कौन है ? जो कहती हैं, कि ये पक्षी मुनि हैं इसलिए 'बहुत करके' ये शब्द कहे हैं । 'वत' शब्द कहने का भाव यह है, कि हमको दुःख है, कि 'मुनि' होकर, ये 'पक्षी' कैसे हुए हैं ? अथवा 'वत' पद हर्ष का सूचक है, क्योंकि मुनियों ने यहाँ वृन्दावन में इस गीत रस के पान तथा नाद श्रवण के लिए यह पक्षी रूप धारण किया है, वह अच्छा किया है । 'अम्ब' यह शब्द कुमारिकाओं ने दया प्रकट करने के लिए कहा है । किन्हीं टीकाकारों की राय है, कि यह सम्बोधन यशोदा से भगवान् का आविर्भाव हुआ है इसलिए वह माता है; तदर्थ 'अम्ब' कहा है, अतः इन निर्गुण गोपीजन के कहने से ज्ञात होता है, कि ये पक्षी बहुधा मुनि होने से मननशील हैं । मनन[१] करने वाले हैं इसी कारण से इन्होंने समझ लिया है, कि 'यहाँ भगवान् प्रकटेंगे' उसके लिए कृष्ण के दर्शनार्थ ही जिसका क्षण[२] है, ऐसे ये भगवान् के दर्शन करते हुए, उनके किए हुए वेणुनाद को वृक्ष रूप भुजाओं पर बैठकर सुनते हैं, जब तक वेणुनाद नहीं सुना था, तब तक भगवान् का दर्शन नहीं करते थे । जब वेणुनाद प्रारम्भ हुआ दोनों कार्य करने लगे, अर्थात् नाद भी सुनते थे और दर्शन भी करते थे । जब भगवान् दूर पधारते, तो भी, वहाँ से आप, अन्यत्र[३] नहीं जाते, क्योंकि, अन्यत्र जाने पर वेणुनाद का रस चला जाएगा इसलिए वहाँ ही स्थित रहे । यदि किसी को यह शङ्का हो, कि यह (वेणुनाद) दूसरे रस को उत्पन्न करेगा, तो दूसरे रस के उत्पन्न होने से, इस रस में प्रतिबन्ध हो जाएगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि यह वेणुगीत, साधारण गीत नहीं है, यह तो वह गीत है जिसमें छुपा हुआ स्थिर मधुर रस है जो बदलता नहीं है और भगवान् से उदित[४] नाद ब्रह्म रूप वेणु भी अव्यक्त[५] मधुर है उस नाद ब्रह्मरूप अव्यक्त मधुर वेणु से, मधुर रस और मधुर गीत ही

१-विचार । २-समय । ३-दूसरी जगह । ४-उत्पन्न हुआ । ५-अप्रकट ।

प्रकट होता है, वह उद्भुत मधुर गीत परमार्थ को प्रतिपादन करने वाला है । जैसे मुनिगण वेद की शाखाओं का आश्रय करने से निश्चिन्त होते हैं, वैसे (ही) ये मुनि रूप पक्षी भी, इन वेदात्मक वृक्ष की भुजा रूप शाखाओं का आश्रय कर रहे हैं, जिससे वे पतन मरणादि भय से निश्चिन्त हो, इस प्रकार के वेणुगीत का श्रवण कर रहे हैं । मन दूसरे किसी भी विषय में न जाए तथा भगवान् के दूर जाने पर, उनके दर्शन न होंगे, अतः इन मुनि रूप पक्षियों ने अन्तःकरण में मनन और अभ्यास करने के लिए आँखें मूँद ली हैं तथा वाणी से भी कोई अन्य विषय (जिससे भगवत्सम्बन्ध न हो वैसा) न बोला जाय इसलिए बोलचाल बन्द कर दी है । पक्षी रूप मुनियों की यह कृति[१] सदैव की है । यदि सुनने के समय बोला जाय तो सुनने में प्रतिबन्ध[२] हो और उसकी उक्ति निरर्थक[३] हो जाय । अतः पक्षीगण उपर्युक्त प्रकार से (मीलित नेत्र और मूक) हो गए, जिससे यह सिद्ध किया है, कि सदा इस रस को हृदय में अनुभव कर रहे हैं । इससे इस वेणुनाद का अलौकिकपन तथा दुर्लभ होना बतलाया है । यदि वेणुनाद वैसा न होता, तो मुनि रूप पक्षियों की इसमें आसक्ति न होती । उनकी इन गुणों से रहित पदार्थ में, आसक्ति नहीं होती है । 'रुचिर प्रवालान्' पद का भावार्थ कोई टीकाकार यों कहते हैं, कि इन सुन्दर पल्लवों से इनके शरीर आच्छादित हैं, अतः इनको शर[४] आदि का भय नहीं है । ये पल्लव सुन्दर हैं इनकी सुन्दरता के कारण हमारी दृष्टि इनको देखना चाहेंगी तो भगवत्दर्शन में रुकावट होगी इसलिए नेत्र मूंद लिए हैं । नेत्र मूंदने में यह भी एक कारण है तथा मुख के मूँदने में भी एक प्रकार से ये पल्लव भी कारण है क्योंकि मुख खुला होगा तो इनके भक्षण का सम्भव होगा, इसके सिवाय मुख को मूंदने का और यह भी कारण है कि यदि मुख खुला रखेंगे तो पक्षी स्वभाव से, शब्द निकल जाएँगे कोलाहल होगा अथवा आपस में बोलचाल करने लगेंगे ॥ १४ ॥

आभासा — भगवद्वेणुनादेन नद्यादिषु जातमाह नद्यस्तदेति,

आभासार्थ — भगवान् के वेणुनाद से नदीयों में जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'नद्यस्तदा' श्लोक से करते हैं-

श्लोकः — **नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।**
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ — उस समय नदियाँ भी मुकुन्द भगवान् के गीत का श्रवण कर काम के उद्दीपन से नष्ट वेग वाली हो गई, जिससे उनमें होने वाले पानी के भँवर स्थिर हो गए । कमल रूपी उपहार को ली हुई वे (नदियाँ) आलिङ्गन के लिए भगवान् के दोनों

१-प्रयत्न वा कर्तव्य । २-रूकावट । ३-बिना अर्थ वाली, व्यर्थ । ४-व्याधों के तीर ।

चरण जब स्थिर हो गए, तब अपनी ऊर्मि[१] रूप भुजाओं से उनको ग्रहण करती हैं ॥ १५ ॥

सुबोधिनी – यदा मुनयो भगवतानुगृहीता वेणुद्वारा सर्वं तत्त्वं ज्ञातवन्तस्तदा **नद्योपि** वयमपि कृतार्था भविष्याम इति **तदुपधार्य** मुनीनां ज्ञानोपदेशं निश्चित्य तत् प्रसिद्धं मोक्षदातुर्गीतं श्रुत्वा**वर्तेन** भ्रमणेन मूर्च्छया **लक्षितो** योऽयं **मनोभवस्तेन** स्तम्भजनकेन **भग्नो वेगो** यासां, स्वाभाविकी गतिः कुण्ठिता, **मनोभवोत्र** विवेकः, अचेतनप्रायाणामपि भगवत्सम्बन्धाकाङ्क्षेत्याहुः, न स्थितिमात्रेण तदासक्ति-र्भवत्यौषधादिनापि तथा सम्भवादत **आहालिङ्गनार्थं स्थगितं** स्थिरीभूतं भगवतः **पादयुगलं कमलोपहाराः** सत्य **ऊर्मिस्तैर्भुजैर्गृह्णन्ति, स्वहृदयकमलं भगवच्चरणारविन्दे दत्वा तत् स्वयं गृह्णन्ति**, नदीनामपि देवतात्वात् ताभिः सह नान्या लीला सम्भवत्यत आलिङ्गनार्थमेव स्थितिः, प्रयोजनार्थमुक्तं **मुरारेरिति**, **मुरो** हि जलदोषात्मका-विद्यारूपस्तस्यारित्वादवश्यं चरणसम्बन्धे नदीगतामविद्यां नाशयिष्यति ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ – जब भगवान् ने मुनियों के ऊपर अनुग्रह किया जिससे वेणु द्वारा उन्होंने भगवत्स्वरूपात्म रस तत्त्व को जान लिया, तब नदियों ने समझा कि हम भी इस प्रकार कृतार्थ हो जाएँगी यों जान कर और मुनियों के ज्ञानोपदेश का निश्चय कर, मोक्ष देने वाले का वह प्रसिद्ध गीत सुन कर, जल के भ्रमण (भँवर) अथवा मूर्च्छा से प्रतीत होने वाला, यह उद्भूत काम, जिसने नदियों† का वेग बन्द कर दिया है जो कि वेग स्वाभाविक है तो भी इससे (काम से) वह (वेग) बन्द हो गया, जिससे नदियाँ स्तब्ध हो गई हैं, किन्तु यहाँ यह 'मनोभव' विवेक वाला* है (अप्सराओं के समान अविवेक वाला नहीं है) चेतन प्राणियों को तो भगवान् से सम्बन्ध होने की इच्छा हो यह युक्त है अर्थात् वैसा बन सकता है, किन्तु यहाँ वह अभिलाषा अचेतन प्राणियों में भी उत्पन्न हुई है यह यहाँ विशेषता है। नदियों का वेग रुक गया, अर्थात् नदियाँ स्थगित[२] हो गई यह स्थिर होना आसक्ति का कारण नहीं है। क्योंकि, स्थिरता तो औषधि आदि से भी हो सकती है, किन्तु यहाँ की स्थिरता औषधादि से नहीं हुई है इसकी स्थिरता में भगवान् से मिलने की इच्छा कारण है, अतः इनकी आसक्ति का कारण भी भगवान् से मिलना है, अतः आलिङ्गन[३] के लिए स्थिर भगवान् के चरणयुगल कमल रूप भेट करती हुई नदियाँ उनको (चरण

†व्रज में नदी एक ही श्री यमुनाजी है, फिर 'नद्यः' नदियाँ बहुवचन क्यों दिया है इसका आशय यह है कि केवल श्री यमुनाजी का वेग नहीं रुक गया था किन्तु झरणें आदि भी स्तब्ध हो गए थे इसलिए 'नद्यः' बहुवचन देकर यह बताया है कि नदी, सरोवर, झरणें आदि की भी ऐसी दशा हो गई थी। - **योजना**

*यदि विवेकवाला मनोभव न होता तो नदियाँ भी अप्सराओं के समान मिल नहीं सकती थीं किन्तु वे भगवान् के समीप आ सकी।

१-लहर। २-स्थिर। ३-मिलन।

युगल को) अपनी उर्मि रूप भुजाओं से[१] ग्रहण करती हैं। अपना हृदय रूपी कमल भगवान् के चरणारविन्द में अर्पण कर वह (चरणारविन्द) स्वयं ग्रहण करती हैं। अर्थात् हृदय अर्पण कर, उनमें चरणों को स्थापित करती हैं। नदियाँ भी देवता हैं उनसे अन्य प्रकार की लीला नहीं हो सकती है, इसलिए मिलने के लिए भगवान् ने स्थिति की है, यों स्थित होने का कारण यह है, कि आप, मुर दैत्य, जो जल में दोष रूप अविद्या हैं, उसका शत्रु (नाश कर्त्ता) हैं, इसलिए नदी से चरण सम्बन्ध कराके, नदी की अविद्या का नाश किया। इसलिए मूल श्लोक में, भगवान् का दूसरा नाम मुरारि कहा है, 'मुकुन्द' नाम से पुष्टि मार्गीय मोक्ष दाता बताया है ॥ १५ ॥

आभास — मेघानामाहुर्दृष्ट्वेति,

आभासार्थ — इस 'दृष्ट्वातपे' श्लोक में मेघों की दशा तथा उनके कार्य का वर्णन करते हैं -

श्लोकः — **दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सह रामगोपैः सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् ।**
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ — धूप में बलरामजी और ग्वाल बालकों के साथ व्रज के पशुओं को चराते हुए एवं वेणुगीत गाते हुए अपने मित्र श्रीकृष्ण का दर्शन कर प्रेम से प्रवृद्ध[२] हुए मेघ ने अपने शरीर से उन पर छाया की तथा पुष्पों की (बूँद रूप पुष्पों की) वर्षा की ॥ १६ ॥

सुबोधिनी — **आतपे** शरत्कालसम्बन्धिनि **व्रजपशून्** सर्वदाछायाभ्यासयुक्तान् सर्वदा रक्षका **गोपा** अभितो रतिवर्धको **राम** एतैः सहितमेतैर्वा **सञ्चारयन्तं** सर्वसामग्रीसहितं देवतावेदसहितं धर्मसहितं **तदनु वेणुमुदीरयन्तं** सर्वेषामाधिदैविकानुद्दीपयन्तं, **सर्वशक्तिसहितो हि ताभिः सह क्रीडति** तदावश्यं छायापेक्षितेति **प्रेम्णा** भगवत्स्नेहेन सख्यपर्यन्तं गतेन तादृशेन **प्रवृद्धो मेघः स्ववपुषा सख्युरातपत्रं व्यधात्, प्रवृद्धमुदित** इतिपाठे **प्रवृद्धश्चासौ मुदितश्च, प्रेम प्रवृद्धं** यथा भवति तथा **वोदितः,** अतः **कुसुमावलीभिः** सूक्ष्मस्वकणिकाभि "मेघपुष्पं घनरस" इतिकोशात्, पूर्वमनेन सख्यपर्यन्तं भक्तिः कृतेदानीमात्मनिवेदनं कृतवान्, प्रेम्णैव प्रवृद्धः श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तमागतः स्नेहवशाद् वा स्थूलो जातः, **कामरूपिणस्ते यथाभिलषितं रूपं कुर्वन्ति,** प्रकृते भगवत्स्नेहाद् यथाभिलषितं रूपं कृतवान् यावता सर्वेषां छाया भवति, ननु स्वस्यापि **क्लेशो** भवतीति किं दुःखेन तथा कृतवान्? नेत्याह **मुदित** इति, **यावज्जन्म यो भक्त्यैव वर्धते सोऽन्ते कृतात्मनिवेदो भवति,** लोकोपकारित्वान् नीलत्वाज् जीवनदातृत्वाच्च

१-हस्तों से। २-विशेष बढ़े।

सख्यमिति केचित्, सर्वस्वमपि दत्तवानिति ज्ञापयितुं कुसुमावलीभिः सहेत्युक्तं, अनेन साक्षाल्लक्ष्म्या सह भगवतः क्रीडा सूचिता, अत एवाग्रे पुलिन्दीनां स्तोत्रं भविष्यति, गोपैर्गोचारणं बलभद्रेण रक्षा वेणुनादेन प्रबोधनं पश्चाद् रमणमिति शेषवदस्यापि सखित्वात् तादृशेऽपि समये छायाकरणं युक्तमेव ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ – जो पशु सदा छाया में रहने के अभ्यासी हैं, जिनके रक्षक गोप हैं तथा जिनमें प्रेम बढ़ाने वाले राम हैं, इन गोप और बलराम के साथ आप अथवा इन (गोपों) के द्वारा‡ शरद् ऋतु वाली धूप में व्रज के पशुओं को सर्व सामग्री (देवता, वेद और धर्म) सहित चराते हुए और वेणु बजाकर सर्व के आधिदैविकों का उद्दीपन करते हुए, सर्व शक्तियों सहित, आप उनसे क्रीड़ा करते हैं, उस समय धूप के कारण, छाया अवश्य चाहिए, यह समझकर, जिस मेघ ने भगवान् में स्नेह होने से, सखा भाव की भक्ति सिद्ध कर ली है, उस मेघ ने विशेष प्रकार से, बढ़े हुए शरीर को अपने मित्र पर छाता बना लिया, इस श्लोक के मूल पाठ में 'प्रेम प्रवृद्ध उदितः' और 'प्रेम प्रवृद्ध मुदित' इस प्रकार दो भेद हैं, 'प्रेम प्रवृद्ध उदित' का भावार्थ ऊपर दे दिया है, अब 'प्रेम प्रवृद्ध मुदित' पाठ से इस प्रकार आचार्य श्री ने दो अर्थ बताए हैं - १ – प्रेम से बढ़ा हुआ तथा आनन्द को प्राप्त हुआ मेघ, २ – ज्यों ज्यों प्रेम बढ़ता है, वैसे (ही) आप (मेघ) बढ़ता है ऐसे मेघ ने मित्र पर छाया करने के लिए छत्र रूप धारण किया । मेघ ने यहाँ तक तो सख्य भक्ति की थी, इससे आगे बढ़ कर अब आत्म निवेदन करने लगा है, जैसे कि अपने सूक्ष्म कणिका रूप पुष्प प्रभु को अर्पण कर आत्मनिवेदन किया है । धन रस (बादलों के सूक्ष्म कण) को कोष में, मेघ पुष्प कहा गया है, अतः मूल श्लोक में 'कुसुमावलीभिः' कहा हैं । मेघ प्रेम से बढ़ा इसका भावार्थ यह है कि मेघ श्रवण भक्ति से लेकर सख्य भक्ति तक बढ गया, अथवा स्नेह के कारण स्थूल हो गया । बादल काम रूपी होते हैं, अतः अपनी इच्छानुरूप रूप बना सकते हैं । चालू प्रसङ्ग में भगवान् में स्नेह होने के कारण, अपना वैसा इच्छित रूप बनाया, जिससे सब के (भगवान् गोप गौ आदि के) ऊपर छाया हो सके । ऐसे रूप बनाने और छाता रूप बनने में, मेघ को भी कष्ट हुआ होगा तो कष्ट प्रद कार्य मेघ ने क्यों किया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'मुदितः' पद दिया है जिसका भावार्थ यह है कि उस (मेघ) को कष्ट तो नहीं हुआ, किन्तु इससे आनन्द ही हुआ । जन्म से लेकर जो भक्ति[1] से बढता रहता हैं वह अन्त में आत्मनिवेदन कर ही देता हैं ।

‡भगवान् लीला में क्रिया शक्ति रूप गोपों को तथा ज्ञान शक्ति रूप बलरामजी को रखते हैं । क्रिया शक्ति रूप गोपों से 'गौ चारण' आदि क्रिया करवाते हैं और ज्ञान शक्ति रूप बलरामजी से लीला में प्रतिबन्ध करने वाले राक्षसों को पहचान कर उनका नाश करना आदि कार्य करवाते हैं-प्रतिबन्ध निवृत्त करवाकर फिर आप श्रीकृष्ण भक्तों के साथ स्वच्छन्द क्रीड़ा करते हैं । इस प्रकार दोनों (क्रिया तथा ज्ञान) शक्तिओं को साथ में रखने का प्रयोजन समझना चाहिये । – **योजनाशयः**

१ – प्रेम ।

कितने ही टीकाकार कहते हैं, कि मेघ की भगवान् से मित्रता इसीलिए हुई है, कि मेघ में भी भगवान् जैसे तीन गुण, (लोकोपकार करना, नील वर्ण, जीवन[१] देना) हैं, अतः समान शील गुण वालों में मित्रता होती ही है। मेघ ने अपने रस मय सूक्ष्म कण रूप पुष्पों द्वारा अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पण कर दिया, जिससे यह बताया, कि भगवान् साक्षात् लक्ष्मीजी से क्रीड़ा कर रहे हैं इसी कारण से आगे पुलिन्दियों की स्तुति की जायगी (गोपीजन भीलनियों की प्रशंसा[२] करेगी)।

भगवान् ने, गोपों से गौ चराई, बलभद्र से रक्षा कराई, वेणुनाद से प्रबोधन[३] कराई, इसके अनन्तर रमण किया, शेष के समान, मेघ भी जो मित्र है, उसको भी ऐसे समय में छाया करनी योग्य ही है ॥ १६ ॥

आभास – वनवासिक्षुद्रजातीयाः पुलिन्दास्तेषाँ पत्न्यः पुलिन्द्यः,

आभासार्थ – इस 'पूर्णाः पुलिन्द्यः' श्लोक से कहते हैं कि वन में रहने वाले क्षुद्र[४] जाति वाले भील तथा उनकी स्त्रियों में भी भगवान् की समीपता के कारण भक्ति उत्पन्न हुई –

श्लोकः — **पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥ १७ ॥**

श्लोकार्थ – भगवान् के केवल दर्शन ही काम से व्याकुल हुई पुलिन्दियों (भीलों की स्त्रियों) ने लक्ष्मीजी के स्तनों के आभरण रूप कुङ्कुम भगवान् के चरण कमलों द्वारा तृणों पर लगा हुआ था उसको अपने मुख और स्तनों पर लेप करने से अपनी आधि (काम से उत्पन्न दुःख) को दूर किया अतः वे पुलिन्दियाँ पूर्ण हैं ॥ १७ ॥

सुबोधिनी – भगवन्नैकट्यात् तासामपि भक्तिर्जातित्याह **पूर्णा** इति, सर्वा पेक्षया **पुलिन्द्य** एव **पूर्णाः**, तासां साक्षाद्भगवच्चरणारविन्दरजस्सम्बन्धो वर्तत इति, **उरुभिर्गीयत इत्युरुगायो** भगवान् सर्वप्रमाणसिद्धः सर्वगुणपूर्णस्तस्य **पदाब्जं** चरणारविन्दद्वयं तत्र यो रागस्तत्सहिता **श्रीः**, महता विचारेण हि लक्ष्मीर्भगवन्तं वव्रे, तच्चरणारविन्दभक्ता या लक्ष्मीस्तस्या यत् **कुङ्कुमं** तयैव निष्पादितं दिव्यं **कुङ्कुमं**, अर्थात् तयैव .. च्चरणारविन्दे दत्तं तत् पुनर्बन्धविशेषे लक्ष्म्या एव **दयिताया** रसदातृत्वेन प्रियायाः **स्तनयोर्मण्डितं** तया वा स्वहृदि स्थापितं, अथ वा लक्ष्म्या दत्तमाधिदैविकीषु शक्तिषु **स्तनेषु मण्डितं** ततश्चरणारविन्दे समागतं, अथ वा **तृणरूषितेन** तृणेन कृत्वा **कुङ्कुममेव** मकरिकापत्रवद् **रूषितं** तदा तत् **कुङ्कुमसहितं तृणं** भगवद्धस्तस्थितं भूमौ पतति, **तृणेषु** वा **रूषितं** संलग्नं चरणारविन्दात्, तादृशस्य

१ - प्राण। २ - बड़ाई। ३ - जागृत्ति। ४ - नीच।

कुङ्कुमस्य दर्शनेन लक्ष्म्या ताभिर्वा सह भगवत्सम्भोग-**दर्शनेन** वा **स्मर**कृता रुग्यासां ता**स्तद्दर्शनस्मररुजः**, तदा तच्छान्त्यर्थ**माननकुचेषु कुङ्कुमेन लिम्पन्त्यस्तदाधिं जहुः**, तत् कुङ्कुमं मुखे स्तनयोश्च दत्वा ता अपि यदोपस्थितास्तदा तद्द्वारा लक्ष्मीप्रवेशात् ता अप्युपभुक्ता-**स्तदाधिं जहुरतस्ताः पूर्णाः**, इयमलौकिकी भगवत्कथा, उरुगायेति वचनात् ताभिरपि भगवान् श्रुत इति लक्ष्यते, एतद् वनगमने भवतीत्यस्माकं तदभावादपूर्णत्वमिति कामस्तु वस्तुतो मनःपीडारूपः ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ – सर्व की अपेक्षा पुलिन्दियाँ ही पूर्ण हैं (भाग्यशाली हैं) क्योंकि उनको सदैव साक्षात्[१] भगवान् के चरण कमलों की रज का सम्बन्ध है । सर्व प्रमाणों से सिद्ध और सकल गुणों से परिपूर्ण, जिनके गुणों का बहुत भक्त गान करते हैं, वैसे उरुगाय भगवान् के युगल चरण कमलानुरागी लक्ष्मीजी ने जिनका महान् विचार के अनन्तर वरण किया है । भगवान् के चरणारविन्द की लक्ष्मीजी ने दिव्य कुङ्कुम सिद्ध[२] कर, भगवान् के चरणारविन्द में अर्पण किया[३]। वह ही कुङ्कुम पुनः रसदान के समय जब बन्ध विशेष हुआ तब लक्ष्मीजी के स्तनों पर सुशोभित किया गया (होने लगा) अथवा उस (लक्ष्मीजी) ने ही अपने हृदय में स्थापित[४] किया । अथवा श्री लक्ष्मीजी ने वह कुंकुम आधिदैविक शक्तियों के स्तनों पर अलङ्कृत किया[५] उनसे वह (कुंकुम) भगवान् के चरणारविन्दों में आया । (लगा) अथवा तृणों के कारण वह कुंकुम मकर[६] के समान आकृति वाला हो गया और वे तृण भगवान् के हाथ में आ गए, किन्तु हाथ से भूमि पर गिर गए । अथवा भगवान् के चरणारविन्द में लगा हुआ कुंकुम पृथिवी पर पदार्पण के समय तृणों को लग गया ।

वैसे कुंकुम को देखकर अथवा लक्ष्मीजी की शक्तियों से भगवान् का किया हुआ भोग देख कर जब पुलिन्दियाँ विशेष काम पीड़िता होने लगी, तब उस काम से उत्पन्न पीड़ा को मिटाने के लिए उन्होंने स्वयं उस कुंकुम को अपने मुख तथा स्तनों पर लेप कर दिया ।

उस लेप करने से इन (पुलिन्दियों)की काम पीड़ा इसलिए निवृत्त हो गई, जो इस लेप से पुलिन्दियों में लक्ष्मी का आवेश आ गया जिससे वे, भगवान् के उपभोग की पात्र हो गई । अतः भगवद्भोग से उनका काम शान्त हो गया और उससे उद्भूत पीड़ा भी नष्ट हो गई । इसलिए वे पुलिन्दियाँ पूर्ण हैं । यह भगवान् का चरित्र अलौकिक है । भगवान् का नाम 'उरुगाय' देने का यह भी भावार्थ है कि इन्होंने भी भगवान् का श्रवण किया है । यह सर्व वन में रहने से होता है, गोपियां कहती हैं, कि वह तो हम लोगों में है नहीं इसलिए हम अपूर्ण हैं । 'काम'तो वास्तविक मन की पीड़ा (आधि) रूप है । वह आधि' उपभोग से शान्त हो गई, जैसे अन्न के भोजन से भूख की निवृत्ति होती है ॥ १७ ॥

---

१ - प्रकट-सामने । २ - तयार । ३ - लगाया एवं दिया । ४ - धारण ।

५ - भूषण की भाँति लगाया । ६ - मगर मच्छ ।

आभास — निर्गुणा आहुर्हन्तेति,

आभासार्थ — 'हन्तायमद्रिरबला' यह श्लोक निर्गुण गोपीजन कहती हैं ।

श्लोक: — **हन्तामयद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।**
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ — गोपीजन अन्य गोपीजन को कहती हैं कि हम अबलाएँ हैं । अतः हे अबलाओं ! खेद है, कि जैसे राम कृष्ण के चरणारविन्द के स्पर्श से यह गिरिराज आनन्दित हुआ है वैसे हम नहीं हुई हैं, यह गिरिराज गौ गण सहित श्रीराम कृष्ण का जल, घास, कन्दरा कन्द मूल आदि से सत्कार कर रहा हैं, इसलिए भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ॥ १८ ॥

सुबोधिनी — कथं पुलिन्द्य एतादृश्यो जाता इत्याशङ्कायां भगवद्भक्तसङ्गात् तथात्वं जातमिति गोवर्धनस्य भगवद्भक्तत्वमाहुर्हन्तेति खेदे यद्यस्माभिरपि गोवर्धने स्थितं स्यात् तदास्माकमपि तथा भवेत् तदभावात् खेदः, **अयमद्रिर्गोवर्धनो हरिदासानां** मध्ये **वर्यः,** तत्र हेतुर्**यद्** यस्मात् कारणाद् **रामकृष्णचरणारविन्दस्पर्शे** प्रकृष्टोमोदो यस्येति, **स एव भगवदीयेषु श्रेष्ठो यो भक्तिमार्गस्य स्पर्शेऽप्यानन्द-युक्तो भवति, किञ्च सात्त्विकोयं गुणातीतो वातो निर्धनोथापि तयोर्मानं करोति सहगोगणयोः,** गावश्च **गणा** देवरूपा बालकाश्च, **तयोः पानीयसूयवसकन्दर-कन्दमूलैश्च**तुर्भिरातिथ्यं करोति, **पानीयसूयवसे** गवां कन्दरा स्थानं, **कन्दमूलानि** भक्ष्याणि, "तृणानि भूमिरुदक" मितिवाक्याच् चतुष्टयसम्पत्तिरुक्ता, तत्र कोमलदूर्वा गवां भक्षणार्थेऽन्येषामास्तरणार्थे चोपयुज्यन्ते, भूमिः कन्दरैव, प्रायेणेदानीं वर्षतीति लक्ष्यते, वाक्स्थाने **कन्दमूलानि,** सर्वाभावे वाचो गणना, **सन्तोषो भक्तस्याधिकः, अबला** इतिसम्बोधनं, सर्वासामप्यस्माकं तत्र गमने सामर्थ्याभाव उक्तः, **कन्दा** भर्जनसापेक्षा **मूलानि** तु तथैव भक्ष्याणि, एकरसाभावाय चोक्तमत्रव्यञ्जनभावार्थं वा, तत्राप्यवान्तरभेदा बहव इति बहुवचनं, अनेनाबलास्वाक्रोशोपि प्रदर्शितो या नवनीतादिभक्षणे विमनस्का जाताः, अतो युक्तमेवापूर्णत्वं, पूर्वोक्ताः पुलिन्द्य इति पर्वतप्रेरणया कन्दमूलादिकं ताभिः समानीयत इति लक्ष्यते ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ — पुलिन्दियाँ वैसी (पूर्ण) कैसे हो गई ? इस शङ्का के उत्तर में कहती हैं कि ये भगवद्भक्त (गोवर्धन) क साथ सङ्ग होने से वैसी हुई हैं । यह कहकर अनन्तर, गोवर्धन का भगवदीयत्व सिद्ध करती हैं, और 'हन्त' इस पद से अपने लिए दुःख प्रकट करती हुई कहती हैं, कि यदि हम भी गोवर्धन पर रहती तो हमारी आधि[१] निवृत्त हो जाती किन्तु वैसा न होने से, हम अपूर्ण ही रह गई हैं अतः खेद हैं । श्रेष्ठ भगवद्भक्त वह होता है जिसको भगवान् के चरणारविन्द के स्पर्श से अत्यन्त मोद[१]

१ - काम-पीड़ा ।

होता है, अतः यह गोवर्धन हरिदासों (भगवान् के दासों) में श्रेष्ठ है, क्योंकि इसको रामकृष्ण के चरणारविन्द के स्पर्श होते ही प्रकृष्ट[२] मोद[३] हुआ है, और यह (गोवर्धन) सात्त्विक[४] अथवा गुणातीत है, कारण कि निर्धन होते हुए भी गौ और देव रूप बालक (गोप) समेत इन दोनों (राम कृष्ण) का आतिथ्य सत्कार कर रहा है, निर्धन है तो फिर आतिथ्य सत्कार कैसे किया ? इसके उत्तर में कहते हैं जैसे शास्त्र में कहा है कि 'तृणानि भूमि रुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन' भक्तों के यहाँ चार पदार्थ बैठाने के लिए १ - तृणासन, २ - भूमि, ३ - पिलाने के लिए जल, ४ - मन प्रसन्न करने के लिए मधुर वाणी ये चार पदार्थ भक्तों के घर से कभी भी नष्ट नहीं होते हैं चाहे अन्य पदार्थ सभी चले जाएँ। इस प्रकार गोवर्धनजी के यहाँ भी चार पदार्थ विद्यमान थे जिनसे उसने आतिथ्य किया, वे चार पदार्थ ये हैं जल, सुन्दर घास, कन्दरा और कन्द मूल। इन चारों से इस (निम्न) प्रकार आतिथ्य सत्कार किया, जल से सब की तृषा निवृत्ति, सुन्दर घास से गौओं को भोजन कराया और अन्यों का बिछोना बनाया, कन्दरा में बिठाकर उस समय पड़ रही वर्षा से रक्षा की कन्द तथा मूल से रामकृष्ण तथा बालकों को भोजन कराया। कन्द भूंज कर खाए जाते हैं और मूल बिना भूंजे भी खाने में आते हैं। कन्द और मूल में भिन्न भिन्न रस हैं अतः कंद, अन्न के स्थान[५] पर दिए गए और मूल, व्यंजन के एवज में दिये गए बहुवचन देकर यह कहा हैं, कि इनके भी अनेक भेद होते हैं सारांश यह है, कि गोवर्धन ने निर्धन होते हुए भी शास्त्रानुसार प्रेम पूर्वक अपना दास धर्म पालन किया है। क्योंकि भक्तों में सन्तोष विशेष होता है, जिससे वे उस सन्तोषामृत से सभी दशा में सन्तुष्ट रहते हैं। गोपीजन ने अपने को 'अबला' कह कर यह बताया है कि हम वहां (गोवर्धन के पास) जाने में असमर्थ हैं। इससे उन्होंने अपना चिल्लाना वा गुस्सा भी दिखलाया है, जैसे कि जब भगवान् माखन आदि खाते थे तब हम मन ही मन कुड़बुड़ाती थी अतः हम अपूर्ण हैं यह कहना योग्य ही है। जाना जाता है कि ये पुलिन्दियाँ वे ही हैं, जिनका वर्णन पहले किया गया है इसलिए पर्वत की प्रेरणा से वे कन्द मूलादि लाती हैं॥ १८ ॥

आभास — ननु तथापि वयं सजातीया योग्यास्ता विहाय तस्मिस्तासु च कथं कृपेत्याशङ्क्याहुर्गा गोपकैरिति,

आभासार्थ — इस निम्न 'गा गोपकैः' श्लोक से जब हम सजातीय हैं वे विजातीय हैं तब हमको छोड़कर गिरिराज तथा उन पर कृपा क्यों ? इस शङ्का की निवृत्ति की गई है।

श्लोकः — **गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः ।**
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥ १९ ॥

---

१ - हर्ष-खुशी। २ - अत्यन्त। ३ - आनन्द। ४ - सतोगुणी। ५ - बदले में।

श्लोकार्थ – हे सखिओं ! गोप बालकों के साथ एक वन से दूसरे वन में गौओं को ले जाते हुए, तथा निर्योग तथा पाश के चिन्ह से विभूषित उन दोनों के उदार, वेणु के नादों से और अव्यक्त[१] चर पदार्थों[२] में रुकावट डालना अर्थात् स्थिरता कर देना, और अचरों[३] में रोमाञ्च उत्पन्न करना, इत्यादि से यह देहधारियों में विलक्षणता दिखती हैं ॥ १९ ॥

सुबोधिनी – **विपरीतं हि भगवच्चरित्रं, साक्षाद् भगवान् न किञ्चित् करोति** किन्तु साक्षिमात्रेणैव **गतिमतामस्पन्दनं** भवति **तरूणां च पुलकं** तथास्माकं योग्यानामयोग्यत्वमयोग्यानां पुलिन्दीनां तथात्वमिति, विपरीतसम्पादने हेतुत्रयमाह **गोपकैः सहानुवनं गा नयतोः** सतोरित्येकः, **वेणुस्वनैरि**त्यपरः, **कलानि** पदानि यत्रेतिविशेषणेन चापरः पदैश्चरणैर्वा, **गावो वने वने नीयन्ते सर्वेषामेव वनानां शुद्धिं सम्पाद्यते**ऽतो वनानि निर्दुष्टानि भवन्ति, गवां गोपानां च तत्सम्बन्धो भवति, **एतदीया शुद्धिर्धर्मश्च तत्र गच्छतः**, तत **उदारो** यो **वेणुस्वनो वेणुर्वोदार**स्ततो वेणुभुक्तशेषं ते भुञ्जते, अतस्तेषां पुलक उचित एव, ये पुनर्गतिमन्तस्ते दोहार्थं भगवति समागते मनःपूर्वकं स्वामृतदानार्थं तत्र विघ्नाभावार्थं च सर्व एव तूर्ष्णीं भवन्ति, शब्द शङ्कया चलन्त्यपि न, अत एव भगवतोऽव्यक्तमधुराणि पदानि भवन्ति शनैर्गमनात् दोहकालोऽयं, **सख्य** इतिसम्बोधनं तत्र गतानां दर्शनेन सम्मत्यर्थं, अत**स्तनुभृत्सु** स्थावरजङ्गमेषु **चित्रं** भवति, तामवस्थां ज्ञापयति **निर्योगपाशकृतलक्षणयो**रिति, नितरां **योगो** याभ्यां गोवत्सयोस्तौ पाशौ **निर्योगपाशौ** निदाने ताभ्यां **कृतं लक्षणं** ययोः, हस्तेन तदुभयग्रहणं पादयोर्योजनं वा, अतो भीताः सर्व एव जङ्गमा अस्मानपि बध्नीतेति, स्थावराणां तु भयात् स्वत एव मधुधाराः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ – भगवान् के चरित्रों की गति लोक से विपरीत होती है, यद्यपि भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते हैं तो भी उनके (भगवान्) के साक्षी मात्र से ही चर[४] प्राणियों में जड़ता आ जाती है अर्थात् जो चेतन होने से चलते रहते हैं वे जड़ की तरह स्तंभित हो जाते हैं, अर्थात् चल नहीं सकते हैं ठहर जाते हैं, और जो जड़ होने से क्रिया हीन हैं उनमें चेतनता[५] हो जाती है जैसे कि नदियों का वेग रुक गया और वृक्षों में रोमाञ्च होने लगा। इसी प्रकार हम (गोपियाँ) जो रस लेने के योग्य थीं, वे तो अयोग्य हो गई, जिससे हमको उस रस की प्राप्ति नहीं हुई, किन्तु जो पुलिन्दियाँ अयोग्य थीं, वे योग्य बन गई जिससे रस प्राप्त होने के कारण उनकी आधि नष्ट हो गई। इस प्रकार की विपरीतता होने के तीन कारण हैं, १ – कारण यह हैं कि भगवान् गोप बालकों के साथ गौओं को एक वन से दूसरे वन में ले जाते हैं, २ – वेणु के स्वरों की ध्वनिओं से, ३ – मधुर अव्यक्त पद अर्थात् अस्फुट श्री चरण। इन तीनों कारणों से सब वनों की शुद्धि हुई जिससे वन दोष रहित हो गए हैं। सारांश यह है कि भगवान् बंशी बजाते हुए गोपों के साथ गौओं को चराते हुए प्रत्येक वन में घूमते हैं, तब गौओं का, गोपों का, भगवान् के चरणों तथा वेणु के स्वरों का वनों से सम्बन्ध होता है, जिससे वे वन निर्दोष हो जाते हैं और इनके धर्म तथा इनकी शुद्धि वनों में प्रवेश करती है। चर प्राणी, गौओं में क्रिया की निवृत्ति

---

१ – अस्पष्ट जो साफ समझ में न आवे, सूक्ष्म मधुर हो ऐसे। २ – चलने वाले नदी पशु आदि।
३ – वृक्षादि। ४ – चेतन। ५ – क्रिया उत्पन्न।

हुई, जिससे वे स्थिर हो गई इन (गौओं) के सम्बन्ध से, वन भी अपनी क्रिया (स्थिरता) से निवृत्त हो गए, जिससे उनमें रोमाञ्च उत्पन्न होने लगे अर्थात् चेतनों में जड़ता आ गई और जड़ों में चेतना आ गई । इस प्रकार जब स्वभाव पर विजय होती है, तब रस की प्राप्ति होती है । गोप जो रसिक[१] हैं उनका धर्म (रसिकत्त्व) जब वनों में प्रविष्ट हुआ तब वन भी (रसिक) हो गए । अनन्तर उदार, जो वेणु के रव, अथवा वेणु, उनके भोग से बाकी रही हुई, सुधा (रस) वे (वन) भोगते हैं (रस को लेते हैं) इसलिए उनको रोमाञ्च होना योग्य ही हैं ।

जो गति वाली चेतन गौ हैं, वे जब देखती हैं, कि भगवान् दोहने के लिए आए हैं, तब मन (प्रसन्नता) से अपना अमृत (दूध) देने के लिए वहाँ उस समय किसी प्रकार विघ्न न हो, तदर्थ कुछ नहीं बोलती हैं, चुपचाप खड़ी रहती हैं, न केवल मौन रहती हैं, किन्तु कुछ शब्द मात्र भी न हो जाए इसलिए एक ही स्थान पर खड़ी रहती हैं । इसी कारण से, भगवान् भी धीरे धीरे पधारते हैं, जिससे आपके चरण भी अव्यक्त तथा मधुर दिखते हैं, धीरे धीरे चलने का कारण दोहने का समय हैं, अर्थात् दोहने के समय, किसी प्रकार की ध्वनि न होकर, शांति होनी चाहिए शान्ति में ही अमृत की प्राप्ति होती है । हे सख्य: ! इस सम्बोधन से यह बताया है कि, वहाँ जाकर जो गोपीजन भगवान् के उस समय की लीला का दर्शन कर आई थी उनकी इस विषय में सम्मति है, अत: जड़ और चेतन प्राणियों में विचित्रता दिखाई गई है ।

जिन (रस्सियों) से गौ के साथे बछड़े का योग[२] होता है उनको 'निर्योगपाश' कहते हैं वह निर्योगपाश भगवान् के हाथ में है, जिनसे भगवान् चेतन (गौओं) को बान्धते हैं, यह देखकर सब जङ्गम[३] डरने लगे कि हमको भी बाँधेंगे । स्थावरों[४] से तो भय के कारण स्वत: (बान्धने के बिना ही) ही मधु धारा बहने लग गई ॥ १९ ॥

आभास — उपसंहरत्येवंविधा इति,

आभासार्थ — निम्न 'एवं विद्या' श्लोक से श्री शुकदेवजी इस 'प्रमेय प्रकरण' का उपसंहार[५] करते हैं ।

श्लोक: — **एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिण: ।**
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्य: क्रीडास्तन्मयतां ययु: ॥ २० ॥

---

१ - रसवाले अथवा रस को जानने वाले । २ - मिलाप का बन्धन । ३ - चेतन प्राणी ।
४ - वृक्षों । ५ - समाप्ति ।

श्लोकार्थ – वृन्दावन में स्वच्छन्द विहार करने वाले भगवान् की इस प्रकार की क्रीड़ाओं का परस्पर गान करती हुई गोपीजन तन्मय बन गई ॥ २० ॥

सुबोधिनी – अयमेकप्रकार उक्त **एवंविधाः कोटिशः सन्ति लीलाः**, तत्र हेतु**र्भगवत** इति, गुणानां भगवतश्च मिश्रणे कोटिशः प्रस्तारा भवन्ति, किञ्च **मर्यादायां परिमिता अपि भवन्ति** या **पुनर्वृन्दावनचारिणः** स्वेच्छागतिमतो **भगवतोऽतो मर्यादाभावादसङ्ख्याता एव**, अत एवं **वर्णयन्त्यो गोप्यस्तन्मयतां ययुः** क्रीडामय्य एव जाता जाग्रत्स्वप्नेषु क्रीडामेव पश्यन्त्य आसक्तिभ्रमन्यायेन, **ययुरिति** न पुनस्तेषां संसारे समागमनम् ।

व्याख्यार्थ – श्री शुकदेवजी उपसंहार करते हुए कहते हैं कि, यहाँ तो अब लीला का एक ही प्रकार कहै है, यों तो षड् ऐश्वर्यादि गुणों वाले धर्मी स्वरूप भगवान् की वैसी कोटिशः लीलाएँ है, और मर्यादा मार्ग में तो लीलाओं की सीमा हो सकती है, किन्तु स्वच्छन्द गति वाले वृन्दावन विहारी भगवान् में, किसी प्रकार मर्यादा न होने से, उनकी अगणित लीलाएँ हैं। इसीलिए श्लोक में कहा है, कि 'वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीड़ास्तन्मयतां ययुः' वे गोपीजन इन लीलाओं का परस्पर वर्णन करती हुई तन्मय[1] हो गई। वर्णन करती हुई जागृत अवस्था में तथा स्वप्न अवस्था में 'आसक्ति भ्रम न्याय से* क्रीड़ाओं[2] का ही दर्शन करती थीं जिससे उनमें ऐसी लीन हो गई जैसे उनसे फिर बाहर न निकल सकी अर्थात् पुनः संसार में जन्मी नहीं ।

एवं सप्तभिर्मध्यमो निरोधो निरूपितः पञ्चपर्वाविद्यानिवृत्तिपूर्वकमन्तर्भगवत्प्राप्तिरूपः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणेऽष्टादशाध्यायविवरणम् ।

इस प्रकार मध्यम निरोध वाला यह प्रमेय प्रकरण सात अध्यायों से पूर्ण किया है जिससे अविद्यानिवृत्ति पूर्वक अन्तःकरण में भवगवत् प्राप्ति रूप निरोध का वर्णन है ॥ २० ॥

---

*'आसक्ति भ्रम न्याय' का तात्पर्य यह है कि जिसको जिस पदार्थ में 'आसक्ति' लगन[3] होती है उसको दिन रात अर्थात् जागते सोते वही पदार्थ याद आता है एवं दिखता है जिससे वह आसक्ति वाला उस पदार्थ का रूप बन जाता है अतः गोपीजन का मन भी भगवान् में तथा उनकी लीलाओं में आसक्त[4] हो गया था, जिससे उनको दिन रात भगवान् तथा उनकी लीलाओं के बिना कुछ भी न याद आता था न कुछ दिखता था, बस भगवान् और उनकी लीलाओं के दर्शन तथा वर्णन में ही वे लोग मग्न रहती थी जिससे वे तन्मय बन गई।

---

१ - लीला रूप । २ - लीलाओं । ३ - मन फँस जाता है । ४ - फँस गया ।

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणोष्टादशाध्यायविवरणम् ॥

॥ समाप्तं तामस प्रमेय प्रकरणम् ॥

'तामस प्रमेय प्रकरणं सम्पूर्णम्'

इति श्रीमद्भागवत् महापुराण दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के १८वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण के 'धर्मी' निरूपण सातवें अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

राग-सारंग

वेनु धर्‌यो कर गोविंद गुन निधान ।
जाति हुति वन काज सखिनि संग रही ठगी सुनत कान ।
मोहत सहज सकल मृग खग पसु बहु विधि सप्तक सुर बंधान ।
'चत्रभुज' दास गिरिधर तनु मनु चोरि लियो करि मधुर गान ॥

राग-केदारो

मधुर मोहन मुख हिं मुरली बाजै ।
मनुदि लिय लाज तै प्रभु-तन्त्र जागी ।
राग केदारो, चर्चरी ताल साजै ॥
सप्त सुर-भेद बंधान तुम नांउ लै
करत गुन-गान मिलि, तुम हित क़ाजैं ।
'छीत-स्वामी' नवललाल गिरिधरन कों
वेगि मिलि भेटि, मन्मथ-दाह दाजै ॥

राग-गौरी

चंचल चारु कमल-दल-नैन ।
अद्भुत अधरबिंब कर मुरली तान स्रवन कृत ऐन ॥
ललित त्रिभंग त्रिलोकी-मोहन भ्रू विलास जीते मैन ।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर देखत ब्रज बनौक सुख चैन ॥